श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला–२६

जैनसाहित्यका इतिहास

प्रथम भाग
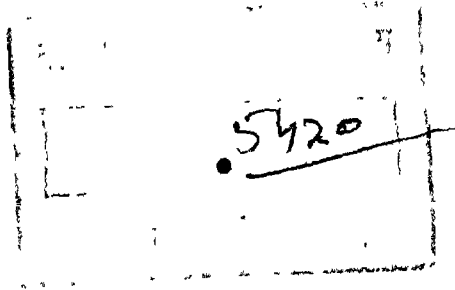
लेखक

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

●

प्रकाशक
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
१/१२८, डुमरॉव कॉलोनी, अस्सी
वाराणसी–५

●

प्रथम संस्करण : ११०० प्रति,
दीपावली, वी० नि० सं० २५०२

●

मूल्य : पन्द्रह रुपये

भगवान महावीरकी पच्चीसवीं निर्वाण-रजतशती
तथा वर्णी-शताब्दिके मङ्गल प्रसङ्गपर

●

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–१

प्रकाशकीय

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९६२ में जैन साहित्यका इतिहास (पूर्वपीठिका) प्रकाशित हुआ था। उसके अगले दो भागोंकी सामग्री भी ग्रन्थमालामें उसके यशस्वी लेखक श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखकर दे दी थी। और वे दोनों भाग भी कई वर्ष पूर्व छप जाना चाहिए थे। किन्तु कई कारणों और विघ्न-बाधाओंसे वे नहीं छप पाये। हम नहीं चाहते कि उन कारणों और विघ्न-बाधाओंका यहाँ अंकन किया जाय। कठिनाई यह है कि जिसे मंत्री चुना जाता है उसे ही **'पीर बवरची भिस्ती खर'** बनना पड़ता है।

सन् १९६४–६५ में हमें अध्यक्ष व अन्य सदस्योंने आर्थिक सहायता प्राप्त करानेके आश्वासनके साथ ग्रन्थमालाके नये मंत्रित्वका दायित्व सौंपा था। उस समय ग्रन्थमालाकी स्थिति ऐसी थी कि उसे भारतीय ज्ञानपीठ या अन्य प्रकाशन-संस्थाओंको दे देनेका समितिने कई बार विचार ही नहीं किया, पत्राचार भी किया। किन्तु कोई प्रकाशन-संस्था उसे ले न सकी। फलतः ग्रन्थमाला-समितिने १९–१०–१९६४ की कटनी बैठकमें हमें मंत्री और हमें ग्रन्थमालाकी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए स्वर्गीय सेठ भागचन्द्रजी डोंगरगढ़ और उपाध्यक्ष श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने प्रेरणा और आश्वासन दिया कि वे हमें अवश्य ग्रन्थमालाकी दशा सुधारनेमें सहयोग करेंगे। किन्तु हमें स्वयं उसकी स्थितिको उन्नत करनेमें लगना पड़ा और संरक्षक-सदस्यकी योजना द्वारा न केवल ग्रन्थमालाकी स्थितिको उन्नत किया, अपितु कई ग्रंथोंको प्रकाशित भी किया गया। पूज्य वर्णीजीका समयसार-प्रवचनके दो संस्करण, वर्णी-वाणी १, २, ३ के दो-दो संस्करण, मेरी जीवनगाथाका द्वितीय संस्करण, जैनदर्शनका दूसरा-तीसरा संस्करण, द्रव्यसंग्रह-भाषावचनिका, मन्दिरवेदीप्रतिष्ठा-कलशारोहणविधिका दूसरा संस्करण, सामायिकपाठ, अनेकान्त और स्याद्वादका दूसरा संस्करण, अध्यात्म-पत्रावली व सत्यकी ओर के दो-दो संस्करण, आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत, तत्त्वार्थसार, सत्प्ररूपणासूत्र और कल्पवृक्ष इन ग्रंथोंका पिछले वर्षोंमें प्रकाशन हुआ है और इससे ग्रन्थमाला सप्रमाण हो गयी।

किन्तु हमें दुःख ही नहीं मार्मिक पीडा है कि पिछले दिनोंमें हमें जो आर्थिक संकट रहा उसे बार-बार अध्यक्षजीके सामने रखा। किन्तु हम उनसे उस संकट-निवारणमें असमर्थ रहे। सौभाग्यकी बात है कि जैनसाहित्यके इतिहासके अगले दो भागोंको स्वर्गीय डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी और

हमने व्यवस्थित रूप देनेका प्रयास ही नहीं किया, आर्थिक सहयोगमें भी प्रयत्न किया है। बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता और उनकी प्रेरणासे तैयार कुछ दाताओंने भी इन भागोंके प्रकाशनमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक दान दिया। सुहृद्वर पं० खुशालचन्द्रजी गोरावालाकी प्रेरणाको भी हम नहीं भुला सकते, जिन्होंने भी इनके प्रकाशनमें हाथ बटाया है। अभी इन दोनों भागोंकी छपाई-बाईंडिग, कागज आदिमें हमें लगभग छ हजार रुपएकी आवश्यकता है। आशा है हमारे उपर्युक्त सहयोगी तथा अन्य उदार दानी हमें उक्त छोटी-सी राशिके प्राप्त करानेमें पूरा-पूरा सहकार करेंगे।

हम श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्यके बहुत आभारी हैं, जिन्होंने ये दोनों भाग १३ वर्ष पूर्व लिखकर ग्रन्थमालाको दे दिये थे और अब तक धैर्य पूर्वक उनके प्रकाशनकी प्रतीक्षा की। किन्तु हम सकारण विवश थे इससे पूर्व छापने में। फिर उनसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। हर कार्यकी काल-लब्धि होती है, तभी वह सम्पन्न होता है। पिछले दो वर्षोंकी एक लम्बी कहानी है, जिसे हम यहाँ छोड़ रहे हैं।

हमें इतनी ही प्रसन्नता है कि वर्द्धमान मुद्रणालयकी प्रतीक्षित संलग्नतासे अब दोनों भाग दिसम्बर १९७५ तक प्रकाशमें आ जायेंगे और संरक्षक सदस्योंको दिये आश्वासनोंकी पूर्ति हो सकेगी।

जय महावीर।

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला,

भ० महावीरकी २५००वीं,
निर्वाण-शताब्दी
३ नवम्बर १९७५

लेखकके दो शब्द

जैन साहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिका सन् १९६३ में प्रकाशित हुई थी। अब बारह वर्षोंके पश्चात् जैनसाहित्यका यह करणानुयोग विषयक इतिहास प्रकाशित हो रहा है, यह भी मेरे लिये परम सन्तोष और प्रसन्नताकी बात है। मुझे तो इसके प्रकाशनकी कोई आशा ही नहीं थी; क्योंकि उक्त प्रकाशनके साथ ही श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमालाका कार्य ठप्प जैसा हो गया था। किन्तु सौभाग्यवश उसके मंत्रित्वका भार डॉ० पं० दरबारीलालजी कोठियाने उठा लिया और उन्हीके प्रयत्नके फलस्वरूप मेरा यह श्रम रद्दीकी टोकरीमें जानेसे बच गया। यह करणानुयोगके अन्तर्गत केवल कर्मसिद्धान्त विषयक साहित्यका ही इतिहास है। लोकानुयोग विषयक साहित्यका [illegible] इसके दूसरे भागमें आयेगा। वह भी प्रेसमें है और यदि वर्द्धमान मुद्रणालयके मालिक की कृपा दृष्टि रही तो शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा और मैं उसे प्रकाशित हुए अपनी आँखोंसे देख सकूँगा।

दि० जैनसमाजमें विद्वानोंकी तो कमी नहीं है किन्तु जैनसाहित्य और उसके इतिहासके प्रति विशेष अभिरुचि नहीं है। दि० जैनसमाजमें भी चरित्रके प्रति तो आदरभाव है किन्तु ज्ञानके प्रति आदरभाव नहीं है। इसीसे जहाँ दि० जैनमुनिमार्ग वृद्धि पर है वहाँ जैन पण्डित धीरे-धीरे कालके गालमें जाते हुए समाप्तिकी ओर बढ़ रहे हैं। दि० जैनमुनिमार्ग पर धन खर्च करनेसे तो श्रीमन्तोंको स्वर्ग सुखकी प्राप्तिकी आशा है किन्तु दि० जैन विद्वानोंके प्रति धन खर्च करनेसे उन्हें इस प्रकारकी कोई आशा नहीं है। फलतः निर्ग्रन्थोंके प्रति तो धनिकोंके द्रव्यका प्रवाह प्रवाहित होता है और गृही जैन विद्वानोंको आजकी महँगाईमें भी पेट भरने लायक द्रव्य भी कोई देना नहीं चाहता। इससे विद्वान् तैयार होते हैं और समाजसे विमुख होकर सार्वजनिक क्षेत्र अपना लेते हैं। वहाँ उन्हें धन-सम्मान दोनों मिलते हैं। ऐसेमें साहित्यकी सेवा तो वही कर सकता है जिसे उससे अनुराग होता है। ऐसे अनुरागी थे डॉ० हीरालाल और डॉ० उपाध्ये। किन्तु आज दोनों ही नहीं हैं। डॉ० हीरालालजीके पश्चात् डा० उपाध्येके स्वर्गत हो जानेसे दि० जैनसमाजका साहित्यिक क्षेत्र सूना जैसा हो गया है। उनकी सब साहित्यिक प्रवृत्तियाँ निःशेष हो गई हैं और ग्रन्थमालाएँ अनाथ जैसी हो गई हैं।

डॉ० उपाध्येसे पहले डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री तो एकदम असमयमें ही स्वर्गवासी हो गये।

मैंने यह इतिहास आजसे बीस वर्ष पहले लिखना शुरू किया था। उस समय मैं लिखता चला गया और फिर उसे व्यवस्थित करनेकी रुचि भी नहीं हुई क्योंकि प्रकाशनकी तो कोई आशा नहीं थी। लिखकर समाप्त करनेके दस वर्ष पश्चात् जब उसके प्रकाशनकी बात चली तो मैं उस लिखे विषयसे दूर चला गया था, मेरी स्मृतिमें वह नहीं था। उसमें मन भी नहीं लगता था। तब यह तय हुआ कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ एक बार उसका पारायण कर लिया जाये। स्वर्गवासी होनेके तीन मास पूर्व वह कुछ दिन बनारसमें ठहरे और उनकी तथा डॉ० कोठियाकी उपस्थितिमें उसे व्यवस्थित किया गया। तब किसे कल्पना थी कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ यही अन्तिम संगोष्ठी है।

आज इसके प्रकाशनके समय उनकी स्मृति विशेष रूपसे होना स्वाभाविक है। वह भी जैनसाहित्यरूपी महलके एक स्तम्भ थे। उनके पश्चात् ही डॉ० गुलाबचन्द चौधरी भी स्वर्गवासी हो गये। जैनसाहित्य और इतिहासके वे भी एक सुलेखक विद्वान् थे। इन सबके अभावमें जैनसाहित्यका यह इतिहास प्रकाशित होनेसे भी एक तरहका दुःख ही होता है कि अब इसको आगे गति कौन देगा?

दि० जैन समाजमें एक वर्ग ऐसा है जो अपनेमें ही मग्न रहता है और विश्व-में क्या होता है, इसे देखकर भी नहीं देखता। दि० जैनसाहित्य कितना पिछड़ गया है, सार्वजनिक क्षेत्रमें उसका मूल्यांकन करनेकी ओरसे कितना अज्ञान या उपेक्षा है इसे अनुभव करनेवाले भी इने गिने हैं। डॉ० उपाध्ये देश विदेशके जर्नल्समें जैनसाहित्यके विषयमें लिखते रहते थे। उनके पश्चात् तो कोई ऐसा विद्वान् दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः अब यह पिछड़ना और भी बढ़ेगा। इस ओर मैं उदीयमान जैन विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। अस्तु

कर्मसिद्धान्तका विषय सूक्ष्म है। आज तो उसके अध्येता भी अत्यन्त विरल हैं। तब मेरे इस इतिहासको कौन पढ़ेगा यह मैं नहीं जानता। किन्तु इसे देखकर भी यदि किन्हींकी साहित्यिक इतिहास विषयक रुचि जाग्रत हुई तो मैं अपने श्रमको सफल समझूँगा।

जब पीठिकाका प्रकाशन हुआ था तो उसमें जो खर्चेकी विगत दी गई थी, उसमें पारिश्रमिक मध्ये दस हजार रुपये दिखाये गये थे। उसकी कोई विगत नहीं दी गई थी और न उस विषयमें कुछ लिखा ही गया था। फलतः एक आवाज समाचार पत्रोंमें उठाई गई कि जैनसाहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिकाका पारिश्रमिक मुझे दस हजार रुपया दिया गया है। ग्रन्थमालाकी ओरसे उसका स्पष्टीकरण किया गया। यहाँ मैं अपने उन मित्रोंकी गलतफहमी दूर करनेके लिये यह स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि यह भाग और इसका आगामी दूसरा भाग भी पूर्व

पारिश्रमिकमें ही सम्मिलित है, इनका मैंने कोई नया पारिश्रमिक नहीं लिया है। भगवान महावीरके पच्चीससौंवे निर्वाण महोत्सव वर्षकी समाप्तिके साथ ही इसका प्रकाशन विशेष आनन्दकारी है। इसमें उन्हींकी दिव्यध्वनिसे निसृत वाङ्मयका इतिहास गुम्फित है। वीरप्रभुका शासन जयवन्त रहो।

दीपावली
वीर नि० सं० २५०२

कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

जैनसाहित्यका इतिहास

प्रथम अध्याय

मूलागम-साहित्य

प्रथम परिच्छेद

कसायपाहुड

प्रास्ताविक

पूर्वमें प्रकाशित 'जैन साहित्यका इतिहास' (पूर्व पीठिका) प्रथम भागमें श्रुतावतार और श्रुत-परिचय विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अतः यहाँ केवल सन्दर्भ-निर्वाहके लिए जैन साहित्यके उद्‌गम, विस्तार और श्रुतावतारपर संक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है।

जैन साहित्यका उद्‌गम

जैनसाहित्यके उद्‌गमकी कथाका आरम्भ भगवान महावीरसे होता है, क्योंकि पार्श्वनाथके कालके जैनसाहित्यका कोई संकेत तक उपलब्ध नहीं है। फिर जैन परम्पराके अनुसार महावीर भगवानने जिस दिन धर्मतीर्थका प्रवर्तन करना प्रारम्भ किया उसी दिन पार्श्वनाथका तीर्थकाल समाप्त हो गया और भगवान महावीरका तीर्थकाल चालू हो गया। आज भी उन्हींका तीर्थ प्रवर्तित है। अतः उपलब्ध समस्त जैनसाहित्यके उद्‌गमका मूल भगवान् महावीरकी वह दिव्यवाणी है, जो १२ वर्षकी कठोर साधनाके पश्चात् केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर लगभग ४२ वर्षकी अवस्थामें (ईस्वी सन्‌से ५५७ वर्ष) श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके[1] दिन ब्राह्ममुहूर्तमें राजगृहीके बाहर स्थित विपुलाचल पर्वतपर प्रथम बार निसृत हुई थी और तीस वर्ष तक निसृत होती रही थी।

उनकी उस वाणीको हृदयंगम करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने बारह अंगोंमें निबद्ध किया था। उस द्वादशांगमें प्रतिपादित अर्थको यतः गणधरने भगवान महावीरके मुखसे श्रवण किया था, इससे उसे 'श्रुत' नाम दिया गया और भगवान महावीर उसके[2] अर्थकर्ता कहलाये। गौतम गणधरने उसे ग्रन्थका रूप दिया,

---

१. षट्खं० पु० १, पृ० ६२--६३।

२. 'तत्थ कत्ता दुविहो, अत्थकत्ता गंथकत्ता चेदि।······तदो भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गंथरयणा जादेत्ति।' —षट्खं०, पु० १, पृ० ६०-६५

इसलिये वह ग्रन्थकर्ता कहलाये।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् वही द्वादशांगरूप श्रुत गुरु-शिष्यपरं-पराके रूपमें मौखिक ही प्रवाहित होता रहा और श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय तक अविच्छिन्न बना रहा। किन्तु उनके समयमें मगधमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़नेसे संघ-भेद हो गया। और इस संघ-भेदके कारण सबसे अधिक क्षति द्वाद-शांगरूप श्रुतको पहुँची। उस समय द्वादशांग श्रुतके एकमात्र प्रामाणिक उत्तरा-धिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। किन्तु बौद्ध संगीतिकी तरह पाटलिपुत्रमें जो प्रथम जैन वाचना हुई कही जाती है वह उनकी अनुपस्थितिमें ही हुई। और उसमें भी केवल ग्यारह अंगोंका ही संकलन किया जा सका। किन्तु सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण बारहवां अंग संकलित नहीं हो सका, क्योंकि उसका जानकार श्रुतकेवली भद्र-बाहुके सिवाय दूसरा व्यक्ति नहीं था।

भद्रबाहुके पश्चात् जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर पन्थमें विभाजित हो गया और दोनोंकी गुरुपरम्परा भी भिन्न हो गई। संभवतया श्रुतकेवली भद्रबाहु-का वारसा दोनों ही परम्पराओंको प्राप्त हुआ था। फलतः दिगम्बर परम्परामें महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तक (विक्रम सम्वत्की दूसरी शताब्दी पर्यन्त) अंगज्ञान यद्यपि प्रचलित रहा, किन्तु दिन-पर-दिन क्षीण होता चला गया।

श्वेताम्बर परम्परामें पाटलिपुत्रके बाद दूसरी वाचना मथुरामें की गई और वीर निर्वाणसे ९८० वर्ष अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् वलभीकी तीसरी वाचनाके समय संकलित ग्यारह अंगोंको पुस्तकारूढ़ किया गया। किन्तु महत्त्वपूर्ण बारहवाँ अंग तो नष्ट ही हो गया। उसीके भेद चौदह पूर्व थे। उन्हींके कारण बारहवें अंगका महत्त्व था। श्वेताम्बर परम्परामें तो ग्यारह अंगोंकी उत्पत्ति पूर्वोंसे ही मानी गई है। अतः पूर्वोंका महत्त्व निर्विवाद है।

इन्हीं चौदह पूर्वोंमेंसे दो पूर्वोंके दो अवान्तर अधिकारोंसे सम्बद्ध दो महान् ग्रन्थराज दिगम्बर परम्परामें सुरक्षित हैं। उनमें वर्णित विषय और उसका विस्तार भी पूर्वोंके महत्त्वको ख्यापन करता है। दिगम्बर परम्पराके जैनसाहित्यका इति-हास एक तरहसे इन्हीं ग्रन्थराजोंसे आरम्भ होता है। अथवा यह कहना उचित होगा कि दिगम्बर परम्पराके साहित्यका उद्‌गम पूर्वोंके उन विशकलित अंशोंसे होता है जो उसे उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त हुए थे।

जैनसाहित्यका विस्तार

जैन साहित्य बहुत विस्तृत है, ऐसा कोई विषय नहीं है जिसपर जैनाचार्योंने अपनी लेखनी न चलाई हो। और इसका कारण यह है कि भगवान् महावीरने अपने समयमें उपस्थित किसी चर्चाको अव्याकृत कहकर अलक्षित या उपेक्षित

नहीं किया था। तत्त्वज्ञान, आचार, लोकविभाग आदि सभी विषयोंपर उनकी वाणी प्रवाहित हुई थी। उनमेंसे अनेक विषयोंके सम्बन्धमें उनकी स्वतंत्र और मौलिक देन थी, जो जैन तत्त्वज्ञानकी अपनी विशेषता कहलाती हैं। उनके पश्चात् उनके अनुयायी शिष्यों और प्रशिष्योंने टीकाओं और मौलिक रचनाओंके रूपमें उनके सिद्धान्तोंको निबद्ध करके जैन साहित्यके भण्डारको बराबर समृद्ध किया।

यद्यपि भगवान् महावीरने तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधीको अपने उपदेशोंका माध्यम बनाया था, और इस तरह गौतम गणधरके द्वारा ग्रथित द्वादशांग श्रुतकी भाषा भी अर्धमागधी थी। किन्तु उनका लोप होने पर भी महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाएँ, जो प्राकृतके ही भेद हैं, जैन आगमिक साहित्यकी रचनाका माध्यम रहीं। और जब संस्कृतभाषा लोकप्रिय हुई तो जैनाचार्योंने उसके भण्डारको अपनी कृतियोंसे भरा। पीछे अपभ्रंश भाषाका प्रचार होनेपर अपभ्रंश भाषाको अपनाकर उसे समृद्ध बनाया। अपभ्रंश भाषा तो एक तरहसे जैन ग्रन्थकारोंकी कृतियोंसे ही समृद्ध हुई थी।

इसलिये डाक्टर विन्टरनीट्सने[1] लिखा था कि "भारतीय भाषाओंके इतिहासकी दृष्टिसे भी जैनोंका साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जैनोंने सदा इस बातका ध्यान रखा है कि उनकी रचनाएँ अधिक-से-अधिक जनताके लिये उपयोगी हों। इसीसे आगमिक रचनाएँ और प्राचीनतम टीकाएँ तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ और काव्य लिखना शुरू किये। कुछ ग्रन्थकारोंने सरल संस्कृतमें रचनाएँ कीं, तो कुछने काव्यशैलीमें परिश्रमसाध्य संस्कृतभाषाको अपना कर प्राचीन संस्कृत-कवियोंसे टक्कर ली।…"।

अन्तमें, काफ़ी आधुनिक कालमें जैनोंने विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओंका भी उपयोग किया और उन्होंने खासतौरसे हिन्दी और गुजराती भाषाको समृद्ध बनाया।[2]

---

१. हि० इं० लि०, भा० २, पृ० ४२७।

२. जैन साहित्यकी तालिकाके लिये देखिये—आर० जी० भण्डारकरकी रिपोर्ट १८८३-८४, पिटर्सनकी रिपोर्ट ४, और ५, ए० बी० कीथकी 'बोडलियन' (Bodlian) लाइब्रेरीके प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, मध्यप्रदेश और बरारकी सरकारी आज्ञासे प्रकाशित संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची (नागपुर १९२६), रायल एशियाटिक सोसायटी बम्बई शाखाकी लायब्रेरीके संस्कृत प्राकृत-ग्रन्थोंकी वर्णनात्मक सूची जिल्द ३,४। इण्डिया आफ़िसके संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, जिल्द २। जिनरत्नकोश, पूना। जैन सिद्धान्त भवन आराकी सूची, भा० ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित कन्नड प्रान्तीय ग्रंथसूची। राजस्थानके जैन भण्डारोंकी ग्रन्थसूची छह भाग। ऐलक पन्नलाल सरस्वती भवन बम्बईकी ग्रन्थसूची, तथा पाटन और जैसलमेरके भण्डारोंकी सूचियाँ, तथा अन्य सूचियाँ।

दक्षिणकी तमिल और कनड़ी भाषामें भी जैन साहित्य कम नहीं है। चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यकालके अन्तमें श्रुतकेवली भद्रबाहु मगधमें दुर्भिक्ष पड़ने पर एक बड़े साधु-संघके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। उसके बादसे दक्षिण जैन संस्कृतिका केन्द्र बन गया और लिंगायतोंके अत्याचारोंके आरम्भ होने तक वहाँ जैनोंका अच्छा प्रभाव रहा। दिगम्बर परम्पराके अधिकांश प्राचीन ग्रन्थकार दक्षिणके थे। अतः उन्होंने प्राकृत और संस्कृतकी तरह कनड़ी और तमिलमें भी खूब रचनाएँ कीं। अतएव कनड़ी और तमिल भाषामें भी प्रचुर जैन साहित्य उपलब्ध है। इस तरह जैन साहित्य बहुत विस्तृत है।

वर्गीकरण और कालक्रम

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके साहित्यमें समस्त जैन साहित्यका वर्गीकरण विषयकी दृष्टिसे चार भागोंमें किया है। वे चार विभाग हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। पुराण, चरित आदि आख्यानग्रन्थ प्रथमानुयोगमें गर्भित किये गये हैं। करणशब्दके दो अर्थ हैं—परिणाम और गणितके सूत्र। अतः खगोल और भूगोलका वर्णन करनेवाले तथा जीव और कर्मके सम्बन्ध आदिके निरूपक कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ करणानुयोगमें लिए गये हैं। आचार-सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोगमें आता है और द्रव्य, गुण, पर्याय आदि वस्तुस्वरूपके प्रतिपादक ग्रन्थ द्रव्यानुयोगमें आते हैं।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार यह अनुयोग-विभाग आर्यरक्षितसूरिने किया था। अन्तिम दसपूर्वी आर्यवज्रका स्वर्गवास वि० सं० ११४ में हुआ। उसके बाद आर्यरक्षित हुए। उन्होंने भविष्यमें होनेवाले अल्पबुद्धि शिष्योंका विचार करके आगमिक साहित्यको चार अनुयोगोंमें विभाजित कर दिया। जैसे, ग्यारह अंगोंको चरणकरणानुयोगमें समाविष्ट किया, ऋषिभाषितोंका समावेश धर्मकथानुयोगमें किया, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदिको गणितानुयोगमें रखा और बारहवें अंग दृष्टिवादको द्रव्यानुयोगमें रखा[1]।

दिगम्बर परम्परामें जिसे प्रथमानुयोग नाम दिया है उसे ही श्वेताम्बर परम्परामें धर्मकथानुयोग कहा है और श्वे० परम्परामें जिसे गणितानुयोग संज्ञा दी गई है, उसका समावेश दिगम्बर परम्पराके करणानुयोगमें होता है।

इस तरह विषयकी दृष्टिसे जैन आगमिक तथा तदनुसारी अन्य साहित्य चार भागोंमें विभाजित है।

डा० विन्टरनीट्सने लिखा है[2] कि यद्यपि जैनधर्म बौद्धधर्मसे प्राचीन है तथापि

---

१. आव० नि० गा० ७६३-७७७।

२. हिं० इं० लि०, भा० २, पृ० ४२६।

जैनोंका आगमिक साहित्य अपने प्राचीनतम रूपमें हम तक नहीं आ सका। दुर्भाग्य-से उसके कुछ भाग ही सुरक्षित रह सके और उनका वर्तमान रूप अपेक्षाकृत काफ़ी अर्वाचीन है।

डा० भण्डारकरने[1] दिगम्बर परम्परके कथनको विश्वस्त मानते हुए यह मत प्रकट किया था कि 'वीरनिर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त, (ई० १३६) जब कि अंगोंके अन्तिम ज्ञाता आचार्यका स्वर्गवास हुआ, जैनोंमें कोई लिखित आगम नहीं था'।

सम्भवतया यह बात बारह अंगोंके सम्बन्धमें कही गई है, क्योंकि उनका लेख-नकार्य श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार वीरनिर्वाणसे ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् हुआ था।

किन्तु डा० विन्टरनीट्सका मत है कि उक्त द्वादशांगरूप आगमसाहित्यसे इतर आगमिक जैन साहित्यकी रचना श्वेताम्बरीय आगम-संकलनासे बहुत पहले ही प्रारम्भ हो गई थी, जैसा कि हमें आगे ज्ञात हो सकेगा।

सब बातोंको दृष्टिमें रखते हुए जैन साहित्यके विकासका इतिहास प्रथम शताब्दी ईस्वीपूर्वसे आरम्भ होकर वर्तमानकाल तक आता है। इस सुदीर्घ कालको पाँचसौ-पाँचसौ वर्षोंमें विभाजित करनेसे निम्न प्रकारसे उसका विभाग होगा—

१. ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीसे ईस्वी सन्की चतुर्थ शताब्दीके अन्ततक।
२, ईस्वी सन्की पांचवीं शताब्दीके प्रारम्भसे ईस्वी सन्की नौवीं शताब्दीके अन्ततक।
३. ईस्वी सन्की दसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें १४वीं शताब्दीके अन्ततक।
४. और ईस्वी सन् १५ वीं शताब्दीके प्रारम्भसे १९ वीं शताब्दीके अन्ततक।

श्रुतावतार

अन्तिम[2] तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामीने केवलज्ञान होनेके पश्चात् राज-गृह नगरके निकट विपुल नामक पर्वतपर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन ब्राह्म मुहू-र्तमें अपनी प्रथम धर्मदेशना दी। उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमने उसे बारह अंगों और चौदह पूर्वोमें निबद्ध किया। इस श्रुतके अर्थकर्ता भगवान महा-वीर थे और ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर। गौतम गणधरसे वह श्रुत लोहाचार्य अपर नाम सुधर्मा स्वामीको प्राप्त हुआ और सुधर्मासे जम्बू स्वामीको। जम्बू स्वामीके

१. रिपोर्ट १८८३-८४, पृ० १२४।
२. भूतबली-पुष्पदन्तकृत षट्खं०, पु० १, पृ० ६५-६६। गुणधरकृत क० पा०, भा० १, पृ० ८३-८७।

पश्चात् क्रमशः पाँच आचार्य श्रुतज्ञानके पारगामी हुए, जिनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। भद्रबाहुके पश्चात् श्रुतज्ञानका क्रमशः विच्छेद होना प्रारम्भ हो गया।

भद्रबाहुके पश्चात् ग्यारह आचार्य ग्यारह अंगों और दस पूर्वोके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमशः पाँच आचार्य ग्यारह अंगोंके पारगामी और चौदह पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमशः चार आचार्य आचारांगके पूर्ण ज्ञाता और शेष अंगों तथा पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। इस तरह भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्षतक श्रुतकी परंपरा चालू रही।

तत्पश्चात् सब अंगों और पूर्वोका एकदेश धरसेनाचार्य और गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधर भट्टारक ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्वकी दसवीं वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृत नामक महासमुद्रके पारगामी थे। उन्होंने ग्रन्थविच्छेदके भयसे सोलह हजार पदप्रमाण 'पेज्जदोसपाहुड'का एकसौ अस्सी गाथाओंमें उपसंहार किया और उन्हें कसायपाहुड (कषायप्राभृत) नाम दिया। आचार्य धरसेन अष्टांग महानिमित्तके पारगामी थे और उस समय सौराष्ट्र देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे। उन्होंने ग्रन्थ-विच्छेदके भयसे प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर महिमा नामकी नगरीमें सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्योंके पास एक लेख भेजा। उस लेखसे धरसेनाचार्यके अभिप्रायको भली-भाँति जानकर उन आचार्योंने दो सुयोग्य साधुओंको आंध्र देशमें बहनेवाली वेणा नदीके तटसे भेजा।

इधर एक दिन धरसेनाचार्यने रात्रिके पिछले पहर स्वप्नमें दो श्वेत विनम्र बैलोंको अपने चरणोंमें नमस्कार करते हुए देखा। उसी दिन वे दोनों साधु धरसेनाचार्यके चरणोंमें पहुँच गये। मार्गका श्रम दूर होने पर तीसरे दिन दोनों साधुओंने अपने आगमनका प्रयोजन आचार्यसे निवेदित किया। आचार्यने उनकी परीक्षा लेनेके निमित्तसे उन्हें विद्याएँ सिद्ध करनेके लिए दीं। उनमेंसे एकमें अधिक अक्षर थे और दूसरीमें कम। विद्याएँ सिद्ध हो गईं, किन्तु दोनों विद्यादेवताओंका रूप विकृत था, एक देवीके दाँत बाहर निकले थे और दूसरी कानी थी। 'देवता विकृत अंगवाले नहीं होते' ऐसा विचारकर उन दोनोंने मंत्रशास्त्र-सम्बन्धी व्याकरणसे अपनी-अपनी विद्याओंके हीनाधिक अक्षरोंको ठीक करके पुनः सिद्ध किया, तो दोनों विद्यादेवताएँ अपने स्वाभाविक रूपमें दृष्टिगोचर हुईं।

विद्या सिद्ध करनेपर उन्होंने आचार्यसे सब वृत्तान्त निवेदित किया। सन्तुष्ट होकर धरसेनने उन्हें पढ़ाना प्रारम्भ किया। पठन समाप्त होनेपर उनमेंसे एककी पूजा भूत जातिके देवोंने की। इससे धरसेनने उनका नाम भूतबलि रखा। दूसरे साधुकी भूतोंने अस्त-व्यस्त दंतपंक्तिको पूजापूर्वक सुन्दर बना दिया, इससे

उसका नाम पुष्पदन्त रखा।

धरसेनसे विदा लेनेके पश्चात् दोनों साधुओंने अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षावास किया। वर्षायोग समाप्त होनेपर आचार्य पुष्पदन्त तो जिनपालितको देखनेके लिए वनवास देशको चले गये और भूतबलि द्रमिल देशको चले गये। पुष्पदन्तने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना की और जिनपालितको दीक्षा देकर तथा पढ़ाकर भूतबलिके पास भेज दिया। भूतबलिने जिनपालितके पास सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे और उसके द्वारा यह भी जाना कि पुष्पदन्तकी अल्प आयु शेष है। अतः उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जानेकी आशंका हुई। तब उन्होंने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थ रचना की। इस तरह भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यने षट्खण्डागम सिद्धान्तकी रचना की।

श्रुतावतारका यह विवरण वीरसेन स्वामीने कसायपाहुडकी टीका जयधवलामें तथा षट्खण्डागमकी टीका धवलामें दिया है। किन्तु इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[1] दोनों ग्रन्थोंके अवतारका वर्णन क्रमशः किया है। उन्होंने प्रथम षट्खण्डागमके अवतारकी कथा दी है, पश्चात् कसायपाहुडके अवतारकी। षट्खण्डागमकी अवतारकथामें इतना विशेष कथन है कि भूतबलि आचार्यने द्रव्यप्ररूपणा आदि अधिकारको लेकर पाँच खण्डोंकी रचना की, फिर महाबन्ध नामक छठे खण्डकी रचना की। इस तरह भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना करके उन्हें पुस्तकोंमें स्थापित किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन चतुर्विध संघके साथ पुस्तकोंके द्वारा विधिपूर्वक पूजा की। इससे वह तिथि श्रुतपञ्चमीके नामसे ख्यात हुई। आज भी जैन उस दिन श्रुतपूजा करते हैं।

संक्षेपमें यह उन दो सिद्धान्त-ग्रन्थोंके अवतारकी कथा है जिनका पूर्वोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध है और जिनके ऊपर कितनी ही टीकाएँ रची गई थीं।

यद्यपि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागमके अवतारकी कथाको प्रथम स्थान दिया है और वीरसेन स्वामीने भी प्रथम उसीपर टीका रची थी, तथापि रचनाकाल आदिकी दृष्टिसे कषायपाहुड प्रथम प्रतीत होता है। अतः प्रथम उसीके सम्बन्धमें विवेचन किया जाता है।

---

१. 'एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः ॥१४२॥
ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥
—तत्त्वानु० पृ० ८६

कषायपाहुड

कषायप्राभृतके रचयिता गुणधर

वीरसेन स्वामीकी जयधवला टीका तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे यह तो स्पष्ट है कि कसायपाहुडके रचयिता आचार्य गुणधर थे। किन्तु वे कौन थे और कब हुए थे इत्यादि बातोंको जाननेके कोई साधन दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन्द्रनन्दिने[1] तो अपने श्रुतावतारमें स्पष्ट लिख दिया है कि गुणधर और धरसेनके वंशगुरुके पूर्वापर क्रमको हम नहीं जानते, क्योंकि उनके अन्वयका कथन करने वाले आगम और मुनिजनोंका अभाव है। ऐसी स्थितिमें गुणधर और धरसेनकी वंशपरम्पराके सम्बन्धमें तथा उनके पौर्वापर्यके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ कह सकना कितना कठिन है, यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रनन्दिके पूर्वज वीरसेन दोनोंको वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् हुआ बतलाते हैं, किन्तु दोनोंकी पूर्वपरम्पराके सम्बन्धमें वह भी मूक हैं। अतः स्पष्ट है कि वीरसेन स्वामीको भी दोनोंका पूर्वापर क्रम ज्ञात नहीं था। चूंकि वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्त अंगज्ञानके प्रवाहित होनेकी परम्परा प्रवर्तित थी और अंगज्ञानके प्रवर्तित रहते किसी अंगज्ञानीने अंगज्ञानको पुस्तकारूढ़ करनेका प्रयत्न किया हो, ऐसा कोई संकेत अनुपलब्ध था और गुणधर तथा धरसेनका नाम अंगज्ञानियोंकी परम्परामें था नहीं। अतः वीरसेनने दोनोंको वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् बतला दिया। किन्तु ६८३ वर्षके कितने काल पश्चात् दोनों हुए, यह भी वह नहीं बतला सके।

जहाँ तक हम जान सके हैं, वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त होने वाले अंगज्ञानियोंकी परम्पराका सबसे प्राचीन निर्देश[2] त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें मिलता है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति आचार्य यतिवृषभकी कृति मानी जाती है। और आचार्य यतिवृषभने ही गुणधरके कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की थी। किन्तु उन्होंने भी गुणधरके विषयमें कुछ नहीं लिखा।

अतः हमें गुणधराचार्यके विषयमें जयधवला टीका और इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ही नीचे लिखी जानकारी प्राप्त होती है—

१. गुणधराचार्य ज्ञानप्रवाद नामक पञ्चम पूर्वकी दसवीं वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृत या पेज्जदोसपाहुडरूपी महासमुद्रके पारगामी थे।

---

१. 'गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥'

२. ति० प०, अ० ४, गा० १४७६--१४९२।

२. उन्होंने सोलह हजार पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुडको एकसौ अस्सी गाथाओंमें निबद्ध किया था।

३. जयधवलाकारके अनुसार वे गाथाएँ आचार्य-परम्परासे आकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती आचार्यको प्राप्त हुई थीं। किन्तु इन्द्रनन्दिके अनुसार गुणधरने स्वयं उनका व्याख्यान नागहस्ती और आर्यमंक्षुके लिये किया था।

४. गुणधराचार्य अंगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त हो जाने पर वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् किसी समय हुए।

५. जयधवलाकारने उन्हें वाचक भी लिखा है।

अतः गुणधराचार्यकी परम्परा तथा कालनिर्णय करनेके लिये उनके उत्तराधिकारी आर्यमंक्षु और नागहस्तीकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

आर्यमंक्षु और नागहस्ती—

किन्तु गुणधरकी तरह आर्यमंक्षु और नागहस्तीका उल्लेख कषायप्राभृतके प्रसंगसे केवल जयधवलाटीका और श्रुतावतारमें ही मिलता है, उपलब्ध अन्य दिगम्बर जैन साहित्य या शिलालेखों अथवा पट्टावलियोंमें नहीं मिलता। जयधवलाकारने[1] गुणधरको तो केवल वाचक लिखा है किन्तु आर्यमंक्षु और नागहस्तीके पहले महावाचक[2] और पीछे 'खवण' या 'महाखवण' जैसे आदरसूचक विशेषण लगाये है। इससे इतना ही व्यक्त होता है कि दोनों महान् आचार्य थे। इससे अधिक इनके सम्बन्धमें ज्ञात करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। हाँ, एक बात अवश्य उल्लेखनीय है। चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें कई विषयोंके सम्बन्धमें दो उपदेशोंका उल्लेख किया है और उनमेंसे एक उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है। जयधवलाकारने 'पवाइज्जमाण' का अर्थ 'सर्वाचार्यसम्मत और गुरुशिष्यपरम्पराके क्रमसे आया हुआ' किया है। तथा उक्त उपदेशोंमें नागहस्तीके उपदेशको पवाइज्जमाण और आर्यमंक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा है। इसके सम्बन्धमें आगे विशेष प्रकाश डाला जायेगा।

कतिपय श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें आर्यमंगु और नागहस्ती नामके आचार्योंका निर्देश अवश्य मिलता है। नन्दिसूत्रकी[3] स्थविरावलीमें इन दोनों आचार्योंका सम-

---

१. 'एतेनाशङ्का द्योतिता आत्मीया गुणधरवाचकेन।' —क० पा०, भा० १ पृ० ३६५।

२. 'महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवदेसेण·········
महावाचयाणं णागहत्थिखवणाणमुवदेसेण···। —ज० ध० प्रेसकापी, पृ० ७५८१।

३. 'भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥'
वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरणकरणभंगियकम्मपयडीपहाणाणं ॥३०॥' —नन्दि०

रण बड़े आदरके साथ करते हुए आर्यमंगुको ज्ञान और दर्शन गुणोंका प्रभावक तथा श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है और नागहस्तीको कर्मप्रकृतिमें प्रधान बतलाते हुए उनके वाचकवंशकी वृद्धिकी शुभकामना की है।

आवश्यक नि० में[1] गणधरवंशके साथ वाचकवंशको भी नमस्कार किया है। टीकाकार मलयगिरिने इसकी टीकामें वाचकका अर्थ उपाध्याय, और गणधरका अर्थ आचार्य किया है। किन्तु नन्दिसूत्रकी टीकामें उन्होंने वाचकका दूसरा ही अर्थ दिया है—'जो शिष्योंको पूर्वगत सूत्र तथा अन्य सूत्रोंकी वाचना करता है उसे वाचक कहते[2] है।'

षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत बन्धन-अनुयोगद्वारके १९वें सूत्रमें भी वाचक, गणि आदि लब्धियोंका निर्देश है। धवलाटीकाकार वीरसेन स्वामीने ग्यारह अंगोंके ज्ञाताको गणी और बारह अंगोंके ज्ञाताको वाचक[3] कहा है। इससे यही व्यक्त होता है कि पूर्वोके ज्ञाताको वाचक कहा जाता था और वाचकोंकी परम्पराको वाचकवंश कहा जाता होगा।

श्वेताम्बर मुनि दर्शनविजयजीने लिखा[4]—'विक्रमकी छठी शताब्दी तक जैन ग्रन्थोंमें पूर्ववित् होनेका उल्लेख है।····पूर्वज्ञानका विच्छेद होनेके बाद वाचकवंश या वाचकशब्दका कोई पता नहीं लगता। इससे भी वाचक और पूर्ववित्का सम्बन्ध ठीक मालूम होता है।'

मुनिजीके लेखानुसार वाचकवंश माथुरी वाचनाका सूत्रधार अर्थात् आगमसंग्राहक सम्प्रदाय था। इसकी पट्टावली नन्दिसूत्रमें है। उसके अनुसार आर्य नागहस्तिसे आर्य नागार्जुन वाचक तक वाचकवंश होना सम्भव है।

उक्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर उल्लेखोंसे यह प्रकट है कि पूर्वविद्को वाचक कहते थे। किन्तु वाचकवंशकी स्थिति स्पष्ट नहीं होती। 'नागहस्तीके वाचकवंश' से तो यही ज्ञात होता है कि नागहस्ती वाचकवंशके संस्थापक थे। किन्तु आगे नन्दीसूत्रमें[5] रेवती नक्षत्रके वाचकवंशकी वृद्धिकी कामना की गई है। और टीका-

---

१. 'एक्कारस वि गणहरे पवायए पवयणस्य वंदामि।
सव्वं गणहरवंसं वायगवंसं पवयणं च ॥८२॥'
—आ० नि०

२. 'पूर्वगतं सूत्रमन्यच्च विनेयान् वाचयन्तीति वाचकाः तेषां वंशः—क्रमभाविपुरुषपर्वप्रवाहः।'
—नं० सू० टी०, गा० ३०।

३. षट्खं०, पु० १४, पृ० २२।

४. अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ५७७।

५. 'जच्चं जणधाउसमप्पहाणमुद्दिय कुवलयनिहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइनक्खत्तनामाणं ॥३१॥'

कार मलयगिरिने उन्हें नागहस्तीका शिष्य बतलाया है।

इसके सिवाय प्रज्ञापनासूत्रके प्रारम्भमें दो गाथाओंके द्वारा उसके कर्ता श्यामार्यको नमस्कार करते हुए उन्हें वाचकवरवंशका तेईसवाँ धीर पुरुष बतलाया है। चूंकि ग्रन्थकी आदिमें ग्रन्थकार अपनेको नमस्कार नहीं करता, इसलिए टीकाकार मलयगिरिने उन दो गाथाओंको अन्यकर्तृक कहा है, किन्तु व्याख्यान दोनों गाथाओंका किया है। उन्होंने लिखा है कि सुधर्मा स्वामीसे लेकर भगवान आर्य श्याम तेवीसवें थे। इसका मतलब यह होता है कि परम्परा सुधर्मासे आरम्भ हुई। किन्तु सुधर्मासे श्यामार्य तक स्थविरोंकी संख्या १२ ही होती है। अतः भगवान् महावीर और उनके शेष दस गणधरोंको भी उसमें सम्मिलित करके वीरसे श्यामार्य तककी तेईस[1] संख्या पूरी की गई है और इस तरहसे वाचकवरोंका वंश भगवान् महावीरसे प्रारम्भ हुआ माना जाता है। किन्तु जिस श्यामार्यको प्रज्ञापनाका कर्ता और वाचकवंशका तेवीसवाँ पुरुष कहा है उनकी स्थिति निर्विवाद नहीं है। मेरुतुंगकी[2] विचारश्रेणिमें उस स्थान पर कालकाचार्यका नाम है। और व्याख्यामें लिखा है कि यह निगोदव्याख्याता कालकाचार्य ही श्यामार्य है या अन्य है, यह विचारणीय है। तपागच्छकी[3] पट्टावलीमें उन्हे तत्त्वार्थसूत्रकार स्वातिका शिष्य बतलाया है। और वीर निर्वाणके ३७६वें वर्षमें उनका स्वर्गवास बतलाया है। पट्टावलीसारोद्धारमें[3] भी यही काल दिया है। एक टिप्पणीमें[5] लिखा है कि चार कालकाचार्य हुए, जिनमेंसे प्रथम इन्द्रके प्रतिबोधक निगोदका व्याख्यान करनेवाले श्यामाचार्य थे, जो स्वातिके शिष्य थे और वी० नि० सं० ३२० से ३३५ में हुए थे। नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें भी उन्हें स्वातिका शिष्य बतलाया है।

किन्तु प्रज्ञापनामें जो उन्हें वाचकवरवंशका तेवीसवाँ पुरुष बतलाया है उससे

---

१. 'वायगवरवंसाउ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण।
दुद्धरधरेण मुणिणा पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीणं ॥३॥
सुयसागराविणेऊण जेण सुयरयणमुत्तमं दिण्णं।
सीसगणस्स भगवओ तस्स णमो अज्जसामस्स ॥४॥
टी०—'वाचकाः पूर्वविदो वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवराः वाचकप्रधानास्तेषां वंशः प्रवाहः।......सुधर्मस्वामिनः आरभ्य भगवानार्यश्यामस्त्रयोविंशतितम एव।'
—प्रज्ञा०

२. 'अयं च प्रज्ञापनोपाङ्गकृतसिद्धान्ते श्रीवीरादन्वेकादशगणभृद्भिः सह त्रयोविंशतितमः पुरुषः श्यामार्य इति व्याख्यातः।'... ...ततोऽसौ श्यामार्योऽन्यो वेति चिन्त्यम्।'—वि०श्र०।

३. पट्टा० स०, पृ० ४६।

४. पट्टा० स०, पृ० १५०।

५. 'चत्वारः कालिकाचार्याः। तद्यथा—प्रथमः शक्रप्रतिबोधकः प्रज्ञापनासूत्रकृत् श्रीस्वातिसूरिशिष्यः श्यामाचार्यः वी० सं० ३२० तः ३३५'—पट्टा० स०, पृ० १९८।

केवल यही व्यक्त होता है कि वे पूर्वविदोंकी परम्परामेंसे थे। किन्तु उससे वाचकवंशकी स्थितिपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

यह हम ऊपर लिख आये हैं कि आवश्यकनिर्युक्तिमें गणधरवंशके साथ वाचकवंशको भी नमस्कार किया है। विशेषावश्यकभाष्यके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने भाष्यमें[1] उसका विवेचन करते हुए लिखा है कि 'यदि गणधरों और वाचकोंका वंश न होता तो जिनवर भगवान् और गणधरोंसे उत्पन्न हुए श्रुतका ग्रहण, धारण और दान आदि कौन करता? जैसे गणाधिप (गौतमादि) और गणधर (जम्बूस्वामी आदि शेष आचार्य) द्वादशांगके वक्ता होनेके कारण शिष्योंके हितकारी हैं, वैसे ही उस सूत्रके पाठक उपाध्याय भी शिष्योंके हितकारी हैं। अतः उन उपाध्यायोंके वंशको भी नमस्कार करते हैं।'

इस भाष्यके अर्थसे स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने वाचकवंशसे द्वादशांगके पाठकोंकी परम्पराका ही ग्रहण किया है। उन्होंने वाचकनामके किसी विशेष वंशकी सूचना नहीं की।

अतः मूल द्वादशांगके वेत्ता वाचक कहे जाते थे और उनकी परम्पराको वाचकवंश कहते थे। किन्तु नन्दिसूत्रमें जो नागहस्तीके वाचकवंशका उल्लेख है वह उक्त सामान्य अर्थमें प्रयुक्त न होकर विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

आर्यमंगु और नागहस्तीमेंसे आर्यमंगुकी गणना दशपूर्वियोंमें की जाती है, क्योंकि वे अन्तिम दशपूर्वी वज्रस्वामीसे पहले हुए माने जाते हैं। किन्तु नागहस्ती वज्रस्वामीके पश्चात् हुए थे, अतः वे दशपूर्वी नहीं थे। वज्रस्वामीके उत्तराधिकारी[2] आर्यरक्षित थे। वे सम्पूर्ण नौ पूर्व और दशम पूर्वके २४ यविक मात्रके पाठी थे। उनके शिष्य दुर्वलिका पुष्पमित्र नौ पूर्व पढ़कर भी नवें पूर्वको भूल गये।

प्रभावकचरितमें[3] आर्यनन्दिलको आर्यरक्षितके वंशका तथा साढ़े नौपूर्वी बतलाया है। किन्तु नन्दीसूत्रकी टीकामें मलयगिरिने आर्यनन्दिलको आर्यमंगुका शिष्य बतलाया है और आर्य नन्दिलके शिष्य नागहस्ती थे। नन्दिसूत्रमें आर्यमंगुको श्रुतसागरका पारगामी और आर्यनन्दिलको दर्शन, ज्ञान एवं तपमें नित्य उद्यत तथा नागहस्तीको कर्मप्रकृतिमें प्रधान बतलाया है। टीकाकार मलयगिरिने नंदिसू० टीकामें 'कर्मप्रकृति प्रसिद्ध है' मात्र इतना ही लिखा है। किन्तु कर्मप्रकृतिकी टीकामें उन्होंने दूसरे अग्रायणी पूर्वके पंचम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका

---

१. 'जिणगणहरुग्गयस्स वि सुयस्स को गहणधरणतणाइं
कुणमाणो यह गणहरवायगवंसो न होज्जाहि ॥१०६६॥
सीसहिया वत्तारो गणाहिवा गणहरा तयत्थस्स
सुत्तस्सोवज्झाया वंसो तेसिं परम्परओ ॥१०६७॥'—विशे० भा०।

२. विशे० भा०, टी, गा० २५११।

३. 'आर्यनन्दिल प्रबन्ध'—प्र० च०।

नाम कर्मप्रकृति बतलाया है। यह वही कर्मप्रकृतिप्राभृत है जिसके अन्तिम ज्ञाता दिगम्बर परम्परामें धरसेनाचार्य थे और जिसे उनसे पढ़कर भूतबलि और पुष्पदन्तने षट्खण्डागमकी रचना की थी। अतः नागहस्ती पूर्वपदांशवेदी थे। उनके समयमें पूर्वोके ज्ञानका बहुत कुछ लोप हो गया था। सम्भवतः इसीसे उन्होंने वाचकोंकी परम्परा (वंश) स्थापित करके उनके बचे-खुचे अंशोंको सुरक्षित बनाये रखनेका प्रयत्न किया था।

श्वेताम्बर परम्परामें पूर्वोके ज्ञानकी परम्पराका चलन वीर नि० के एक हजार वर्ष पर्यन्त माना गया है। माथुरी वाचनाके समयमें बलभीमें आगमवाचना करनेवाले नागार्जुनको नन्दिसूत्रमें वाचक तथा उनके गुरु हिमवंतको पूर्वधर लिखा है। इससे प्रकट होता है कि कम-से-कम माथुरी वाचना पर्यन्त पूर्वविद् थे। किन्तु माथुरी और उसके समकालीन बालभी वाचनाओंमें यद्यपि ग्यारह अंगोंकी वाचना तो हुई, किन्तु पूर्वोके किसी भी अंशकी वाचना नहीं हुई। यदि हुई होती तो माथुरी वाचनाके डेढ़सौ वर्ष बाद वलभीमें हुई अन्तिम वाचनामें ग्यारह अंगोंकी तरह पूर्वोके भी कुछ अंश अवश्य लिपिबद्ध किए जाते, किन्तु ऐसा नहीं किया गया। अतः स्पष्ट है कि श्वेतांबर परम्परामें पूर्वोका ज्ञान नागहस्तीसे पहले ही विलुप्त हो चुका था। वह भी घटते-घटते देवर्द्धिगणिके कालमें केवल विषयसूची आदिके रूपमें ही अवशिष्ट रहा, जिसका प्रमाण नन्दिसूत्र तथा समवायांगसूत्रमें पायी जानेवाली दृष्टिवादविषयक सूची है। अस्तु, अब हमें देखना है कि नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें आगत आर्यमंगु और नागहस्ती कब हुए थे।

नन्दिसूत्रमें आर्यमंगुके पश्चात् आर्य नन्दिलको स्मरण किया है और उनके पश्चात् नागहस्तीको। नन्दिसूत्रकी चूर्णि और हरिभद्रकी नन्दिवृत्तिमें भी यही क्रम पाया जाता है। तथा दोनोंमें आर्यमंगुका शिष्य आर्य नन्दिलको और आर्य नन्दिलका शिष्य नागहस्तीको बतलाया है। इससे नागहस्ती आर्यमंगुके प्रशिष्य अवगत होते हैं। किन्तु मुनि कल्याणविजयजीका कहना है कि आर्यमंगु और आर्य नन्दिलके बीचमें चार आचार्य और हो गये हैं और नन्दिसूत्रमें उनसे सम्बद्ध दो गाथाएँ छूट गई हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। अपने इस कथनके समर्थनमें उनका कहना है कि आर्य मंगुका युगप्रधानत्व वीर नि० ४५१ से ४७० तक था। परन्तु आर्य नन्दिल आर्य रक्षितके पश्चात् हुए थे और आर्य रक्षितका स्वर्गवास वी० नि० सं० ५९७ में हुआ था। इसलिए आर्य नन्दिल वी० नि० सं० ५९७ के पश्चात् हुए थे। इस तरह मुनिजीकी कालगणनाके अनुसार आर्य मंगु और आर्य नन्दिलके मध्यमें १२७ वर्षका अन्तराल है। और उसमें आर्य नन्दिलका समय और जोड़ देने पर आर्य मंगु और नागहस्तीके बीचमें १५० वर्षके लगभग अंतर बैठता है। अतः मुनि कल्याणविजयजीके अनुसार आर्य मंगु और नागहस्ती सम-

कालीन नहीं हो सकते। किन्तु जयधवलाकार[1] चूर्णिसूत्रोंके कर्ता आचार्य यतिवृषभको आर्य मंक्षुका शिष्य और नागहस्तीका अन्तेवासी बतलाते हैं। यद्यपि साधरणतया शिष्य और अन्तेवासीका एक ही अर्थ माना जाता है तथापि चूँकि अन्तेवासीका शब्दार्थ 'निकटमें रहनेवाला' भी होता है और इसलिये यतिवृषभको नागहस्तीका निकटवर्ती साक्षात् शिष्य और आर्यमंक्षुका परम्परा शिष्य माना जा सकता है। किन्तु जयधवलाकारका कहना है कि यतिवृषभने उन दोनोंके पादमूलमें गुणधर कथित गाथाओंके अर्थका श्रवण किया। अतः दोनों समकालीन होने चाहिये।

जयधवलाकारके अनुसार गुणधर आचार्य अंगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त होनेपर वीर नि० सम्वत् ६८३ के बादमें हुए। और श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार आर्य मंगुका युगप्रधानत्व वीर नि० सम्बत् ४७० में समाप्त हुआ। अतः गुणधरका समय मंगुसे दो सौ वर्षोसे भी अधिक उत्तरकालीन होनेसे गुणधरकी गाथाएँ आर्य मंगुको प्राप्त नहीं हो सकतीं। रहे नागहस्ती। सो यदि मुनि कल्याणविजयजीके मतानुसार आर्य मंगु और नागहस्तीके मध्यमें १५० वर्षोका अन्तर मान लिया जाता है तो वीर नि० सं० ६२० में उन्हें पट्टासीन होना चाहिए। श्वेताम्बर परम्परामें उनका युगप्रधातकाल ६१ वर्ष माना जाता है। अतः उनका समय वी० नि० ६८९ तक जाता है। यदि गुणधराचार्यको वीर नि०सं० ६८३ के लगभगका मानकर सीधे गुणधरसे ही नागहस्तीको कसायपाहुडकी प्राप्ति हुई मान ली जाये, जैसा कि इन्द्रनन्दिका मत है, तो गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जाता है, किन्तु एक दूसरी बाधा उपस्थित होती है—

जयधवलाकार और इन्द्रनन्दि दोनोंका कहना है कि आर्यमंक्षु और नागहस्तीके पास कसायपाहुडके गाथासूत्रोंका अध्ययन करके यतिवृषभ आचार्यने उनपर चूर्णिसूत्र रचे। वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभका समय वी० नि० सं० १०००के आस-पास होता है। अतः उक्त प्रकारसे गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जानेपर भी नागहस्ती और यतिवृषभका गुरु-शिष्यभाव नहीं बनता, नागहस्तीके दूसरे साथी आर्य मंगुको तो पहले ही छोड़ा जा चुका है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्वयं यतिवृषभने आर्य मंक्षु या नागहस्तीका कोई निर्देश नहीं किया। उनके चूर्णिसूत्रोंमें किसी आचार्यका संकेत तक नहीं है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें एक गाथामें गुणधरका नाम होनेकी सम्भावना अवश्य है। अपने चूर्णिसूत्रोंमें वे पवाइज्जमाण और अपवाइज्जमाण

---

१. 'जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥'

—क० पा०, भा० १०, पृ ४।

उपदेशका निर्देश अवश्य करते हैं, किन्तु किसका उपदेश पवाइज्जमाण और किसका उपदेश अपवाइज्जमाण है इसकी कोई चर्चा नहीं करते। यह चर्चा करते हैं जयधवलाकार, जिन्हें इस विषयमें अवश्य ही अपने पूर्वके अन्य टीकाकारोंका उपदेश प्राप्त रहा होगा। ऐसी अवस्थामें आर्यमंक्षु, नागहस्ती तथा यतिवृषभके गुरुशिष्य-भावको सहसा काल्पनिक और भ्रान्त भी नहीं कहा जा सकता।

ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या दिगम्बर परम्परामें आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके श्वेताम्बर परम्पराके उक्त नामधारी दोनों आचार्योंसे भिन्न कोई दूसरे ही आचार्य हुए हैं जो महावाचक और क्षमाश्रमण जैसी उपाधियोंसे भूषित थे? किन्तु इस विषयमें कहींसे प्रकाश प्राप्त नहीं होता, क्योंकि किसी दिगम्बर पट्टावलीमें इन आचार्योंका नाम नहीं मिलता।

इसके सिवाय दोनोंकी तुलना करनेसे कतिपय बातोंमें समानता भी पायी जाती है। श्वेताम्बर परम्पराके आर्यमंगुकी तरह दिगम्बर परम्पराके आर्यमंक्षु भी नागहस्तीसे जेठे थे, क्योंकि जयधवलाकारने सर्वत्र नागहस्तीसे पहले आर्य मंक्षुका नाम निर्देश किया है। दूसरे, मंगलाचरणमें तो आर्य मंक्षुको ही विशेष महत्त्व देते हुए लिखा है—'जिन आर्यमंक्षुने गुणधर आचार्यके मुखसे प्रकट हुई गाथाओंके समस्त अर्थका अवधारण किया, नागहस्ती सहित वे आर्यमंक्षु हमें वर प्रदान करें।' यहाँ नागहस्तीका केवल नाम निर्देश किया है और आर्यमंक्षुको गुणधरकृत गाथाओंके समस्त अर्थका अवधारक कहा है। किन्तु आर्यमंक्षुको ज्येष्ठता देनेपर भी जयधवलाकारने उनके उपदेशको 'अपवाइज्जमाण' और नागहस्तीके उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है। जो उपदेश सर्वाचार्य सम्मत होता है और चिरकालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्यपरम्पराके द्वारा लाया जाता है उसे पवाइज्जमाण कहते हैं। किन्तु जयधवलाकारने आर्यमंक्षुके सभी उपदेशोंको 'अपवाइज्जमाण' नहीं कहा है। ऐसे भी प्रसंग हैं जहाँ दोनोंके उपदेशोंको 'पवाइज्जमाण' कहा है। परन्तु ऐसे प्रसंग वे ही हैं जिनमें आर्यमंक्षु और नागहस्तीमें मतैक्य है। इससे यह प्रकट होता है कि नागहस्तीके उपदेश ही पवाइज्जमाण माने जाते थे—आर्यमंक्षुके नहीं।

उधर श्वेताम्बर साहित्यमें आर्यमंगुकी एक कथा पाई जाती हैं, जिसमें लिखा है कि आर्यमंगु मथुरामें जाकर भ्रष्ट हो गये थे और मरकर यक्ष हुए थे। शायद इसीसे उनके उपदेशोंका मूल्य नहीं रहा था। इत्यादि बातोंसे दोनों परम्पराओंके उक्त समान नामवाले दोनों आचार्य एक ही प्रतीत होते हैं।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। नन्दिसूत्रके अनुसार नागहस्ती कर्मप्रकृति (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) के विशिष्ट ज्ञाता थे और जयधवलाके अनुसार कषायप्राभृतके विशिष्ट ज्ञाता थे। नागहस्तीसे कषायप्राभृतका अध्ययन

करके यतिवृषभने उसके ऊपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की थी। उन चूर्णिसूत्रोंमें यतिवृषभने 'एसा कम्मपयडीसु' के द्वारा कर्मप्रकृतिका निर्देश किया है। इससे यह प्रकट होता है कि यतिवृषभ महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके भी ज्ञाता थे। सम्भवतया उसका भी अध्ययन उन्होंने नागहस्तीसे किया होगा। इससे भी नन्दिसूत्रमें निर्दिष्ट नागहस्ती और जयधवलामें निर्दिष्ट नागहस्ती एक प्रतीत होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि चूंकि कषायप्राभृत और कर्मप्रकृति दोनों कर्मसिद्धान्तसे सम्बद्ध थे, इसलिए दोनोंके कुछ प्रतिपाद्य विषयोंमें समानता थी। दिगम्बर परम्परामें तो 'कर्मप्रकृति' नामक कोई ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं है किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें कर्मप्रकृति नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात) से प्रकाशित हुआ है। उसके कर्ताका नाम शिवशर्मसूरि कहा जाता है। किन्तु अभी वह निर्विवाद नहीं है। कर्मप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामें कहा है[1]—'मैंने अल्पबुद्धि होते हुए भी जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृतिप्राभृतसे इस ग्रन्थका उद्धार किया। दृष्टिवादके ज्ञाता पुरुष स्खलितांशोंको सुधारकर उनका कथन करें।' इस ग्रन्थपर एक चूर्णि है। उसके आरम्भमें लिखा है कि—'विच्छिन्न कर्मप्रकृति महाग्रन्थके अर्थका परिज्ञान करानेके लिए आचार्यने उसीका सार्थक नामधारी कर्मप्रकृतिसंग्रहणी प्रकरण प्रारम्भ किया है।' अतः यह ग्रन्थ प्राचीन होना चाहिए।

इसके संक्रमकरण नामक अधिकारमें कषायप्राभृतके बन्धक महाधिकारके अन्तर्गत संक्रम-अनुयोगद्वारकी तेरह गाथाएँ अनुक्रमसे पाई जाती हैं। तथा सर्वोपशमनानामक प्रकरणमें कषायप्राभृतके दर्शनमोहोपशमना नामक अधिकारकी चार गाथाएँ पाई जाती हैं। दोनों ग्रन्थोंमें आगत उक्त गाथाओंके कुछ पदों और शब्दोंमें व्यतिक्रम तथा अन्तर भी पाया जाता है।

यहाँ इस बातके निर्देशसे केवल इतना ही अभिप्राय व्यक्त करना है कि कषायप्राभृतके ज्ञाता कर्मप्रकृतिके और कर्मप्रकृतिके ज्ञाता कषायप्राभृतके अंशतः या पूर्णतः ज्ञाता होते थे। अतः नागहस्ती दोनोंके ज्ञाता थे और उन्हींकी तरह यतिवृषभ भी दोनोंके ज्ञाता थे। किन्तु कषायप्राभृतके वह विशिष्ट ज्ञाता थे।

इसके सिवाय आर्यमंक्षु और नागहस्तीको महावाचक कहा गया है। उधर नन्दीसूत्रमें नागहस्तीके वाचकवंशका निर्देश है

इन सब बातोंके प्रकाशमें दोनों परम्पराओंके उक्त दोनों आचार्य हमें तो अगल-अलग व्यक्ति प्रतीत नहीं होते। किन्तु ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है कि वे किस परम्पराके थे—दिगम्बर थे या श्वेताम्बर? क्योंकि यों

---

१. 'इय कम्मप्पगडीओ जहा सुयं नीयमप्पमइणावि।
सोहियणा भोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नु॥"

तो अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके निर्वाणके साथ ही दोनों परम्पराओंके आचार्योंकी नामावली भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु उसके मध्यमें एक ऐसे आलोकस्तम्भ हैं, जिनके प्रकाशकी किरणोंको दोनों अपनाये हुए हैं। उनके पश्चात् ही संघभेदका सूत्रपात होता है, जो आगे जाकर विक्रम सम्वत्‌की द्वितीय शताब्दीके पूर्वार्धमें स्पष्ट रूप ले लेता है। अतः श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् अन्य कोई आचार्य ऐसा नहीं हुआ, जिसे दोनों परम्पराओंने मान्य किया हो। इससे उक्त प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है। उसके समाधानके लिए हमें दोनों परम्पराओंमें उक्त दोनों आचार्योंकी स्थितिका विश्लेषण करना होगा।

गुणधर और धरसेनकी गुरुपरम्परा भिन्न थी। गुणधररचित कषायप्राभृतको आर्यमंक्षु और नागहस्तीके द्वारा जानकर यतिवृषभने उसपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की और धरसेनसे महाकर्मप्रकृतिप्राभृतको पढ़कर भूतबलि और पुष्पदंतने उसके आधारपर षट्खण्डागम सिद्धान्तकी रचना की। इन दोनों ग्रन्थोंके कतिपय मन्तव्यों-में भेद भी पाया जाता है—जयधवला और धवलाटीकामें उनकी चर्चा है। उनका निर्देश करते हुए टीकाकारने दोनोंको भिन्न[1] 'आचार्योंका कथन' कहा है। इससे भी दोनों सिद्धान्तग्रन्थोंकी परम्पराके भेदका समर्थन होता है। किन्तु इस गुरु-परम्पराभेदमें ऐसी कोई बात नहीं ज्ञात होती है जिसमें श्वेताम्बर-दिगम्बरपरम्परा-रूप भेदका समर्थन होता हो या संकेत मिलता हो।

उधर श्वेताम्बर परम्परामें न तो गुणधराचार्यका नामोनिशां मिलता है और न यतिवृषभका। हाँ, [2]सित्तरीचूर्णिमें 'कषायप्राभृत'का निर्देश अवश्य पाया जाता है। इधर दिगम्बर परम्परामें गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्तीका नाम कषाय-प्राभृतके निमित्तसे केवल जयधवला और श्रुतावतारमें ही स्पष्टरूपसे आता है। किसी गुर्वावली या पट्टावलीमें इनका नाम हमारे देखनेमें नहीं आया।

श्वेताम्बर परम्परामें भी आर्यमंगु और नागहस्तीका विवरण एक-एक गाथा-के द्वारा केवल नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें ही पाया जाता है। इनके किसी मत-का या किसी कृतिका कोई उल्लेख श्वेताम्बर साहित्यमें नहीं मिलता। जब कि जयधवलाके देखनेसे यह प्रकट होता है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीके सामने कोई ऐसी रचना अवश्य थी, जिसमें इन दोनों आचार्योंके मतोंका स्पष्ट निर्देश था, क्योंकि यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें 'पवाइज्जमाण' उपदेशका निर्देश अवश्य किया है किन्तु किसका उपदेश 'पावाइज्जमाण' और किसका उपदेश 'अपवाइ-ज्जमाण' है, यह निर्देश नहीं किया। इसका स्पष्ट विवेचन किया है टीकाकारने,

---

१. क०, पा०, भा० १, पृ० ३८६। षटखं०, पु० १, पृ० २१७।
२. 'तं च कसायपाहुडादिसु विहडन्तित्ति काउं परिसेसियं'—सि० चू०, पृ० १२।

अतः उनके सामने कोई उक्त प्रकार की रचना अवश्य होना चाहिये। इस तरह आर्यमंक्षु और नागहस्तीको हम दोनों परम्पराओंमें इस रूपमें पाते है कि उसपर से यह निर्णय करना शक्य नहीं है कि ये दोनों आचार्य अमुक परम्पराके ही थे। किन्तु इतना स्पष्ट हैं कि ये दोनों दृष्टिवादके अंगभूत कर्मसिद्धान्तके प्रमुख ज्ञाता थे और इसीसे महावाचक कहे जाते थे। कर्मसिद्धान्त एक ऐसा विषय है जिसमें दिगम्बर और श्वेताम्बरत्वकी दृष्टिसे मतभेदोंको कम ही स्थान प्राप्य है। कर्मशास्त्रके वेत्ताओंकी एक स्वतंत्र परम्परा भी थी, जो कर्मिक कहलाते थे। इन कार्मिकोंका सैद्धान्तिकोंसे अनेक विषयोंमें मतभेद था, श्वेताम्बर साहित्यके अवलोकनसे ही यह बात प्रकट होती है। सैद्धान्तिकोंका मत दिगम्बर परम्परामें नहीं पाया जाता, किन्तु कार्मिकोंका मत दिगम्बर परम्पराके मतसे प्रायः मेल खाता है। आर्यमंगु और नागहस्ती सम्भवतया कार्मिक परम्पराके आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि ये दोनों आचार्य ऐसे समयमें हुए, जब दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदका प्राबल्य नहीं हुआ था। अतः कम-से-कम कर्मसिद्धान्तके पठन-पाठनमें उस समय आम्नायभेदका प्रश्न नहीं था। आगे सैद्धान्तिकों और कार्मिकोंके मतभेदोंके प्रदर्शनद्वारा इस विषयपर विशेष प्रकाश डाला जायगा।

इस तरह दोनों परम्पराओंके उक्त आचार्य हमें भिन्न-भिन्न प्रतीत नहीं होते। फिर भी दोनोंकी समकालीनताका प्रश्न बना ही रहता है। उसके समाधानके लिये हमें सर्वप्रथम नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीका ही पर्यवेक्षण करना होगा।

श्वेताम्बर आम्नायकी दो स्थविरावलिया प्रमुख और प्राचीन मानी जाती हैं। उनमेंसे एक कल्पसूत्रमें पाई जाती है और दूसरी नन्दिसूत्रमें। भद्रबाहु श्रुतकेवलीके गुरुभाई संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रसे दोनों स्थविरावलियां चलती हैं। स्थूलभद्रसे पूर्वके स्थविरोंमें कोई अन्तर नहीं है।

स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और सुहस्ती। आर्य महागिरिकी स्थविरावली नन्दिसूत्रमें है और आर्य सुहस्तीकी कल्पसूत्रमें। किन्तु दोनों गुर्वावलियाँ देवर्द्धिगणिसे सम्बद्ध होनेसे देवर्द्धिगणिकी कही जाती है। मुनि दर्शनविजयजी कल्पसूत्रस्थविरावलीको गणधरवंशीय और नन्दिसूत्रपट्टावलीको वाचकवंशीय बतलाते हैं। कल्प० स्थ० को क्यों गणधरवंशीय माना गया है, यह हम नहीं समझ सके, क्योंकि दोनों ही स्थविरावलियाँ सुधर्मा गणधरसे आरम्भ हुई हैं। स्थूलभद्रके दो शिष्योंसे ही उनमें भेद पड़ता है। तथा आर्य महागिरिकी शिष्यपरम्परामें ही आर्यमंगु और नागहस्तीका नाम आया है। आर्य महागिरिकी नन्दिसूत्रोक्त शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—बलिस्सह, स्वाति, श्यामार्य, शाण्डिल्य, समुद्र, मंगु, नन्दिल, नागहस्ति आदि। और आर्य सुहस्तिकी शिष्यपरम्परामें उनके

दो शिष्य हुए—सुस्थित और सुप्रबुद्ध। उन दोनोंके इन्द्रदिन्न नामका शिष्य हुआ। उसके आर्यदिन्न, उसके सिंहगिरि, उसके वज्रसेन आदि। नन्दिसूत्र स्थ० में मंगु और नन्दिलके बीचमें चार नाम और भी पाठान्तररूपमें मिलते हैं—वे हैं—आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र और आर्य रक्षित। वज्रका नाम कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें भी आया है। ये वज्रस्वामी[1] अन्तिमदशपूर्वी थे। इन्होंने सिंहगिरिसे दीक्षा ली थी और भद्रगुप्तसे पूर्वोंका अध्ययन किया था। इसीसे शायद उन्हें दोनों स्थविरावलियोंमें स्थान दिया गया है। किन्तु कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमें चार नाम हैं। और नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें यदि उक्त चार नामोंको सम्मिलित किया जाता है तो आर्य महागिरि और वज्रस्वामीके बीचमे आठ नाम हो जाते हैं। अर्थात् वज्रस्वामी आर्य सुहस्तीकी पांचवीं पीढ़ीमें थे और आर्य महागिरिकी आठवीं पीढ़ीमें थे। उधर एक 'दुःषाकाल श्री श्रमणसंघस्तोत्र'[2] नामक पट्टावलीमें आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमें होनेवाले सात युगप्रधानोंके नाम दिये हैं और तपागच्छकी[3] पट्टावलीमें भी उनका निर्देश किया है। वे सात युगप्रधान हैं—गुणसुन्दर, कालिकाचार्य, स्कन्दिलाचार्य रेवतीमित्र, धर्मसूरि, भद्रगुप्त और श्रीगुप्त। ये सातों नाम न तो कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें हैं और न नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें। हाँ, पाठान्तररूपमें जो चार नाम नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें सम्मिलित किये जाते हैं उनमेसे दो नाम 'धर्मसूरि और भद्रगुप्त' इनमें हैं।

मेरुतुंगने अपनी विचारश्रेणीमें लिखा है—'स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती। उनमेंसे आर्य महागिरिकी शाखा मुख्य है। स्थविरावलीमें वह इस प्रकार कही है—सूरि बलिस्सह, स्वाति, श्यामार्य, शांडिल्य, समुद्र, मंगु, नंदिल, नागहस्थी, रेवती, सिंह, स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन, गोविन्द भूतदिन्न, लौहित्य, दूष्यगणि और देवर्द्धि। श्रीवीरस्वामीके पश्चात् सत्ताईसवें युगप्रधान देवर्द्धिगणिने सिद्धान्तोंका व्यवच्छेद न हो, इसलिये उन्हें पुस्तकारूढ़ किया दूसरी शाखा, जो कल्पसूत्रमें कही है, इस प्रकार है—'आर्य सुहस्ती, सुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, सिंहगिरि, वज्रस्वामी, वज्रसेन। इन दोनों शाखाओंमें आर्य सुहस्तीके पश्चात् गुणसुन्दरका और श्यामार्यके पश्चात् स्कन्दिलाचार्यका नाम नहीं

---

१. देखो, प्रभा० च० में वज्रस्वामीका चरित।

२. पट्टा० स०, पृ० १६।

३. 'श्रीआर्यसुहस्ती-श्रीवज्रस्वामिनोरन्तराले श्रीगुणसुन्दरसूरिः, श्रीकालिकाचार्यः, श्रीस्कंदिलाचार्यः, श्रीरेवतीमित्रसूरिः, श्रीधर्मसूरिः, श्रीभद्रगुप्ताचार्यः, श्रीगुप्ताचार्यश्च क्रमेण युगप्रधानसप्तकं बभूव।' —पट्टा० स०, पृ० ४७

पाया जाता, तथापि सम्प्रदायमें देखा गया इसलिये यहाँ वैसा ही लिख दिया'।

अतः श्वेताम्बर पट्टावलियाँ भी व्यवस्थित नहीं हैं। डा० वेबरने (इं० एं०, जि० १९, पृ० २९३ आदि) नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीके विषयमें लिखा है कि उसमें बड़ी अनिश्चितता है। अवचूरी गाथा ३१–३२ के विषयमें लिखा है कि क्षेपक होनेसे वृत्तिमें इनका कथन नही किया। गाथा ३३–३४ पर टिप्पणी है कि इन दोनों गाथाओंका अर्थ आवश्यकदीपिकाके आधारसे लिखा है, अवचूर्णिमें भी नहीं है। गाथा ४१–४२ प्रक्षिप्त हैं। गोविन्दाचार्यके विषयमें उसका कथन है कि 'शिष्यक्रमका अभाव होनेसे वृत्तिमें नहीं कहा—आवश्यकटीकासे लिखा है।'

डा० वेबरने जो गाथानम्बर दिया है वह गाथानम्बर हमारे सामने उपस्थित स्थविरावलीसे मेल नहीं खाता! वह लिखते है कि गाथानम्बर ३३, जिसमें आर्य नन्दिलका निर्देश है, सन्देहास्पद है। मलयगिरिटीकावाले नन्दिसूत्रमें तथा पट्टावलीसमुच्चयमें प्रकाशित नन्दिसूत्रपट्टावलीमें आर्य नन्दिलवाली गाथाका नम्बर २९ है। इस तरह चारका अन्तर है। यदि दो प्रक्षिप्त गाथाओंको भी सम्मिलित कर लिया जाये तो भी दोका अन्तर रहता ही है। अतः नन्दिसूत्रकी पट्टावली भी सुव्यवस्थित नहीं है और इसलिये उसके आधारपर आर्यमंगु और नागहस्तीके मध्यमें जो एक शताब्दिसे भी अधिकका अन्तराल निकलता है, विश्वसनीय नही माना जा सकता।

गुणधर और धरसेनका पौर्वापर्य

आर्यमंक्षु और नागहस्तिकी प्रासंगिक चर्चाके अनन्तर हम पुनः आ०गुणधरकी ओर आते हैं। आचार्य गुणधरके समयपर प्रकाश डालनेके लिए धरसेनके समयपर संक्षेपमें चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा।

धवलाकारने वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् जब अंगपरम्पराका विच्छेद हो गया, उनका भी होना बतलाया है। किन्तु जैसे गुणधर और यतिवृषभका नाम किसी दि० जैन पट्टावलीमें नहीं पाया गया, वैसी बात धरसेन और उनके शिष्य भूतबलि-पुष्पदन्तके विषयमें नहीं कही जा सकती। नन्दीसंघकी प्राकृतपट्टावलीमें इन गुरु-शिष्योंका नाम पाया जाता है। यह पट्टावली कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसमें भी महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्षोंमें कालक्रमसे होनेवाले आचार्योंकी नामावली प्रायः उसी क्रमसे दी है जिस क्रमसे वह तिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला आदिमें पाई जाती है किन्तु उसमें जो कालगणना दी है उसमें उक्त सब ग्रन्थोंसे वैशिष्ट्य है। उक्त ग्रन्थोंमें महावीर-निर्वाणसे अन्तिम आचारांगधर लोहाचार्य तककी कालगणना ६८३ वर्ष बतलाई है। किन्तु नन्दी० पट्टा० के अनुसार लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही होते है। इस तरह

दोनोंकी कालगणनामें ११८ वर्षका अन्तर है ।

उक्त ग्रन्थोंके अनुसार महावीर निर्वाणके पश्चात् क्रमशः ६२ वर्षमें तीन-केवली, १०० वर्षोंमें पाँच श्रुतकेवली और १८३ वर्षोंमें ग्यारह दसपूर्वी हुए। नं०प० में भी यहाँ तक कोई अन्तर नहीं है। आगे उक्त ग्रन्थोंमें पाँच एकादशांग-धारियोंका काल २२० वर्ष और चार एकांगधारी आचार्योंका काल ११८ वर्ष बतलाया है, जो अधिक प्रतीत होता है। किन्तु नं० पट्टा० में ५ ग्यारह अंग-धारियोंका काल १२३ वर्ष और चारका काल ९९ वर्ष बतलाया है जिसमें २ वर्ष की भूल होनेसे ९७ वर्ष होते हैं, अतः ११८ वर्षका अन्तर स्पष्ट है। इन ११८ वर्षोंमें क्रमसे अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि हुए। इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार धरसेनका समय वीर-निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात् आता है। पट्टावली[1] में धरसेनका काल १९ वर्ष, पुष्पदन्तका तीस वर्ष और भूतबलिका बीस वर्ष बतलाया है। अतः इन तीनोंका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् ६१४से ६८३ वर्षके अन्दर आता है।

पीछे धवलामें जो श्रुतावतारका आख्यान दिया है उससे यह स्पष्ट है कि धरसेनाचार्य मंत्रशास्त्रके भी विद्वान् थे। उनके द्वारा रचित एक जोणिपाहुड़ नामक ग्रन्थका निर्देश १५५६ वि० सम्वत्‌में लिखी गई बृहट्टिप्पणिका नामक सूचीमें पाया जाता है। उसमें[2] उसे धरसेनके द्वारा वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् रचा हुआ लिखा है।

इससे भी नन्दी० पट्टा० के धरसेनविषयक समयकी पुष्टि होती है। अतः धरसेनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है।

पहले लिख आये हैं कि वीरसेनने वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद गुणधर और धरसेनका होना बतलाया है। और इन्द्रनन्दिके कथनसे यह स्पष्ट है कि इन दोनों आचार्योंकी गुरुपरम्परा विस्मृतिके गर्तमें जा चुकी थी। फिर भी जो वीरसेन स्वामीने उक्त दोनों आचार्योंका उक्त समय बतलाया है वह संभवतया इस आधारपर बतलाया है कि अंगज्ञानके रहते हुए उसे लिपिबद्ध करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया। अंगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त हो जानेपर जब श्रुतविच्छेद-

---

१. 'अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूतबली।
अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥१६॥
इगसय अठार वासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छ सय तिरासिय वासे णिव्वाणा अंगदिति कहिय जिणे ॥१७॥' नं०प०

इस पट्टावली तथा धरसेनके समयकी विवेचनाके लिए देखें—षट्खं० पु० १, की प्रस्तावना, तथा 'समन्तभद्र' पृ० १६१।

२. 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्।' बृह० टिप्प०, जैन०सा०सं० भाग १, २।

का भय उपस्थित हो गया तभी उसके बचे-खुचे अंशोंका लिपिबद्ध करनेकी चिन्ता उत्पन्न हुई।

किन्तु अंगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त हो जानेके बाद ही श्रुतविच्छेदके भयकी सम्भावनाका होना हमें समुचित प्रतीत नही होता, क्योंकि कषायप्राभृत और षट्खण्डागमकी रचना पूर्वोके अवशिष्ट बचे अंशोंके आधारपर हुई थी और पूर्वोकी अविच्छिन्न परम्पराका अन्त वीरनिर्वाणसे ३४५ वर्ष पश्चात् ही हो गया था। उसके होनेपर धीरे-धीरे पूर्वोके अवशिष्ट बचे अंश भी विस्मृत होते गये। पूर्वोकी अविच्छिन्न परम्पराका अन्त हो जानेपर भी अंगज्ञान तीन सौ वर्षसे भी अधिक कालतक क्रमशः हीयमान अवस्थानमें वर्तमान रहा। इतने सुदीर्घ कालतक विच्छिन्न पूर्वोके अवशिष्ट अंशको सुरक्षित रखनेकी भावनाका न होना और जब अंगज्ञान ही नष्ट हो चुका तब वैसा होना बुद्धिग्राह्य प्रतीत नहीं होता। पीठिकामे यह स्पष्ट किया गया है कि अंगोंसे पूर्वोका विशेष महत्त्व था। और पूर्वोका ज्ञान ६८३ वर्षोंके मध्यमें ही विच्छिन्न हो गया। अतः उनके विच्छिन्न होनेके पश्चात्से ही उनको सुरक्षित रखनेकी भावनाका उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

फिर भी यतः धरसेनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका पूर्वार्ध प्रमाणित होता है और लगभग यही समय (वी० नि० ६२०-६८९) श्वेताम्बरीय पट्टावलीके अनुसार नागहस्तीका आता है। और गुणधरके द्वारा रचित गाथाएँ आर्यमंक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुई थी, अतः गुणधर अवश्य ही उनसे पूर्ववर्ती होने चाहिये।

धरसेन और नागहस्तीकी समकालीनता इसलिये भी संभव प्रतीत होती है कि दोनों कर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे। धरसेनने कर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञान भूतबलि-तथा पुष्पदन्तको दिया, उन्होंने उसके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना की। उसके पश्चात्से कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होगया। टीकाकार वीरसेन[1] स्वामीके अनुसार उसी कर्मप्रकृतिप्राभृतका निर्देश अपने चूर्णिसूत्रोंमे 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर यतिवृषभने भी किया है। यतिवृषभको नागहस्तीसे कषायप्राभृतका ज्ञान प्राप्त हुआ था और नागहस्ती कर्मप्रकृतिके विशिष्ट ज्ञाता थे। अतः धरसेन और उनके शिष्य भूतबलि-पुष्पदन्त तथा नागहस्ती और उनके शिष्य यतिवृषभ ऐसे समयमें हुए थे, जब कर्मप्रकृतिप्राभृत विच्छिन्न नही हो सका था। अतः इनके मध्यमें दीर्घकालका अन्तर संभव प्रतीत नहीं होता। और ऐसी स्थितिमें आचार्य गुणधर अवश्य ही धरसेनके पूर्वकालिक प्रतीत होते हैं।

यह ऊपर लिख आये हैं कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें लोहाचार्यके पश्चात् ११८

१. 'एसा कम्मपयडीसु। कम्मपयडीओ णाम विदियपुव्वपंचमवत्थुपडिबद्धो चउत्थो पाहुडसाण्णिदो अहियारो अत्थि।'—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६५६७।

वर्षमें क्रमशः पाँच आचार्योंका होना बतलाया है वे आचार्य हैं—अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि। इनमेंसे अर्हद्बलिके विषयमें इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि उन्होंने जैनधर्ममें संघोंकी रचना की थी। जो मुनि शाल्मलिमहावृक्षके मूलसे पधारे थे उनमेंसे कुछको 'गुणधर'[1] संज्ञा दी और कुछको 'गुप्त' नाम दिया। यदि ये 'गुणधर' नाम आचार्य गुणधरकी स्मृतिमें दिया गया हो तो स्पष्ट है कि गुणधराचार्य अर्हद्बलिसे पहले हो चुके थे। किन्तु चूंकि गुणधर संज्ञा देनेका कोई कारण नहीं बतलाया गया, इसलिये इसपर विशेष जोर नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह संज्ञा उपेक्षणीय भी नहीं है।

प्रकृत विषयपर और भी प्रकाश डालनेके लिये हमें धवला और जयधवलाको टटोलना होगा। वीरसेन स्वामीने गुणधरको वाचक और आर्यमंक्षु तथा नागहस्तीको महावाचक लिखा है। और धवलाकी टीकामें वाचकका अर्थ पूर्वविद् किया है। जैसे गुणधर कषायप्राभृतके ज्ञाता थे, वैसे ही धरसेन भी कर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे। किन्तु फिर भी धरसेनको वाचक नहीं लिखा, इसका कारण क्या है?

इसके समाधानके लिये हमें धवला और जयधवलाके प्रारम्भिक भागपर दृष्टि डालनी चाहिये। धवलाके प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने धरसेनको अष्टांग[2]महानिमित्तका पारगामी लिखा है, किन्तु किसी पूर्व या उसके अंशका ज्ञाता नहीं लिखा, पुष्पदन्त-भूतबलिको क्या पढ़ाया, यह भी स्पष्ट नहीं किया—ग्रन्थ पढ़ाया[3] और ग्रन्थ समाप्त होगया। जब पुष्पदन्त सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना करके जिनपालितको भूतबलिके पास भेजते हैं तब उन्हें भय होता है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका[4] विच्छेद हो जायेगा। और उसपरसे यह अनुमान करना पड़ता है कि धरसेनने अपने शिष्योंको महाकर्मप्रकृतिप्राभृत पढ़ाया था और वह उसके ज्ञाता थे। आगे तो वीरसेनने[5] स्पष्टरूपसे उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञाता लिखा है। अब जयधवलाको देखिये। मंगलाचरणके[6] पद्यसे ही यह स्पष्ट होजाता है कि गुणधरने कषायप्राभृतका गाथा-

---

१. ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपगतास्तेषु। कांश्चिद् गुणधरसंज्ञान् कांश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ॥९४॥ श्रुता०।

२. 'अट्ठंगमहाणिमित्तपारएण'—षट्खं०, भा०१, पृ० ६७।

३. 'गंथो पारद्धो ··· गंथो समाणिदो'—पृ० ७०।

४. महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदित्ति'—पृ० ७१।

५. 'महाकम्मपयडिपाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारयं संपत्तो। ··· भूतबलि-पुप्फदंताणं महाकम्मपयडिपाहुडं सयलं समाणिदं। ··· महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छखंडाणि कयाणि।—षट्खं, पु० ९, पृ० ५३।

६. 'जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं। गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥६॥ क० पा० भा० १।

ओंद्वारा व्याख्यान किया। मंगलाचरणके पश्चात् आदिवाक्यसे ही गुणधरका गुणगान करते हुए वह लिखते हैं—'ज्ञानप्रवाद पूर्वके निर्मल दसवें वस्तु-अधिकारके तीसरे कषायप्राभृतरूपी समुद्रके जलसमूहसे धोये गये मतिज्ञानरूपी लोचनोंसे जिन्होंने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे गुणधर भट्टारक हैं और उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओंमें सम्पूर्ण कषायप्राभृतका अर्थ समाया हुआ है। आगे पुनः वीरसेन स्वामीने तीसरे कषायप्राभृतको महासमुद्रकी उपमा दी है और गुणधरको उसका पारगामी बतलाया है। किन्तु धवलामें धरसेनाचार्यके प्रति इस प्रकारके उद्गार दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन बातोंसे प्रतीत होता है कि गुणधर पूर्वविदोंकी परम्परामेंसे थे। किन्तु धरसेन पूर्वविद् होते हुए भी पूर्वविदोंकी परम्परामेंसे नहीं थे। दूसरे, धरसेनकी अपेक्षा गुणधर अपने विषयके विशिष्ट अथवा पूर्ण ज्ञाता थे और इसका कारण यह हो सकता है कि गुणधर ऐसे समयमें हुए थे जब पूर्वोके आंशिक ज्ञानमें उतनी कमी नहीं आई थी जितनी कमी धरसेनके समयमें आगयी थी। इन सब बातोंपर विचार करनेसे गुणधर धरसेनसे पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं।

इस विषयमें एक बात और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि 'भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकोंमें न्यस्त किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन चतुर्विध संघके साथ उसकी पूजा की। उसके कारण यह तिथि श्रुतपंचमीके नामसे ख्यात हुई। आज भी जैन उस दिन श्रुतकी पूजा करते हैं।'

धरसेनाचार्यने मुनिसंघको पत्र लिखकर दो मुनियोंको बुलाया था और पढ़ा-लिखाकर उन्हें योग्य बनाया था। उन्होंने अधीत आगमके आधारसे ग्रन्थरचना करके उसको पुस्तकोंमें न्यस्त कराया, अतः संघके द्वारा उसका उत्सव मनाया जाना उचित ही था। किन्तु गुणधरने तो स्वयं ही दोसौ तेतीस गाथाओंमें समस्त कषायप्राभृतको निबद्ध किया था। और उन्हें पुस्तकोंमें भी न्यस्त नहीं किया था, क्योंकि जयधवलामें लिखा[1] है कि आचार्यपरम्परासे आती हुई वे गाथाएँ आर्यमंक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुई। और उन दोनोंके पादमूलमें उनके अर्थको सम्यक् प्रकारसे सुनकर यतिवृषभने उनपर चूर्णिसूत्र बनाये।

---

१. 'पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले ···अत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं'—क० पा०, भा० १, गा० १, पृ० ८८।

इन्द्रनन्दिने लिखा[1] है कि गुणधरने गाथासूत्रोंको रचकर नागहस्ति और आर्यमंक्षुके लिये उनका व्याख्यान किया और उन दोनोंके पास यतिवृषभने उन गाथासूत्रोंका अध्ययन किया और उनपर वृत्तिसूत्ररूप चूर्णिसूत्रोंकी रचना की।

उक्त दोनों कथनोंसे यही प्रमाणित होता है कि कषायप्राभृतके गाथासूत्र मौखिक ही प्रवाहित हुए। जब कि षट्खण्डागमके सूत्र पुस्तकबद्ध किये गये। अत: आगमको सर्वप्रथम पुस्तकारूढ करनेके उपलक्ष्यमें हर्ष मनाना उचित ही था।

इससे भी यही प्रतिफलित होता है कि कषायप्राभृतकी रचनाके समय आगमको पुस्तकारूढ़ करनेकी परिपाटी प्रचलित नहीं हुई थी। जबकि षट्खण्डागमके समय उसका प्रचलन हो चुका था। इससे भी षट्खण्डमसे कषायप्राभृतके पूर्ववर्तित्वका ही समर्थन होता है। अत: गुणधर धरसेनसे पहले होने चाहिये।

कषायपाहुड नाम और विषयवस्तुका स्रोत

कषायप्राभृत प्राकृतगाथासूत्रोंमें निबद्ध है। इसकी पहली गाथा[2] में बतलाया है कि पाँचवें पूर्वके दसवें वस्तु-अधिकारमें पेज्जपाहुड नामक तीसरा प्राभृत है, उससे यह कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ है।

पीठिकामें पूर्वोके अन्तर्गत अधिकारोंका परिचय कराते हुए बतलाया गया है कि प्रत्येक पूर्वमें वस्तुनामक अनेक अधिकार होते हैं और एक-एक वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार होते हैं। तथा एक-एक प्राभृताधिकारके अन्तर्गत चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार होते हैं। पाँचवे पूर्वका नाम ज्ञानप्रवाद है और उस ज्ञानप्रवादके अन्तर्गत वस्तु नामक बारह अधिकार हैं। और प्रत्येक वस्तु अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार हैं। उनमेंसे दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत केवल एक तीसरे प्राभृतसे प्रकृत कषायप्राभृत रचा गया है। इससे पूर्वोके महत्त्व, वैशिष्ट्य और विस्तारका अनुमान किया जा सकता है।

कषायप्राभृतकी जयधवला[3] टीकामें तीसरे पेज्जपाहुडका परिमाण सोलह हजार पदप्रमाण बतलाया है। उस प्राभृतरूपी महार्णवको गुणधराचार्यने एकसौ अस्सी मात्र गाथाओंमें उपसंहृत किया है। इससे गुणधराचार्यकी उस विषयकी

---

१. 'एवं गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि। प्रविरच्य व्याचख्यौ नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम्। पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभः। यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थ-निपुणमतिः॥—श्रुता०

२. 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए। पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम॥१॥—क०पा०, भा० १, पृ० १०।

३. 'एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंतं असीदिसदमेत्तगाहाहि उवसंघारिदं।' क० पा० भा० १ पृ० ८७।

पारंगतता और कुशलताका परिचय मिलता है। इस तरह पहली गाथासे ग्रन्थका नाम और उसकी उत्पत्तिका स्रोत ज्ञात हो जाता है।

अधिकारों और गाथाओंका विभाग

दूसरी[1] गाथाके द्वारा यह बतलाते हुए कि एकसौ अस्सी गाथाएँ पन्द्रह अधिकारोंमें विभक्त हैं, यह बतलानेकी प्रतिज्ञा की गयी है कि किस[2] अधिकारके अन्तर्गत कितनी-कितनी सूत्रगाथाएँ हैं। आगे तीसरी, चौथी[3], पाँचवी[4] और छठी[5] गाथामें बतलाया है कि प्रारम्भके पाँच अधिकारोंमें तीन गाथाएँ हैं। वेदकनामके छठे अधिकारमें चार गाथाएँ हैं। उपयोगनामक सातवें अधिकारमें सात गाथाएँ हैं। चतुःस्थाननामक अधिकारमें सोलह गाथाएँ हैं। व्यंजननामक नौवें अधिकारमें पाँच गाथाएँ हैं। दर्शनमोहोपशमनानामक दसवें अधिकारमें पन्द्रह गाथाएँ हैं। दर्शनमोहक्षपणानामक ग्यारहवें अधिकारमें पाँच गाथाएँ हैं। संयमासंयमलब्धिनामक बारहवें और चारित्रलब्धिनामक तेरहवें अधिकारमें एक गाथा है। और चारित्रमोहोपशमनानामक चौदहवें अधिकारमें आठ गाथाएँ हैं।

सातवी[6] और आठवी[7] गाथामें चारित्रमोहक्षपणानामक पन्द्रहवें अधिकारके अवान्तर अधिकारोंका निर्देश करते हुए उनमें अट्ठाईस गाथाएं बतलाई हैं। नौवी[8] और दसवी[9] गाथामें बतलाया है कि चारित्रमोहक्षपणा-अधिकारसम्बन्धी अट्ठाईस

---

१. गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि। वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि' ॥२॥—क० पा०, पृ० १५१।

२. 'पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेव। तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा ॥३॥ वही, पृ० १५५।

३. 'चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ। सोलस य च उट्ठाणे वियंजणे पंच गाहाओ ॥४॥ वही, पृ० १५९।

४. 'दंसणमोहस्सुवसामणाए पणारस होंति गाहाओ। पंचेव सुत्तगाहा दंसणमोहस्स खवणाए ॥५॥ वही, पृ० १६०

५. 'लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स। दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि ॥६॥' वही, पृ० १६३

६. 'चत्तारि य पट्ठवए गाहा संकामए वि चत्तारि। ओवट्टणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्टीए ॥७॥ वही, पृ० १६४

७. 'चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स। एक्का संगहणीए अट्ठावीसं समासेण ॥८॥ वही, पृ० १६६

८. 'किट्टीकयवीचारे संगहणी-खीणमोहपट्ठवए। सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ ॥९॥ वही, पृ० १६८

९. 'संकामण-ओवट्टण-किट्टीखवणाए एक्कवीसं तु। एदाओ सुत्तगाहाओ सुण अण्णा भासगाहाओ ॥१०॥ वही, पृ० १७०

गाथाओंमें कितनी सूत्रगाथाएँ है और कितनी असूत्रगाथाएँ हैं। ग्यारहवीं[1] और बारहवीं गाथामे जिस जिस सूत्रगाथाकी जितनी भाष्यगाथाएँ हैं उनका निर्देश है। और तेरहवीं[2] तथा चौदहवीं गाथामें कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोंका नाम निर्देश है।

इस प्रकार प्रारम्भमे ही ग्रन्थके अन्तर्गत अधिकारों और उनमें गाथाओके विभागका सूचन कर दिया गया है।

अधिकारोके अनुसार सूत्रगाथाओ और भाष्यगाथाओंकी तालिका इसप्रकार है–

अधिकार नाम	गाथा सं०	चारित्रमोहक्षपणाकी भाष्य गाथाएँ		
		चारित्रमोह-क्षपणा	गाथा सं०	भाष्य गाथा
१-५ प्रारम्भके ५ अधि०	३	१ प्रस्थापक	४	(१)५,(२)११,(३) ४ गा०(४)२ = २३
६ वेदक ,,	४	२ संक्रामक	४	(१)३,(२)१,(३) ४ = ८
७ उपयोग ,,	७	३ अपवर्तना	३	(१)३,(२)२,(३)१२, (४)३,(५)४,(६)२ (७)४,(८)४,(९)२ (१०) ५, = ४१
८ चतु:स्थान	१६	४ कृष्टिकरण	११	
९ व्यजन	५			
१० दर्शनमोहोपशमना	१५			
११ दर्शनमोहक्षपणा	५	५ कृष्टिक्षपणा	४	(१)१,(२)१,(३)१० (४) २ = १४
१२ सयमासंयमलब्धि और १३ चारित्र लब्धि	१	६ क्षीणमोह	१	
१४ चरित्रमोहोपशमना	८	७ संग्रहणी	१	८६ भाष्यगाथा
१५ चारित्रमोहक्षपणा	२८		२८ सूत्रगाथा	
	९२			

१. 'पंच य तिण्णि य दो छक्क चउक्क तिण्णि तिण्णि एक्का य। चत्तारि य तिण्णि उभे पंच य एक्कं तह य छक्कं ॥११॥ वही, पृ० १७१
तिण्णि य चउरो तह दुग चत्तारि य होंति तह चउक्कं च। दो पंचेव य एक्का अण्णा एक्का य दस दो य ॥१२॥' क० पा० पृ० १७१

२. 'पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेय। वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियंजणे चेय ॥१३॥
सम्मत्तदेसविरयी संजमे उवसामणा च खवणा च। दंसणचरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥ क० पा०, भा० १, पृ० १७८।

इस प्रकार पन्द्रह अधिकारोंकी मूलगाथाओंका जोड़ ९२ है और इनमेंसे चारित्रमोहकी क्षपणासे सम्बन्ध रखनेवाली २८ गाथाओंमेंसे २१ गाथाओंकी भाष्य-गाथाओंका जोड़ ८६ है। इन सबका जोड ९२ + ८६ = १७८ होता है। प्रारम्भ-में पन्द्रह अधिकारोंका नाम निर्देश करनेवाली दो गाथाओंको जोड़नेसे कुल गाथाओं-की संख्या १८० होती है।

कसायपाहुडकी गाथासंख्या

किन्तु कसायपाहुडकी कुल गाथाओंकी संख्या २३३ है। पूर्वोक्त एकसौ अस्सी गाथाओंके सिवाय ५३ गाथाएँ और भी है। १२ गाथाएँ सम्बन्धज्ञापक हैं, ६ गाथाएँ अद्धापरिमाणका निर्देश करती हैं, संक्रमवृत्तिसे सम्बन्द्ध ३५ गाथाएँ हैं। इन १२ + ६ + ३५ = ५३ गाथाओंको १८० में जोड़नेसे कसायपाहुडकी गाथा-संख्या २३३ होती है। जयधवला-टीकाके रचयिता श्रीवीरसेन स्वामीके अनुसार इन समस्त गाथाओंके रचयिता आचार्य गुणधर थे।

किन्तु जयधवला[1] में उन्होंने स्वयं यह शंका उठाई है कि जब कसायपाहुडकी गाथासंख्या २३३ थी, तो गुणधराचार्यने ग्रन्थके प्रारम्भमें १८० गाथाओंका ही निर्देश क्यों किया? वीरसेन स्वामीने उसका समाधान करते हुए लिखा है कि पन्द्रह अधिकारोंमें विभक्त गाथाओंका निर्देश करनेकी दृष्टिसे गुणधराचार्यने १८० गाथासंख्याका निर्देश किया है, किन्तु बारह सम्बन्धगाथाएँ और अद्धापरि-माणका निर्देश करनेवाली छै गाथाएँ पन्द्रह अधिकारोंमेंसे किसी भी अधिकारसे बद्ध नहीं है, अतः उनको छोड़ दिया है।

तब पुनः शंका की गई कि संक्रमणसम्बन्धी ३५ गाथाएँ तो बन्धक नामक अधिकारसे प्रतिबद्ध है, अतः उनको १८० के साथ मिलाकर २१५ गाथासंख्या-का निर्देश करना क्यों उचित नही समझा? इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने कहा है कि प्रारम्भके पाँच अर्थाधिकारोंमें केवल तीन ही गाथाएँ है और उन तीन गाथाओंसे बंधे हुए पाँच अधिकारोंमेंसे बन्धक नामक अधिकारसे ही उक्त पैंतीस गाथाएँ संबद्ध है, इसलिये उन पैंतीस गाथाओंको १८० में सम्मिलित नहीं किया।

क्या इन गाथाओंमें कुछ गाथाएँ नागहस्तिकृत भी हैं? इस प्रश्नपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जयधवलाके अनुसार वीरसेन स्वामीसे पहले होनेवाले कुछ टीकाकारोंका ऐसा मत रहा है कि एकसौ अस्सी गाथाओंके सिवाय जो शेष ५३ गाथाएँ है वे नागहस्तिकृत है[2]।

---

१. क० पा० भा० १, पृ० १८२–१८३।

२. 'असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबंद्धापरिमाणणिद्देससंकमणगाहाओ जेण णाग-हत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति, तण्ण घडदे।'—क० पा०, भा० १, पृ० १८३।

अर्थात् प्रारम्भकी सम्बन्धनिर्देशक बारह गाथाएँ, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली १५ से २० तक छै गाथाएँ और संक्रमवृत्तिसम्बन्धी ३५ गाथायें किन्हीं व्याख्याकारोंके मतसे नागहस्तीकृत हैं। अतः 'गाहासदे असीदे' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तीका है, गुणधरका नहीं। इन गाथाओंके सम्बन्धमें दो बातें उल्लेखनीय हैं—एक तो प्रारम्भकी पहली गाथाको छोड़कर 'गाहासदे असीदे' आदि सम्बन्धनिर्देशक गाथाओंपर और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छै गाथाओंपर यतिवृषभके चूर्णिसूत्र नहीं हैं, दूसरी बात यह है कि संक्रमसे सम्बद्ध ३५ गाथाओंमेंसे तेरह गाथाएँ शिवशर्म रचित माने जाने वाली कर्मप्रकृतिमें भी पायी जाती हैं।

यद्यपि इन बातोंसे उक्त गाथाओंके नागहस्तीकृत होनेका समर्थन नहीं होता, तथापि ये बातें उक्त गाथाओंकी स्थितिपर यत्किञ्चित् प्रकाश तो डालती ही हैं।

किन्तु वीरसेन स्वामी उक्त व्याख्याकारोंके मतसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ऐसा माननेसे गुणधराचार्यकी अज्ञता द्योतित होती है। किन्तु यह युक्ति कोई जोरदार नहीं है। क्योंकि सोलह हजार पदप्रमाण कषायप्राभृतको एकसौ अस्सी गाथाओंमें संक्षिप्त करनेवाले गुणधराचार्य स्वरचित गाथाओंका अधिकारोंमें विभाजन बतलानेके लिये ग्यारह गाथाएँ जितना स्थान नहीं रोक सकते थे। फिर 'गाहासदे असीदे' आदि गाथाओंकी रचनाशैलीसे भी उनके अन्यकर्तृक होनेका आभास होता है। उन गाथाओंका रचयिता पन्द्रह अधिकारों-में विभक्त एकसौ अस्सी गाथाओंको किस अधिकारमें कितनी गाथाएँ हैं, यह बतलानेकी प्रतिज्ञा करता है। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा गुणधरकृत संभव नहीं है, उन्हें यदि प्रतिज्ञा करनी होती, तो सोलह हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको एकसौ अस्सी गाथाओंमें संक्षिप्त करता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिए थी। वे कसाय-पाहुडको उपसंहृत करनेके लिये सन्नद्ध हुए थे, न कि स्वरचित गाथाओंको स्व-रचित अधिकारोंमें विभाजित करनेके लिये।

दूसरे 'सत्तेदा गहाओ', 'एदाओ सुत्तगाहाओ' आदि पद यह सूचित करते हैं कि इन गाथाओंकी रचनासे पूर्व मूलगाथाओं और भाष्यगाथाओंकी रचना हो चुकी थी। अन्यथा अमुक अमुक सूत्रगाथा है, इस प्रकारका कथन सम्भव नहीं था। एक बात और भी द्रष्टव्य है। गाथा १३–१४ में गुणधराचार्यने अधिकारोंका निर्देश किया है। उन गाथाओंकी [1]टीकाके आरम्भमें ही जयधवलाकारने यह शंका उठाई है कि 'इस इस अधिकारमें इतनी इतनी गाथाएं हैं' इस प्रकारके कथनसे ही पन्द्रह अधिकारोंका ज्ञान हो जाता है। फिर इन गाथाओंके द्वारा १५ अधिकारों-

---

१. कसा० पा०, भा० १, पृ० १७८।

का कथन किस लिये किया गया है ?

इसका समाधान करते हुए जयधवलाकारने कहा है कि पूर्व निर्दिष्ट जिन गाथाओंमें यह बतलाया है कि अमुक-अमुक अधिकारसे अमुक-अमुक गाथा सम्बद्ध है, वे गाथाएँ इन्हीं दो गाथाओंकी वृत्तिगाथाएँ हैं अतः इनके बिना उनका कथन नहीं बन सकता।

इस कथनसे यह स्पष्ट है कि अधिकार-निर्देशक गाथाओंके पश्चात् ही अधिकारोंमें गाथाओंका निर्देश करनेवाली गाथाएँ रची गई हैं, क्योंकि सूत्रगाथासे वृत्तिगाथा पहले नहीं रची जा सकती। और वृत्तिगाथाका सूत्रगाथासे पूर्व निर्देश भी कुछ विचित्र-सा ही लगता है।

अतः अन्य व्याख्याकारोंका यह कथन कि 'गाहासदे असीदे' आदि प्रतिज्ञा-वाक्य नागहस्तीका है, नितान्त उपेक्षणीय नहीं है।

कसायपाहुडकी गाथाओंका सूत्रत्व

यह पहले लिख आये हैं कि १६ हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको गुणधराचार्यने केवल १८० गाथाओंमे निबद्ध किया था। इतने विस्तृत ग्रन्थका इतनी थोड़ी गाथाओंमें निबद्ध किये जानेसे उन गाथाओंका सूत्ररूप होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये गाथानम्बर २ मे 'वोच्छामि सुत्तगाहा' पदके द्वारा गाथाओंके सूत्ररूप होनेका निर्देश किया गया है।

'सूत्र' शब्दका इतिहास बतलाते हुए डा० विन्टर नीट्स्ने लिखा है—'सूत्र' शब्दका मूल अर्थ 'धागा' या 'डोरा' था, फिर 'थोड़ेसे शब्दोंमे निबद्ध 'नियम' या 'उपदेश' हो गया। जैसे वस्त्र अनेक धागोंसे बुना जाता है वैसे ही एक शिक्षणका क्रम इन संक्षिप्त नियमोंमें ग्रथित किया जाता है। इस प्रकारके संक्षिप्त सूत्रोंमे ग्रथित बड़े ग्रन्थोको भी सूत्र कहा जाता है। ये ग्रन्थ केवल प्रयोगात्मक कार्योंके काम आते है। इनमे अतिसंक्षिप्त किन्तु सुष्ठुरीतिसे किसी ज्ञान-विज्ञानका समावेश रहता है और इसलिये विद्यार्थी उन्हें सरलतासे स्मृतिमे रख सकते है। संभवतया भारतीयोंके इन सूत्रोंके समान विश्वके समस्त साहित्यमें दूसरी वस्तु नहीं है। कम-से-कम शब्दोंमे अधिक-से-अधिक कहना इन सूत्रात्मक ग्रन्थोंकी रचना करने वालोंका कर्तव्य होता है। भाष्यकार पतञ्जलिकी इस उक्तिको प्रायः उद्धृत किया जाता है, जिसका आशय यह है कि सूत्रकार अर्धमात्राके लाघवसे उतना ही प्रसन्न होता है जितना पुत्रोत्पत्तिसे (हि० इं० लि०, भा० १, पृ० २६८-२६९)।

कसायपाहुडके गाथासूत्रोंमें भी कम-से-कम शब्दोंमें अधिक-से-अधिक कहनेका सफल प्रयास किया गया है, यदि ऐसा न किया जाता तो इतने विशाल ग्रन्थका इतनी थोड़ी गाथाओंके द्वारा उपसंहार करना संभव न होता।

जैन साहित्यके अवलोकनसे यह प्रकट है कि द्वादशांग बड़ा विशाल था।

उसकी विशालताका परिचय पूर्वपीठिकामें दिया गया है। किन्तु उस विशाल द्वादशांगको 'सूत्र' भी कहते थे। कालक्रमसे जैन परम्परामें व्यक्तिविशेषके द्वारा रचित ग्रन्थोंको ही सूत्र कहनेकी परिपाटी प्रचलित होगई थी। उसके अनुसार जो गणधरके द्वारा कथित अथवा प्रत्येकबुद्धके द्वारा कथित अथवा श्रुतकेवलीके द्वारा कथित, अथवा अभिन्नदसपूर्वीके द्वारा कथित हो उसे सूत्र[1] कहते थे।

इसीसे जयधवलामें[2] यह शंका की गई है कि गुणधराचार्य न तो गणधर थे, श्रुतकेवली थे न प्रत्येकबुद्ध थे और न अभिन्नदसपूर्वी थे। तब उनके द्वारा रचित गाथाओंको सूत्र क्यों कहा गया? इस शंकाका समाधान करते हुए श्रीवीरसेन स्वामीने कहा है कि गुणधराचार्यके द्वारा रचित गाथाएँ निर्दोष हैं, अल्पाक्षर हैं, और असंदिग्ध है, अतः सूत्रसम होनेसे उन्हे सूत्र कहा गया है।

इस समाधानके द्वारा जयधवलाकारने सूत्रके सर्वप्रसिद्ध लक्षणको उद्धृत करके कसायपाहुडके गाथाओंकी सूत्रसंज्ञाका समर्थन किया है। सूत्रका[3] सर्वप्रसिद्ध लक्षण इस प्रकार है—'जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असंदिग्ध हों, जिसमें सार भरा हो, जिसका निर्णय गूढ़ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्यभूत हो उसे विद्वान् सूत्र कहते हैं। सूत्रका यह लक्षण सर्वमान्य है।

इसपर भी जयधवलामे यह शंका की गई है कि यह सम्पूर्ण सूत्रलक्षण तो जिनदेवके मुखसे निकले हुए अर्थपदोंमे ही संभव है, गणधरके मुखसे निकली हुई ग्रन्थरचनामे नही, क्योंकि गणधरके द्वारा रचित द्वादशांगरूप श्रुत तो बड़ा विशाल होता है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि गणधरके वचन भी सूत्रसम होनेसे सूत्र कहे जानेके योग्य होते है।

इस चर्चासे यही प्रकट होता है कि 'सूत्रसंज्ञाके योग्य वे ही रचनाएं होती है जिनमे सूत्रका उक्त लक्षण घटित होता है। चूंकि इस प्रकारकी रचना करना साधारण व्यक्तिका काम नही है, अत. विशिष्ट व्यक्तियोंकी उक्त प्रकारकी कृतिया भी सूत्र कही जा सकती है। फलतः गुणधररचित कसायपाहुडकी गाथाओंको भी सूत्र कहा जा सकता है।

किन्तु गुणधराचार्यने जिन एकसौ अस्सी गाथाओंमें कसायपाहुडको उपसंहृत किया है उनमें उन्हे 'सुत्तगाहा' नही कहा। 'गाहासदे असीदे' आदि जिन गाथाओं-के गुणधरकृत होनेमें विवाद रहा है उनमें ही उन्हें 'सुत्तगाहा' कहा है। उनमें भी

---

१ 'सुत्तं गणधरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च। सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्वि-कहियं च ॥३४॥ भ० आ०।

२. क० पा०, भा० १, पृ० १५३-१५४।

३. 'अत्रोपयोगी श्लोकः—अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्र-मित्युच्यते बुधैः।'—क० पा० भा० १, पृ० १५४।

कुछको 'सुत्तगाहा', कुछको 'गाहा' और कुछको 'सभासगाहा' कहा है।

चारित्रमोहकी क्षपणा नामक पन्द्रहवें अधिकारमें कुल अट्ठाईस गाथाएँ हैं। उनमेंसे सातको[1] 'गाहा' और शेष इक्कीसको 'सभासगाहा' कहा है। जिन गाथाओं-का व्याख्यान करनेवाली भाष्यगाथाएँ हैं उन्हें 'सभासगाहा' (सभाष्यगाथा) कहा है। २८ मेंसे इक्कीस गाथाएँ ऐसी हैं जिनकी भाष्यगाथाएँ भी है, अतः उन्हें सभाष्यगाथा कहा है। और शेष सातको केवल 'गाहा' लिखा है। किन्तु 'सत्तेदा गाहाओका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने[2] लिखा है कि 'ये सात गाथाएँ सूत्रगाथाएँ नहीं हैं, क्योंकि इनके द्वारा सूचित किये गये अर्थका व्याख्यान करने-वाली भाष्यगाथाओंका अभाव है।'

इसका मतलब तो यह हुआ कि सभाष्यगाथाओंको ही सूत्रगाथा कहना चाहिए। और ऐसा माननेसे केवल इक्कीस गाथाएँ ही सूत्रगाथा ठहरती हैं।

गाथासंख्या नौकी उत्थानिकामें जयधवलाकारने लिखा है—' अब पन्द्रहवें अधिकारमें आई अट्ठाईस गाथाओंमेंसे कितनी सूत्रगाथाएँ हैं और कितनी सूत्र-गाथाएँ नहीं हैं, इसप्रकार पूछने पर असूत्रगाथाओंका प्रमाण बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं। जिससे अनेक अर्थ सूचित हों उसे सूत्रगाथा[3] कहते हैं और जिससे अनेक अर्थ सूचित न हों उसे असूत्रगाथा कहते हैं।' इससे भी उक्त कथनका ही समर्थन होता है।

किन्तु गाथासंख्या दोमें एकसौ अस्सी गाथाओंको सूत्रगाथा कहा है और जयधवलाकारने उसका समर्थन किया है। 'वोच्छामि सुत्तगाहा जयिगाहा जम्मि अत्थम्मि' पदका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने लिखा है—'उन एकसौ अस्सी गाथाओंमेंसे जिस अधिकारमें जितनी सूत्रगाथाएँ पाई जाती है उन सूत्र-गाथाओंका मैं कथन करता हूँ। इस सूत्रगाथाके तीसरे चरणमें स्थित गाथाशब्दके साथ लगे हुए 'सूत्र' शब्दको इसी गाथाके चौथे चरणमें स्थित 'गाथा' शब्दके साथ भी लगा लेना चाहिये[4]।'

इसप्रकार जयधवलाकारने सभी गाथाओंको सूत्रगाथा स्वीकार किया है। ऐसी स्थितिमें यही समाधान उचित प्रतीत होता है कि गाथासंख्या नौमें जो सात गाथाओंको असूत्रगाथा कहा है वह आपेक्षिक कथन है। चारित्रमोहक्षपणा नामक अधिकारकी इक्कीस गाथाओंकी दृष्टिसे ही वे असूत्रगाथाएँ हैं क्योंकि उनकी भाष्यगाथाओंका अभाव है।

---

१. 'सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ ॥९॥'

२. क०पा०, भा० १, पृ० १६९.

३. 'का सुत्तगाहा ? सूचिदणेगत्था। अवरा असुत्तगाहा।' वही, पृ० १६८।

४. वही, पृ० १५३।

रूप गाथाओंको 'भाष्यगाथा' कहा है। तथा अन्य गाथाओंको 'सुत्तगाहा' शब्दसे निर्दिष्ट किया है।

[1]इन्द्रनन्दिने भी अपने श्रुतावतारमें सब गाथाओंको गाथासूत्र कहा है। किन्तु उनमेंसे १८३ को (१८० होना चाहिये) मूलगाथा और शेष ५३ को विवरण-गाथा कहा है।

किन्तु जयधवलाकारने 'मूलगाथा'[2] का अर्थ भी सूत्रगाथा ही किया है। संभवतया वे १८० गाथाओंको मूलगाथा[3] या सूत्रगाथा मानते हैं। किन्तु चूर्णिसूत्रकारने 'मूलगाथा' शब्दका व्यवहार केवल चारित्रमोहक्षपणानामक अधिकारमें आगत सभाष्य-गाथाओंके लिये ही किया है और भाष्यगाथाओंको छोड़कर शेष सबको सूत्रगाथा कहा है। यही हमें उचित प्रतीत होता है।

चूर्णिसूत्रकार श्रीयतिवृषभने कतिपय सूत्रगाथाओंको उनके विषय-प्रतिपादनके अनुसार कुछ अन्य नाम भी दिये हैं। वे नाम हैं—पुच्छासुत्त, वागरणसुत्त और सूचणासुत्त।

जिन गाथाओंमें किसी विषयकी पृच्छा की गई हो, कोई बात पूछी गई हो वे गाथाएँ पृच्छासूत्र कही गई हैं। चारित्रमोहक्षपणानामक अधिकारकी तीस मूलगाथाएँ पृच्छासूत्र हैं। अन्य अधिकारोंमें भी पृच्छात्मक गाथासूत्रोंकी पर्याप्त संख्या पाई जाती है।

पृच्छासूत्रका उदाहरण इस प्रकार है—

'किस[4] कषायमें एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है? कौन उपयोगकाल किससे अधिक है और कौन जीव किस कषायमें निरन्तर एक-सा उपयोगी रहता है? ॥ ६३ ॥

जयधवलाकारने 'वागरणसुत्त' का अर्थ किया है व्याख्यानसूत्र। अर्थात् जिसके द्वारा किसी विषयका व्याख्यान किया जाता है उसे व्याकरणसूत्र कहते हैं। इसका उदाहरण—'विवक्षित कृष्टिका बन्ध अथवा संक्रमण नियमसे क्या सभी स्थितिविशेषोंमें होता है? विवक्षित कृष्टिका जिस कृष्टिमें संक्रमण किया

---

१. अधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम्। विवरणगाथानां च अधिकं पञ्चाशतमकार्षीत् ॥१५३॥
एवं गाथासूत्राणि पञ्चदश महाधिकाराणि प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमङ्क्ष्याम् ॥१५४॥

२. 'मूलगाहाओ णाम सुत्तगाहाओ'—क० पा० भा०।

३. 'एत्थेव पयडी य मोहणिज्जा. एदिस्से मूलगाहाए अत्थो समत्तो।' क० पा० भा०

४. 'केवचिरं उवजोगो कम्मि कसायम्मि को व केणहियो। को वा कम्मि कसाए अभिक्खमुवजोगमुवजुत्तो ॥६३॥

जाता है उसके सर्व अनुभागविशेषोंमें संक्रमण होता है। किन्तु उदय मध्यम-कृष्टिसे जानना चाहिये ॥ २१९ ॥

इस गाथाका[1] पूर्वार्ध तो पृच्छासूत्ररूप है किन्तु उत्तरार्धको चूर्णिसूत्रकारने वागरणसुत्त कहा है।

जिस गाथाके द्वारा किसी विषयकी सूचना की गई हो उसको 'सूचनासूत्र' कहा है। जैसे गाथा ६७ के 'केवडिया[2] उवजुत्ता' पदसे द्रव्यप्रमाणानुगम, 'सरिसीसु च वग्गणाकसाएसु' पदसे कालानुगम, 'केवडिया च कसाए' पदसे भागाभाग, और 'के के च विसिस्सदे केण' पदसे अल्पबहुत्व, इस प्रकार ये चार अनुयोग तो सूत्रनिबद्ध हैं। किन्तु शेष चार अनुयोग सूचनारूप अनुमानसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

कसायपाहुड : शैली

गाथाओंके उक्त विवरणसे कसायपाहुडकी शैलीका आभास मिल जाता है। रचनाकी दृष्टिसे गाथाओंकी शब्दावली क्लिष्ट नहीं है किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तसे संबद्ध होनेके कारण जैन कर्मसिद्धान्तका ज्ञाता ही उनका रहस्य समझ सकता है। परन्तु अधिकतर गाथाएँ पृच्छारूप हैं—उनमें प्रत्येक अधिकारसे संबद्ध विषयोंको प्रश्नके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है किन्तु कहीं तो उन प्रश्नोंसे सम्बद्ध कुछ आवश्यक बातोंको सूत्ररूपसे कह दिया गया है, अन्यथा प्रश्नोंके द्वारा ही विषयोंकी सूचना देकर ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थकी रचना जनसाधारणके लिये नहीं की गई है, किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तके पारगामी बहुश्रुतोंके लिये की गई है। अतः इसके पृच्छासूत्रोंमें उठाये गये प्रश्नोंको हृदयंगम करके उनका समाधान वही कर सकता है जो आर्यमंक्षु और नागहस्तीकी तरह उस विषयका मर्मज्ञ हो।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें जो यह लिखा है कि गुणधर आचार्यने अपने द्वारा रचित कसायपाहुडकी गाथाओंका व्याख्यान आर्यमंक्षु और नागहस्तीको किया, उसमें कितना तथ्य है, यह कहना तो शक्य नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी रचना करके अवश्य ही उनका व्याख्यान अपने

---

१. 'बंधो व संकमो वा णियमा सव्वेसु ट्ठिदिविसेसु। सव्वेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदओ ॥२१९॥—'सव्वेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदओ त्ति एदं सव्वं वागरणसुत्तं'—क. पा. सू., पृ० ८२३।

२. 'केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च वग्गणाकसाएसु' चेति एदिस्से गाहाए अत्थ विहासा एसा गाहा सूचणासुत्तं। एदीए सूचिदाणि अट्ठ अणिओगद्दाराणि।'—क. पा. सू., पृ० ५८५।

किसी बहुश्रुत शिष्यको अवश्य किया होगा और वही व्याख्यान साक्षात् या परंपरासे आर्यमंक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुआ होगा। यदि ऐसा न होता, तो कसायपाहुडरूपी गागरमें जो श्रुत-सागर भरा हुआ है उसका उद्घाटन करना शक्य नहीं था।

प्रश्नात्मक प्रणाली बहुत प्राचीन है। बौद्धोंके अभिधम्मपिटककी शैली भी प्रश्नात्मक प्रणालीको लिये हुए है। प्रश्न और उत्तरके रूपमें विषयको समझाया गया है। श्वेता० आगमसाहित्यमें भी इस प्रणालीके दर्शन होते हैं। भगवतीसूत्र तो प्रश्नोत्तररूपमें ही है। गौतम गणधरके प्रश्नोंका उत्तर भगवान् महावीर देते हैं। संभवतया प्रश्नात्मक प्रणाली उसीकी सूचक है, क्योंकि भगवान महावीर गौतम गणधरके प्रश्नोंका उत्तर देते थे। उसीसे श्रुतकी धाराको गति मिलती थी। वीरसेन स्वामीने [1]जयधवलामें प्रश्नात्मक प्रणालीके विषयमें यही समाधान किया है। आचार्य यतिवृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोंमें इस प्रणालीको अपनाया है। उसका व्याख्यान करते हुए यह शंका उठाई गई है कि यह पृच्छासूत्र किस लिये कहा है ? इसका उत्तर दिया है—शास्त्रकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये। इस पर पुनः शंका की गई कि पृच्छाके द्वारा शास्त्रकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है? पुनः उत्तर दिया गया—चूँकि यह पृच्छा गौतम स्वामीने तीर्थङ्कर भगवान महावीरसे की है, अतः इससे शास्त्रकी प्रमाणिकताका बोध होता है।

वीरसेन स्वामीने इस सम्बन्धमें इतना और भी लिखा है कि 'इस पृच्छासूत्रके द्वारा चूर्णिसूत्रकारने अपने कर्तृत्वका निवारण किया है अर्थात् इससे उन्होंने यह सूचित किया है कि उन्होंने जिस तत्त्वका कथन किया है वह उनकी अपनी उपज नही है बल्कि गौतम गणधरने महावीर स्वामीसे जो प्रश्न किये थे और उनका जो उत्तर उन्हे भगवानसे प्राप्त हुआ था, उसे ही उन्होंने यहाँ निबद्ध किया है।'

अतएव संक्षेपमें कसायपाहुडकी शैली प्रश्नोत्तररूप सूत्र-शैली है। यह शैली वैदिक वाङ्मय और बौद्ध वाङ्मयके प्राचीन ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है।

कषायपाहुडका विषय-परिचय

पहले लिख आए हैं कि आचार्य गुणधरने सोलह हजार पद प्रमाण कसायपाहुडको मात्र दो सौ तेतीस गाथाओंमें उपसंहृत किया है तथा उनमेंसे कुछ गाथाएँ सूचनात्मक, कुछ पृच्छात्मक और कुछ व्याकरणात्मक या व्याख्यात्मक हैं।

सर्वप्रथम गाथामें आचार्य गुणधरने यह बतलाया है कि पाँचवें पूर्वकी दसवीं वस्तुमें पेज्जपाहुड नामक तीसरा अधिकार है उससे यह कसायपाहुड उत्पन्न हुआ

---

१. क० पा०, भा. २, पृ. २११।

है। इस तरह इस गाथाके द्वारा ग्रन्थकारने ग्रन्थका नाम और उसके पूर्वाधारको सूचित किया है।

दूसरी गाथामें कहा है कि इस कसायपाहुडमें एकसौ अस्सी गाथाएँ हैं और वे पन्द्रह अधिकारोंमें विभक्त हैं। उनमेंसे जिस अधिकारमें जितनी सूत्रगाथाएँ प्रतिबद्ध हैं, उन्हें मैं कहूँगा।

आगेकी छह गाथाओंके द्वारा कहा है कि पेज्जदोसविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, बन्धक अर्थात् बन्ध और संक्रम इन पाँच अधिकारोंमें तीन गाथाएँ निबद्ध हैं। वेदकनामक अधिकारमें चार, उपयोगनामक अधिकारमें सात, चतुःस्थाननामक अधिकारमें सोलह और व्यंजननामक अधिकारमें पाँच सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। दर्शनमोहउपशामनानामक अधिकारमें पन्द्रह और दर्शनमोहक्षपणानामक अधिकारमें पाँच सूत्रगाथाएँ हैं। संयमासंयमलब्धि और चारित्रलब्धिनामक अधिकारमें एक ही गाथा है तथा चारित्रमोहउपशामनानामक अधिकारमें आठ सूत्रगाथाएँ हैं। चारित्रमोहकी क्षपणाके सम्बन्धमें चार, संक्रमणमें चार, अपवर्तनमें तीन, कृष्टिकरणमें ग्यारह, कृष्टियोंकी क्षपणामें चार, क्षीणमोहमें एक, संग्रहणीमें एक, इसप्रकार सब मिलाकर चारित्रमोहके क्षपणानामक अधिकारमें अट्ठाईस गाथाएँ हैं।

इस तरह आठ गाथाओंसे प्रत्येक अधिकार सम्बन्धी गाथाओंका विभाजन करके आचार्य गुणधरने आगेकी चार गाथाओंसे सूत्रगाथाओं और उनकी भाष्यगाथाओंका निर्देश किया है। इनके पश्चात् दो गाथाओंसे ग्रन्थके पन्द्रह अर्थाधिकारोंका निर्देश किया है।

इसके पश्चात् छह गाथाओंसे अद्धापरिमाणका कथन है। उसमें कालके अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—दर्शनोपयोगका जघन्यकाल सबसे कम है। इससे विशेष अधिक चक्षुइन्द्रियावग्रहका जघन्यकाल है। इससे विशेष अधिक श्रोत्रावग्रहका जघन्यकाल है। इसी तरह घ्राण-अवग्रह, जिह्वा-अवग्रह, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, स्पर्शन-अवग्रह, अवायज्ञान, ईहाज्ञान, श्रुतज्ञान और श्वासोच्छ्वासका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। तद्भवस्थ केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनका काल तथा सकषाय जीवके शुक्ललेश्याका काल श्वासोच्छ्वासके जघन्यकालसे विशेष अधिक है। इन तीनोंके जघन्यकालसे एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानका जघन्यकाल विशेष अधिक है। इसी तरह पृथक्त्ववितर्कसवीचार ध्यान, उपशमश्रेणिसे गिरे हुए सूक्ष्मसाम्परायिक, उपशमश्रेणिपर चढ़नेवाले सूक्ष्मसाम्परायिक, क्षपकश्रेणिगत सूक्ष्मसाम्परायिक, मान, क्रोध, माया, लोभ, क्षुद्रभवग्रहण, कृष्टिकरण, संक्रमण, अपवर्तन, उपशान्तकषाय, क्षीणमोह, उपशामक,

क्षपकका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। इसी तरह आगे इनका उत्कृष्ट-काल कहा है।

जैनसिद्धान्तमें चर्चित उक्त विषयोंको हृदयंगम करनेके लिए कालके अल्प-बहुत्वका कथन अपना विशेष महत्त्व है। इसीसे आचार्य गुणधरने ग्रन्थके प्रारम्भमें छह गाथाओंसे उसका कथन किया है। इसके पश्चात् पन्द्रह अधिकारोंसे सम्बद्ध गाथाएँ प्रारम्भ होती हैं।

सबसे प्रथम अधिकार-सम्बन्धी गाथामें यह शंका की गई है कि 'किस नयकी अपेक्षा किस कषायमें पेज्ज (प्रेय) होता है अथवा किस कषायमें किस नयकी अपेक्षा द्वेष होता है ? कौन नय किस द्रव्यमें दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमें प्रेय होता है ?'

इस आशंकासूत्रका अभिप्राय यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंमेंसे किस नयकी दृष्टिमें कौन कषाय राग है और कौन द्वेषरूप है ? रागद्वेषसे आविष्ट जीव किस द्रव्यको अपना अहितकारी द्वेषरूप मानता है और किस द्रव्यको रागरूप मानता है ? राग-द्वेष ही संसारकी जड़ हैं। इनके नष्ट हुए बिना जीव संसारसे मुक्त नहीं हो सकता। अत: उन्हींसे वर्ण्य विषयका प्रारम्भ होता है। आचार्य गुणधरने इस आशंकासूत्रका स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया। यह कार्य चूर्णिसूत्रकार और उसके व्याख्याकारोंने किया है।

इससे आगेकी गाथामें कहा है—'मोहनीयकर्मकी प्रकृति-विभक्ति, स्थिति-विभक्ति, अनुभाग-विभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टप्रदेश-विभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिककी प्ररूपणा करना चाहिए।'

इस एक गाथाके द्वारा ही इस गाथामें आगत अधिकारोंका कथन आचार्य गुणधरने कर दिया है। वृत्तिकार और टीकाकारोंने प्रत्येक अधिकारका पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

यहाँ प्रसंगवश संक्षेपमें कर्मसिद्धान्तपर थोड़ा-सा प्रकाश डालना उचित होगा।

कर्म-सिद्धान्त—

कसायपाहुड, छक्खंडागम आदि समस्त करणानुयोगविषयक साहित्य कर्म-सिद्धान्तसे सम्बद्ध हैं। अत: उस सिद्धान्तका सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है।

यह तो प्राय: सभी परलोकवादी दर्शनोंने माना है कि आत्मा जैसे अच्छे या बुरे कर्म करता है, तदनुसार ही उसमें अच्छा या बुरा संस्कार पड़ जाता है और उसे उसका अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है। परन्तु जैनधर्म जहाँ अच्छे या बुरे संस्कार आत्मामें मानता है वहाँ सूक्ष्म कर्मपुद्गलोंका उस आत्मासे बन्ध भी

मानता है। उसकी मान्यता है कि इस लोकमें सूक्ष्म कर्मपुद्गलस्कन्ध भरे हुए हैं, जो इस जीवकी कायिक, वाचनिक या मानसिक प्रवृत्तिसे, जिसे जैन सिद्धान्तमें योग कहा है, आकृष्ट होकर स्वतः आत्मासे बद्ध हो जाते हैं और आत्मामें वर्तमान कषायके अनुसार उनमें स्थिति और अनुभाग पड़ जाता है। जब वे कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर उदयमें आते हैं तो अच्छा या बुरा फल देते हैं। इस तरह जीव पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे क्रोधादि कषाय करता है और उससे नवीन कर्मका बन्ध करता है। कर्मसे कषाय और कषायसे कर्मबन्धकी यह परम्परा अनादि है। इसी बन्धनसे छूटनेका उपाय धर्म माना जाता है। कर्मबन्धके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। कर्मोमें ज्ञानको घातने, सुख-दुःखादि देनेका स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है। कर्म बन्धनेपर जितने समय तक आत्माके साथ बद्ध रहेंगे, उस समयकी मर्यादाका नाम स्थितिबन्ध है। कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दें उस फलदानकी शक्तिका पड़ना अनुभागबन्ध है। कर्मपरमाणुओंकी संख्याके परिमाणका नाम प्रदेशबन्ध है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका नाम योग है। यह योग जितना तीव्र या मन्द होता है, तदनुसार ही पौद्गलिक कर्मस्कन्ध आत्माकी ओर आकृष्ट होते हैं। जैसे हवा जितनी तेज, मन्द चलती है, तदनुसार ही धूल उड़ती है। और कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे—तीव्र या मन्द होते हैं, तदनुसार ही कर्मपुद्गलोंमे तीव्र या मन्द स्थिति और अनुभाग पड़ता है। इस तरह योग और कषाय बन्धके कारण हैं। इनमें भी कषाय ही संसारकी जड़ है।

कर्मके आठ मूल भेद हैं—१. ज्ञानावरण—जो आत्माके ज्ञानगुणको ढांकता है, २. दर्शनावरण—जो आत्माके दर्शनगुणको ढांकता है, ३. वेदनीय—जो जीवको सुख-दुःखका अनुभव कराता है, ४. मोहनीय—जो जीवको अपने स्वरूपके संबंधमें विपरीत बुद्धि पैदा करता है, ५. आयु—जिसके उदयमें जीव किसी एक जन्ममें अमुक समय तक रहता है, ६. नाम—जिसके उदयसे जीवका नया शरीर वगैरह बनता है, ७. गोत्र—जिसके उदयमें जीव उच्च या नीच कहलाता है और ८. अन्तराय—जो जीवके कार्योंमें बाधा डालता है।

ये आठ कर्म मूल हैं। इनके १४८ भेद हैं, जिन्हें कर्मप्रकृतियाँ कहते हैं। इन कर्मोंकी दस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें करण कहते हैं। सबसे प्रथम बन्ध करण होता है—जीव कर्मसे बंधता है या कर्म जीवसे बंधता है। बंधनेके पश्चात् ही कर्म तत्काल फल नहीं देता, उस अवस्थाको सत्ता कहते हैं। फल देनेका नाम उदय है। फल देनेके भी दो प्रकार हैं—समय पर फल देनेका नाम उदय है और असमयमें

फल देनेका नाम उदीरणा है। जैसे—आम पेड़पर लगा-लगा पके तो वह सामयिक पकना है और उसे कच्ची अवस्थामें तोड़कर भूसे वगैरहमें दबाकर जल्दी पका लिया जाये तो वह असमयका पकना है। इसी तरह बंधे हुए कर्म जीवके परिणामों-का निमित्त पाकर असमयमें भी उदयमें लाकर नष्ट किये जा सकते हैं उसे उदीरणा कहते हैं। बन्धे हुए कर्ममें अपने अच्छे-बुरे परिणामोंके प्रभावसे स्थिति-अनुभाग-को कम कर देना अपकर्षण करण है और बढ़ा देना उत्कर्षण करण है। परिणामोंसे कर्मको इस योग्य कर देना कि वह अमुक समय तक उदयमें न आसके उसे उपशम करण कहते हैं। परिणामोंके द्वारा एक कर्मको अपने सजातीय अन्य कर्मरूप परि-णमा देना संक्रम करण है। कर्मकी उस अवस्थाको निधत्ति कहते हैं जिसमें न तो उसे उदयमें लाया जासके और न अन्य कर्मरूप ही किया जा सके। और उस अवस्थाको निकाचना कहते हैं जिसमें कर्मका उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण चारों ही संभव न हों।

इन आठ कर्मोंमें सबसे प्रधान मोहनीय कर्म है। उसके दो मुख्य भेद हैं—१. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयमें जीवको अपने स्वरूपकी रुचि श्रद्धा, प्रतीति नहीं होती और जब तक वह न हो तब तक उसका समस्त धर्माचरण निरर्थक होता है, उसके होने पर ही मुक्तिका द्वार खुलता है। चारित्रमोहके भेद कषाय हैं। इस ग्रन्थमें केवल एक मोहनीयकर्मका ही विवेचन है, उसीके सत्त्व, बन्ध, उदय, संक्रमण, उपशम और क्षयका विवेचन है। प्रारम्भके अधिकारोंमें प्रकृतिसत्त्व, स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व और प्रदेशसत्त्व आदिका कथन है। इनके साथ ही बाईसवी गाथा समाप्त होती है।

तेईसवीं गाथा बन्धक अधिकारसे सम्बद्ध है। इसमें कहा है कि 'कितनी प्रकृतियोंको बांधता है? कितना स्थिति-अनुभागको बांधता है? कितने प्रदेशोंको बांधता है? कितनी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका संक्रमण करता है?'

बन्धका कथन तो नहीं किया, संक्रमका कथन आचार्य गुणधरने पैंतीस गाथाओं-के द्वारा किया है। एक प्रकृतिका तथा उसकी स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका अन्य सजातीय प्रकृति आदिमें परिवर्तनको संक्रम कहते हैं। यह भी चार प्रकारका है—प्रकृति-संक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम और प्रदेशसंक्रम। इन्हींका इसमें विवेचन है।

आगे चार गाथाओंसे वेदक अधिकारका कथन है। ये चारों गाथाएँ भी प्रश्नात्मक हैं। यथा—कितनी प्रकृतियोंका उदयावलीमें प्रवेश कराता है? और किन जीवोंके कितनी प्रकृतियाँ उदयावलीमें प्रविष्ट होती हैं? क्षेत्र, भव, काल, और पुद्गलको निमित्त करके कितने कर्मोंका स्थिति, विपाक और उदयक्षय होता है?

आशय यह है कि कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं। इसके दो रूप हैं—उदय

और उदीरणा। कर्मोंकी स्थिति यथाक्रम पूरी होने पर फल देना उदय है। और तप आदिके द्वारा बलपूर्वक स्थितिका अपकर्षण करके कर्मोंको उदयमें ले आना उदीरणा है। इन्हींका विवेचन इस अधिकारमें है। आगे विवेचन उत्तरकालमें वृत्तिकार और टीकाकारने किया।

इसके आगे सात गाथाओंसे उपयोग अधिकारका कथन है। ये गाथाएँ भी प्रश्नात्मक हैं। यथा—किसी कषायमें एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है? किस उपयोगका काल किससे अधिक है? कौन जीव किस कषायसे निरन्तर एक सदृश उपयोगमें रहता है आदि?

आगे सोलह गाथाओंसे चतुस्थान-अर्थाधिकारका कथन है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभके चार-चार प्रकारोंका कथन है। इसीसे इसे चतुःस्थान नाम दिया है। ये गाथाएँ प्रश्नात्मक नहीं हैं, विवरणात्मक है। केवल अन्तकी दो गाथाएँ प्रश्नात्मक है।

क्रोधादिके उत्तरोत्तर हीनताकी, अपेक्षा चार स्थान जिनागममें प्रसिद्ध है—क्रोध चार प्रकारका है—पाषाण-रेखाके समान, पृथिवी-रेखाके समान, बालू-रेखाके समान और जल-रेखाके समान। मानके भी चार भेद है—पत्थर, हड्डी, लकड़ी और लताके समान। मायाके भी चार प्रकार हैं—बाँसकी जड़, मेढेके सींग, गोमूत्र और अवलेखनीके समान। तथा लोभके भी चार प्रकार है—कृमिराग, अक्षमल, पांशुलेप और हल्दीसे रंगे वस्त्रके समान।

आगे इनके अनुभागकी हीनाधिकताका विवेचन है।

आगे पाँच गाथाओंसे व्यंजन अधिकारका विवेचन है। इनमे चारों कषायोंके समानार्थक नाम बतलाये हैं। जैसे—क्रोध, कोप, रोष आदि। मान, मद, दर्प, माया, निकृति, वंचना, काम, राग, निदान, लोभ आदि!

यहाँ तक कर्मरूप कषायोका कथन करनेके पश्चात् आगेके अधिकारोमे दर्शन-मोह और चारित्रमोहके उपशमन तथा क्षपणका कथन है।

सबसे प्रथम मोक्षमार्गी जीवको उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः सम्यक्त्व-अधिकारमे प्रथम चार गाथाओके द्वारा तो कुछ प्रश्न उपस्थित किये गये है। जैसे—दर्शनमोहके उपशामकका परिणाम कैसा होता है? किस योग, कषाय, उपयोग, लेश्या और वेदसे युक्त जीव दर्शनमोहका उपशम करता है? पन्द्रह गाथाओंसे सम्यग्दर्शनसे सम्बद्ध बातोंका विवेचन है। जैसे—दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम करने वाला जीव चारों गतियोंमें होता है तथा वह नियमसे पंचेन्द्रिय संज्ञी और पर्याप्तक होता है। दर्शनमोहका उपशम होनेपर सासादन भी हो जाता है। किन्तु क्षय होनेपर सासादन नहीं होता। साकार उपयोग वाला

जीव ही दर्शनमोहके उपशमनका प्रस्थापक होता है किन्तु निष्ठापक भजितव्य है। दर्शनमोहकी उपशान्त अवस्थामें मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति ये तीनों उपशान्त रहते हैं। उपशमसम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशान्त रहता है। इसके पश्चात् नियमसे उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिमेंसे किसी एकका उदय होता है। सम्यक्त्वका प्रथम बार लाभ सर्वोपशमसे होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो नियमसे श्रद्धान करता है। किन्तु अज्ञानवश सद्भूत अर्थको स्वयं नहीं जानता हुआ गुरुके नियोगसे असद्भूत अर्थका भी श्रद्धान करता है।'

इस प्रकार इस अधिकारमें सम्यक्त्वका कथन विस्तारसे किया है।

इससे आगे दर्शनमोहक्षपणा-अधिकारमें कहा है कि नियमसे कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ और मनुष्यगतिमें वर्तमान जीव ही दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है, किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतिमें होती है। मिथ्यात्ववेदनीय कर्मके सम्यक्त्व प्रकृतिमें अपवर्तित होनेपर जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है। दर्शन मोहके क्षीण हो जानेपर तीन भवमें नियमसे मुक्त हो जाता है। मनुष्यगतिमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नियमसे संख्यात हजार होते हैं। शेष गतियोंमें असंख्यात होते हैं।

उपशमसम्यक्त्वके पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्व होने पर ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है, क्योंकि दर्शनमोहका क्षय किये बिना मुक्तिकी प्राप्ति संभव नहीं है।

आगे संयमासंयमलब्धि नामक अधिकारमें एक गाथासे कहा है—'संयमासंयमकी लब्धि तथा चारित्रकी लब्धि, परिणामोंकी वृद्धि और पूर्वबद्ध कर्मोंकी उपशामना इस अधिकारमे वर्णन करने योग्य है। इतना कहकर ही यह अधिकार समाप्त कर दिया गया है। आगे चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें प्रारम्भकी ५ गाथाएं तो प्रश्नात्मक हैं। बादकी तीन गाथाओंमें विषयसे सम्बद्ध बातोंका विवेचन किया है। जैसे, यह प्रश्न किया गया है कि चारित्रमोहकी उपशमना करने वाले जीवका प्रतिपात कितने प्रकारका है तथा वह सर्वप्रथम किस कषायमें गिरता है? उत्तरमें कहा है प्रतिपात दो प्रकारका है—एक भवक्षयसे अर्थात् आयु समाप्त हो जानेसे और दूसरा उपशमकालके समाप्त हो जानेसे। उपशमकालके समाप्त होनेसे जो प्रतिपात होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता हैं अर्थात् ग्यारहवें गुणथानसे गिरकर दसवेंमें आता है। किन्तु आयुक्षयसे जो प्रतिपात होता है वह स्थूल रागमें होता है। वह मरकर देव होता है।

अन्तिम अधिकार चारित्रमोहक्षपणा है। दर्शनमोहका क्षय करनेके पश्चात् जीव चारित्रमोहका या तो उपशम करता है या क्षय करता है। यदि उपशम

करता है तो ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचकर नियमसे नीचे गिरता है। जैसा ऊपर कहा है। और क्षय करनेपर नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है। इसीसे इस अधिकार की गाथासंख्या एकसौसे भी अधिक है।

चारित्रमोहनीयकी इक्कीस कर्मप्रकृतियोंका क्षय करने वाले जीवके पूर्वबद्ध कर्मकी क्या स्थिति रहती है, उनमें अनुभाग कैसा रहता है, उस समय किस कर्म-का संक्रमण होता है और किसका संक्रमण नहीं होता, इत्यादि प्रश्नपूर्वक उनका समाधान किया गया है। साथ ही क्षय होने वाली प्रकृतियोंका क्षय किस प्रकार-से किस-किस आन्तरिक क्रियाके द्वारा होता है, यह भी विस्तारसे स्पष्ट किया है। कषायोंके अनुभागको घटाकर उन्हें कृश किया जाता है, इसे कृष्टिकरण कहते हैं इस कृष्टिकरणविषयक जिज्ञासाका भी सूत्ररूपमें समाधान किया गया है।

इस तरह मोहनीयकर्मके अनुभागका कृष्टिकरण करनेपर कृष्टिवेदनके प्रथम समयमें वर्तमान जीवके पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कर्म किन-किन स्थितियोंमें और अनुभागोंमें वर्तमान रहते हैं तथा वर्तमानमें बँधने वाले और उदयमें आने वाले कर्म किन-किन स्थितियोंमें और अनुभागोंमें पाये जाते हैं, ये जिज्ञासाएं करके उनका समाधान किया गया है। यथा—मोहनीयकर्मका कृष्टिकरण कर देनेपर नाम, गोत्र और वेदनीय ये तीन कर्म असंख्यात वर्षोंकी स्थितिवाले होते हैं और शेष तीन धातिया कर्म संख्यात वर्षकी स्थितिवाले रहते हैं इत्यादि। अन्तिम गाथामें कहा है—इस प्रकार मोहनीयकर्मके क्षीण होने तक संक्रमणा विधि, अपवर्तना विधि, और कृष्टिक्षपण विधि ये क्षपणा-विधियाँ मोहनीयकर्मकी क्रमसे जानना।

इस अन्तिम कथनके साथ कसायपाहुड समाप्त होता है।

इस तरह आचार्य गुणधरने इस ग्रन्थमें मोहनीयकर्मके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वके पृच्छासूत्रात्मक कथनके साथ बन्ध, उदय, उदीरणाका निर्देशमात्र करके संक्रमणका कुछ विस्तारसे कथन किया है। एक कर्मप्रकृतिके अन्य सजातीय प्रकृतिरूप होनेको संक्रमण कहते हैं। इसके पश्चात् दर्शनमोहके उपशम और क्षपणका कथन करके अन्तमें चारित्रमोहके उपशमन और क्षपणका विस्तारसे कथन किया है।

जिस तरह मोहनीयकर्मका बन्ध जीवके परिणामोंसे होता है उसी तरह उनका संक्रमण, उपशम, क्षय भी जीवके ही परिणामोंसे होता है। परिणामोंकी विशुद्धि मोहनीयकर्मके उपशमादिमें निमित्त पड़ती है और उपशमादि परिणामोंकी विशुद्धिमें निमित्त पड़ते हैं। विशुद्धिके तरतमांशका चित्रण कर्मसिद्धान्तके द्वारा किया जाता है। इसीसे कर्मसिद्धान्तके विश्लेषणने इतना बृहत् रूप लिया है।

●

द्वितीय परिच्छेद

छक्खंडागम (षट्खण्डागम)

दिगम्बर परम्पराका दूसरा महनीय ग्रन्थ छक्खंडागम है। इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु केवल जैन साहित्यकी दृष्टिसे ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय वाङ्मयके इतिहासकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। जीवकी स्वतंत्रता और उसके कर्मसम्बन्धका सूक्ष्म विवेचन धर्म, दर्शन एवं संस्कृतिकी दृष्टिसे नितान्त श्लाघनीय है। यह केवल ग्रन्थ ही नहीं, अपितु वाङ्मय कोष है। अतएव वाङ्मयके इतिहासके विवेचन-सन्दर्भमें इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु, रचना-काल, रचयिता, रचना-स्थान आदिपर विचार करना परमावश्यक है।

छक्खंडागमका रचनाकाल

इस ग्रन्थके रचनाकालके सम्बन्धमें विचार करनेके हेतु ग्रन्थावतारका इतिवृत्त अंकित किया जा चुका है। बताया है कि यह ग्रन्थ उस समय रचा गया था, जब अङ्गों और पूर्वोका ज्ञान प्रायः लुप्त हो चुका था और विशकलित अंशज्ञानके भी लुप्त होनेका भय उपस्थित हो गया था। अतएव धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो मुनियोंको महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अध्ययन कराया। गुरुद्वारा प्राप्त अपने ज्ञानके आधारपर ही उक्त दोनों आचार्योंने छक्खण्डागमकी रचना की।[1]

नन्दिसंघकी पट्टावलिके[2] अनुसार आचार्य धरसेनका समय वीर-निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात् आता है। धरसेनाचार्यकृत 'जोणिपाहुड' (योनिप्राभृत) ग्रन्थ उपलब्ध होता है। विक्रम संवत् १५५६ में लिखी गयी 'बृहट्टिप्पणिका'[3] नामकी सूचीके आधारपर उसे वीरनिर्वाषसे ६०० वर्ष पश्चात्का रचा हुआ माना गया है।

---

१. लोहाइरिये सग्गलोगं गदे आयारदिवायरो अत्थमिओ। एवं बारासु दिणयरेसु भरह-खेत्तमि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसभूदपेज्जदोसमहाकम्मपयडि-पाहुडादीणं धारया जादा। एवं पमाणीभूदमहरिसीपणालेण आगंतूण महाकम्मपयडि-पाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारयं संपत्तो। तेण वि गिरिणयरचंदगुहाए भूदबलि पुप्फदंताणं महाकम्मपयडिपाहुडं सयलं समापिदं। तदो भूदवलिभडारएण सुदणईप-वाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।'—षट्खं०, पु० ९, पृ० १३३।

२. षट्खं, पु० १ की प्रस्ता० पृ०, २५-२९।

३. 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्।'—जै. सा. सं. १, २, परिशिष्ट।

इस 'टिप्पणिका' ग्रन्थकी एक प्रति भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना-में उपलब्ध है। इस प्रतिमें ग्रन्थका नाम तो 'योनिप्राभृत' ही बताया है। पर रचयिताका[1] नाम 'पण्णसमण' मुनि लिखा है। इन महामुनिने कुष्माण्डिनी देवीसे इसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबलिके लिए लिखा था।

इस कथनसे योनिप्राभृतके रचयिता धरसेनकी संभावना की जाती है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धि है। सम्भवतः धरसेनाचार्य इस ऋद्धिके धारी रहे हों। इसी कारण उन्हें प्रज्ञाश्रमण कहा जाता रहा हो।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें गुणधरके समान धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्परा अंकित नहीं की है और न ऐसा स्रोत ही उपलब्ध है, जिसके आधारपर धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्परापर विचार किया जा सके। पर हाँ, पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो इनके शिष्य हैं। उनके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। पट्टावलीसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि धरसेनका समय वीर निर्वाण संवत् ६१४-६८३ के बीच होना चाहिए। अतः छक्खंडागमका रचनाकाल विक्रम संवत्की प्रथम शताब्दीका अन्तिम पाद और द्वितीय शताब्दीका प्रथम पाद होना चाहिए।

रचनास्थान

[2]धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें निवास करते हुए पुष्पदन्त और भूतबलिको महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अध्ययन कराया था। यह नगर सौराष्ट्रमें गिरिनारके नामसे प्रसिद्ध है।

पुष्पदन्त और भूतबलिने गिरिनारसे लौटकर अंकुलेश्वरमें वर्षावास किया। सम्भवतः गुजरातका भडोंच जिलेका अंकलेश्वर ही अंकुलेश्वर रहा होगा। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें बताया है कि धरसेनाचार्यने उन्हें कुरीश्वरपत्तन भेजा था, जहाँ वे नौ दिनमें पहुँचे थे। विबुध श्रीधरने भी अंकुलेश्वरमें वर्षावास करनेका उल्लेख किया है। अतः कुरीश्वर अंकुलेश्वरका ही भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है।

वर्षायोग समाप्तकर पुष्पदन्ताचार्य जिनपालितको देखकर और उसे साथ ले वनवास देशको चले गये और भूतबलिने द्रमिल (द्रविड़) देशको प्रस्थान किया—

---

१. 'इय पण्हसवणरइए भूयवली-पुप्फदंतआलिहिए। कुसुमंडीउवइट्ठे विज्जयविपम्मि अवियारे।'—अनेका०, वर्ष २, पृ० ४८७।

२. 'सोरट्ठविसयगिरिणयरपट्टणचंदगुहाठिएण···दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो।'—षट्खंडागम, पु० १, पृ० ६७।

[1]इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे इतना ही ज्ञात होता है कि वर्षावास समाप्त होनेपर दोनों ही मुनि दक्षिणकी ओर विहार कर गये और वे करहाट पहुँचे। करहाटकको कुछ विद्वानोंने सितारा जिलेका करहाड या कराड़ और कुछने महाराष्ट्रका कोल्हापुर बतलाया है।[2] यह नगर प्राचीन समयमें विद्याका उत्कट स्थान रहा है। यहाँ आचार्य समन्तभद्र भी पहुंचे थे।[3]

पुष्पदन्ताचार्यका भानजा करहाटकमें निवास करता था। अतः बहुत सम्भव है कि आचार्य पुष्पदन्तका जन्म उसीके कहीं आस-पास रहा हो। दूसरी बात यह है कि धरसेनाचार्यने अपना पत्र महिमानगरीमें सम्मिलित दक्षिणापथके आचार्योंके पास भेजा था। और आंध्रदेशकी वेणा नदीके तटसे पुष्पदन्त और भूतबलि उनके पास गये थे। वर्तमान सतारा जिलेमें वेण्णा नामकी नदी भी है और उसी जिलेमें महिमा नामक ग्राम भी है। अतः यह बहुत सम्भव है कि यह महिमानगढ ही प्राचीन महिमानगरी हो। अतएव सितारा जिलेका करहाटक प्रतीत होता है।

वनवासदेश उत्तर करनाटकका प्राचीन नाम है, वहाँ कदम्बवंशका राज्य था और उसकी राजधानी बनवास थी। इस देशमें ही पुष्पदन्तने 'वीसदि' सूत्रोंकी रचना की और जिनपालितको उन्हें पढाकर भूतबलिके पास भेजा। भूतबलिने 'विंशति' सूत्रोंको देखा और जिनपालितसे ज्ञात किया कि पुष्पदन्ताचार्यकी अल्पायु शेष है। अतएव कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होनेके भयसे उन्होंने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थरचना की।

इस अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि छक्खंडागम सिद्धान्तका आरम्भिक भाग तो वनवासदेशमें और अवशेष ग्रन्थ द्रविड़ देशमें रचा गया होगा।

ग्रन्थरचना-विभाजन और रचयिता

धवलाकार वीरसेन[4] स्वामीने लिखा है कि आचार्य पुष्पदन्तने "वीसदि" सूत्रोंकी रचना की और इन सूत्रोंको देखकर आचार्य भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगम आदि अवशिष्ट ग्रन्थकी रचना की। छक्खंडागमके प्रथम खण्ड जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम अनुयोगद्वारका नाम सत्प्ररूपणा और दूसरेका नाम द्रव्यप्रमाणानुगम है। स्पष्ट है कि प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाकी रचना पुष्पदन्ताचार्यने की है। 'वीसदि' सूत्रसे अभिप्राय सत्प्ररूपणाका लेना चाहिए।

---

१ जग्मतुरथ करहाटे तयोः स यः पुष्पदन्तनाम मुनिः। जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽसौ भागिनेयं स्वं ॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम्। तस्थौ भूतबलिरपि मधुरायां द्रविड-देशेऽस्थात् ॥—श्रुतावतार श्लो० १३२-१३३

२. जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० १७२। ३. 'प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।' जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० १७४। ४ षट्खं० पु० १, पृ० ७१।

[1]इन्द्रनन्दिने भी यही लिखा है—गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्रकारके सूत्रोंकी सत्प्ररूपणासे युक्त जीवस्थानके प्रथम अधिकारकी रचना पुष्पदन्तने की। किन्तु यदि 'वीसदिसुत्त' से अभिप्राय सत्प्ररूपणासे है तो सत्प्ररूपणा न कहकर उसे 'वीसदिसुत्त' शब्दसे क्यों अभिहित किया, यह स्पष्ट नहीं होता।

सूत्रोंका विवरण समाप्त हो जानेके अनन्तर वीरसेन स्वामीने उनकी प्ररूपणा करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए [2]प्ररूपणाका अर्थ किया है—सामान्य और विशेषकी अपेक्षा गुणस्थानों, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, अभव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, असंज्ञी, आहारी-अनाहारी और उपयोग इनमें पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणोंसे विशिष्ट जीवोंकी परीक्षा प्ररूपणा है।'

यह कह करके वीरसेन स्वामीने एक गाथा उद्‌धृत की है, जिसमें कहा गया है कि—'गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग इस प्रकार क्रमसे बीस प्ररूपणाएँ कही गई हैं।'

आगे धवलाटीका[3]में यह शंका की गई है कि यह बीस प्रकारकी प्ररूपणा सूत्रके द्वारा कही गई है या नहीं? वीरसेनस्वामीने यह स्वीकार किया है कि यह सूत्र-प्रतिपादित है। यहाँ सूत्रसे अभिप्राय पुष्पदन्ताचार्य प्रणीत सत्प्ररूपणाके सूत्रोंसे ही जान पड़ता है। चूँकि उन सूत्रोंमें बीस प्ररूपणाओंका कथन है, इसलिये उन्हे 'वीसदिसुत्त' कहा जान पड़ता है।

किन्तु धवलाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका व्याख्यान समाप्त करनेके पश्चात् लिखा[4] है कि—सत्सूत्रोंका विवरण समाप्त हो जानेके अनन्तर उनकी प्ररूपणा कहेंगे। इससे स्पष्ट है कि आचार्य पुष्पदन्तने सत्सूत्रोंकी ही रचना की है, उसकी प्ररूपणाका कथन नहीं किया। यद्यपि उन्होंने अनुयोगद्वारका नाम 'संतपरूवणा' ही रखा, ऐसी स्थितिमें पुष्पदन्ताचार्यके द्वारा रचे गये सूत्रोंको 'संतसुत्त' कहना उचित हो सकता था। किन्तु यह न कहकर 'वीसदिसुत्त' ही क्यों कहा गया, इस सम्बन्धमें विशेष सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता।

[5]इन्द्रनन्दिने लिखा है कि पुष्पदन्तने सौ सूत्रोंको पढ़ाकर, जिनपालितको

---

१. 'वाञ्छन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया। युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत् सम्यक् ॥१३५॥'—श्रु० ता०

२. 'संपहि संतसुत्तविवरणसमत्ताणंतरं तेसिं परूवणं भणिस्सामो। परूवणा णाम किं उत्तं होदि।'—षट्खं०, पु. २, पृ. ४११।

३. षट्खं० पु. २, पृ. ४१३। ४. षट्खं. पु. २, पृ. ४११।

५. 'सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरोः पार्श्वम्। तदभिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयदगमद्देशोऽपि ॥१३६॥'—श्रु० ता०

भूतबलिके पास भेजा। किन्तु सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी संख्या १७७ है। अतः उनका यह कथन भी स्खलित प्रतीत होता है। इसप्रकारकी कतिपय विप्रतिपत्तियोंके रहते हुए भी धवलासे तो यही प्रमाणित होता है कि सत्प्ररूपणके सूत्र पुष्पदन्ताचार्यने रचे थे, क्योंकि उनकी उत्थानिकाओंमें धवलाकारने पुष्पदन्तका ही नामोल्लेख किया है। द्रव्यप्रमाणानुगम[1] अनुयोगद्वारके प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें भूतबलिका नाम निर्देश किया है। अतः द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर भूतबलि आचार्यकी रचना आरंभ होती है।

रूपरेखाका निर्माण

इस ग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतबलि और पुष्पदन्तमेंसे किसने किया ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रन्थके निर्माणका आरम्भ आचार्य पुष्पदन्तने किया। उन्होंने[2] चौदह जीवसमासोंके गुणस्थानोंके) निरूपणके लिए आठ अनुयोगद्वारोंको ही जानने योग्य बताया है। वे आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। जीवस्थाननामक प्रथम खंडके ये ही आठ अधिकार हैं। इन अधिकारोंके पश्चात् जीवस्थानकी चूलिका है, इस चूलिकाके अन्तर्गत अधिकारोंका कोई निर्देश 'जीवट्ठाण' के उक्त आठ अनुयोगद्वारोंमें नहीं पाया जाता। अतः चूलिका अधिकारको भी जीवस्थानका ही भाग सिद्ध करनेके लिए, चूलिकाके आरम्भमें[3] ही धवलाकारको शङ्का-समाधान करना पड़ा है, जो इस प्रकार है—

शङ्का—आठों अनुयोगद्वारोंके समाप्त हो जानेपर यह चूलिका नामक अधिकार किसलिए आया है ?

समाधान—पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोंके नियम-स्थलोंका विवरण करनेके लिए आया है।

शङ्का—चूलिका अधिकार आठ अनुयोगद्वारोंसे प्ररूपित अर्थका ही कथन करता है अथवा अन्य अर्थका। यदि उसी अर्थका कथन करता है

---

१. संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणपडिबोहणट्ठं भूदबलियाइरिओ सुत्तमाह।' षट्खं., पु. ३, पृ० १।

२. एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणिओगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥५॥ तं जहा ॥६॥ संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो, अंतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥ षट्खं. पु., १, पृ. १५३-१५५।

३. षट्खं. पु. ६, पृ. १-२।

तो पुनरुक्त दोष आता है। दूसरे पक्षमें वह चौदह जीवसमासोंसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन करता है अथवा अप्रतिबद्ध अर्थका ? प्रथम विकल्पमें 'चौदह जीवसमासोंके कथनके लिए ये आठ ही अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं' इस सूत्रमें आये हुए एककार (ही) की विफलता प्राप्त होती है, क्योंकि चौदह जीवसमासोंसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन करने वाला चूलिका नामक नौवाँ अधिकार पाया जाता है। दूसरा पक्ष मानने पर चूलिका नामक अधिकार जीवस्थानसे पृथक्भूत हो जाएगा, क्योंकि वह जीवस्थानसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन नहीं करता।

समाधान—पुनरुक्त दोष नहीं आता, क्योंकि चूलिका नामक अधिकारमें आठ अनुयोगद्वारोंसे नहीं कहे गये तथा कहे गये अर्थका निश्चय कराने वाले और आठ अनुयोगद्वारोंसे सूचित, किंतु उनसे कथंचित् भिन्न अर्थका कथन किया गया है।

इस शंका-समाधानके पश्चात् धवलाकारने चूलिकाका अन्तर्भाव उक्त आठ अनुयोगद्वारोंमें ही करके यह बतलाया है कि चूलिका जीवस्थानसे भिन्न नहीं है।

इस चर्चासे प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्त आचार्यके द्वारा सूचित आठ अनुयोगद्वारोंमें जो बातें कथन करनेसे छूट गयी, उनका या सम्बद्ध अन्य बातोंका कथन चूलिका नामक अधिकारमें किया गया। अतः चूलिका अधिकार भूतबलिकी उपज जान पड़ता है और उसपरसे यही व्यक्त होता है कि पुष्पदन्तने केवल जीवस्थाननामक खण्डकी ही रूपरेखा निर्धारित की थी।

धवला-टीकाके आरम्भमें[1] भी वीरसेनस्वामीने जीवस्थानके ही अवतारका कथन किया है, छक्खंडागमसिद्धांतका नहीं। जीवस्थानके अवतारका कथन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि—दूसरे[2] अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत चौदह वस्तु-अधिकारोंमें एक चयनलब्धि नामक पाचवाँ वस्तु-अधिकार है। उसमें बीस प्राभृत हैं। उनमेंसे चतुर्थप्राभृत कर्मप्रकृति है। उस कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अर्थाधिकार हैं। उनमें एक बन्धन नामक अर्थाधिकार है। उस बन्धन नामक अर्थाधिकारमें भी चार अधिकार हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। इनमेंसे बन्धक अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। उनमें पाचवाँ अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम है। जीवस्थाननामक खण्डमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकार है वह इस बन्धकनामक अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला है।

---

१. संपहि जीवट्ठाणस्स अवयारो उच्चदे।'—षट्खं. पु. १, पृ. ७२।

२ षट्खंडा०, पु. १, पृ. १२३।१३ ।

बन्धविधानके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, प्रदेश-बन्ध। इन चार बन्धोंमेंसे प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध। उत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वो-गाढउत्तरप्रकृतिबन्ध। एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे जो समुत्कीर्तन नामक अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थान-समुत्कीर्तन तथा तीन महादण्डक निकले हैं। और तेईसवें भावानुगमसे भावानु-गम निकला है। अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। प्रकृतिस्थानबन्धके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छै अनुयोगद्वार निकले हैं—सत्प्ररू-पणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्व-प्ररूपणा। ये छै और बन्धक अधिकारके ग्यारह अधिकारोंमेंसे द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला द्रव्यप्रमाणानुगम, तथा एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अधिकारोंमेंसे तेईसवें भावानुगम अधिकारसे निकला भावानुगम, ये सब मिलकर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार होते हैं।

स्थितिबन्धके दो भेद है—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थिति-बन्ध। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार है। उनमेंसे अर्धच्छेद दो प्रकारका है—जघन्यस्थिति अर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद। इनमें जघ-न्यस्थिति अर्धच्छेदसे जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेदसे उत्कृष्ट स्थिति निकली है। सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक अधिकार निकला है। पहले जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध अधिकारके समुत्कीर्तना नामक प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमु-त्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डकोंके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं उन पाँचोंमें अभी कहे गये जघन्यस्थिति अर्द्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति अर्द्ध-च्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन चार अधिकारोंको मिला देने पर चूलिकाके नौ अधिकार होते हैं। इस सब कथनको मनमें अवधारण करके आचार्य पुष्पदन्तने 'एत्तो' इत्यादि सूत्र कहा है।' इस कथनसे केवल जीव-स्थानकी ही नहीं, उसकी चूलिकाकी भी रूपरेखा पुष्पदन्ताचार्यकृत थी, ऐसा वीरसेनस्वामीका मत है। किन्तु समस्त छक्खंडागमकी रूपरेखा उनकी निर्धारित की हुई ज्ञात नहीं होती।

अतः समग्र सिद्धान्तग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतबलिने ही किया जान पड़ता है क्योंकि कृति[1] अनुयोगद्वारके आदिमें ग्रन्थावतारका वर्णन करते हुए

---

१. 'तदो भूदबलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडि-पाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।'—षट्खं, पु० ९, पृ० १३३।

वीरसेन स्वामीने स्पष्ट लिखा है कि 'धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें पुष्पदन्त और भूतबलिको समग्र महाकर्मप्रकृतिप्राभृत समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् भूतबलि भट्टारकने श्रुतनदीके प्रवाहके विच्छेदके भयसे भव्य जीवोंके उपकारके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके छह खण्ड किये।'

इन्द्रनन्दिने लिखा[1] है कि पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितको पढ़ानेके लिये कर्मप्रकृतिप्राभृतका छ खण्डोंमें उपसंहार किया और जीवस्थानके प्रथम अधिकारकी रचना की और उसे जिनपालितको पढ़ाकर भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिये उनके पास भेजा। उससे सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको सुनकर, भूतबलिने पुष्पदन्त गुरुकी षट्खण्डागम रचनाका अभिप्राय जाना।

इन्द्रनन्दिने यह भी लिखा है कि भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकोंमें लिखाया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको उसकी पूजा की। इसीसे यह पञ्चमी श्रुतपञ्चमीके नामसे ख्यात हुई। तत्पश्चात् भूतबलिने उस छक्खंडागमसूत्रके साथ जिनपालितको पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। जिनपालितके हाथमें छक्खंडागम पुस्तकको देखकर 'मेरे द्वारा चिन्तित कार्य सम्पन्न हुआ' यह जान पुष्पदन्त गुरुने भी श्रुतभक्तिके अनुरागसे पुलकित होकर श्रुतपञ्चमीके दिन ग्रन्थकी पूजा की।

इस सब कथनसे तो यही प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्ताचार्यने छक्खंडागमकी रूपरेखा निर्धारित करके सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना की थी।

किन्तु धवलासे इसका समर्थन नहीं होता, उसमें यह भी नहीं लिखा कि भूतबलिने छक्खंडागमके सूत्रोंकी रचना करके उन्हें पुष्पदन्ताचार्यके पास भेजे थे। धवलाके अनुसार तो पुष्पदन्ताचार्यके द्वारा सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको भूतबलिके पास भेजनेका कारण पुष्पदन्ताचार्यका अल्पायु होना था। अतः यह संभव प्रतीत होता है कि छक्खंडागमकी रचना पूर्ण होने पर पुष्पदन्त स्वर्गवासी हो चुके हों। किन्तु श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्ताचार्यने भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिए उनके पास सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको भेजा था और भूतबलिने उन्हें सुनकर जाना कि पुष्पदन्ताचार्यका अभिप्राय छक्खंडागमकी रचना करनेका है। उन्होंने छक्खंडागमकी रचना की।

इन दोनों कथनोंमें हमें धवलाकारका कथन विशेष समुचित प्रतीत होता है, क्योंकि पुष्पदन्ताचार्य अंकलेश्वरसे लौटते हुए ही अपने भानजे जिनपालितको अपने साथ लेते गये थे और उन्हें जिन-दीक्षा भी दे दी थी। ऐसा उन्होंने महा-

---

१. 'अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तम्।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः ॥'—श्रुता० १३४

कर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके उसे जिनपालितको पढ़ाकर उसकी परम्परा चलानेके अभिप्रायसे किया था। किन्तु उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरी आयु थोड़ी शेष है अतः उन्होंने अपनी रचनाको जिनपालितके साथ भूतबलिके पास भेज दिया। यदि उन्होंने केवल भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिये जिनपालितको उनके पास भेजा होता तो भूतबलि अपने अभिप्रायके साथ जिनपालितको पुष्पदन्ताचार्यके पास लौटा देते, स्वयं रचना करनेमें न लग जाते। अस्तु,

फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितके हाथ केवल 'विसदिसुत्त' ही भेजे थे या षट्खण्डोंकी कोई रूपरेखा भी भेजी थी।

षट्खण्डोंके क्रम तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंसे उनके उद्धारका जो वर्णन मिलता है, उसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खण्डोंकी रूपरेखा किसी एक व्यक्तिकी निर्धारित की हुई नहीं है, बल्कि दो व्यक्तियोंकी और ऐसे दो व्यक्तियोंकी—जो आपसमें नहीं मिल सके, निर्धारित की हुई है। हमारे इस अनुमानकी सत्यताके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अनुयोगद्वारोंके साथ छः-खण्डोंका मिलान करके देखें।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम दो अनुयोगद्वारोंसे वेदनाखण्डका उद्धार हुआ, जो चौथा खण्ड है। तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अनु-योगद्वारके बंध और बन्धनीय भेदोंको लेकर पाँचवाँ वर्गणा खण्ड बना। इसी छठे अनुयोगद्वारके एक भेद बन्धकसे दूसरा खण्ड खुद्दाबन्ध बना, और दूसरे भेद बन्ध-विधानसे छठा खण्ड महाबन्ध बना। शेष दो खण्ड—पहला और तीसरा भी इसी बन्धविधानके अवान्तर अनुयोगद्वारोंसे निष्पन्न हुए।

ग्रन्थनाम—मूलसूत्रोंमें ग्रन्थका नाम नहीं दिया। अतः नहीं कह सकते कि इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलिने इसे किस नामसे अभिहित किया था। धवलाटीकाके[1] प्रारम्भमें इसे 'खण्डसिद्धान्त' कहा है और धवलाकारने कृति अनुयोगद्वारमें[2] लिखा है कि भूतबलि भट्टारकने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उप-संहार करके छः खण्ड किये। इन छः खण्डोंके आधार पर ही इसका नाम उत्तर-कालमें छक्खंडागम प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधरने

---

१. 'तदो एयं खंडसिद्धंतं पडुच्च' भूतबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति'–षट्खं०, पु० १, पृ० ७१। इदं पुण जीवट्ठाणं खंडसिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीवट्ठाणमिदि—वही, पृ० ७४।

२. 'महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।'—षट्खं, पु० ९, पृ० १३३। षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरुः॥ १३७॥ 'एवं षट्खंडागमरचनां प्रविधाय'—॥ १४२॥ श्रुता०

अपने-अपने श्रुतावतारमें इसी नामसे ग्रन्थका उल्लेख किया है। किन्तु धवला-कारने कहीं भी 'षट्खंडागम' नामसे इस ग्रन्थका निर्देश नहीं किया। धवला और जयधवलामें छः खण्डोंके नामोंसे या उनके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोंके नामोंसे ही उनका निर्देश मिलता है।

यथा—'जुत्तं खुद्दाबंधम्हि भागलद्धादो एयरूवस्स अवणयणं, एत्थ पुण जीव-ट्ठाणम्हि....।'—षट्खं., पु० ३, पृ० २५०।

'एत्थ णेरइयमिच्छाइट्ठीणं जीवट्ठाणे परूविदा....एदेण खुद्दाबंधेण सह विरोहादो।—पु० ७, पृ० २४६।

'वग्गणासुत्ते भणिदं'—पु० १४, पृ० ३८५।

'अथवा जहा वेयणाए....परूवणा कदा तहा वि कायव्वा,' पु० १४, पृ० ३५१।

'तं कथं णव्वदे ? 'पंचिदिएसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि णो सम्मुच्छिएसु' त्ति चूलियासुत्तादो।—पु० ५, पृ० ११९।

जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, वेदना, वर्गणा ये सब षट्खण्डागमके अन्तर्गत खण्डोंके नाम हैं। तथा 'चूलिया' जीवट्ठाणका अन्तिम भाग है। उसका निर्देश भी 'जीव-ट्ठाण' के नामसे न करके 'चूलिका' के नामसे किया है। एक ही ग्रन्थमें उसके अन्तर्गत खण्डोंका उल्लेख खण्डके नामसे न करके मूलग्रन्थके नामसे करनेमें पाठकको कुछ भ्रम न हो, इसलिये ऐसा किया गया है, यह कहा जा सकता है, किन्तु जयधवलामें भी उनका उल्लेख खण्डोंके नामोंसे ही पाया जाता है। यथा—

'खुद्दाबंधे जो आलावो सो कायव्वो'।—क० पा०, भा० २, पृ० ३२।

ण च जीवट्ठाणेण....सह विरोहो'।— ,, ,, पृ० ३६१।

'खिप्पोग्गहादीणमत्थो जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ वि परूविदव्वो।' क० पा०, भा० १, पृ० १४।

षट्खण्डागमके अन्तर्गत खण्डोंका उल्लेख ग्रन्थान्तरोंमें क्वचित् ही मिलता है, मगर वहाँ भी खण्डोंके नामोंसे ही मिलता है। यथा—अकलंकदेवने अपने[1] तत्त्वार्थवार्तिकमें 'जीवस्थान' का निर्देश किया है। और एक जगह[2] 'आर्ष' करके खुद्दाबन्धका उल्लेख किया है। और एक जगह[3] वर्गणाखण्डका उल्लेख किया है किन्तु षट्खण्डागम करके निर्देश नहीं किया।

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि वैसे प्रत्येक खण्ड अपने-अपने स्वतंत्र

---

१. 'आह चोदकः—जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायां'—पृ० १५३।
२. 'एवं ह्यार्षे उक्तमन्तरविधाने'—पृ० २४४।
३. 'एवं ह्युक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने।'—त० वा० ५।३७।

नामोंसे ही अभिहित किया जाता था। किन्तु सामूहिक रूपसे उन्हें छःखण्ड या षट्खण्ड कहा जाता था, क्योंकि जयधवलाकी[1] प्रशस्तिमें वीरसेनस्वामीका गुणगान करते हुए कहा गया है कि चक्रवर्ती भरतकी आज्ञाकी तरह जिनकी भारती षट्खण्डमें स्खलित नहीं हुई। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपने कर्मकाण्डमें 'छक्खण्ड' नामसे ही उसका उल्लेख किया है। अतः छहों खण्डोंको उनके रचयिता भूतबलिने कोई नाम नहीं दिया था। इसीसे बादको षट्खण्ड नामसे वे अभिहित किये जाने लगे।

वीरसेनस्वामीने 'खण्ड' के साथ सिद्धान्तशब्दका प्रयोग करके उन्हें 'खण्ड-सिद्धान्त' कहा है। जयधवलाकी प्रशस्तिमें इस सिद्धान्तशब्दकी सार्थकता बतलाते हुए कहा है—जिसके अन्तमें सिद्धोंका कथन हो उसे सिद्धान्त कहते हैं।[2] अतः वीरसेनस्वामीके अनुसार इसका नाम षट्खण्डसिद्धान्त था। किन्तु इन्द्रनन्दिने आगमशब्दका प्रयोग करके उन्हें छक्खंडागम कहा है। यद्यपि सिद्धान्त[3] और आगमशब्द एकार्थवाची हैं, फिर भी दोनो शब्दोंका यौगिक अर्थ भिन्न है और दोनों अपना-अपना इतिहास रखते हैं।

संतकम्मपाहुड (सत्कर्मप्राभृत)

धवलाटीका और जयधवलाटीकामें भी 'सत्कर्मप्राभृत' का उल्लेख मिलता है। धवलाके[4] आरम्भमें ही लिखा है कि यह संतकम्मपाहुडका उपदेश है। और कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कषायोंका क्षपण होने पर पीछे अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है। इस पर आशंका की गई कि इन दोनों वचनोंमे विरोध क्यों है, तो कहा गया कि ये दोनों आचार्यवचन हैं, 'जिनेन्द्रवचन नही हैं' अतः उनमें विरोध होना सम्भव है।

इसी तरह जयधवलाटीकामें[5] भी संतकम्मपाहुडका उल्लेख मिलता है। ऊपर धवलामें कसायपाहुडके प्रतियोगीरूपमें संतकम्मपाहुडका जिस प्रकार निर्देश किया गया है उससे बराबर यह व्यक्त होता है कि संतकम्मपाहुड कसायपाहुडका समकक्ष आगमग्रन्थ होना चाहिये। उसके नामके साथ भी पाहुडशब्द जुड़ा हुआ है,

---

१. 'भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २० ॥'—ज० प्र०।
२. 'सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्तप्रसिद्धवाक् ॥ १ ॥'—ज० प्र०।
३. 'आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो'—षट्खं०, पु० १, पृ० २०।
४. 'एसो संतकम्मपाहुडउवएसो। कसायपाहुडउवएसो पुण···। षट्खं०, पु० १, पृ० २१७-२२१।
५. 'एसो अत्थविसेसो संतकम्मपाहुडे वित्थारेण भणिदो। एत्थ पुण गंथगउरवभएण ण भणिदो।'—ज०ध० प्रे० का०, पृ० ७४४१।

जो उसे पूर्वोका ही अंश बतलाता है।

प्रो० हीरालालजीने इसके सम्बन्धमें लिखा था—'यहाँ स्पष्टतः कसायपाहुडके साथ सत्कर्मपाहुडसे प्रस्तुत समस्त षट्खण्डागमसे ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है क्योंकि पूर्वोकी रचनामें उक्त चौबीस अनुयोगद्वारोंका नाम महाकर्मप्रकृतिपाहुड है'''महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म संज्ञाएँ एक ही अर्थकी द्योतक हैं, अतः सिद्ध होता है कि इस समस्त छक्खंडागमका नाम सत्कर्मप्राभृत है। और चूँकि इसका बहुभाग धवलाटीकामे ग्रथित है, अतः समस्त धवलाको भी सत्कर्मप्राभृत कहना अनुचित नहीं। उसी प्रकार महाबन्ध या निबन्धनादि अठारह अधिकार भी इसीके खण्ड होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते हैं।' (षट्खं० पु० १, प्रस्ता० पृ० ६९–७०)।

किन्तु वेदनाखण्डके [1]क्षेत्रविधानमे स्वामित्वका कथन करते हुए सूत्रकार भूतबलिने क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना किसके होती है, इस प्रश्नका समाधान करते हुए लिखा है—'जो मत्स्य एक हजार योजनकी अवगाहनावाला स्वयंभुरमण समुद्रके बाह्य तटपर स्थित है, और वेदनासमुद्घातको प्राप्त हुआ है, तनुवातवलयसे स्पृष्ट है, फिर भी जो तीन विग्रह लेकर मारणान्तिकसमुद्घातसे समुद्घातको प्राप्त हुआ है और अनन्तर समयमें सातवीं पृथिवीके नारकियोंमे उत्पन्न होगा, उसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है।'

धवलामें इस पर यह शंका की गई है कि उस महामत्स्यको सातवी पृथिवीको छोड़कर नीचे सात राजु मात्र जाकर निगोदिया जीवोंमें क्यों उत्पन्न नहीं कराया? इसका समाधान करनेके पश्चात् धवलाकारने लिखा है कि—संतकम्मपाहुडमे उसे निगोदमे उत्पन्न कराया है क्योंकि नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यके समान सूक्ष्म निगोदजीवोंमे उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी विवक्षित शरीरकी अपेक्षा तिगुने बाहुल्यसे मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त होता है। परन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि अत्यधिक असाताका अनुभवकर्ता सातवीं पृथ्वीमे उत्पन्न होने वाले महामत्स्यकी वेदना और कषायकी अपेक्षा सूक्ष्मनिगोदजीवोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना सदृश नहीं हो सकती।'

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि षट्खण्डागमसे संतकम्मपाहुड भिन्न है क्योंकि दोनोंके कथनोंमें अन्तर है।

इसी तरह सत्प्ररूपणाकी[2] टीका धवलामें जहाँ संतकम्मपाहुड और कसाय-

---

१. से काले अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइएसु उप्पज्जिहिदि त्ति तस्स णाणावरणीयवेदणा खेत्तदो उक्कस्सा ॥ १२ ॥' '''संतकम्मपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो ' ण च एदं जुज्जदे ।'—षट्खं०, पु० ११, पृ० २१-२२ ।

२. षट्खं०, पु० १, पृ० २१७ ।

पाहुडके उपदेशोंमें भेद बतलाया है। वहाँ लिखा है कि अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यातभाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि आदि सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है, फिर अन्तर्मुहूर्त बिताकर आठ कषायोंका क्षय करता है, यह संतकम्मपाहुडका उपदेश है। किन्तु कषायप्राभृतका उपदेश है कि पहले आठ कषायोंका क्षय हो जाने पर पीछे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है।'

यहाँ जो संतकम्मपाहुडके नामसे कथन है वह षट्खण्डागममें नहीं मिलता। अतः षट्खण्डागमसे संतकम्मपाहुड भिन्न होना चाहिए।

सम्पूर्ण धवलाटीकामें संतकम्मपाहुडका उल्लेख तीन बार आया है। उसमें-से उपयोगी दो उल्लेखोंकी चर्चा यहाँ की गई है। अब देखना यह है कि क्या महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका नाम संतकम्मपाहुड है ?

महाकम्मपयडिपाहुडका उल्लेख धवलाटीकामें छै सात बार आया है। तीन बार तो उसका उल्लेख भगवान् भूतबलिके निमित्तसे आया है। एक[1] जगह लिखा है कि भूतबलि भगवान्ने महाकम्मपयडिपाहुडका उपसंहार करके छै खण्डोंकी रचना की। दूसरी[2] जगह लिखा है कि भूतबलि भट्टारक असंबद्ध बात नही कह सकते, क्योंकि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूपी अमृतके पीनेसे उनका समस्त राग-द्वेष-मोह दूर हो गया था। तीसरी[3] जगह लिखा है कि भूतबलि भगवान चौबीस अनुयोगद्वारस्वरूप महाकम्मपयडिपाहुडके पारगामी थे। इस तरह तीन उल्लेख तो भूतबलिके सम्बन्धसे आये है। शेष तीन उल्लेख चर्चाके प्रकरणसे आये हैं।

एक[4] जगह लिखा है कि दस प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानके अन्तिम समयमे होती है, यह महाकम्मपयडिपाहुडका उपदेश है।

वर्गणाखण्डके[5] स्पर्श अनुयोगद्वारमें लिखा है कि अध्यात्मविषयक इस खण्डग्रन्थमें कर्मस्पर्शप्रकरण प्राप्त है। महाकम्मप्रकृतिप्राभृतमें तो द्रव्यस्पर्श, सर्वस्पर्श और कर्मस्पर्श तीनोंका प्रकरण है।

---

१. 'महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।'—षट्खं०, पु० ९, पृ० १३३।

२. 'ण चासंबद्धं भूदबलिभडारओ परूवेदि महाकम्मपयडिपाहुडअमियवाणेण ओसारिदासेसरागदोसमोहत्तादो'—पु० १०, पृ० २७४-७५।

३. 'चउवीसअणियोगद्दारसरूवमहाकम्मपयडिपाहुडपारयस्स भूदबलिभयवंतस्स'.....। पु० १४, पृ० १३४।

४. 'दसण्हं पयडीणं मिच्छाइट्ठिस्स चरिमसमयम्मि उदयवोच्छेदो।' एसो महाकम्मपयडिपाहुडउवएसो'—पु० ८, पृ० ९।

५. 'एदं खंडगंथमज्झप्पविसयं पडुच्च कम्मफासे पयदमिदि भणिदं। महाकम्मपयडिपाहुडे पुण दव्वफासेण सव्वफासेण कम्मफासेण पयदं,'—पु० १३, पृ० ३६।

इसी खण्ड[1] में आगे एक जगह यह शंका की गई है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमें शेष चौदह अनुयोगोंके द्वारा कथन किसलिये किया है ?

इस तरह छै बार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उल्लेख हमें धवलाटीकामें मिला है। संतकम्मपाहुड और महाकम्मपयडिपाहुडके उक्त उल्लेखोंमें कोई ऐसी बात लक्षित नहीं होती, जिससे हम दोनोंको एक मान सकें। सत्कर्म और महाकर्मप्रकृति संज्ञाएँ भी एक अर्थकी द्योतक नहीं हैं। धवलाकारके कथनसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है और उसीसे यह भी प्रकट हो जाता है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और सत्कर्मप्राभृत एक नहीं हैं।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे केवल छै अनुयोगद्वारों-के ऊपर ही भूतबलिस्वामीने षट्खण्डागमके सूत्रोंकी रचना की थी। उन छै खण्डोंमेंसे पाँच खण्डों पर धवलाटीका रचनेके पश्चात् वीरसेन स्वामीने शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोंका भी कथन किया है। उन अनुयोगद्वारोंमेंसे एक अनुयोग-द्वारका नाम प्रक्रम है और एकका उपक्रम। यहाँ शंका की गई है कि प्रक्रम और उपक्रममें क्या अन्तर है ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है[2]—प्रक्रम-अनुयोग-द्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभागमे आने वाले प्रदेशाग्रका कथन करता है और उपक्रम-अनुयोगद्वार बन्धके दूसरे समयसे लेकर सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंके व्यापारका कथन करता है। अतः दोनोंमें अन्तर है।

इसके पश्चात् वीरसेनस्वामीने बन्धन-उपक्रमके चार भेद किये हैं—प्रकृति-बन्धन-उपक्रम, स्थितिबन्धन-उपक्रम, अनुभागबन्धन-उपक्रम और प्रदेशबन्धन-उपक्रम। इन चारोंका स्वरूप बतलाकर लिखा है कि 'इन चार उपक्रमोंका कथन जैसे 'संतकम्मपाहुड' में किया गया है वैसे ही करना चाहिए।'

इसपर यह शंका की गई कि महाबन्धमे जैसा कथन किया गया है वैसा कथन इन चारोंका यहाँ क्यो नही किया जाता, तो उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि महाबंधका व्यापार प्रथम समय सम्बन्धी बंधमें ही है, अतः यहाँ उसका कथन करना योग्य नहीं है।

---

१. 'महाकम्मपयडिपाहुडे किमट्ठं तेहि अणिओगद्दारेहि तस्स परूवणा कदा।' षट्०, पु० १३, पृ० १०६।

२. 'पक्कम-उवक्कमाणं को भेदो ? पयडिट्ठिदिअणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवणं पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण बंधविदियसमयप्पहुडि संतसरूवेणट्ठिदकम्मपोग्गलाणं वावारं परूवेदि।'''—'एत्थ एदेसिं' चदुण्णमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविदं तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो।'—षट्०, पु० १५, पृ० ४२-४३।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संतकम्मपाहुडमें बन्धके पश्चात् सत्तारूपमें स्थित प्रकृतियोंका ही कथन किया गया है, अतः महाबंधसे यह भिन्न है।

अतएव 'संतकम्मपाहुड' किसका नाम है? इस प्रश्नका समाधान सत्कर्मपंजिकासे होता है। वीरसेनस्वामीने जो शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोंको लेकर धवलाटीका रची है, उसके प्रारम्भिक चार अनुयोगोंपर एक पंजिका उपलब्ध हुई है, उसका नाम सत्कर्मपंजिका है। उसमें धवलाके उक्त अंशका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

'संतकम्मपाहुड[1] क्या है? महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमें दूसरा अधिकार वेदना नामक है। उसके सोलह अनुयोगद्वारोंमेंसे चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वारोंका नाम द्रव्यविधान, कालविधान और भावविधान है,' तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका पाँचवाँ प्रकृतिनामा अधिकार है उसमें चार अनुयोगद्वार हैं। आठों कर्मोंके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व, अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वका कथन करके उत्तरप्रकृतियोंके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व, अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वको सूचित करनेके कारण उन्हें संतकम्मपाहुड कहते हैं।'

सत्कर्मपंजिकाके इस कथनके अनुसार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके जिन अनुयोगद्वारोंमें सत्तारूपसे स्थित कर्मका कथन है उन्हें संतकम्मपाहुड कहते हैं। वे अनुयोगद्वार हैं—वेदना नामक अधिकारके चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वार तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका प्रकृतिनामक पाँचवाँ अधिकार।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके स्पर्श, कर्म और प्रकृतिनामक तीन अनुयोगद्वारोंको लेकर वर्गणानामक पाँचवाँ खण्ड रचा गया है। उसके प्रकृतिनामक अनुयोगमें केवल आठों कर्मोंकी प्रकृतियाँ मात्र बतलाई गई हैं। शेष कथनके लिए लिख दिया है कि वेदनाकी[2] तरह जानना। पंजिकाकारका अभिप्राय उसीसे जान पड़ता है। अतः उनके कथनानुसार उक्त अनुयोगद्वारोंको संतकम्मपाहुड कहा जाता था। अतः संतकम्मपाहुड महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अन्तर्गत ही जानना चाहिए।

---

१. 'संतकम्मपाहुडं णाम तं कथ (द) मं? महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउवीसअणिओगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम? तस्स सोलसअणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम-सत्तमाणियोगद्दाराणि दव्वकालभावविहाणणामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पंचमो पयडीणामहियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठकम्माणं पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेससत्ताणि परूविय सूचिदुत्तरपयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेससत्तादो एदाणि सत्त (संत) कम्मपाहुडं णाम। मोहणीयं पडुच्च कसायपाहुडं पि होदि।'—षट्खं, पु० १५, परि०, पृ० १८।

२. 'सेसं वेयणाए भंगो।'—षट्खं०, पु० १४, पृ० १९२।

किन्तु जयधवलामें लिखा है[1] कि कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें प्रतिबद्ध संतकम्ममहाधिकारमें एक उदय नामक अधिकार है, जो प्रकृतियोंके स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य उदयका कथन करता है। उसमें उत्कृष्ट प्रदेशोदयका स्वामित्व सिद्ध करनेके लिए 'सम्मत्तुप्पत्ति' आदि ग्यारह गुणश्रेणियोंका कथन करके लिखा है कि जो गुणश्रेणियाँ संक्लेशके साथ भवान्तरमें संक्रान्त होती हैं उन्हें कहेंगे।

इस प्रसंगमें जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे वाक्य षट्खण्डागमके उक्त सत्कर्म नामक अधिकारमें, जिसपर पंजिका है, वर्तमान हैं। अतः वीरसेनस्वामीके द्वारा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोंको लेकर जो धवला रची गयी है वही संतकम्ममहाधिकार है, यह प्रमाणित होता है। किन्तु जयधवलामें संतकम्ममहाधिकारको अट्ठारह अनुयोगद्वारोंमें प्रतिबद्ध न बतलाकर चौबीस अनुयोगद्वारोंमें प्रतिबद्ध बतलाया है। इसके साथ जब हम सत्कर्मपंजिकाके कथनको मिलाते हैं और वीरसेनस्वामीके इस कथनको सामने रखते हैं कि बन्धके दूसरे समयसे लेकर सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंके व्यापारके कथनको उपक्रम कहते हैं, तो उससे वस्तुस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे जिन-जिनमें उक्त सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंका कथन है वे सब संतकम्ममहाधिकार या संतकम्मपाहुडमें गर्भित समझे जाने चाहिये। और सम्पूर्ण चौबीसों अनुयोगद्वार महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहे जाते हैं। उसमें महाबन्ध भी गर्भित है। किन्तु संतकम्मपाहुडमें महाबन्ध गर्भित नहीं है। अतः संतकम्मपाहुड महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका नामान्तर नहीं है, बल्कि उसके अन्तर्गत ही है।

जैसा कि षट्खण्ड नामसे स्पष्ट है। यह ग्रन्थराज छै खण्डोंमें विभक्त है। पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण (जीवस्थान) है। दूसरे खण्डका नाम खुद्दाबंध (क्षुल्लक बन्ध) है। तीसरे खण्डका नाम बंधस्वामित्वविचय है। चौथे खण्डका नाम वेदना है, पाँचवें खण्डका नाम वर्गणा है और छठे खण्डका नाम महाबन्ध है।

---

१. 'संतकम्ममहाहियारे कदिवेदणादिचउवीसअणिओगद्दारेसु पडिबद्धे उदओ णाम अत्थाहियारो ''जाओ गुणसेढीओ संकिलेसेण सह भवंतरं संकामेंति ताओ वत्तइस्सामो। तं जहा—उवसमसम्मत्तगुणसेढी संजदासजदगुणसेढी अधापवत्तसंजदगुणसेढि त्ति एदाओ तिण्णि गुणसेढीओ अप्पसत्थमरणेण वि मदस्स परभवे दीसंति। सेसासु गुणसेढीसु झीणासु अप्पसत्थमरणं भवे' इदि वुत्तं।—ज०ध० प्रे०का० पृ० ६१९७-९८।
'जाओ गुणसेढीओ अण्णभवं संकामंति ताओ वत्तइस्सामो। तं जहा—उवसमसम्मत्तगुणसेढी संजदासंजदगुणसेढी अधापमत्तगुणसेढी एदाओ तिण्णि गुणसेढीओ अप्पसत्थमरणेण वि मदस्स परभवे दिसंति। सेसासु गुणसेढीसु झीणासु अप्पसत्थमरणं भवे।'
—षट्खं०, पु० १५, पृ० २९७।

प्रस्तुत षट्खण्डागममें मूलके पाँच खण्ड ही हैं। छठा महाबंध नामक खण्ड स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें पृथक् माना जाता है।

इन्द्रनन्दिने[1] श्रुतावतारमें लिखा है कि भूतबलिने पुष्पदन्तविरचित सूत्रोंको मिलाकर पाँच खण्डोंके छह हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महाबन्ध नामक छठे खण्डकी तीस हजार सूत्रग्रन्थरूप रचना की।

षट्खण्डागमके सूत्रोंके अवलोकनसे प्रकट होता है कि प्रथम खण्ड जीवट्ठाण-के आदिमें सत्प्ररूपणासूत्रोंके रचयिता पुष्पदन्ताचार्यने मंगलाचरण किया है। और तदनुसार धवलाकारने भी कर्ता, श्रुतावतार आदिका, जो कि ग्रन्थके प्रास्ता-विक कथन माने गये हैं, कथन किया है। षट्खण्डागमके कर्ता भूतबलिने चौथे खण्ड वेदनाके आदिमें पुनः मंगल किया है और तदनुसार धवलाकारने भी जीवट्ठाणके आदिकी तरह कर्ता, निमित्त, श्रुतावतार आदिकी पुनः चर्चा की है। इससे यह षट्-खण्डागम ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त प्रतीत होता है। पहले भागमें आदिके तीन खण्ड हैं और दूसरे भागमें अन्तके तीन खण्ड हैं। इस दूसरे भागमें ही यथार्थतः महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अधिकारोंका वर्णन किया गया है। अतः प्रो॰ हीरालालजीने उसकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभृत बतलाई है।

उन्होंने लिखा है—'इस समस्त विभागमे प्रधानतासे कर्मोंकी समस्त दशाओं-का विवरण होनेसे उसकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभृत है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अपर नाम सत्कर्मप्राभृत समझकर ही प्रोफेसर साहबने ऐसा लिखा प्रतीत होता है, किन्तु इन दोनोंके अन्तरकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। अतः उन सबको सत्कर्म-प्राभृत नहीं कहा जा सकता।

खण्डोंके नाम—

षट्खण्डागमके मूलसूत्रोंमें जैसे ग्रन्थका कोई नाम नहीं पाया जाता, वैसे ही खण्डोंका नाम भी प्रायः नही पाया जाता।

पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण मूलसूत्रोंमें नहीं पाया जाता। इस खण्डमें जीव-के भेद-प्रभेदोंको मुख्यतासे वर्णन होनेके कारण ही इसे यह नाम दिया गया है। दूसरे खण्डका प्रथम सूत्र है—'जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो', इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस खण्डमें बन्धकोंका कथन है। अतः उस परसे इसे बन्धक-संज्ञा दी गई है और सम्भवतया 'महाबन्ध' को दृष्टिमें रखकर बन्धके पहले 'खुद्दा' विशेषण लगाकर खुद्दाबन्ध नामसे इसे अभिहित किया गया है।

किन्तु इस खण्डकी धवलाटीकाके प्रारम्भमें टीकाकारने इसके नामके सम्ब-

---

१. 'सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥१३९॥' त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।'—श्रु॰ता॰।

न्थमें कुछ नहीं कहा। हाँ, इसका उद्गम स्थान अवश्य बतलाया है।

तीसरे खण्ड 'बंधसामित्तविचय'के पहले सूत्रमें उसका नाम आया है। यथा—'जो सो बंधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण य आदेसेण य।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम दोका नाम कृति और वेदना है। इन्हीं दो अनुयोगद्वारोंका कथन वेदना नामक चौथे खण्डमें है। पहले कृतिका कथन है और फिर वेदनाका। वेदना अधिकारके पहले सूत्रमें—'वेदणा त्ति तत्थ इमाणि वेयणाए सोलस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति' ऐसा उल्लेख है। इस परसे कहा जा सकता है कि सूत्रकारने इस खण्डका नाम सूचित कर दिया है।

उक्त दो अनुयोगद्वारोंके पश्चात् स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोगद्वारका कथन ५वें वर्गणाखण्डमें है। बन्धन-अनुयोगद्वारमें वर्गणाका बहुत विस्तारसे वर्णन है। इसीसे सम्भवतया इस खण्डको वर्गणा नाम दिया गया है।

वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्डके बीचमें सूत्रकारने कोई ऐसी भेदरेखा सूचित नहीं की, जिससे इन दोनोंके भेदका स्पष्ट सूचन हो सके। फिर भी वेदनाखण्डमें सोलह अनुयोगद्वार उन्होंने बतलाये हैं, अतः उनकी समाप्तिके साथ ही वेदनाखण्डकी समाप्ति समझ लेनी चाहिये। जैसे वेदनाखण्डमें पहले कृतिका कथन है, फिर अन्तमें वेदनाका कथन है और वही उस खण्डका प्रधान तथा अन्तिम विषय है, वैसे ही वर्गणामें पहले स्पर्श, कर्म और प्रकृतिका कथन है फिर बन्धनके निमित्तसे वर्गणाका कथन है। वर्गणाका कथन ही इस खण्डका प्रधान और अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है। अतः वेदनाके पश्चात्‌से वर्गणा पर्यन्त ही वर्गणाखण्ड होना चाहिये।

खण्डोंकी ये संज्ञाएँ वीरसेनस्वामीसे प्राचीन हैं, क्योंकि वीरसेनस्वामीके पूर्वज अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें 'जीवस्थान' और 'वर्गणा' खण्डोंका उल्लेख किया है, यह हम पहले लिख आये हैं।

वर्गणाखण्डका अन्तिम सूत्र है—

'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं—पयडिबंधो, ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि।'

इसके पश्चात् महाबन्ध नामक छठा खण्ड प्रारम्भ होता है।

इसका महाबन्ध नाम मूल-सूत्रोंमें उपलब्ध नहीं होता। ग्रन्थका प्रथम ताड़पत्र अनुपलब्ध होनेसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस खण्डकी रचनाके आरम्भमें भूतबलिने उसका नाम दिया था, या नहीं। किन्तु इसमें बन्धके चारों भेदोंका वर्णन विस्तारसे है, अतः इसे महाबन्धसंज्ञा दी गई है।

'सत्कर्मपंजिकाके'[1] प्रारम्भिक कथनसे भी इसी बातका समर्थन होता है। उसमें लिखा है—'महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे कृति और वेदनाका वेदनाखण्डमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनके चार अनुयोगोंमेंसे बन्ध और बन्धनीयका वर्गणाखण्डमें, बन्धनविधान नामक अनियोगद्वारका महाबन्धमें और बन्धक अनियोगद्वारका खुद्दाबन्धमें विस्तारसे कथन किया है। शेष अठारह अनुयोगद्वार संतकम्ममें कहे गये हैं।

तीर्थंकर महावीरकी वाणीसे इसका सम्बन्ध और स्रोत

भगवान महावीर स्वामीकी धर्मोपदेशनाको श्रवण करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने उसे बारह अंगोंमें निबद्ध किया था। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद शेष सब अंगोंसे महत्त्वपूर्ण और विशाल था। उसके महत्त्व और विशालताका कारण था उसके अन्तर्गत चौदह पूर्व। उनमेंसे द्वितीय आग्रायणीय पूर्वके पंचम वस्तु अधिकार चयनलब्धिमें बीस प्राभृताधिकार थे। उन प्राभृत नामके अधिकारोंमें चौथे प्राभृतका नाम महाकर्मप्रकृति था। उस महाकर्मप्रकृतिके चौबीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार थे। उनको उपसंहृत करके इस षट्खण्डागम ग्रन्थकी रचना की गई है। इस बातका निर्देश चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमें कृति अनुयोगद्वारका अवतरण करते हुए स्वयं सूत्रकार भूतबलिने किया है—

'अग्गेणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम। तत्थ इमाणि चउवीस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति—कदि वेदणाए पस्से कम्मे पयडीसु बंधणे णिबंधणे पक्कमे उवक्कमे उदए मोक्खे पुण संकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे तस्सेव सादमसादे दीहे रहस्से भवधारणीए तह पोग्गलत्ता णिधत्तमणिधत्तं णिकाचिदमणिकाचिदं कम्मट्ठिदि पच्छिमक्खंधे अप्पाबहुगं च सव्वत्थ' ॥४५॥

अर्थात् आग्रेयणीय पूर्वके पंचम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका नाम कर्मप्रकृति है। उसके विषयमें ये चौबीस अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं—१. कृति, २. वेदना, ३. स्पर्श, ४. कर्म, ५. प्रकृति, ६. बन्धन, ७. निबन्धन, ८. प्रक्रम, ९. उपक्रम, १०. उदय, ११. मोक्ष, १२. संक्रम, १३. लेश्या, १४. लेश्याकर्म,

---

१. महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणाओ (इ) चउव्वीस अणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेयणाखण्डम्हि पुणो प (स्स-कम्म-पयडि-बंधण त्ति) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध बंधणिज्जणामाणियोगेहि सह वग्गणा खंडम्मि, पुणो बंधविधाण णामाणियोगद्दारो महाबंधम्मि पुणो बंधगाणियोगो खुद्दाबंधम्मि च सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि संत कम्मे सव्वाणि परूविदाणि।'—षट्खं, पु० १५, परि० पृ० १।

१५. लेश्यापरिणाम, १६. सातासात, १७. दीर्घह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुद्गलत्व, २०. निधत्त-अनिधत्त, २१. निकाचित-अनिकाचित, २२. कर्मस्थिति, २३. पश्चिमस्कन्ध, २४. अल्पबहुत्व।

इन्हीं चौबीस अनुयोगद्वारोंको छै खण्डोंमें उपसंहृत किया गया है। पहले कृति और दूसरे वेदना अनुयोगद्वारका उपसंहार करके चौथा वेदनाखण्ड निष्पन्न हुआ है। तीसरे स्पर्श, चौथे कर्म और पाँचवें प्रकृति और छठे बन्धन अनुयोगद्वारसे पाँचवाँ वर्गणाखण्ड निष्पन्न हुआ है। और छठे बन्धन अनुयोगके भेद-प्रभेदोंसे शेष चार खण्ड उपसंहृत हुए हैं।

प्रथम खण्ड [1]जीवस्थानका अवतार बतलाते हुए वीरसेनस्वामीने सत्प्ररूपणाके द्वितीय सूत्रकी धवलाटीकामें विस्तारसे यह बतलाया है कि जीवस्थानका अवतार चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृतके किस अनुयोगद्वारके अन्तर्गत किन-किन भेदों-प्रभेदोंसे हुआ। यह हम पीछे लिख आये हैं।

दूसरे खण्ड खुद्दाबन्धके प्रथमसूत्रकी[2] धवलामें वीरसेनस्वामीने लिखा है—'महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें छट्ठे बन्धन अनुयोगद्वारके अन्तर्गत चार अधिकार हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बंधविधान। उनमेंसे जो बन्धक नामका दूसरा अधिकार है वही यहाँ सूत्रके द्वारा सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमें जो बन्धक कहे गये हैं उन्हींका यहाँ निर्देश है।'

इससे स्पष्ट है कि दूसरे खण्डका उद्धार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारके अवान्तर अधिकारोंसे किया गया है।

तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्वविचयके प्रथमसूत्रकी धवलाटीकामें[3] वीरसेनस्वामीने लिखा है—'कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें बन्धन नामक छठा अनुयोगद्वार है। उसके चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। बन्धविधानके चार भेद हैं प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध।

---

१. षट्खं०, पु० १, पृ० १२३-१३०।

२. 'जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो ॥१॥' टी०—'जे ते बंधगा णाम' इति वयणं बंधगाणं पुव्वपसिद्धत्तं सूचेदि। पुव्वं कम्हि पसिद्धे बंधगो सूचेदि? महाकम्मपयडिपाहुडम्मि। तं जहा—महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणादिसु चउवीसअणिओगद्दारेसु छट्ठस्स बंधणेत्ति अणियोगद्दारस्स बंधो बंधगो बंधणिज्जं बंधविहाणमिदि चत्तारि अहियारा। तेसु बंधगेत्ति विदियो अहियारो एदेण वयणेण सूचिदो।—षट्खं०, पु० ७, पृ० १-२।

३. षट्खं०, पु० ८, पृ० २।

मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढमूलप्रकृतिबन्ध। अव्वोगाढमूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजाकारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। इसमें उत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उन चौबीस अनुयोगद्वारोंमें एक बन्धस्वामित्व नामक अनुयोगद्वार है। उसीका नाम बंधस्वामित्वविचय है।

इस तरह बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरा खण्ड भी कर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारसे उपजा है।

चतुर्थ खण्ड वेदनाके अन्तर्गत कृति अनुयोगद्वारके आदिमें तो सूत्रकारने स्वयं ४४ सूत्रोंसे मंगलरूप नमस्कार किया है और पैंतालीसवें सूत्रमें ग्रन्थकी उत्थानिकाके रूपमें आग्रायणीय पूर्वके पंचम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंका निर्देश किया है। जिससे स्पष्ट है कि चतुर्थादि खण्ड कर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति आदि अनुयोगद्वारोंको ही संक्षिप्त करके लिखे गये हैं। संभवतः इसीसे ही वीरसेनस्वामीने शुरूके तीन खण्डोंकी तरह उत्तरके तीनों खण्डोंके सम्बन्धमें यह कथन नहीं किया कि वे अमुक अनुयोगद्वारसे निकले हैं।

किन्तु कृति अनुयोगद्वारके प्रारम्भिक मांगलिक सूत्रोंको लेकर वीरसेनस्वामीने जो लम्बी चर्चा की है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं, क्योंकि इन तीन खण्डोंका द्वादशांग वाणीसे सीधा सम्बन्ध होनेके सम्बन्धमें उससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

शंका—निबद्ध[1] और अनिबद्धके भेदसे मंगलके दो प्रकार हैं। उनमेंसे यह मंगल निबद्ध मंगल है अथवा अनिबद्ध ?

समाधान[2]—यह मंगल निबद्ध नहीं है क्योंकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारवाले महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके आदिमें गौतमस्वामीने यह मंगल किया है। और भूतबलि भट्टारकने इसे वहाँसे उठाकर वेदनाखण्डके आदिमें ला रखा है। अतः इसे निबद्ध मंगल नहीं मान सकते; क्योंकि न तो वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है; अवयवको अवयवी नहीं माना जा सकता, और न भूतबलि गौतम गणधर हैं, क्योंकि धरसेनाचार्यके शिष्य और विकलश्रुतके धारक भूतबलि वर्धमानस्वामीके शिष्य और सकल श्रुतके धारक गौतम नहीं हो सकते। यदि ऐसा हो सकता, तो इस मंगलको निबद्ध मंगल कह सकते थे। अतः यह अनिबद्ध मंगल है। अथवा इसे निबद्ध मंगल भी कह सकते हैं।

---

१. सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा जो देवताको नमस्कार किया जाता है उसे निबद्धमंगल कहते हैं। और जो सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा निबद्ध देवतानमस्कार है उसे अनिबद्धमंगल कहते हैं।'

२. छक्खं०, पु० ९, पृ० १०३-१०४।

शंका—यह निबद्ध मंगल तो तभी कहा जा सकता है जब वेदना आदि खण्ड और महाकर्मप्रकृतिप्राभृत एक हों, किन्तु खण्डग्रन्थको महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—महाकर्मप्रकृतिप्राभृत चौबीस अनुयोगद्वारोंसे सर्वथा पृथक्भूत नहीं है। अर्थात् चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही नाम महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है और उन्हीं अनुयोगद्वारोंसे वेदना आदि खण्ड निष्पन्न हुए हैं, अतः उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतपना प्राप्त है।

शंका—अनुयोगद्वारोंको कर्मप्रकृतिप्राभृत मानने पर बहुतसे कर्मप्रकृतिप्राभृत हो जायेंगे ?

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है, कथंचित् ऐसा इष्ट ही है।

शंका—महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका वेदना-अनुयोगद्वार तो महापरिमाणवाला है—बड़ा विशाल है उसके उपसंहाररूप इस वेदनाखण्डको वेदनापना कैसे संभव है ?

समाधान—अवयवी अपने अवयवोंसे सर्वथा पृथक् नहीं पाया जाता।

शंका—भूतबलिका गौतम होना कैसे संभव है ?

समाधान—उनके गौतम होनेसे क्या प्रयोजन है ?

शंका—क्योंकि भूतबलिको गौतम माने बिना यह मंगल निबद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—इस खण्डग्रन्थके कर्ता भूतबलि नहीं हैं क्योंकि दूसरेके द्वारा रचित ग्रन्थके अधिकारोंके एकदेशरूप पूर्वोक्त शब्दार्थ-सन्दर्भका कथन करनेवाला कर्ता नहीं हो सकता। ऐसा माननेसे अतिप्रसंग दोष आता है।

उक्त चर्चासे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो वेदनाखण्डके आदिमें जो ४४ सूत्र मंगलात्मक हैं वे भूतबलिकृत नहीं हैं, बल्कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मंगलसूत्र हैं और वहींसे ज्यों-का-त्यों उठाकर भूतबलिने उन्हें वेदनाखण्डके आदिमें रख दिया है। दूसरे, प्रकृत षट्खण्डागमके सूत्रोंमें वर्णित अर्थ ही महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ऋणी नहीं है किन्तु शब्द भी उसीके हैं। भूतबलि तो उसके प्ररूपकमात्र हैं, कर्ता नहीं हैं।

इन दोनों बातोंसे प्रकृत षट्खण्डागमका द्वादशांग वाणीके एक अंगरूप पूर्वोंसे साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध होता है।

आगे षट्खण्डोंका उद्गम आग्रायणीय पूर्वके किस भेद-प्रभेदसे हुआ, इसके स्पष्टीकरणके लिए उनका यहाँ वृत्त दिया जाता है।

बारहवें अंग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका दूसरा भेद—
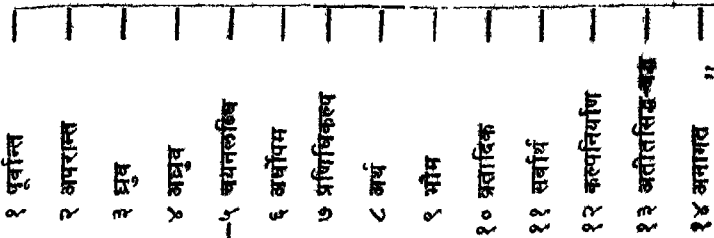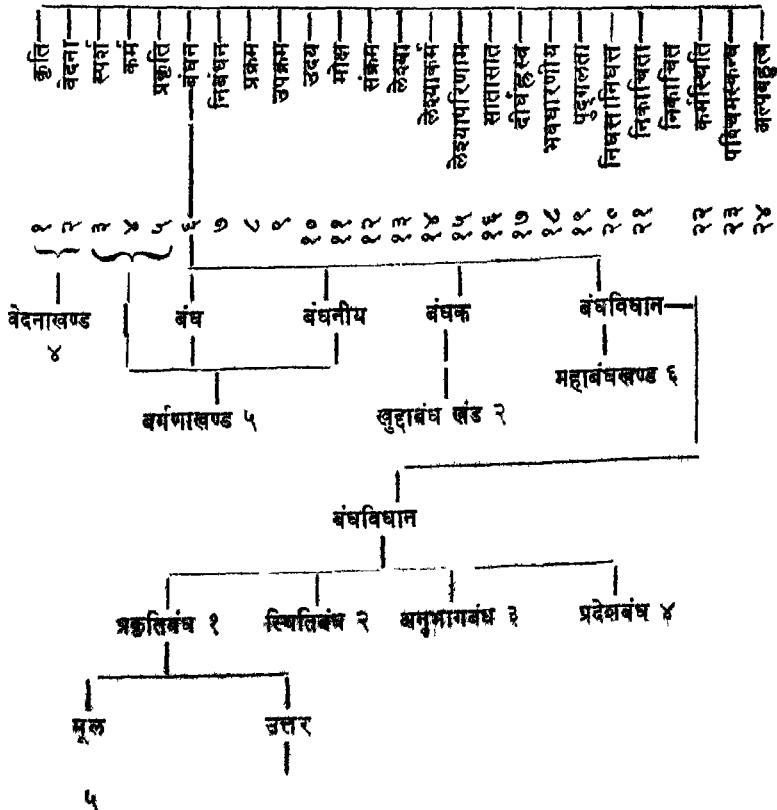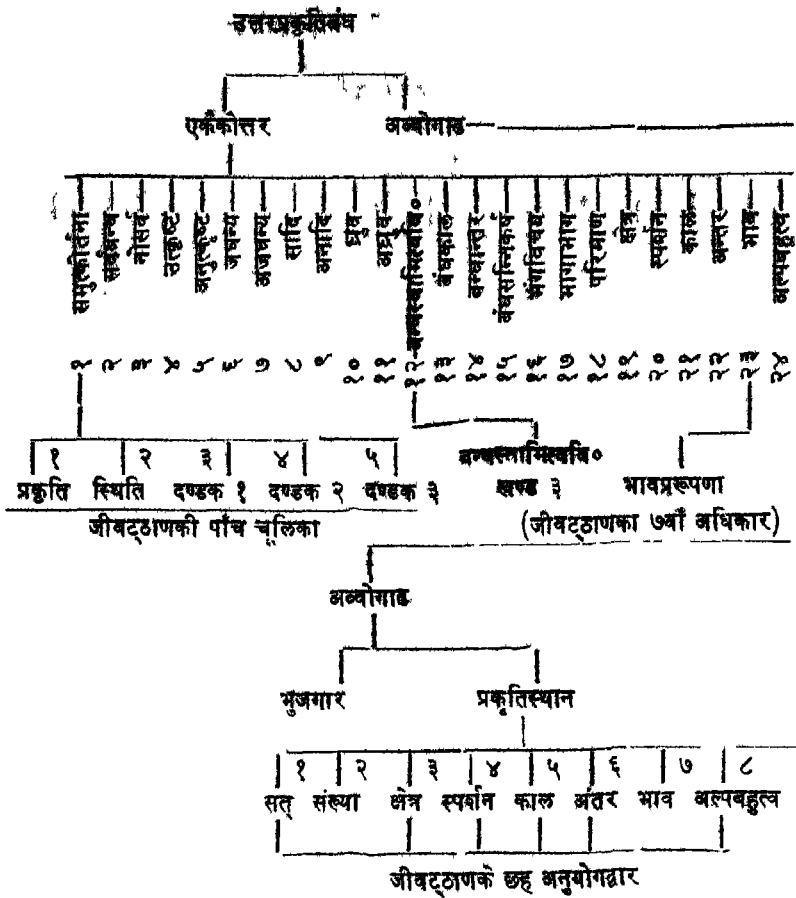
बंधकके ग्यारह अनुयोगद्वारोंमें पांचवें द्रव्यप्रमाणानुगमसे जीवट्ठाणकी संख्या

रचना-शैली

प्रस्तुत छक्खंडागमके अन्तर्गत पाँचों खण्ड प्राकृत-भाषाके प्रसादगुणयुक्त सूत्रोंमें रचे गये हैं। पाँचों खण्डोंके सूत्रोंकी संख्या साढे छै हजारसे अधिक है। चौथे और पाँचवें खण्डमें कुछ गाथासूत्र भी हैं।

सूत्र अपने आपमें पूर्ण और बहुत स्पष्ट हैं। प्राकृत-भाषाका साधारण जानकार भी सूत्रोंको पढ़ते ही उनका शब्दार्थ समझ सकता है। किन्तु चूँकि उनमें प्रतिपादित विषय जैन सिद्धान्तके गूढ़ और गम्भीर तत्त्वोंसे सम्बद्ध हैं, अतः पारिभाषिक शब्दोंके बाहुल्यके कारण उनका भाव समझ सकना सरल नहीं है। जो जैन कर्म-सिद्धान्तकी मोटी-मोटी बातोंसे परिचित हैं वे उनके सूत्रोंके आशयको भी सरलता-से हृदयंगम कर सकते हैं, पर सभी खण्डोंके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सभी सूत्र अल्पाक्षर हैं, असन्दिग्ध हैं और सारवान् हैं। अल्पाक्षरका यह अभिप्राय नहीं है कि सभी सूत्र छोटे हैं। प्रतिपाद्य विषयके अनुसार उनकी रचना है। उदाहरणके लिये 'सम्मत्ता' जैसे छोटे सूत्र भी हैं और ऐसे भी हैं जो कई पंक्तियोंमें समाप्त होते हैं।

संक्षेपमें इस ग्रंथकी शैली आगमिक सूत्रशैली है।

इस शैलीकी निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१. विषयानुसार सूत्रोंके शब्दोंकी योजना।

२. निरर्थक शब्दोंका अभाव।

३. प्रसादयुक्तता।

४. पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग।

५. अर्थगाम्भीर्य।

विषय-परिचय—

जीवट्ठाण[1]

पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण या जीवस्थान है। इसके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व। इनमेंसे प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त हैं और शेषके कर्ता आचार्य भूतबलि हैं।

सत्प्ररूपणा—इसके सूत्रोंकी संख्या १७७ है। इसका प्रारम्भ जैनोंके प्रसिद्ध महामंत्रसे होता है। वही इसका प्रथम सूत्र है, जो इस प्रकार है—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व-साहूणं ॥१॥

इसका व्याख्यान[2] करते हुए वीरसेनस्वामीने मंगलके दो भेद निबद्ध और अनिबद्ध किये हैं। सूत्रोंके आदिमें सूत्रकारके द्वारा निबद्ध किये गये देवता-नमस्कारको निबद्ध मंगल और सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा किये गये देवता-नमस्कारको अनिबद्ध मंगल बतलाकर उन्होंने इसे निबद्ध-मंगल कहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यह मंगल पुष्पदन्तके द्वारा रचित है क्योंकि निबद्धसे उनका

---

१. यह पहला खण्ड प्रथम बार श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, भेलसासे ५ जिल्दोंमें प्रकाशित हुआ है।

२. 'तत्थ णिबद्धं णाम जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कय-देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं। इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमंगलं। यत्तो 'इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो अरिहंताणं' इच्चादिदेवदा-णमोक्कार-दंसणादो।'

—षट्खं०, पु० १, पृ० ४१।

अभिप्राय स्वरचितसे है और किये गये (कृत) से अभिप्राय है दूसरेके द्वारा रचे गये मंगलको ग्रन्थके आदिमें स्थापित कर लेना। वेदनाखण्डके कृति अनुयोगद्वार[1]-के आदिमें भूतबलिने जो मंगलरूपसे ४४ सूत्र स्थापित किये हैं उन्हें वीरसेन-स्वामीने अनिबद्ध मंगल कहा है, क्योंकि वे सूत्र महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मंगलसूत्र हैं और वहींसे लेकर उन्हें स्थापित किया गया है। अतः उक्त मंगलका पुष्पदन्त-रचित होना स्पष्ट है। किन्तु इसमें अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं—श्वेताम्बर सम्प्रदाय-में भी यह मंत्र इसी रूपमें मान्य है। भगवतीसूत्रका प्रारम्भ इसी मंगलसूत्रसे हुआ है। आवश्यकसूत्रके मध्यमें भी यह मंत्र पाया जाता है।

इसके सिवाय खारवेलके प्रसिद्ध शिलालेखका आरम्भ भी 'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, इन पदोंसे होता है।' अतः यह कथन[2] विवादग्रस्त है। अस्तु। सूत्र दोसे ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयका आरम्भ होता है—

'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवंति' ॥२॥

'इन चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) के अन्वेषणके लिये ये चौदह मार्गणा-स्थान जानने योग्य हैं।'

सूत्र ४ में चौदह मार्गणाओंके नाम गिनाये हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक।

सूत्र ५ में लिखा है कि—इन चौदह गुणस्थानोंके कथनके लिये ये आठ अनु-योगद्वार जानने योग्य हैं।

सूत्र ७ में उन अनुयोगद्वारोंके नाम गिनाये हैं—

'संतपरूवणा, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो, फोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अंतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥'

इन्हीं आठ अनुयोगद्वारोंमें जीवट्ठाण-खण्ड विभक्त है। सूत्र ८ से प्रथम अनु-योगद्वार 'संतपरूवणा'का कथन प्रारम्भ होता है।

'संतपरूवणाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥८॥'

'जीवसमासों (गुणस्थानों)के सत्वकी प्ररूपणामें दो प्रकारका निर्देश है—ओघ अर्थात् सामान्यसे और आदेस अर्थात् विशेषसे।'

संतका मतलब[3] है सत्ता। और प्ररूपणाका मतलब है—निरूपण या प्रज्ञापन या कथन। गुणस्थानके लिये यहाँ जीवसमासशब्दका प्रयोग किया है। जीवसमास

---

१. षट्खं०, पु० ९, पृ० १०३।

२. इसके विशेष विचारके लिये पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखित 'नमस्कारमंत्र' नामक पुस्तक देखनी चाहिए।

३. 'सत्सत्त्वमित्यर्थः,'…प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत्'—षट्खं०, पु० १, पृ० १५९।

का अर्थ है जिनमें जीव भले प्रकार रहते हैं अथवा पाये जाते हैं उन्हें जीवसमास[1] कहते हैं। जैन सिद्धान्तमें गुणोंके अनुसार संसारके सब जीवोंका वर्गीकरण चौदह विभागोंमें किया गया है। उन चौदह विभागोंको ही गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान संसारके जीवोंके क्रमिक विकासके सूचक स्थान हैं। इन पर अवरोह मोक्षकी ओर और अवतरण संसारकी ओर ले जाता है। उनके अस्तित्वके कथनके दो प्रकार हैं—सामान्य कथन और विशेष कथन। प्रथम सामान्य कथन किया है फिर विशेष कथन किया है। इन दोनों प्रकारके कथनके लिये जैन सिद्धान्तमें ओघ और आदेश शब्द रूढ़ हैं।

सूत्रकारने चौदह सूत्रोंके द्वारा चौदह गुणस्थानोंके नामोंका निर्देश किया है। उनका स्वरूप जाने बिना प्रकृत सिद्धान्तग्रन्थके रहस्यको समझना शक्य नहीं है। अतः संक्षेपमें उनका स्वरूप बतला देना अनुचित न होगा—

१. 'ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी'[2] ॥९॥

ओघसे मिथ्यादृष्टि जीव हैं। यहाँ मिथ्याशब्दका अर्थ असत्य है। और दृष्टि-शब्दका अर्थ दर्शन अथवा श्रद्धान है। जिन जीवोंकी दृष्टि मिथ्या होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। दृष्टिके मिथ्या होनेका कारण मिथ्यात्वमोहनामक कर्मका उदय है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वका उदय होता है उनका श्रद्धान विपरीत होता है और जैसे पित्तज्वरके रोगीको मीठा दूध भी कडुवा लगता है वैसे ही उन्हें यथार्थ धर्म भी अच्छा नहीं लगता। यह पहला गुणस्थान है।

२. 'सासणसम्माइट्ठी[3] ॥१०॥'

दूसरे गुणस्थानका नाम सासादनसम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शनकी विराधनाको आसादन कहते हैं। जो आसादन सहित हो उसे सासादन कहते हैं। जो जीव सम्यग्दृष्टी होकर अपने सम्यग्दर्शनको विनष्ट कर लेता है और इस तरह सम्यक्त्व-से मिथ्यात्वकी ओर अभिमुख होता है उसे सासादनसम्यग्दृष्टी कहते हैं। कहा है—'सम्यग्दर्शनरूपी रत्नपर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि (पहला गुणस्थान) के अभिमुख होता है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शनरूपी रत्न तो नष्ट हो चुका है किन्तु जो मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है, पतनकी इस मध्यम अवस्था वाले जीवको सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

३. 'सम्मामिच्छाइट्ठी[4] ॥११॥'

---

१. 'जीवसमास इति किम् ? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः। क्वासते ? गुणेषु। षट्खं., पु. १, पृ० १६०।

२. षट्खं०, पु० १, पृ० १६१।

३. वही, पृ० १६३।

४. वही, पृ० १६६।

तीसरे गुणस्थानका नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा या रुचि सच्ची और विपरीत दोनों प्रकारकी होती है उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। कहा है—जैसे दही और गुड़को मिला देने पर उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए भाव वाले जीवको सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

४. 'असंजदसम्माइट्ठी[1] ॥१२॥'

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा सम्यक्—सच्ची होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। और संयमरहित सम्यग्दृष्टिको असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारसे होते हैं—क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिक-सम्यग्दृष्टि।

मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियाँ जीवकी श्रद्धाको दूषित करती हैं। अत. इन सातो कर्मप्रकृतियोका सर्वथा विनाश हो जाने पर जीवमें जो सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है उसे क्षायिकसम्यग्दर्शन कहते है और उस जीवको क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहते है। उक्त सात प्रकृतियोके उपशम (दब जाने)से जिसके सम्य-ग्दर्शन प्रकट होता है उसे औपशमिकसम्यग्दृष्टि कहते। उक्त सात कर्मप्रकृतियों-मेंसे सम्यक्त्वमोहनीयकर्मका उदय रहते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसके धारी जीवको वेदकसम्यग्दृष्टि कहते है।

इन तीनोंमेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वमें नहीं जाता, किन्तु औपशमिकसम्यग्दृष्टि उपशमसम्यक्त्वके छूट जाने पर मिथ्यात्वनामक पहले गुणस्थानवाला हो जाता है। या सासादनगुणस्थानवाला होकर फिर मिथ्यात्व-गुणस्थानमें जाता है। कभी तीसरे गुणस्थानवाला भी हो जाता है। कहा है—जो न तो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है और न त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरत है, किन्तु जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए तत्त्वोंपर श्रद्धा रखता है उसे असं-यतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। आगेके सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं।

५. 'संजदासंजदा[2] ॥१३॥'

जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासंयत कहते हैं। कहा है— जो जिनेन्द्रदेवमे ही श्रद्धा रखते हुए त्रसजीवोंकी हिंसासे विरत और स्था-वर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है उसे विरताविरत या संयतासंयत कहते हैं।

---

१. षट्खं., पु. १, पृ० १७१।
२. वहीं, पु० १, पृ० १७३।

६. 'पमत्तसंजदा[1] ॥१४॥'

प्रमादसे युक्त जीवको प्रमत्त कहते हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरतको संयत कहते हैं। प्रमादी संयमीको प्रमत्तसंयत कहते हैं। कहा भी है—'जो व्यक्त या अव्यक्त प्रमादमें निवास करता है किन्तु समस्त गुणों और शीलोंसे युक्त महाव्रती होता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं।' उसका आचरण प्रमादके कारण सदोष होता है।

७. 'अप्पमत्तसंजदा[2] ॥१५॥'

जो प्रमत्तसंयत नहीं है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं। अर्थात् प्रमादरहित संयमी जीवोंको अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

आगेके सब गुणस्थान संयमी मनुष्योंके ही होते हैं। सातवें गुणस्थानके बाद आठवें गुणस्थानसे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं। एक उपशमश्रेणि और एक क्षपक श्रेणि। उपशमश्रेणिमें चढ़ने वाला जीव मोहनीयकर्मको नष्ट न करके दबाता जाता है। इसीसे ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचकर वह नीचे गिर जाता है। और क्षपकश्रेणिपर आरोहण करने वाला मोहनीयकर्मको नष्ट करता हुआ आगे बढ़ता है। अतः उसका पतन नहीं होता। ये दोनों श्रेणियाँ ध्यानमग्न साधुओंके ही होती हैं।

८. 'अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा[3] ॥१६॥'

आठवें गुणस्थानका नाम अपूर्वकरणसंयत है। 'करण' शब्दका अर्थ है परिणाम—जीवके भाव या विचार। अपूर्व अर्थात् जो इससे पहले नहीं हुए, ऐसे सत्परिणाम वाले संयमी अपूर्वकरणसंयत कहे जाते हैं। इन अपूर्वकरणसंयतोंमें उपशमश्रेणिवाले भी होते हैं और क्षपकश्रेणिवाले भी होते हैं।

९. 'अणियट्टिबादरसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा[4] ॥१७॥'

नौवें गुणस्थानका नाम अनिवृत्तिबादरसाम्परायसंयत है। इस गुणस्थानमें एक समयमें एक ही परिणाम निश्चित है। अतः इसमें समानसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं। इसीको अनिवृत्तिशब्दसे कहा है। साम्परायशब्दका अर्थ है कषाय और बादरका अर्थ है स्थूल। अतः स्थूल कषायको बादरसाम्पराय कहते हैं और अनिवृत्तिबादरसाम्परायरूप परिणामवाले संयमियोंको अनिवृत्तिबादरसाम्परायसंयत कहते हैं। वे संयत उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं।

---

१. षट्खं० १, १४, पृ० १७५।
२. वही, पृ० १७८।
३. वही, पृ० १७९।
४. वही, पृ० १८३।

यहाँ जो 'बादर' शब्द है वह इस बातका सूचक है कि पूर्वके सब गुणस्थानों-में स्थूल कषाय रहती है।

१०. 'सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा[1] ।। १८ ।।

दसवें गुणस्थानका नाम सूक्ष्मसांपरायसंयत है। जिन संयमियोंके सूक्ष्म कषाय रहती है उन्हें सूक्ष्मसाम्परायसंयत कहते हैं। ये उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी।

११. 'उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था[2] ।। १९ ।।'

जिनकी कषाय उपशान्त है उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं। और जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हे वीतराग कहते हैं। तथा अल्पज्ञानियोंको छद्मस्थ कहते हैं। उपशान्तकषाय वीतरागी छद्मस्थोंको उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं। यह ग्यारहवाँ गुणस्थान है। कहा भी है—

'निर्मलीसे युक्त जलकी तरह अथवा शरदऋतुमें होने वाले सरोवरके निर्मल जलकी तरह, सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे होनेवाले निर्मल परिणामवाले जीवको उपशान्तकषाय कहते हैं।'

१२. 'खीणकसायवीयरायछदुमत्था[3] ।। २० ।।'

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीण कषाय कहते हैं। जो क्षीण कषाय होते हुए वीतराग होते हैं किन्तु छद्मस्थ होते हैं उन्हे क्षीणकषायवीत-रागछद्मस्थ कहते है। यहाँ जो 'छद्मस्थ' शब्द है वह पूर्वके सब गुणस्थानवर्ती जीवोंको छद्मस्थ सूचन करता है। यह बारहवा गुणस्थान है। कहा भी है—

'जिसने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मको नष्ट कर दिया है अतएव जिनका चित्त स्फटिक मणिके निर्मल पात्रमे रखे हुए जलके समान निर्मल है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु-को क्षीणकषायगुणस्थानवाला कहा है।'

१३. 'सजोगकेवली[4] ।। २१ ।।'

मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। और योगसहितको सयोग कहते हैं। तथा इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदिकी सहायताके बिना होने वाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं और जिसके केवलज्ञान होता है उसे केवली कहते है। तथा योगसहित केवलीको सयोगकेवली कहते हैं। यह तेरहवां गुणस्थान है। उसके चारों घातियाकर्म नष्ट हो जाते है। और शेष चार कर्म भी शक्तिहीन हो जाते हैं। कहा भी है—

१. षट्खं० पु० १, पृ० १८७।
२. वही, पृ० १८८।
३. वही, पृ० १८९।
४. वही, पृ० १९०।

'जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है और जो केवललब्धियोंके प्रकट हो जानेसे 'परमात्मा' कहा जाता है उसको ज्ञान और दर्शन परकी सहायतासे नहीं होता, इसलिये उसे केवली कहते हैं और योगसे युक्त होनेके कारण सयोग कहते हैं।'

इस तरह तेरहवें गुणस्थानका नाम सयोगकेवली है।

१४. 'अजोगकेवली' ॥ २२॥'

जिसके योग नहीं होता उसे अयोग कहते हैं। और योगरहित केवलज्ञानीको अयोगकेवली कहते हैं। कहा है—

'जिन्होंने शीलके अट्ठारह हजार भेदोंके स्वामित्वको प्राप्त कर लिया है। समस्त कर्मोंके आस्रवको रोक दिया है, और कर्मबन्धनसे मुक्त हैं तथा योगसे रहित केवली हैं उन्हें अयोगकेवली कहते हैं। यह चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आनेके पश्चात् ही जीव संसारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।'

इस तरह ये चौदह गुणस्थान मोक्षके लिये सोपानके तुल्य हैं।

इस तरह ओघसे चौदह गुणस्थानोंका कथन करके सूत्रकारने आदेशसे (विस्तारसे) गुणस्थानोंका कथन किया है।

जिस तरह चौदह गुणस्थान होते हैं उसी तरह चौदह मार्गणास्थान होते हैं। जिनमें या जिनके द्वारा जीवोंको खोजा जाता है उन्हे मार्गणा कहते हैं। इन मार्गणाओंके द्वारा गुणस्थानोंका कथन करनेको आदेश कथन कहा जाता है। जैसे—
१. गति चार हैं—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। नरकगतिमें प्रारम्भके चार गुणस्थान वाले ही जीव होते हैं। तिर्यञ्चगतिमें आदिके पाँच गुणस्थानवाले ही जीव होते हैं। मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थानवाले जीव होते हैं। देवगतिमें नरकगतिकी तरह चार ही गुणस्थानवाले जीव होते हैं।

२. इन्द्रिय पांच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। जिसके एक स्पर्शन ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे वनस्पति। जिसके स्पर्शन, रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय कहते हैं, जैसे लट। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें त्रि-इन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिउंटी। जिसके शुरूकी चार इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें चौइन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे भौंरा। और जिनके पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं, जैसे गाय, भैंस, मनुष्य। इनमेंसे पञ्चेन्द्रिय जीवके तो चौदह गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु शेष एकेन्द्रिय आदिके पहला ही गुणस्थान होता है।

३. कायकी अपेक्षा जीवोंके छै भेद हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्नि-

---

१. षट्खं, पु० १, पृ० १९२।

कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक । पृथ्वी [illegible] जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। अतः उनके पहला गुणस्थान ही होता है। शेष दो इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सब जीव त्रस कहे जाते हैं। त्रसोंके चौदह गुणस्थान होते हैं क्योंकि पञ्चेन्द्रिय भी त्रस है।

४. योगके तीन भेद हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। इन तीनों योगोंके अनेक भेद हैं। ये तीनों योग तेरहवें गुणस्थान तक होते हैं।

५. वेद भी तीन हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। ये तीनों वेद नौवें गुणस्थान तक होते हैं।

६. कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। शुरूकी तीन कषाय नौवें गुणस्थान तक और अन्तकी लोभ कषाय दसवें गुणस्थान तक रहती है। आगेके गुणस्थानोंमें कषाय नहीं होती।

७. ज्ञान पाँच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेंसे प्रारम्भके तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं। ये तीनों मिथ्याज्ञान पहले और दूसरे गुणस्थानमें रहते हैं। तीसरे मिश्रगुणस्थानमें आदिके तीन मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान मिले-जुले होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। मनःपर्ययज्ञान छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है। केवलज्ञान सयोगकेवली, अयोगकेवली गुणस्थानोंमें तथा सिद्धजीवोंमें रहता है।

८. संयममार्गणाके[1] सात भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात ये पाँच संयम, एक संयमासंयम और एक असंयम।

छठे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीव संयमके धारी होते हैं। उनमेंसे सामायिकसंयम और छेदोपस्थापनासंयम छठेसे नौवें गुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धिसंयम प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले जीवोंके होता है। सूक्ष्मसाम्परायसंयम एक सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानवाले जीवोंके ही होता है। यथाख्यातसंयम अन्तके चार गुणस्थानोंमें होता है। संयमासंयम एक संयतासंयत गुणस्थानमें ही होता है। प्रथम चार गुणस्थानवाले जीव असंयत होते हैं—उनमें संयम नहीं होता।

९. दर्शनमार्गणाके[2] चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीव बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। अवधिदर्शन चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। केवलदर्शन सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्धोंके होता है।

---

१. षट्खं., पु० १, पृ० ३६८–३७८।
२. वही, पृ० ३७८–३८५।

१०. लेश्यामार्गणाके[१] छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या चौथे गुणस्थान तक होती हैं। पीतलेश्या और पद्मलेश्या सातवें गुणस्थान तक और शुक्ललेश्या तेरहवें गुणस्थान तक होती है। इसके बाद लेश्या नहीं होती, क्योंकि योग और कषायके मेलका नाम लेश्या है और तेरहवें गुणस्थानके बाद योग और कषाय दोनों नहीं रहते।

११. भव्यत्वमार्गणाके[२] दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। जो जीव आगे मुक्ति लाभ करेंगे उन्हें भव्य कहते हैं। और जिन जीवोंमें मुक्ति प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नहीं है उन्हें अभव्य कहते हैं। अभव्य जीवोंके पहला ही गुणस्थान होता है और भव्योंके चौदह गुणस्थान होते हैं।

१२. सम्यक्त्वमार्गणाके[३] छह भेद हैं—क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। वेदकसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होते हैं। उपशमसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि एक सासादन गुणस्थानमें ही होते हैं। सम्यक्मिथ्यादृष्टि एक सम्यक्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होते हैं।

१३ संज्ञीमार्गणाके[४] दो भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञीके पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक होते हैं। असंज्ञी पहले ही गुणस्थानमें होते हैं।

१४. आहारमार्गणाके[५] दो भेद हैं—आहारक और अनाहारक। आहारक तेरहवें गुणस्थान तक होते हैं और अनाहारक विग्रहगति अवस्थामें पहले-दूसरे और चौथे गुणस्थानमें, समुद्घात करने वाले सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्ध अवस्थामें होते हैं।

अन्तिम आहारमार्गणाके कथनकी समाप्तिके साथ ही सत्प्ररूपणा समाप्त हो जाती है। पुष्पदन्ताचार्यकी रचनाका अन्त भी उसीके साथ हो जाता है।

सामान्य सत्प्ररूपणामें चौदह गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवके अस्तित्वका प्रतिपादन किया गया है और विशेषमें चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें जीवों-

---

१. षट्खं० पु० १, पृ० ३८६–३९२।

२. वही, पृ० ३९२–३९४।

३. वही, पृ० ३९५–४०८।

४. वही, पु० १, पृ० ४०८–४०९।

५. वही, पृ० ४०९–४१०।

के अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। इसीसे इसका नाम सत्प्ररूपणा है। यही कथन आगेके कथनका प्रवेशद्वार है। उसमें प्रवेश हुए बिना आगेके कथनोंमें गति होना कठिन है। अतः पहले खण्ड 'जीवट्ठाण' के आदिमें ही उसे स्थान दिया है।

गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंके द्वारा इस प्रकारसे जीवकी दशाका विवेचन जैन परम्पराके सिवाय न बौद्ध परम्परामें पाया जाता है और न वैदिक परम्परामें। उपनिषदोंमें आत्मतत्त्वका प्रतिपादन अवश्य है किन्तु मोक्षके सोपानभूत ऐसी किन्हीं भूमिकाओंका वर्णन उनमें नहीं है, जिनकी तुलना गुणस्थानोंसे की जा सके। और न जीवकी विविध दशाओं और गुणोंकी परिणतियोंको लेकर ऐसा ही कोई विचार उनमें मिलता है जिसकी तुलना जैन सिद्धान्तके मार्गणास्थानोंसे की जा सके।

हाँ, योगवासिष्ठ और पातञ्जल योगदर्शनमें आत्माकी भूमिकाओंका विचार अवश्य मिलता है। योगवासिष्ठमें[1] सात भूमिकाएँ ज्ञानकी और सात भूमिकाएँ अज्ञानकी इस तरह चौदह भूमिकाएँ बतलाई हैं, जो जैन परम्पराके उक्त १४ गुणस्थानोंका स्मरण कराती हैं। उनमें जो सात ज्ञानभूमिकाएँ हैं वे इस दृष्टिसे द्रष्टव्य हैं—पहली भूमिकाका नाम शुभेच्छा है। वैराग्यपूर्व इच्छाको शुभेच्छा[2] कहते हैं। शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे तथा वैराग्यके अभ्यासपूर्वक जो सदाचार प्रवृत्ति होती है उसे दूसरी विचारणा[3] भूमिका कहते हैं। विचारणा और शुभेच्छासे जो इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति होती है उसे तीसरी तनुमानसा[4] भूमिका कहते हैं। तीसरी भूमिकाके अभ्याससे शुद्ध आत्मामें चित्तकी स्थितिको चौथी सत्वापत्ति[5] भूमिका कहते हैं।

सात ज्ञानभूमिकाओंका उक्त वर्णन चतुर्थ आदि गुणस्थानोंमें स्थित आत्माके लिए लागू होता है। योगवासिष्ठके कुछ अन्य वर्णनोंमें भी जैन विचारोंकी

---

१. 'अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि। पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्यान्यथैतयोः ॥२॥'
—उत्प० प्र०, स० ११७।

२. 'स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ ८ ॥

३. 'शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥

४. 'विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥

५. 'भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥ उ० प्र० स० ११८।

[illegible] मिलती है। और जब श्री रामचन्द्र[1] कहते हैं कि मैं कोई राम नहीं हूँ और न मेरा मन विषयोंमें लगता है। मैं तो जिन की तरह अपनी आत्मामें शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ, तब तो विचारोंकी भूमिकाका [illegible] रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

योगकी परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है। 'मोहेंजोदड़ो' से प्राप्त योगीकी मूर्ति उसका प्रमाण है। योगका लक्ष्य आध्यात्मिक विकास था, उसीको भूमिका अथवा गुणस्थानोंके द्वारा निश्चित करनेका प्रयास किया गया है।

जैन परम्परामें गुणस्थानों और मार्गणाओंके द्वारा जीवके कथनकी परम्परा बहुत प्राचीन है क्योंकि भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोंमें उसका साङ्गो-पांग कथन था और जैन परम्पराके विभिन्न सम्प्रदायगत साहित्यमें भी उस कथनमें एकरूपता है। अतः इसे भगवान महावीरकी देन कहना अनुचित न होगा।

मार्गणाओंमें लेश्यामार्गणा अपना वैशिष्ट्य रखती है। उसके छै भेद किये गये हैं और संसारके जीवोंको उनके भावोंके अनुसार छै लेश्याओंमें विभाजित किया है।

दीघनिकायकी टीकामें बुद्धघोषने लिखा है—गोशालकने शिकारी वगैरह-को कृष्णमें, बौद्ध भिक्षुओंको नीलमें, निर्ग्रन्थोंको लालमें, अचेलकोंके अनुयायियों-को पीतमें और आजीविकोंको शुक्लमें विभाजित किया था। अंगुत्तरनिकायमें इसे पूरणकाश्यपका मत कहा है। इस परसे डॉ० ह्वार्नलिका[2] अनुमान था कि छै रंगोंमें मनुष्योंको विभाजित करनेका विचार बुद्धके कहीं विरोधी तीर्थङ्करोंमें साधारण रूपसे प्रचलित था। डॉ० ह्वार्नलिका उक्त अनुमान ठीक हो सकता है, किन्तु इस विचारका उद्गम जैन विचार-धारामें होना अधिक संभाव्य जान पड़ता है क्योंकि रंगोंके इस विचारके मूल उपादान योग और कषायके साथ लेश्याओंका वर्णन जैन शास्त्रोंमें मिलता है।

२. द्रव्यप्रमाणानुगम—जीवट्ठाणके इस दूसरे अनुयोगद्वारसे भूतबलिकी रचना का प्रारम्भ होता है। इस भागमें बतलाया है कि विभिन्न गुणस्थानोंमें सामान्यसे तथा विभिन्न मार्गणाओंकी अपेक्षा जीवोंकी संख्या कितनी है।

आजका पाठक इस बातको बड़े कौतूहलके साथ पढ़ेगा कि जैन सिद्धान्तमें संसारके जीवोंकी संख्या तकका विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारसे किया है। सबसे प्रथम तो यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इस विवेचनका आधार क्या

---

१. नाहं रामो न मे वाञ्छा विषयेषु न मे मनः।
   शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥
२. ई० इ० रि०, जि० १, पृ० २६२।

है ? प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाकी धवला-टीकाके प्रारम्भमें[1] वीरसेनस्वामीने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि दूसरे पूर्वके पञ्चम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ कर्मप्रकृतिपाहुडके अन्तर्गत चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे बन्धनतामक छठा अनुयोगद्वार है। उसके चार अर्थाधिकार हैं। उनमेंसे बन्धक नामक दूसरे अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वारोंमेंसे पाँचवाँ अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणनामक है। उसीसे प्रकृत द्रव्यप्रमाणानुगम लिया गया है।

पुनः यह जिज्ञासा हो सकती है कि कर्मप्रकृतिप्राभृतमें इन सब बातोंका कथन किसने किस आधारपर किया ? यह पहले लिख आये हैं कि द्वादशांगकी रचना गौतम गणधरने भगवान महावीरकी वाणीके आधारपर की। गौतम गणधर भगवानसे प्रश्न करते थे और भगवान उनका उत्तर देते थे। षट्खण्डागमके बहुत-से सूत्र प्रश्नोत्तररूपमें ही निबद्ध हैं जो इस बातके सूचक है कि गौतम और भगवान महावीरके बीचमें प्रश्नोत्तर होते थे और गौतम गणधरने प्रामाणिकता-की सुरक्षाके लिए उन्हें उसी रूपमें निबद्ध किया था और वहाँसे लेकर संग्रह करने वाले भूतबलि आचार्यने भी उन्हे उसी रूपमें रखा। यथा—

'ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता ॥ २ ॥'

ओघसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं ? अनन्त हैं ॥ २ ॥

इसकी धवला-टीकामें[2] यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रश्नोत्तररूप दिये बिना 'ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण अणंता' (ओघसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा अनन्त हैं) ऐसा क्यों नहीं कहा ? इसका समाधान करते हुए धवलाकारने कहा है कि—'इस प्रकारकी सूत्ररचनाका फल है—अपने कर्तव्यको हटाकर आप्तके कर्तृत्वका प्रतिपादन करना। अर्थात् भूतबलिने इस प्रकारकी सूत्ररचनासे यह बतलाया है कि इसके कर्ता स्वयं वह नहीं हैं। किन्तु यह आप्तपुरुष भगवान महा-वीरका कथन है। तब पुनः यह प्रश्न किया गया कि—'तब भूतबलिने क्या किया ?' तो उत्तर दिया गया कि भूतबलि तो आप्तवचनोंके व्याख्याता मात्र हैं। अतः षट्खण्डागममें जो कुछ कहा गया है उसका उद्गम-स्थान भगवान् महावीर-की वाणी है।

भगवान महावीरको जैनागमोंमें सर्वज्ञ सर्वदर्शी बतलाया है। और बौद्ध त्रिपिटिकोंमें भी पता चलता है कि भगवान महावीरके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेकी चर्चा थी। सर्वज्ञ सर्वदर्शीका मतलब है—सबको जानने-देखने वाला,

---

१. षट्खं०, पु० १, पृ० १२६।

२. वही, पु० ३, पृ० १०-११।

कोई बात जिसके ज्ञानसे बाहर न हो। भगवान महावीरकी इस सर्वज्ञताका उपहास करते हुए भी सातवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिने कहा था—'सर्वज्ञ सबको देखे या न देखे, किन्तु उसे इष्ट तत्त्वोंको अवश्य जानना चाहिये। कीट-पतंगोंकी संख्याका उसका ज्ञान हमारे लिए क्या उपयोगी है?'

यह 'कीट-संख्याज्ञान' द्रव्यप्रमाणानुगम जैसे जैन ग्रन्थोंमें वर्णित जीवोंकी संख्याकी ओर ही संकेत करता है। अस्तु,

गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवराशिका प्रमाण बतलाते हुए कहा है कि सर्वजीवराशि अनंतानंत है। उसका बहुभाग मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती हैं और शेष बाकीके तेरह गुणस्थानोंमें और सिद्धोंमें विभाजित हैं। मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण अनन्तानन्त बतलाते हुए लिखा है कि अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके बीत जानेपर भी उनकी संख्याका कभी अन्त नहीं आता।

चौदह गुणस्थानोंकी जीवराशियोंका कथन करनेके पश्चात् गति आदि चौदह मार्गणाओंमें और उनके भेद-प्रभेदोंमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है।

इस भागके सूत्रोंकी संख्या १९२ है, जिनमेंसे प्रारम्भके चौदह सूत्रोंमें गुणस्थानोंमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है और सूत्र १५ से मार्गणास्थानोंमें प्रमाणका निर्देश है।

जहाँ तक हम जानते है संसारकी जीवराशिकी संख्याका इस तरह निर्देश जैन आगमोंके सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता।

पहले जीवट्ठाण नामक खण्डमें आठ अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे दो अनुयोगद्वारोंका विवेचन यहाँ करके स्थगित करते हैं क्योंकि षट्खण्डागमकी टीका धवलाके प्रसंगमें षट्खण्डागमके विषयका विस्तृत विवेचन करनेमें लाघव और सुगमता होगी। यहाँ केवल शेष खण्डोंका सामान्य परिचय दिया जाता है।

३ क्षेत्रानुगम—में[1] जीवोंके निवास व विहारादि सम्बन्धी क्षेत्रका परिमाण बतलाया है।

प्रथम सूत्र है—'खेत्ताणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य'। क्षेत्रानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है—ओघसे और आदेशसे। दूसरे सूत्रमें उसी प्रश्नोत्तररूप शैलीमें कहा है—'ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं? सर्वलोकमें रहते है।'

तीसरे सूत्रमें कहा है—'सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं? लोकके असंख्यातवें भागमें रहते हैं।'

---

१. षट्खं० पु० ४ में क्षेत्र, स्पर्शन और कालानुगम मुद्रित हैं।

चौथे सूत्रमें कहा है—'सयोगकेवली कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रमें, लोकके असंख्यात बहुभागप्रमाण क्षेत्रमें अथवा सर्वलोकमें रहते है।

इन सबका उपपादन धवला-टीकामें विस्तारसे किया गया है। इस तरह आदिके चार सूत्रोंके द्वारा ओघकथन करके पाँचवें सूत्रसे आदेशकथन है। इसमें कुल ९२ सूत्र हैं।

क्षेत्रावगाहनाकी अपेक्षासे जीवोंकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—स्वस्थान, समुदघात और उपपाद। स्वस्थानके भी दो भेद हैं—जीवके स्थायी निवासके क्षेत्रको स्वस्थान कहते है और विहार कर सकने योग्य क्षेत्रको विहारवत्स्वस्थान कहते हैं। मूल शरीरको छोड़े बिना जीवके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं। समुद्घातके सात प्रकार हैं—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, वैक्रियिकसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, तैजससमुद्घात, आहारकसमुद्घात और केवलिसमुद्घात। पूर्व शरीरको छोड़कर अपने नये जन्मस्थान तक जीवके गमन करनेको उपपाद कहते हैं। इन दस अवस्थाओंकी अपेक्षासे जीवोंके क्षेत्रका कथन इस क्षेत्रानुयोगद्वारमें किया गया है। किन्तु सूत्रोंमें इन दस अवस्थाओंका निर्देश नहीं है। किन्तु क्षेत्रकी संगति बैठानेसे वे दस अवस्थाएँ फलित होती हैं।

४. स्पर्शनानुगम—क्षेत्र और स्पर्शन कथनमें इतना अन्तर है कि क्षेत्रका कथन तो केवल वर्तमान कालकी अपेक्षासे किया जाता है और स्पर्शनके कथनमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंका क्षेत्र मान लिया जाता है। मिथ्यादृष्टि जीवोंका क्षेत्र और स्पर्शन दोनों सर्वलोक है। क्योंकि एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं और वे सर्वलोकमें रहते और गमनागमन करते हैं। अतएव उनका वर्तमान क्षेत्र भी सर्वलोक है और अतीतकालमें भी उन्होंने सर्वलोकको स्पर्श किया है। किन्तु अन्य गुणस्थानवालोंमे ऐसी बात नहीं है। अन्य सब गुणस्थान त्रसजीवोंके ही हो सकते है। और त्रसजीव केवल त्रसनाड़ीमें ही रहते है। एक दो अपवादोंको छोड़कर त्रसनाड़ीके बाहर नहीं रहते। लोकके मध्यमें एक राजु लम्बी चौड़ी और चौदह राजु ऊँची त्रसनाडी है। जो जीव उसके जितने क्षेत्रको स्पर्श करता है उसका उतना ही स्पर्शन क्षेत्र माना गया है। जैसे विहारवत्स्वस्थान और विक्रियासमुद्घातकी अपेक्षा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्शन त्रसनाड़ीके चौदह भागोंमेंसे आठ भाग बतलाया है। यह आठ भाग घन राजु प्रमाण क्षेत्र तीसरी बालुका पृथिवीसे लेकर सोलहवें स्वर्ग तक लेना चाहिये। क्योंकि भवनवासी देव नीचे तीसरी पृथिवी तक और ऊपर यदि ऊपरके देव ले जायें तो सोलहवें स्वर्ग तक बिहार कर सकते है। इस क्षेत्रका प्रमाण त्रसनाड़ीके चौदह भागोंमेंसे आठ भाग

है। यही उक्त अपेक्षाओंसे सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवालोंका स्पर्शनक्षेत्र है।

इस प्रकार इस स्पर्शनानुगममें चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंमें जीवोंके स्पर्शनविषयक क्षेत्रका कथन है। इसमें १८५ सूत्र हैं।

५. कालानुगम—इसमें ओघ और आदेशकी अपेक्षा कालका कथन है अर्थात् यह बतलाया है कि नाना जीव और एक जीव किस गुणस्थान अथवा मार्गणा-स्थानमें कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने काल तक रहते हैं।

जैसे, सूत्र २ में यह प्रश्न किया गया है कि ओघसे मिथ्यादृष्टी जीव कितने काल तक होते हैं? इसके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल होते हैं (क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वदा पाये जाते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादिसान्त काल है। अभव्यजीव कभी मिथ्यात्वको नहीं छोड़ता, अतः उसकी अपेक्षा अनादि अनन्तकाल है। जो भव्यजीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि हैं किन्तु मिथ्यात्व-को छोड़कर सम्यग्दृष्टि हो जाते उनके मिथ्यात्वका काल अनादि सान्त है। और जो भव्यजीव सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं उनका काल सादि और सान्त है। ऐसे जीवोंके मिथ्यात्वमें रहनेका काल कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त होता है, अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यत्वमें रहकर वे पुनः उससे निकलकर सम्यग्दृष्टी आदि हो जाते हैं। और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्तन है। चौदहमेंसे छै गुण-स्थानोंमें जीवोंका कभी अभाव नहीं होता। वे छै गुणस्थान हैं—पहला, चौथा, पाँचवा, छठाँ, सातवाँ और तेरहवाँ।

इसी प्रकार सब गुणस्थानोंमें और सब मार्गणास्थानोंमें कालका कथन किया गया है। इस कालानुगमके सूत्रोंकी संख्या ३४२ है।

६ अन्तर[1]—किसी विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीवके उस गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें चले जानेसे पुनः उसी गुणस्थानमें आनेके कालको अन्तर कहते हैं। इस अन्तरानुगममे ओघ और आदेशकी अपेक्षा इसी अन्तरका कथन किया गया है।

जैसे—ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टी जीवोंका अन्तर काल कितना है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है, मिथ्यादृष्टि जीव सदा पाये जाते हैं। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक सौ बत्तीस सागरोपम काल है।

धवलाटीकामें इस अन्तरकालकी संगति विस्तारसे सिद्ध की है। चौदह गुण-स्थानोंमेंसे जिन छै गुणस्थानोंमें सर्वदा जीव पाये जाते हैं, नाना जीवोंकी अपेक्षा

---

१. षट्खं०, पु० ५ में अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार मुद्रित हैं।

उन गुणस्थानोंका अन्तरकाल नहीं होता, शेष आठ गुणस्थानोंका होता है। अर्थात् उन आठ गुणस्थानोंमें कुछ समय तक कोई जीव नहीं पाया जाता। जैसे क्षपक[1] श्रेणीके चार गुणस्थानोंमें और अयोगकेवली गुणस्थानमें अधिक-से-अधिक छै मास तक कोई जीव नहीं पाया जाता।

इसमें कुल ३९७ सूत्र हैं।

७. भावानुगम—कर्मोंके उपशम, क्षय आदिके निमित्तसे जीवके जो परिणाम विशेष होते हैं उन्हें भाव कहते हैं। वे भाव पांच प्रकारके हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। कर्मोंके उदयसे होनेवाले भावको औदयिक भाव कहते हैं। कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले भावको औपशमिक भाव कहते हैं। कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाले जीवके भावको क्षायिकभाव कहते हैं। कर्मका उदय रहते हुए भी जो जीवगुणका अंश उपलब्ध होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। जो पूर्वोक्त चारों भावोंसे भिन्न जीव और अजीवगत भाव होता है वह पारिणामिक भाव है।

इस अनुयोगद्वारमें ओघ और आदेशसे उक्त भावोंका कथन किया है। ओघसे कथन करते हुए कहा है[2]—'मिथ्यादृष्टि यह कौन-सा भाव है? औदयिक भाव है॥ २॥ 'सासादनसम्यग्दृष्टी यह कौन-सा भाव है? पारिणामिक भाव है॥३॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह कौन-सा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है॥ ४॥ असंयत-सम्यग्दृष्टी यह कौन-सा भाव है? औपशमिक भाव भी है, क्षायिक भाव भी है और क्षायोपशमिक भाव भी है॥ ५। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत यह कौन-सा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है॥ ७॥ इसी प्रकार चौदह गुण-स्थानोंमें भावकी प्ररूपणा करके पुनः मार्गणास्थानोंमें भावोंका कथन किया है। धवलाटीकामें प्रत्येकका उपपादन किया है कि क्यों अमुक भाव है। इसमें ९३ सूत्र हैं।

८. अल्पबहुत्वानुगम—द्रव्यप्रमाणानुगममें बतलाई गई जीवसंख्याके आधार-पर गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंमें संख्याकृत हीनता और अधिकताका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। अन्य अनुगमोंकी तरह इसका आरम्भ भी 'दुविहो णिद्देसो

१. 'चदुण्हं खवग अजोग केवलीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? णाणा जीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं' ॥ १६॥ 'उक्कस्सेण छम्मासं ॥ १७॥'—षट्खं०, पु० ५, पृ० २०-२१।

२. 'ओघेण मिच्छादिट्ठि त्ति को भावो, ओदइओ भावो ॥ २॥ सासणसम्मादिट्ठि त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो ॥ ३॥ सम्मामिच्छादिट्ठि त्ति को भावो, खओवसमिओ भावो ॥ ४॥ असंजदसम्मादिट्ठि त्ति को भावो, उवसमिओ वा खइओ वा खओवसमिओ वा भावो' ॥ ५॥'''षट्खं०, पु० ५, पृ० १९४ आदि।

ओघेण ओदेसेण य' सूत्रसे होता है। पहलेके सब अनुयोगद्वारोंमें ओघकथन पहले गुणस्थानसे आरम्भ होता है किन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ संख्याके अल्पत्वके और बहुत्वके आधारपर कथन है। जिन गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्या सबसे कम है उसका निर्देश प्रथम है और आगे जिन-जिन गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है उनका कथन है। यथा—'ओघसे[1] अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशामक जीव प्रवेशकी अपेक्षा परस्पर तुल्य हैं किन्तु अन्य सब गुणस्थानोंसे अल्प हैं ॥ २ ॥ उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानवाले जीव भी पूर्वोक्त प्रमाण ही हैं ॥ ३ ॥ उससे क्षपक असंख्यातगुणे है ॥ ४ ॥

इस तरह आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ करके ऊपरकी ओर ले गये हैं क्योंकि अन्य सब गुणस्थानोंसे उपशमश्रेणीके इन गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्या सबसे कम होती है। गुणस्थानोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन करके फिर मार्गणाओंमे अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—'आदेशसे[2] गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमे सासादनसम्यग्दृष्टी जीव सबसे कम हैं ॥ २७ ॥ सम्यक्मिथ्यादृष्टि जीव संख्यातगुणे हैं ॥ २८ ॥ इत्यादि। इसमें ३८२ सूत्र हैं। इस अल्पबहुत्वानुगमके साथ जीवट्ठाण नामक प्रथम खंडके आठों अनुयोगद्वार समाप्त हो जाते हैं। और इस तरहसे पहला खंड समाप्त हो जाता है। किन्तु इनके पश्चात् भी जीवस्थानकी चूलिकाके नामसे एक अधिकार और भी है।

जीवस्थान चूलिका—इसकी धवलाटीकाके प्रारम्भमें[3] ही यह शंका की गई है कि जीवस्थानके आठो अनुयोगद्वारोंके समाप्त हो जानेपर चूलिका किसलिये आई है? इसका समाधान करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा है—पूर्वोक्त आठों अनुयोगद्वारोंके विषम स्थलोंके विवरणके लिये आई है। पुनः यह शंका की गई है कि सत्प्ररूपणाके प्रारम्भमें कहा गया है कि 'चौदह गुणस्थानोंके कथनके लिये ये आठ ही अनुयोगद्वार जानने योग्य है,' यदि चूलिका उन्हींसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो 'आठ ही' कहना व्यर्थ हो जाता है क्योंकि चूलिका नामक नौवा अधिकार भी हो जाता है। यदि चूलिका चौदह गुणस्थानोंसे अप्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो उसे 'जीवट्ठाण' संज्ञा नहीं दी जा सकती?

---

१. 'ओघेण तिसु अद्धासु उवसमा पवेसणेण तुल्ला थोवा ॥ २ ॥ उवसंतकसायवीदरागछदुमत्था तत्तिया चेव ॥ ३ ॥ खवा संखेज्जगुणा ॥ ४ ॥ षट्खं०, पु० ५, पृ० २४३ आदि।

२. 'आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु सव्वत्थो वा सासणसम्मादिट्ठी ॥ २७ ॥—षट्खं०, पु० ५, पृ० २५१।

३. 'सम्मत्तेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु चूलिया किमट्ठमागदा? पुव्वुत्ताणमट्ठण्णमणियोगद्दाराणं विसमपएसविवरणट्ठमागदा।' षट्खं०, पु० ६, पृ० २।

इसका समाधान करते हुए धवलाकारने लिखा है कि चूलिकामें ऐसे अर्थोंका कथन है जो आठों अनुयोगद्वारोंमें नहीं कहे गये है किन्तु उनसे सूचित होते हैं। अतः चूलिका उक्त आठों अनुयोगद्वारोंमें ही अन्तर्भूत हैं, उनसे बाहर नहीं है।

इस चूलिकाके अन्तर्गत नौ अधिकार हैं। प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रथममहादण्डक, द्वितीयमहादण्डक, तृतीयमहादण्डक, उत्कृष्टस्थिति, जघन्य-स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति, और गति-आगति चूलिका। चूलिकाके इन नौ अधिकारों-का अन्तर्भाव उक्त आठ अनियोगद्वारोंमें करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा[1] है—क्षेत्र, काल और अन्तर अनियोगद्वारोंसे गति-आगति चूलिका सूचित की गई है, वह गति-आगति चूलिका भी प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थानसमुत्कीर्तनको सूचित करती है क्योंकि कर्मबन्धके बिना गतियोंमें गमनागमन नहीं बनता। प्रकृतिसमुत्की-र्तन और स्थानसमुत्कीर्तनके द्वारा कर्मोंकी जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति सूचित की गई है, क्योंकि सकषाय जीवके स्थितिबन्धके बिना प्रकृतिबन्ध नहीं होता। कालानुयोगद्वारमें जो सादिसान्त मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन बतलाया है उससे प्रथमसम्यक्त्वका ग्रहण किया गया है क्योंकि उसके बिना मिथ्यादृष्टिका उक्त उत्कृष्टकाल नही बनता। प्रथम सम्यक्त्वसे तीन महा-दण्डक सूचित होते है। इस तरह वीरसेनस्वामीने चूलिकाके नौ अधिकारोंको पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोंमे ही अन्तर्भूत बतलानेका सत्प्रयत्न किया है। उनका आशय यह है कि गुणस्थान और मार्गणाओंके द्वारा जीवके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वका कथन करनेके पश्चात् यह कथन करना शेष रह जाता है कि जीव मरकर किस गतिसे किस गतिमें जाता है। अतः उस कथनके लिये गति-आगति चूलिका अधिकार है और शेष अधिकार प्रायः उसीके सम्बन्धसे अवतरित हुए है। इनमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन आदि कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो दूसरे खण्ड 'बन्धक' के लिये उपयोगी हैं। अतः इस चूलिकाके द्वारा सूत्रकार भूतबलिने जीवस्थानके साथ आगेके खंडोंको सम्बद्ध करनेका प्रयत्न किया हो, यह भी हमे सम्भव प्रतीत होता है। अस्तु,

चूलिकाके प्रथमसूत्रके[2] द्वारा सूत्रकारने नीचे लिखे प्रश्न किये है—१ (सम्य-क्त्वको उत्पन्न करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव) कितनी और किन प्रकृतियोंको

---

१. षट्खं०, पु० ६, पृ० २।

२. 'कदिकाओ पयडीओ बंधदि, केवडिकालट्ठिदियेहि कम्मेहि सम्मत्तं लभेदि वा ण लब्भ-दि वा, केवचिरेण वा कालेण वा कदि भाए वा करेदि मिच्छत्तं, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दंसणमोहणीयं कम्मं खवेंतस्स चारित्तं वा संपुण्ण-पडिवज्जंतस्स ॥ १ ॥—षट्खं०, पु० ६, पृ० १।

बाँधता है ? ३. कितने काल स्थितिवाले कर्मोंके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है ? ४. कितने कालके द्वारा मिथ्यात्वको कितने भागरूप करता है और किन-किन क्षेत्रोंमें तथा किसके पासमें कितने दर्शनमोहनीय कर्मको क्षपण करनेवाले जीवके और सम्पूर्ण चारित्रको प्राप्त होनेवाले जीवके मोहनीयकर्मकी उपशामना और क्षपणा होती है ?

इन्हीं प्रश्नोंके समाधानके रूपमें चूलिकाके नौ अधिकारोंकी रचना सूत्रकारने की है।

१. इनमेंसे 'कितनी किन[1] प्रकृतियोंको बाँधता है' इस पदकी विभासा—व्याख्यानके रूपमें प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक पहली चूलिका है।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन—प्रकृतियोंके समुत्कीर्तन अर्थात् स्वरूपनिरूपणको प्रकृतिसमुत्कीर्तन कहते हैं।

प्रकृतिसमुत्कीर्तनके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिसमुत्कीर्तन और उत्तरप्रकृति-समुत्कीर्तन।

मूलकर्मप्रकृतियाँ आठ हैं—ज्ञानावरणीय[2], दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मको ज्ञानावरण कहते हैं। दर्शनका आवरण करने वाले कर्मको दर्शनावरण कहते हैं। जीवके सुख-दुःखके अनुभवनमें कारण पुद्गलस्कन्धको वेदनीयकर्म कहते हैं। जिसके द्वारा जीव मोहित हो उस कर्मको मोहनीयकर्म कहते है। जो कर्म जीवको नरकादिभवोंमें अमुक समय तक रोके रखता है उसे आयुकर्म कहते है। शरीर आदिकी रचनामें कारणभूत कर्मको नाम-कर्म कहते हैं। उच्च और नीच कुलमें उत्पन्न कराने वाले कर्मको गोत्रकर्म कहते है। दान लाभ भोग उपभोग आदिमें विघ्न करने वाले कर्मको अन्तरायकर्म कहते हैं। इस तरह मूल कर्म आठ हैं।

जैन सिद्धान्तमें कर्मके दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। जीवके राग-द्वेषरूप भावोंको भावकर्म कहते हैं। और जीवके रागादि परिणामोंके निमित्त से जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। इष्ट और अनिष्ट विषयोंको पाकर जीवके जैसे भाव होते हैं तदनुसार ही उसके कर्मबन्ध होता है। अतः योग और कषायके निमित्तसे जीवके साथ सम्बद्ध हुए जो पुद्गल

---

१. 'कदि काओ पयडीओ बंधदि त्ति जं पदं तस्स विहासा ॥२॥ इदाणिं पयडिसमु-क्कित्तणं कस्सामो ॥३॥ षट्खं०, पु० ६, पृ० ४-५।

२. 'णाणावरणीयं ॥५॥ दंसणावरणीयं ॥६॥ वेदणीयं ॥७॥ मोहणीयं ॥८॥ आउअं ॥९॥ णामं ॥१०॥ गोदं ॥११॥ अंतरायं चेदि ॥१२॥ वही, पु० ६, पृ० ६-१३।

ज्ञानका ढाँकना, दर्शनका ढाँकना, सुख-दुःखका अनुभवन कराना, मोहित करना, आदि कार्य करनेमें समर्थ होते हैं उन्हे कर्म कहते हैं। इन आठों कर्मोंके कारण ही जीव संसारमें भ्रमण करता है।

इन आठ कर्मोंमेंसे भी ज्ञानावरणीय[1] कर्मकी पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। मति आदि पाँच ज्ञान है, अतः ज्ञानको आवरण करने वाले ज्ञानावरणके भी पाँच प्रकार हैं। इसी तरह[2] दर्शनको ढाकने वाले दर्शनावरणीय कर्मकी नौ प्रकृतियाँ है।[3] वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ है। मोहनीयकर्मके[4] दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। आप्त, आगम और पदार्थोंसे रुचि या श्रद्धाको दर्शन कहते है। उस दर्शनको जो मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है उसे दर्शनमोहनीयकर्म कहते हैं। इस कर्मके उदयसे जो आप्त नही है उसमे आप्तबुद्धि और झूठे पदार्थोमे सत्य पदार्थकी बुद्धि होती है।

इसकी तीन प्रकृतियाँ है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व।

पापकार्योंसे निवृत्त होनेको चारित्र कहते है। उस चारित्रको आच्छादित करने वाले कर्मको चारित्रमोहनीय कहते है। चारित्रमोहनीयके दो भेद होते हैं—कषाय वेदनीय और नोकषायवेदनीय। कषायवेदनीयके १६ भेद है और नोकषायवेदनीयके नौ भद है। इस तरह मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृतियाँ है।

आयुकर्मकी[5] चार प्रकृतियाँ हैं—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु नामकर्मकी[6] ९३ प्रकृतियाँ है। गोत्रकर्मकी[7] दो प्रकृतियाँ है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। अन्तरायकर्मकी[8] पाँच प्रकृतियाँ है। इस तरह आठ कर्मोंकी ५ + ९ + २ + २८ + ४ + ९३ + २ + ५ = १४८ प्रकृतियाँ होती है।

कर्मप्रकृतियोंके इस निरूपणके साथ प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका समाप्त हो जाती है। इस चूलिकामें ४६ सूत्र है। उसके पश्चात् स्थानसमुत्कीर्तन नामकी चूलिका आरम्भ होती है।[9]

---

१ षट्ख०, पु० ६, पृ० १४।
२. वही, पृ० ३१।
३. वही, पृ० ३४।
४. वही, पृ० ३७।
५. वही, पु० ६, पृ० ४८।
६ वही, पृ० ४९।
७. वही, पृ० ७७।
८. वही, पृ० ७८।
९. 'एत्तो ट्ठाणसमुक्कित्तणं वण्णइस्सामो ॥१॥ वही, पृ० ७९।

२ स्थानसमुत्कीर्तन—पहली चूलिकामें जिन प्रकृतियोंका कथन किया है, उनका बंध क्रमसे होता है या अक्रमसे होता है, इस प्रश्नका उत्तर इस दूसरी चूलिकाके द्वारा दिया गया है। बन्धक छै हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत। अन्तके संयतसे ६ से लेकर तेरह तकके गुणस्थानवाले जीव विवक्षित हैं क्योंकि वे सभी संयत होते हैं। यद्यपि चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान वाले भी संयमी होते हैं किन्तु उनके एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता।

१. ज्ञानावरणीयकर्मकी[1] पाँचों प्रकृतियाँ एक साथ बंधती है और उक्त सभी बंधकोंके बंधती हैं। (किन्तु दसवें गुणस्थान तक ही बंधती हैं, आगे नहीं बंधती)

२. दर्शनावरणीयकर्मके[2] तीन बन्ध स्थान है—नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चारप्रकृतिक। पहले और दूसरे गुणस्थानमें एक साथ नौप्रकृतियाँ बंधती हैं। तीसरे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानके प्रथम भाग पर्यन्त जीवोंके नौमेंसे एक साथ छै ही प्रकृतियां बंधती हैं, तीन नहीं बंधतीं। आगे आठवेंसे दसवें गुणस्थान पर्यन्त छहमेंसे भी चारका ही बन्ध एक साथ होता है। इस तरह दर्शनावरणीयकर्मकी नौ प्रकृतियोंमेंसे तीन बन्धस्थान हैं।

३ वेदनीय कर्मकी दो ही प्रकृतियाँ है—साता और असाता। उन दोनोंमेंसे एक समयमें एक ही बंधती है।

४. मोहनीयकर्मके[3] दस बन्धस्थान हैं—बाईस, इक्कीस, सतरह, तेरह, नौ, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक। बाईससे अधिक प्रकृतियाँ किसी भी जीवके नहीं बंधतीं। मिथ्यात्व, सोलहकषाय, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंमेंसे एक, हास्य-रति और अरति-शोक इन दो युगलोंमेंसे एक युगल, भय और जुगुप्सा इन बाईस प्रकृतियोंका एक साथ बन्ध मिथ्यादृष्टी जीवके होता है। इनमेंसे मिथ्यात्वके सिवाय शेष इक्कीस प्रकृतियोंका बन्ध (जिनमें नपुंसकवेद नहीं लेना चाहिये) सासादनसम्यग्दृष्टीके होता है। इनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके सिवाय शेष सतरह प्रकृतियोंका (जिनमें स्त्रीवेद नहीं लेना चाहिये) एक साथ बन्ध तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है। उन सतरहमेंसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका बन्ध पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है। उन तेरहमेंसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभको छोड़कर शेष नौ प्रकृतियोंका बन्ध छठेसे आठवें गुणस्थानपर्यन्त

---

१. षट्खं., पु० ८०।

२. वही, पु० ८२।

३. वही, पु. ६, पृ. ८८।

जीवोंके ही होता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और पुरुषवेद इन पाँच प्रकृतियोंका बन्ध एक साथ होता है। इनमेंसे पुरुषवेदके सिवाय शेष चारका, क्रोध-संज्वलनको छोड़कर शेष तीनका, संज्वलन मानको छोड़कर शेष दोका और संज्वलन मायाको छोड़कर शेष एक प्रकृतिका बन्ध भी संयमीके ही होता है।

५ आयुकर्मके[1] चार भेद हैं। उनमेंसे नरकायुका बन्ध पहले, गुणस्थानमें, तिर्यञ्चायुका बन्ध पहले और दूसरेमें, मनुष्यायुका बन्ध पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें और देवायुका बन्ध ऊपर कहे छहों बन्धकोंके होता है।

६. नामकर्मके[2] आठ बन्धस्थान हैं—इकतीस, तीस, उनतीस, अट्ठाईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और एक प्रकृतिक स्थान। इन स्थानोंके बन्धकोंका वर्णन बहुत विस्तृत है।

७. गोत्रकर्मकी[3] दो प्रकृतियोंमेंसे एक समयमें एक जीवके एकका ही बन्ध होता है। नीचगोत्रका बन्ध केवल पहले और दूसरे गुणस्थानमें होता है और उच्चगोत्रका बन्ध उक्त छहों बन्धकोंके होता है।

८. अन्तरायकर्मकी[4] पाँचों प्रकृतियाँ एक साथ बंधती है और सामान्यतया उक्त छहों बन्धक उनका बन्ध करते है

इस तरह दूसरी चूलिकामें आठों कर्मोंके बन्धस्थानोंका कथन है। इसीसे उसका नाम स्थानसमुत्कीर्तन है। इसमें ११७ सूत्र हैं।

३ तीसरी चूलिकाका नाम प्रथम महादण्डक है। इसके प्रथमसूत्रके[5] द्वारा सूत्रकारने कहा है—अब प्रथमोपशमसम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख जीव जिन प्रकृतियोंको बाँधता है उन प्रकृतियोंको कहेंगे। अर्थात् जब कोई मिथ्यादृष्टी जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख होता है तो वह किन-किन कर्म-प्रकृतियोंका बन्ध करता है? प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख संज्ञी पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकी हो सकते हैं। प्रथम महादण्डकमें एकसूत्रके द्वारा प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख संज्ञी तिर्यञ्च और मनुष्यके बँधनेवाली प्रकृतियाँ बतलाई हैं। इसमें केवल दो सूत्र है।

४. दूसरे महादण्डकमें[6] प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख देव और सातवें नरक-

---

१. षट्खं०, पु० ६, पृ० ९९।
२. वही, पृ० १०१।
३. वही, पृ० १३१।
४ वही, पृ० १३२।
५. 'इदाणिं पढमसम्मत्ताभिमुहो जाओ पयडीओ बंधदि ताओ पयडीओ कित्तइस्सामो ॥१॥' —वही, पृ० १३३।
६. 'तत्थ इमो विदिओ महादण्डओ कादव्वो भवदि ॥ १ ॥'—वही, पृ. १४० ॥

की नारकियोंको छोड़कर शेष नारकियोंके बंधनेवाली प्रकृतियाँ बतलाई हैं। इसमें भी दो ही सूत्र हैं।

५. तीसरे महादण्डकमें[1] सातवीं पृथिवीके नारकीके प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख होनेपर बंधनेवाली प्रकृतियाँ गिनाई हैं। इसमें भी केवल दो सूत्र हैं। इस तरह इन तीन महादण्डकोंके रूपमें तीन चूलिकायें समाप्त होती हैं। सूत्रकारने क्यों एक-एक सूत्रका एक-एक महादण्डक बनाया है और क्यों उसकी महादण्डक संज्ञा रखी है, यह जिज्ञासा होना सहज है। जैन परम्परामें सिद्धान्तग्रन्थोंके[2] अंशविशेषके लिये दण्डक या महादण्डक शब्दका भी व्यवहार होता था। संभव है जिस स्थानसे ये दण्डक लिये गये हैं वह महादण्डक नामसे अभिहित हो और वही नाम इन एक-एक सूत्र वाले दण्डकोंको दे दिया हो।

६. उत्कृष्टस्थिति चूलिका—इसमें कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका कथन है। इस चूलिकाके प्रथमसूत्रमें[3] कहा है कि आरम्भिक सूत्रमें जो प्रश्न किये गये थे उनमें एक प्रश्न था 'कितनी स्थितिवाले कर्मोंके होनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है।' इसमेंसे 'नहीं प्राप्त करता है' इस पदकी विभाषा करते हैं। उसी विभाषाके लिए कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका विवेचन किया गया है। उसमें बतलाया है कि किन-किन कर्मोंका उत्कृष्ट बन्धकाल कितना होता है। और उनमें कितना आबाधाकाल होता है। बन्धके पश्चात् जब तक कर्म अपना फल नहीं देता, उतने कालको आबाधाकाल कहते हैं। आबाधाकाल बीतनेपर कर्मका उदय प्रारम्भ होता है और स्थितिकालके पूरा होने तक उदय होता रहता है। इस चूलिकामें ४४ सूत्र हैं।

७. जघन्यस्थिति चूलिका—इस चूलिकामें कर्मोंकी जघन्य स्थिति और उसका आबाधाकाल बतलाया है। इसमें ४३ सूत्र हैं।

८. सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका—इस चूलिकामें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका विवेचन करते हुए कहा है कि सब कर्मोंकी जब अन्तः कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थितिको बाँधता है तब यह जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला जीव पञ्चेन्द्रिय संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होता है ॥ ४ ॥ जब इन सब कर्मोंकी अन्तःकोडाकोडी सागर-प्रमाण स्थितिको संख्यात हजार सागर काल हीन कर देता है। तब प्रथमोपशम

---

१. 'तत्थ इमो तदिओ महादण्डओ कादव्वो भवदि ॥ १ ॥'—पृ० १४२।
२. 'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषूक्तम्'—त. वा. ४-२६-५।
३. 'केवडि कालट्ठिदीएहि कम्मेहि सम्मत्तं लब्भदि वा ण लब्भदि वा, ण लब्भदि त्ति विभासा ॥१॥ एत्तो उक्कस्सयट्ठिदिं वण्णइस्सामो।'—पु० ६, पृ० १४५।

सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है ॥५॥ प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हुए अन्तर्मुहूर्त तक अन्तरकरण करता है ॥६॥ उसके द्वारा मिथ्यात्वकर्मके उदयमें अन्तर डाल देता है जिससे एक अन्तर्मुहूर्तके लिए उसका उदय आना रुक जाता है। फलतः सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। अन्तरकरण करके मिथ्यात्वके तीन भाग—सम्यक्त्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और मिथ्यात्व—करता है ॥७॥ इस तरह सात सूत्रोंके द्वारा प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति और उसमें होने वाले मुख्य-मुख्य कार्योंका निर्देश किया है। सूत्र ११ से क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका वर्णन है। दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय होने पर क्षायिकसम्यक्त्व होता है। अतः प्रथम यह बतलाया है कि अढाई द्वीप-समुद्रोंमें स्थित पन्द्रह कर्मभूमियोंमें जहाँ जिनकेवली और तीर्थङ्कर होते हैं वहाँ उस कालमें दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका आरम्भ करता है ॥११॥ और उसकी पूर्ति चारों गतियोंमें करता है ॥१२॥ इस तरह दो सूत्रोंसे दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका कथन किया है।

सूत्र १३ में बतलाया है कि जब वह जीव क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके अभिमुख होता है तो आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंकी स्थितिको अन्तःकोडा-कोडि सागरप्रमाण कर देता है। सूत्र १४ में बतलाया है कि यदि वह सम्यक्त्वके साथ चारित्रको भी ग्रहण करता है तो भी सातों कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोडाकोड़ी सागरप्रमाण करता है।

सूत्र १५-१६ में सकलचारित्र धारण करने वालेका स्वरूप बतलाते हुए कहा कि वह जीव उस समय चार घातिया कर्मोंकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र कर देता है और वेदनीयकी बारहमुहूर्त, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति करता है। इस तरह इस चूलिकामें केवल १६ सूत्र हैं।

९. गति-आगति चूलिका—विषयके अनुसार इस चूलिकाको चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। प्रथम ४३ सूत्रोंके द्वारा चारों गतियोंमें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति पर्याप्तक संज्ञीप-ञ्चेन्द्रियको ही होती है। तथा प्रत्येक गतिमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके बाह्य कारण बतलाये हैं। जैसे नरकगतिमें पूर्वजन्मका स्मरण, धर्मश्रवण और कष्टसहन। तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन। देवगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवर्द्धिदर्शन इत्यादि।

सूत्र ४४ से ७५ तक बतलाया है कि चारों गतियोंमें प्रवेश करने और वहाँ-से निकलनेके समय जीवोंके कौन-कौन गुणस्थान हो सकते हैं। जैसे, मनुष्य-गतिमें कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित ही वहाँसे निकलते

है। कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं। कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित निकलते हैं। कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं, इत्यादि।

सूत्र ७६ से २०२ तक यह बतलाया है कि किस गतिसे किस गुणस्थानके साथ निकलकर जीव किन-किन गतियोंमें जन्म ले सकता है। जैसे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीव नरकसे निकल कर तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जन्म लेते हैं। और सम्यग्दृष्टि नारकी नरकसे निकल कर मनुष्यगतिमें ही जन्म लेता है, इत्यादि।

सूत्र २०३ से २४३ तक बतलाया है कि किस गतिसे निकल कर जीव किस गतिमें जन्म लेता है और वहाँ कहाँ तक उन्नति कर सकता है। जैसे, सातवें नरकसे निकल कर नारकी जीव तिर्यञ्चगतिमें ही जन्म लेता है और वहाँ किसी तरहकी उन्नति नही कर सकता। मिथ्यादृष्टिका मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है। इस तरह प्रत्येक नरकसे तथा प्रत्येक गतिसे निकले हुए जीवोंके सम्बन्धमें विस्तार-से कथन किया गया है। चूलिकामें २४३ सूत्र हैं और पूरी जीवस्थान चूलिका-मे सूत्रोंकी संख्या ४६ + ११७ + २ + २ + २ + ४४ + ४३ + १६ + २४३ = ५१७ है।

चूलिकाके साथ ही जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड समाप्त हो जाता है। इस खण्डमें जीवके स्थानोंका जो वर्णन जिस ढंगसे किया गया है, उसका आभास अन्यत्र नही मिलता। प्रथम तो जिन आठ अनुयोगोंके द्वारा जीवका विवेचन किया गया है, उन अनुयोगोंके नाम सत्, संख्या आदि भले ही अन्यत्र व्यवहृत होते हों, किन्तु उनके द्वारा वस्तु विवेचनकी परम्परा सम्भवतया महावीर भगवानकी मौलिक देन है। जीव और कर्मके सम्बन्धमे जितना विचार उन्होंने किया था, शायद अन्य किसी धर्मप्रवर्तकने नही किया था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'जीव-ट्ठाण' है।

उक्त आठ अनुयोगोका निर्देश अनुयोगद्वार[1] सूत्रमे मिलता है। अत, अनु-योगोंके द्वारा वस्तुविवेचनाकी परम्परा अखण्ड जैन परम्पराको सम्मत रही है। किन्तु जिस तरह आठ अनुयोगोंके द्वारा ओघ और आदेशसे जीवका कथन जीव-ट्ठाणमें किया गया है, श्वेताम्बर साहित्यमें नहीं किया गया। हाँ, चतुर्थ कर्म-

---

१ 'से किं तं अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते, तं जहा—संतपयपरूवणया १ दव्वपमाणं २ च, खित्त ३ फुसणा ४ य, कालो य ५, अंतर ६, भाग ७, भाव ८, अप्पाबहुं' नेव—अनु०, सू० ८०।

ग्रन्थमें[1] जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व, भाव और संख्याका संक्षिप्त कथन मिलता है। इसमें गाथा ९ से १३ तक मार्गणास्थानके भेद तथा गाथा १९ से २३ तक मार्गणाओंमें गुणस्थान बतलाये हैं। मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका वर्णन करते हुए मतिअज्ञान और श्रुताज्ञानमें दो अथवा तीन गुणस्थान[2] बतलाये हैं। दिगम्बर परम्परामें[3] दो ही गुणस्थान माने गये हैं। गाथा ३७ से ४४ तक मार्गणाओंमें अल्पबहुत्वका विचार किया गया है। यह प्रज्ञापनाके अल्पबहुत्वनामक तीसरे पदसे लिया गया है। प्रज्ञापनाके तीसरे पदमें अल्पबहुत्वका विचार विस्तारसे किया गया है।

अनुयोगद्वारसूत्रमें केवल मनुष्यादिकी संख्याका थोड़ा-सा वर्णन मिलता है। किन्तु द्रव्यप्रमाणानुगमके[4] साथ उसका मेल नहीं खाता। इसका कारण यह है कि दोनोंमें विभिन्न अपेक्षाओंसे मनुष्योंकी संख्याका कथन किया है। इस तरह जीवट्ठाणमें प्रतिपादित विषयकी कुछ फुटकर बातोंका थोड़ा-सा कथन श्वेताम्बर साहित्यमें मिलता है।

२ खुद्दाबन्ध[5]

इस खण्डका विषय उसके नामसे ही प्रकट है। इसमें खुद्दा अर्थात् क्षुद्ररूपसे कर्मबन्धका विवेचन है। छठवें खण्ड महाबन्धसे इसका भेद करनेके लिए ही अथवा उसकी अपेक्षा इसकी लघुता सूचित करनेके लिए ही सूत्रकारने इसको खुद्दाबन्ध संज्ञा दी है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका प्रथम सूत्र है—'जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो ॥१॥'—जो व बंधक जीव है उनका यहाँ निर्देश किया जाता है।

इसकी धवलाटीकामें लिखा है कि 'जे ते बंधगा णाम' ये शब्द बन्धकोंकी पूर्व प्रसिद्धिको सूचित करते है। सो महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमें छठवें अनुयोगद्वार बन्धनके बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान ये चार अधिकार है। उसमेंसे जो बन्धक नामका दूसरा अधिकार है उसमें निर्दिष्ट बन्धकोका ही यहाँ निर्देश किया गया है। अस्तु, दूसरे सूत्रमें चौदह मार्गणाओंके नाम गिनाकर तीसरे सूत्रसे मार्गणाओंके अनुसार बन्धकोंका कथन प्रारम्भ होता है। यथा—नारकी जीव बन्धक है। तिर्यञ्च बन्धक हैं। देव बन्धक हैं। किन्तु

---

१. नमिय जिणं जिअमग्गण-गुणट्ठाणुवओगजोगलेस्साओ।
बंधप्पबहूभावे संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥१॥

२ गा० २०।

३. षट्खं०, पु० १, पृ० ३६१।

४. षट्खं०, पु० ३, सूत्र ४५, तथा अनुयोग०, पृ० २८५।

५. षट्खण्डागमकी ७वीं पुस्तकमें खुद्दाबन्ध खण्ड मुद्रित है।

मनुष्य बन्धक भी हैं और अबन्धक भी हैं। इस तरह तेतालीस सूत्र तक बन्धकोंके सत्त्वका कथन है।

आगे कहा है कि इन बन्धकोंके प्ररूपणार्थ ग्यारह अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं—वे ग्यारह अनुयोगद्वार हैं—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षा काल, एक जीवकी अपेक्षा अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा काल, नाना जीवों-की अपेक्षा अन्तर, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्व ।। सब अनुयोगद्वारोंका विवेचन प्रश्नोत्तरशैलीमें किया गया है।

१. स्वामित्व—नरक गतिमें नारकी जीव कैसे होता है ? नरकगतिनाम-कर्मके उदयसे। तिर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्च जीव कैसे होता है ? तिर्यञ्चगतिनाम-कर्मके उदयसे। जीव एकेन्द्रिय आदि कैसे होता है ? क्षायोपशमिकलब्धिसे। जीव मतिज्ञानी कैसे होता है ? क्षायोपशमिकलब्धिसे। इस तरह जिस मार्गणा-वाला जीव जिस कर्मके उदय या क्षयोपशम आदिसे होता है उसका वैसा कथन किया गया है (इस अनुयोगद्वारमें ९१ सूत्र हैं)।

२. एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम—नरकगतिमे नारकी जीव कितने काल तक रहता है ? कम-से-कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक तेतीस सागरकाल तक। भवनवासी देवोंमें एक जीव कितने काल तक रहता है ? कम-से-कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक कुछ अधिक एक सागरोपम काल तक। जीव काययोगी कितने काल तक रहता रहता है ? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्तकाल तक और अधिक-से-अधिक अनन्तकाल तक। इस प्रकार २१६ सूत्रोंके द्वारा कालका विवेचन किया गया है। जीवट्ठाणमें जो कालका कथन किया गया है वह गुणस्थानोंकी अपेक्षासे है और यहाँ मार्गणास्थानोंकी अपेक्षासे है। यही दोनोंमें अन्तर है।

३. एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम—नरकगतिमे नारकी जीवका अन्तर काल कितना है ? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक असंख्यात पुद्गल-परिवर्तन प्रमाणकाल। क्योंकि कोई जीव नरकसे निकलकर मनुष्य या तिर्यञ्च-पर्यायमें उत्पन्न हो और तत्काल मरण करके पुनः नरकमें जन्म ले लेता है। इस-तरह उसकी नारकी पर्याय छूट कर पुनः नारकी पर्याय प्राप्त करनेके बीचमें केवल अन्तर्मुहूर्त कालका अन्तर रहता है। और कोई अधिक-से-अधिक उक्त काल तक नरकसे बाहर रहकर पुनः नरकमें चला जाता है। इसतरह मार्गणाओं-की अपेक्षा १४१ सूत्रोंके द्वारा अन्तर कालका कथन किया गया है।

४. नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम—भंगका अर्थ है—भेद और विचयका अर्थ है विचारणा। इस अनुयोगद्वारमें यह विचार किया गया है कि मार्गणाओंमें जीव नियमसे रहते हैं अथवा कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते। उक्त चौदहों मार्गणाओंमें जीव नियमसे रहते हैं—उनमें कभी भी जीवोंका अभाव नहीं होता। उनके सिवाय आठ मार्गणाएँ ऐसी हैं जिनमें सदा जीव नहीं रहते। इसीसे उन्हें सान्तर मार्गणा कहते हैं। उक्त चौदह मार्गणाएँ निरन्तर मार्गणा हैं। यह कथन नाना जीवोंकी अपेक्षा किया गया है। इसमें २३ सूत्र हैं।

५. द्रव्यप्रमाणानुगम—इसमें चौदह मार्गणाओंमें पाये जाने वाले जीवोंकी संख्याका पृथक्-पृथक् कथन किया है। जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणानुगममें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे जीवोंकी संख्याका कथन है। यही दोनोंमें अन्तर है। इसमें १७१ सूत्र हैं।

६ क्षेत्रानुगम—इसमें मार्गणास्थानोंकी अपेक्षासे पूर्ववत् जीवोंके क्षेत्रका कथन है। सूत्रसंख्या १२४ है।

७. स्पर्शनानुगम—इसमें भी गुणस्थानोंकी अपेक्षा न करके मार्गणास्थानोंमें जीवोंके वर्तमान व अतीत काल सम्बन्धी क्षेत्रका कथन पूर्ववत् है। इसमें २७९ सूत्र हैं।

८. नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम—इसमें नाना जीवोंकी अपेक्षा मार्गणाओंमें जीवोंके कालका कथन है। तदनुसार उक्त चौदह मार्गणाओंमें जीव सर्वदा पाये जाते हैं। इसमें ५५ सूत्र हैं।

९. नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम—इसमें उक्त चौदह मार्गणाओंमें नाना जीव सर्वदा पाये जानेके कारण अन्तरकालका निषेध करते हुए शेष आठ सान्तरमार्गणाओंके अन्तरकालका कथन किया है। इसमें ६८ सूत्र हैं।

१०. भागाभागानुगम नरकगतिमें नारकी सब जीवोंके कितनेवें भाग हैं? अनन्तवें भाग हैं। तीर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्च सब जीवोंके कितनेवें भाग हैं? अनन्त बहुभाग हैं। इस प्रकार चौदह मार्गणाओंमें सब जीवोंके भागाभागका कथन है। इसमें ८८ सूत्र हैं।

११. अल्पबहुत्वानुगम—मनुष्य सबसे थोड़े हैं। उनसे नारकी असंख्यातगुणे हैं। नारकियोंसे देव असंख्यातगुणे हैं। देवोंसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं। सिद्धोंसे तिर्यञ्च अनन्तगुणे हैं। इस प्रकार चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे जीवोंके अल्पबहुत्वका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। इसमें २०५ सूत्र हैं।

अन्तमें महादण्डक नामक अधिकार है। इसके प्रथम[1] सूत्रमे कहा है—

'इससे आगे सर्वजीवोंमें महादण्डक करना योग्य है।'

इस प्रथम सूत्रकी धवला-टीकामें इस महादण्डक अधिकारको लेकर जो शंका-समाधान किया गया है उसे यहाँ दे देना उचित होगा। उससे चूलिका और महादण्डकका भेद स्पष्ट होता है।

शंका—ग्यारह अनुयोगद्वारोंके समाप्त होनेपर यह महादण्डक किसलिये कहा है?

समाधान—ग्यारह अनुयोगद्वारोंमें निबद्ध खुद्दाबन्धकी चूलिका रूपसे महादण्डकको कहते हैं।

शंका—चूलिका किसे कहते है?

समाधान—ग्यारह अनुयोगद्वारोसे सूचित अर्थका विशेष रूपसे कथन करनेको चूलिका कहते है।

शका—यदि ऐसा है तो यह महादण्डक चूलिका नही कहा जा सकता। क्योंकि यह अल्पबहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अर्थको ही कहता है, अन्य अनुयोगद्वारोमे कहे गये अर्थको नही कहता?

समाधान—ऐसा कोई नियम नही है कि सब अनुयोगोंके द्वारा सूचित अर्थोंका विशेषरूप कथन करनेवाली ही चूलिका होती है। किन्तु एक, दो अथवा सब अनुयोगद्वारोंसे सूचित अर्थोंकी विशेष प्ररूपणाको चूलिका कहते है। अत यह महादण्डक चूलिका ही है क्योंकि यह अल्पबहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अर्थका विशेषरूपसे कथन करता है।

इस प्रकार इस दूसरे खण्डके सूत्रोंकी कुल संख्या अनुयोगद्वारोंके क्रमसे ४३ + ९१ + २१६ + १५१ + २३ + १७१ + १२४ + २७९ + ५५ + ६८ + ८८ + २०५ + ७९ =

३ बन्धस्वामित्वविचय

षट्खण्डागमके तीसरे खण्डका नाम बन्धस्वामित्वविचय है। इसका प्रथम सूत्र है[2]—

'जो सो बंधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥१॥' वह जो बन्धस्वामित्वविचय नामक (खण्ड) है उसका यह निर्देश दो प्रकार है—ओघसे और आदेशसे।

---

१. 'एत्तो सव्वजीवेसु महादण्डओ कादव्वो भवदि' ॥१॥—षट्ख०, पु० ७, पृ० ५७५।

२ षट्खं०, पु० ८।

इस सूत्रकी धवला-टीकामें इसका उद्गम बतलाते हुए लिखा है कि—'कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें बन्धन नामक जो छठा अनुयोगद्वार है वह चार प्रकार है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध-विधान। उनमें बन्ध नामक अधिकारनय की अपेक्षा जीव और कर्मोके सम्बन्धका कथन करता है। बन्धक अधिकार ग्यारह अनुयोगद्वारोंसे बन्धकोंका कथन करता है। बन्धनीय नामक अधिकार तेईस वर्गणाओंसे बन्ध योग्य और अबन्ध योग्य पुद्गल द्रव्यका कथन करता है। बन्धविधानके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। उनमें प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर-प्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ मूलप्रकृतिबन्ध। अव्वोगाढ मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। उनमें उत्तरप्रकृतिबन्धका समुत्कीर्तन करनेवाले चौबीस अनु-योगद्वार हैं। उनमेंसे एक बन्धस्वामित्व नामक अनुयोगद्वार है। उसीका नाम बन्धस्वामित्वविचय है।'

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगोंके द्वारा जो जीव और कर्मोका सम्बन्ध-विशेष होता है उसे बन्ध कहते हैं। और बन्धके स्वामित्वको बन्धस्वामित्व कहते हैं। और बन्धस्वामित्वके विचारको बन्धस्वामित्वविचय कहते हैं। विचय, विचा-रणा, मीमांसा, परीक्षा ये सब शब्द समानार्थक हैं। अतः यहाँ यह विचार किया गया है कि किस-किस गुणस्थान और मार्गणास्थानमें किस-किस कर्मका बन्ध होता है। तदनुसार दूसरे सूत्रमें कहा है कि ओघकी अपेक्षा बन्धस्वामित्वविचयके विषयमे चौदह जीव समास (गुणस्थान) जानने योग्य है। और तीसरे सूत्रके द्वारा चौदह गुणस्थानोंके नाम बतलाये हैं।

चौदह गुणस्थानोके नाम जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके प्रारम्भमें आ चुके हैं। अतः धवला टीकामें यह शंका की गई है कि जीवसमास तो पहले ही हमने जान लिये हैं फिर यहाँ उनका कथन क्यों किया है? इसका समाधान करते हुए धवला-कारने कहा है—विस्मरणशील शिष्योंके स्मरण करानेके लिये पुनः कथन किया है। किन्तु सूत्रकारने प्रत्येक खण्डको यथासंभव स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें निबद्ध किया है, ऐसा प्रतीत होता है। तथा उनका यह भी आशय रहा है कि जहाँ तक सम्भव हो कोई बात अस्पष्ट न रहे। इससे भी उन्होंने पुनरुक्तिका दोष नहीं माना है।

चौथे सूत्रमें कहा है कि इन चौदह जीवसमासोंके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका कथन करना चाहिये।

किसी कर्मप्रकृतिके बन्धके रुकनेको प्रकृतिबन्धव्युच्छेद कहते हैं। सूत्रका

अभिप्राय यह है कि किस-किस गुणस्थानमें कौन-कौन कर्म बंधते हैं और कौन नहीं बंधते, यह कथन करते हैं।

इसपर सूत्र ४ की धवलाटीकामें यह शंका उठाई है कि यदि इसमें जीव-समासोंके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका ही कथन करना है, तो इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्व-विचय नाम कैसे घटित होगा। समाधानमें कहा गया है कि 'इस गुणस्थानमें इतनी प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है' ऐसा कहनेपर यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि उससे नीचेके गुणस्थान उन प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी हैं। अतः इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम सार्थक है।

सूत्र ५में कहा है—'पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाच अन्तराय, इन कर्मोंका कौन बन्धक है, कौन अबन्धक है।' सूत्र ६ में उत्तर दिया गया है—मिथ्यादृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत तक उक्त प्रकृतियोंके बन्धक है। अतः दसवें गुणस्थान तकके जीव उक्त कर्मोंके बन्धक है, शेष अबन्धक है। इस तरह कर्मप्रकृतियोंका निर्देश करते हुए पहले प्रश्न किया गया है और आगे उसका उत्तर दिया गया है कि अमुक कर्मोंके बन्धक अमुक गुणस्थान वाले जीव हैं।

इसप्रकार प्रारम्भके ४२ सूत्रोंमें तो गुणस्थानोंके अनुसार बन्ध और अबन्ध-का कथन है। तत्पश्चात् मार्गणाओंके अनुसार कथन है।

सूत्र ३९में यह प्रश्न किया गया है कि कितने कारणोंसे जीव तीर्थंकरनाम-गोत्रकर्मको बांधते हैं ? सूत्र ४०में उत्तर दिया गया है कि इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्मको बांधते है। और सूत्र ४१में उन १६ कारणोंके नाम बतलाये हैं जो इसप्रकार हैं—

१. दर्शनविशुद्धता[1], २. विनयसम्पन्नता, ३. शीलव्रतोंमे निरतिचारता, ४ छह आवश्यकोंमें अपरिहीनता, ५. क्षणलवप्रतिबोधनता, ६. लब्धिसंवेग-सम्पन्नता, ७ यथाशक्ति तप, ८. साधुओंकी प्रासुकपरित्यागता, ९. साधुओंकी समाधिसंधारणा, १०. साधुओंकी वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११. अरहंतभक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति, १४. प्रवचनवत्सलता, १५. प्रवचनप्रभावना,

---

१. 'दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥ ४१ ॥—षट्खं०, पु० ८, पृ० ७९।

१६. अभीक्ष्णअभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता। इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकरनाम-गोत्रकर्मको बाँधते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रमें[1] जो तीर्थंकरनामकर्मके बन्धके सोलह कारण बतलाये हैं, उनमें इनसे कुछ अन्तर है। यहाँ 'साधुओंको प्रासुक परित्यागता है, तत्त्वार्थसूत्र-में 'शक्ति अनुसार त्याग' है। इन दोनोंका आशय मिलता हुआ है। किन्तु यहाँ 'लब्धिसंवेगसम्पन्नता' है, त० सू० में आचार्यभक्ति है। शेष चौदह कारण समान हैं। इन दोनोंमें कोई मेल नहीं है।

किन्तु श्वेताम्बरीय ज्ञाता[2]धर्मकथा नामक आठवें अंगमें २० कारण बतलाये हैं—१. अरहंत, २. सिद्ध, ३. प्रवचन, ४. गुरु, ५. स्थविर, ६. बहुश्रुत और ७. तपस्वियोंमें वत्सलता, ८. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ९. दर्शन, १०. विनय, ११. आवश्यक, १२. निरतिचार शीलव्रत, १३. क्षणलव, १४. तप, १५ त्याग, १६. वैयावृत्य, १७. समाधि, १८. अपूर्व ज्ञानग्रहण, १९. श्रुतभक्ति, २० प्रवचनप्रभावना।

इस अन्तरके सम्बन्धमें विशेष चर्चा तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी प्रकरणमें की जायेगी।

बन्धस्वामित्वविचयकी सूत्रसंख्या ३२४ है।

श्वेताम्बर परम्पराके तीसरे कर्मग्रन्थका नाम बन्धस्वामित्व है। कर्मग्रन्थ प्राचीन और नवीनके भेदसे दो प्रकारके हैं। दोनोंका विषय प्राय: समान है। प्राचीनमें विषय-वर्णन थोड़ा विस्तृत है। तीसरे प्राचीन कर्मग्रन्थकी गाथासंख्या ५४ है जबकि नवीनकी गाथासंख्या २५ है। प्राचीनमें गति आदि मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी संख्याका निर्देश अलगसे करके तब बन्धस्वामित्वका कथन है किन्तु नवीनमें ऐसा नहीं किया है। उसमें जो मार्गणाओंके आश्रयसे गुणस्थानोंमें बन्ध-स्वामित्वका कथन दिखाया, उससे मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी संख्याका बोध हो जाता है।

---

१. 'दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्या-गतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणि-र्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥'—त० सू०, ६।२४।

२. 'अरहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुएसु वच्छलयाव तवस्सी तेसिं अभिक्खणाणोयओगे य ॥
दसंण विणए आवास्सए य सोलव्वए निरइयारं। खणलव तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया। एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥
—ज्ञा० ध०, अ० ८, सू० ६४

षट्खण्डागममें गतिके आश्रयसे प्रकृतियोंका निर्देश करके यह बतलाया है कि इन प्रकृतियोंका बंध अमुक गुणस्थानवाले करते हैं। जैसे—आदेशसे[1] गतिके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमें अमुक प्रकृतियोंका (७० प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं) कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है? मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक बन्धक हैं। निद्रानिद्रा आदि (२५ प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं) का कौन बंधक है, कौन अबंधक हैं? मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि बन्धक हैं, शेष अबन्धक हैं। मिथ्यात्व आदि ४ का कौन बंधक है और कौन अबंधक है? मिथ्यादृष्टि बन्धक है, शेष अबन्धक हैं। मनुष्यायुका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है? मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि बन्धक हैं, शेष अबन्धक हैं। तीर्थंकरनामकर्मका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है? असंयतसम्यग्दृष्टि बन्धक है, शेष अबन्धक हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यसे नरकगतिमें बन्धयोग्य प्रकृतियाँ ७० + २५ + ४ + १ + १ = १०१ हैं। उनमेंसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें १०० ही बन्धयोग्य हैं, तीर्थंकर बन्धयोग्य नहीं है। तथा १००मेंसे सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ९६ ही बन्धयोग्य हैं, मिथ्यात्वादि चारका बन्ध केवल मिथ्यादृष्टिके ही होता है। तथा नरकगतिमें चार ही गुणस्थान होते हैं। इन सब फलितार्थोंके अनुसार कर्मग्रन्थमें[2] कथन किया है कि नारकी सामान्यसे १०१ कर्मप्रकृतियोंको बाँधते हैं। किन्तु पहले गुणस्थानमें वर्तमान नारकी १०१ मेंसे तीर्थंकरके बिना १०० कर्मप्रकृतियोंको बाँधता है और सासादनगुणस्थानमें वर्तमान नारकी उनमेंसे ४ प्रकृतियोंको छोड़कर ९६ को ही बाँधता है

इसी तरह इस तीसरे खण्डके प्रारम्भमें सामान्यसे प्रकृतियोंका नाम निर्देश करके उनके बन्धक और अबन्धक गुणस्थानोंका निर्देश किया है। उससे यह फलित होता है कि अमुक गुणस्थानमें इतनी कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। तदनुसार दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंमें बन्धयोग्य प्रकृतियोंका निर्देश किया है।

अतः गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें जो कर्मप्रकृतियोंके बन्धस्वामित्वका कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामें पाया जाता है उसका मूल बन्धस्वामित्वविचयनामक तीसरा यह खण्ड ही प्रतीत होता है क्योंकि श्वेताम्बर परम्परामें भी इस विषयका निरूपक कोई अन्य आकर ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

---

१. षट्खं० पु० ८, सूत्र ४३–४२।

२. 'सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण बंधहिं निरया। तित्थ विणा मिच्छिसयं सासणि नपु चउ विणा छनुई ॥ ४॥'—कर्म० ३।

४. वेदनाखण्ड

एक तरहसे चतुर्थ वेदनाखण्डसे षट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता है क्योंकि इसके प्रारम्भमें भूतबलीने ४४ सूत्रोंसे मंगलाचरण किया है। और धवला-कारने इस मंगलको शेष तीनों खण्डोंका मंगलाचरण कहा है। क्योंकि पाँचवें और छठे खण्डके प्रारम्भमें कोई मंगल नहीं पाया जाता। इसी तरह—जीवट्ठाणके प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाके आदिमें पुष्पदन्तने मंगलाचरण किया था। वही मंगलाचरण दूसरे और तीसरे खण्डका भी मान लिया गया, क्योंकि इन दोनों खण्डोंके प्रारम्भमें कोई मंगलाचरण नहीं पाया जाता। अतः दोनों मंगलोंको पूर्वार्ध और उत्तरार्धका मंगलाचरण कहना उचित होगा।

दूसरे, जिस महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके ये छै खण्ड रचे गये हैं, उसके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे क्रमानुसार ही चौथे आदि खण्डोंका निर्माण हुआ है और उसीके मंगलसूत्रोंको वेदनाखण्डके आदिमें मंगलरूपसे स्थान दिया गया है। अतः चतुर्थ वेदनाखण्डसे षट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता है, यह कहना उचित ही है।

इस चतुर्थ खण्डमें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिके दो अनुयोगद्वार संक्षिप्त किये गये हैं। एक कृति अनुयोगद्वार और दूसरा वेदना अनुयोगद्वार इन दोनोंमेंसे वेदनाका प्राधान्य होनेसे खण्डको वेदना नाम दिया गया है।

१. कृतिअनुयोगद्वार[1]—इसके प्रारम्भमें सूत्रकार भूतबलीने 'णमो जिणाणं' इत्यादि ४४ सूत्रोंसे मंगल किया है। ठीक यही मंगल योनिप्राभृत' ग्रन्थमें गणधर-वलयमंत्रके रूपमें पाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि योनिप्राभृतके कर्ता [2]आचार्य धरसेन थे और उन्होंने अपने शिष्य भूतबली[3] पुष्पदन्तके लिये उसकी रचना की थी। इन मंगलसूत्रोंमें अन्तिम सूत्र 'णमो वड्ढमाणबुद्धरिसिस्स ॥४४॥' है। इसकी धवलाटीकामें वीरसेन स्वामीने इसे गौतमस्वामी रचित कहा है।

इसके ८५वें सूत्रमें बतलाया है कि अग्रायणीय पूर्वकी पंचमवस्तुके चतुर्थ-प्राभृतका नाम कम्मपयडी (कर्मप्रकृति) है। उसके चौबीस अनुयोगद्वार कृति आदि हैं।

---

१. षट्खण्डागम, पुस्तक ९ में मुद्रित है।

२. 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनं।' बृहट्टिपणि०—

३. "इय पण्हसवणरइए भूयबली-पुप्फयंतआलिहिए। कुसुमंडी उवहट्टे विज्जयवियम्मि अवियारे।"—अनेकान्त, वर्ष २, पृ० ४८ से।

कृतिका वर्णन करते हुए सूत्र ४६में कृतिके सात भेद बतलाये हैं—नामकृति[1], स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनाकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति ।

सूत्र ४७में प्रश्न किया गया है कि कौन नय किन कृतियोंकी इच्छा करता है ? सूत्र ४८, ४९, ५०से उत्तर देते हुए कहा है कि नैगम, संग्रह, व्यवहार सब कृतियोंको स्वीकार करते हैं । ऋजुसूत्रनय स्थापना कृतिको स्वीकार नहीं करता और शब्द आदि नय नामकृति और भावकृतिको स्वीकार करते हैं ।

सूत्र ५१से कृतिके उक्त सात भेदोंका स्वरूप बतलाया है, जो इसप्रकार है—जिस जीव या अजीव किसीका 'कृति' नाम रखा जाता है वह नामकृति है ।

काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्म (वस्त्रसे निर्मित प्रतिमा), लेप्यकर्म, लयन-कर्म (पर्वतको काटकर बनाई गई प्रतिमा), शैलकर्म, गृहकर्म (जिनालयोंमें बनाई गई प्रतिमा), भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेंड (?) कर्ममें अथवा अक्ष (पांसे–शतरञ्जके मोहरे) और वराटक (कौड़ी) मे 'यह कृति है' ऐसा आरोप करनेको स्थापनाकृति कहते है ।

द्रव्यकृतिके दो भेद है—आगमद्रव्यकृति और नोआगमद्रव्यकृति । आगम-द्रव्यकृतिके नौ अर्थाधिकार हैं—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम । धवलाटीकामे इन सबका स्वरूप बत-लाया है । जिनमेंसे कुछ इसप्रकार है—

तीर्थङ्करके मुखसे निकले बीजपदोंको सूत्र कहते हैं । उस सूत्रसे उत्पन्न होनेके कारण गणधरदेवका श्रुतज्ञान सूत्रसम है । श्रुतज्ञानी आचार्योंकी सहायताके बिना ही स्वयंबुद्धोंको जो श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्वादशांगका ज्ञान हो जाता है उसे अर्थसम कहते है । गणधरदेवके द्वारा रचित द्रव्यश्रुतको ग्रन्थ कहते हैं । उनके द्वारा बोधितबुद्धोंको जो द्वादशांगका ज्ञान होता है उसे ग्रन्थसम कहते है । द्वादशांगके अनुयोगोके मध्यमे स्थित द्रव्यश्रुतज्ञानके भेदोंको नाम कहते है, उससे उत्पन्न होनेके कारण शेष आचार्योंमें स्थित श्रुतज्ञान नामसम है ।

इस आगमके नौ अर्थाधिकारोंमें जो उपयोग है उसके भेद सूत्र ५५में बतलाये है । वे हैं—वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा वगैरह ।

सूत्र ६६में गणनाकृतिके अनेक भेद बतलाये हैं—एक संख्या नोकृति है, दो संख्या न कृति है और न नोकृति । तीनसे लेकर संख्यात, असंख्यात, अनन्त, राशियाँ कृति हैं ।

---

१. 'कदि त्ति सत्तविहा कदी–णामकदी, ठवणकदी, दव्वकदी गणणकदी गंथकदी करणकदी भावकदी चेदि ।।४६।।

धवलाटीकामें इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस राशिके वर्गमें उसकी मूल राशिको घटा देने पर जो शेष रहे उसका वर्ग करने पर वृद्धिको प्राप्त हो उसे कृति कहते हैं। जैसे तीनके वर्ग नौमेंसे तीनको घटा देने पर छै शेष रहते हैं उसका वर्ग ३६ होता है अतः तीन राशि कृति है। एक राशिका वर्ग करने पर भी एक ही लब्ध आता है, राशि बढ़ती नहीं और उसमेंसे मूलराशि एकको घटा देने पर कुछ भी शेष नहीं रहता। अतः एक राशि नोकृति है। दो का वर्ग करने पर राशि बढ़ जाती है, इसलिये दोको नोकृति नहीं कह सकते। और चूंकि उसके वर्ग ४ मेंसे उसके मूल दोको घटाने पर दो शेष रहते हैं और उसका वर्ग करने पर चार ही होते है—राशि बढ़ती नहीं, अत. दोको कृति भी नहीं कह सकते।

सूत्र ६७में ग्रन्थकृतिका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—लोकमें[1], वेदमे, समयमें शब्दप्रबन्धरूप अक्षरकाव्यादिकी जो ग्रन्थरचना की जाती है उसे ग्रन्थकृति कहते है। सब कृतियोंका स्वरूप बतलानेके बाद सूत्रकारने यह प्रश्न किया है कि इन कृतियोंमेंसे कौन-सी कृतिसे यहाँ प्रयोजन है। और उसका उत्तर दिया है कि गणनाकृतिसे यहाँ प्रयोजन है। इसकी व्याख्यामें धवलाकारने लिखा है कि गणनाको जाने विना शेष अनुयोगद्वारोंका कथन नहीं हो सकता।

इस कृति अनुयोगद्वारमें ७६ सूत्र हैं।

कृति अनुयोगद्वार और श्वेताम्बरी अनुयोगद्वारकी निरूपणशैलीमे बहुत कुछ समानता है। कृति अनुयोगद्वारमें कृतिके सात भेद किये हैं और अनुयोगद्वारसूत्रमें आवश्यककी चर्चा होनेसे आवश्यकके चार भेद किये है। नामआवश्यक स्थापनाआवश्यक, द्रव्यावश्यक और भावावश्यक। कृतिके सात भेदोंमें भी नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति और भावकृति ये चार भेद हैं। इन चारों भेदोंके स्वरूपबोधक सूत्रोंमें कितनी समानता है, यह दोनों ग्रन्थोंके सूत्रोंके मिलानसे स्पष्ट हो जाता है।

१. 'जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा अजीवस्स वा, जीवाणं वा, अजीवाणं वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाणं च, जीवाणं च अजीवस्स [च], जीवाणं च अजीवाणं च ॥ ५१ ॥'—षट्खं०, पु० ९, पृ० २४६।

१. 'से किं तं नामावस्सयं ? जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सएत्ति नामं कज्जइ से तं नामावस्सयं ॥ ९ ॥'—अनु० सू०।

---

1. 'जा सा गंथकदी णाम सा लोए वेदे समए सद्दपबंधणा अक्खरकव्वादीणं जा च गंथरचणा कीरदे सा सव्वा गंथकदी णाम ॥ ६७ ॥—पु० ९, पृ० ३२१।

कृतिमें आठों भंगोंका निर्देश किया गया है, किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें छहका निर्देश किया है। किन्तु उनमें शेष दो भी गर्भित हैं।

स्थापनाका लक्षण लीजिये—

२. 'जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा, पोत्तकम्मेसु लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कदि त्ति सा सव्वा ठवणकदी णाम ॥५२॥'—षट्खं, पु० ९, पृ० २४८।

२ 'से किं तं ठवणावस्सयं ? जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिम वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगो वा सब्भावठवणा वा असब्भावठवणा वा आवस्सएति ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणावस्सयं ॥ १० ॥'—अनु० सू०।

३. जा सा आगमदो दव्वकदी णाम तिस्से इमे अट्ठाहियारा भवंति—ट्ठिदं जिदं परिजिदं वायणोपगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं...॥५४॥ जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेक्खणा वा थ-थुइ धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया ॥ ५५ ॥''—षट्खं० पु० ९, पृ० २५१, २६२।

३ से किं तं आगमओ दव्वावस्सयं ? जस्स णं आवस्सए त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं नामसमं घोससमं....गुरुवायणोवगयं, से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए अणुप्पेहाए, कम्हा ? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु ॥ १३ ॥ अनु० सू०।

यद्यपि दोनोके उक्त उद्धरणोंमें कुछ अन्तर भी है। किन्तु जो समानता है वह उल्लेखनीय है।

दोनोंकी द्रव्यनिक्षेपमें नययोजना भी दृष्टव्य है—

४. 'णेगमववहाराणमेगो अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५६ ॥ संगहणयस्स एयो वा अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५७ ॥ उजुसुदस्स एओ अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५८ ॥ सद्दणयस्स अवत्तव्वं ॥ ५९ ॥ सा सव्वा आगमदो दव्वकदी णाम ॥ ६० ॥'—षट्खं०, पु० ९, पृ० २६४–२६६।

४. ''णेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइं तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं एवं जावइया अणुवउत्ता आगमओ तावइयाइं दव्वावस्सयाइं, एवमेव

ववहारस्सवि। संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा आगमओ दव्वावस्सयं दव्वावस्सयाणि वा से एगे दव्वावस्सए। उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहत्तं नेच्छइ। तिण्हं सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थु, कम्हा? जइ जाणए अणुवउत्ते न भवति, जइ अणुवउत्ते जाणए ण भवति, तम्हा णत्थि आगमओ दव्वावस्सयं। से तं आगमओ दव्वावस्सयं ॥ १४ ॥'—अनु० सू०।

दोनों नययोजनाओमें कोई अन्तर नही है। कृतिका वर्णन संक्षिप्त है और अनुयोगद्वारका विस्तृत है।

इस साम्यसे केवल यही प्रकट होता है कि जैन आगमिक शैली यही थी। अनुयोगोंके प्रारम्भमें निक्षेप और निक्षेपोंमें नययोजना होना आवश्यक था। और उसको लेकर विषयगत और शब्दगत साम्य था। किन्तु श्वेताम्बरीय आगमोंमें इस शैलीके दर्शन नही होते। सम्भव है यह शैली पूर्वोंसे सम्बद्ध हो, क्योंकि अनुयोग पूर्वगत श्रुतके भेद हैं।

२. वेदना अनुयोगद्वार—वेदना अधिकारमें १६ अनुयोगद्वार हैं—वेदनानिक्षेप, वेदनानयविभाषणता, वेदनानामविधान, वेदनद्रव्यविधान, वेदनक्षेत्रविधान, वेदनकालविधान, वेदनभावविधान, वेदनस्वामित्वविधान, वेदनवेदनविधान, वेदनगतिविधान, वेदनअनन्तरविधान, वेदनसन्निकर्षविधान, वेदनपरिमाणविधान, वेदनभागाभागविधान, और वेदनअल्पबहुत्वविधान। प्रथम सूत्रके द्वारा इन १६ अनुयोगद्वारोंका निर्देश किया गया है।

१. वेदनानिक्षेप—दो सूत्रोंके द्वारा वेदनामें निक्षेपोंका विधान किया है। वेदनाके चार भेद हैं—नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना। वेदनाशब्दके अनेक अर्थ हैं। उनमेंसे अप्रकृत अर्थका निराकरण करके प्रकृत अर्थको बतलानेके लिए यह अनुयोगद्वार है।

२ वेदनानयविभाषणता—सब व्यवहार नयाधीन हैं। अत. नामादि निक्षेपगत व्यवहार किस नयके अधीन है, यह इस अनुयोगद्वारमें बतलाया है। अर्थात् आगमिक शैलीके अनुसार चार सूत्रोंके द्वारा निक्षेपोंमें नययोजनाका कथन है। वेदनासे यहाँ बन्ध, उदय और सत्त्वरूप द्रव्यकर्मकी वेदना ली गई है।

३. वेदनानामविधान—बन्ध, उदय और सत्त्वरूपसे जो कर्मपुद्गल जीवसे स्थित हैं उनमें किस-किस नयका कहाँ-कहाँ कैसा प्रयोग होता है इसके लिये यह वेदनानामविधान अधिकार है। कर्मके आठ भेद हैं, अतः आठों कर्मोंकी वेदनाके अनुसार वेदना भी आठ रूप है। संग्रहनयकी अपेक्षा आठों कर्मोंकी एक वेदना है क्योंकि संग्रहनय अनेकोंको एकरूपसे ग्रहण करता है। और ऋजुसूत्रनय वर्तमान

पर्यायको ही ग्रहण करता है, अतः चूँकि वेदनाका अर्थ सुख-दुःख लोकमें लिया जाता है और वे सुख-दुःख वेदनीयकर्मके सिवाय अन्य कर्मद्रव्योंसे उत्पन्न नहीं होते। अतः उदयागत वेदनीयकर्म ही ऋजुसूत्रनयसे वेदना है। इसमें भी ४ सूत्र हैं।

४. वेदनाद्रव्यविधान—वेदनारूप द्रव्यके विधान अर्थात् भेद उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य आदि अनेक हैं। उनका इस अनुयोगमें कथन है। इस अनुयोगद्वारके अन्तर्गत तीन अनुयोगद्वार हैं—पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमांसामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयद्रव्यवेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है। सूत्रको देशामर्षक मानकर धवलाकारने सादि, अनादि आदि अन्य भी नौ पदोंकी योजना की है। तथा बतलाया है कि सप्तम पृथिवीके गुणितकर्मांशिक नारकीके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अतः ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी है और उक्त नारकीके सिवाय अन्यत्र सर्वत्र उसका अनुत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अतः अनुत्कृष्ट भी है। क्षपित कर्मांशिक जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें उसका जघन्यद्रव्य पाया जाता है, अतः ज्ञानावरणीयवेदना जघन्य भी है और उक्त जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयको छोड़कर अजघन्यद्रव्य पाया जाता है, अतः अजघन्य भी है। शेष सातों कर्मोंमें भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

स्वामित्व अनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि पद किन-किन जीवोंमें किस प्रकारसे सम्भव है, इस तरह उनके स्वामियोंका कथन बहुत विस्तारसे किया है। और अल्पबहुत्वमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंको जघन्य उत्कृष्ट और जघन्य उत्कृष्ट वेदनाओंके अल्पबहुत्वका प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोंके पश्चात् वेदनाद्रव्यविधानकी चूलिका आती है। इसके आरम्भिक सूत्रमें चूलिकाकी उपयोगिता अथवा विषयका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि उत्कृष्ट स्वामित्वका कथन करते हुए कहा है कि 'बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानोंको प्राप्त करता है और जघन्य स्वामित्वका भी कथन करते हुए कहा है कि बहुत-बहुत बार जघन्य योगस्थानोंको प्राप्त होता है।' इन दोनों ही सूत्रोंका अर्थ भलीभाँति अवगत नहीं हो सका। इसलिए दोनों ही सूत्रोंका निश्चय करानेके लिए योगविषयक अल्पबहुत्व और प्रदेशविषयक अल्पबहुत्वका कथन किया जाता है। यथा—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग सबसे थोड़ा है ॥१४५॥ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग उससे असंख्यात गुणा है ॥१४६॥ उससे दो इन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यात गुणा है ॥ १४७॥ उससे तेइन्द्रिय

अपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यातगुणा है ॥१४८॥ उससे चौइन्द्रिय अपर्याप्तक-का जघन्य योग असंख्यात गुणा है ॥१४९॥ इत्यादि।

जिस प्रकार योगविषयक अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार प्रदेशविषयक अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करनेका निर्देश सूत्रकारने किया है।

योगस्थानकी प्ररूपणाके लिए इन दस अनुयोगद्वारोंको जानने योग्य कहा है—

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ॥१७६॥ और आगे इनका कथन किया है। यथा—

एक-एक जीवप्रदेशमें असंख्यातलोकप्रमाण योग-अविभागप्रतिच्छेद होते हैं ॥१७८॥ असंख्यातलोकप्रमाण योगअविभागप्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है ॥१८०॥ असंख्यात वर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है ॥१८२॥ इस प्रकार एक योगस्थानमें श्रेणिके असंख्यातवें भाग मात्र स्पर्धक होते है ॥१८३॥ (दूसरे शब्दोंमें) श्रेणिके असंख्यातवें भाग स्पर्धकोंका एक जघन्य योगस्थान होता है ॥१८६॥

अनन्तरोपनिधाके अनुसार जघन्य योगस्थानमें थोड़े स्पर्धक है ॥१८८॥ दूसरे योगस्थानमें स्पर्धक विशेष अधिक हैं ॥१८९॥ तीसरे योगस्थानमें स्पर्धक विशेष अधिक है ॥१९०॥ इस प्रकार उत्कृष्ट योगस्थानपर्यन्त उत्तरोत्तर विशेष अधिक स्पर्धक होते गये है ॥१०१॥

समयप्ररूपणाके अनुसार चार समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असं-ख्यातवें भागमात्र है ॥१९७॥ पाँच समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग है ॥१९८॥ इसी तरह छै समय, सात समय और आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग है ॥१९९॥

अल्पबहुत्वके अनुसार आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान सबसे थोड़े हैं ॥२०६॥ सात समय तक होनेवाले योगस्थान उनसे असंख्यातगुणे हैं। इसी तरह क्रमशः ६, ५, ४ आदि समय तक होनेवाले योगस्थान उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे जानना चाहिये।

वेदनाद्रव्यविधानके अन्तिम सूत्रमें कहा है कि जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेश-बन्धस्थान हैं। अर्थात् प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान ही हैं। जैसा उत्कृष्ट या जघन्य योगस्थान होता है तदनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोंका उत्कृष्ट या जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। और प्रदेशबन्धके अनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट या जघन्य द्रव्यवेदना होती है। इसीसे वेदनामें योगस्थान और उनके अवयवों—वर्गणा आदिका कथन किया गया है।

योग जीवकी एक शक्तिविशेष है, जो कर्मोंके आगमनमें कारण होती है। शक्तिके अविभागी अंशको अविभागीप्रतिच्छेद कहते हैं और उनके समूहको वर्गणा, वर्गणाके समूहको स्पर्धक कहते हैं।

५. वेदनाक्षेत्रविधान—आठों कर्मोंके द्रव्यकी वेदना संज्ञा है। वेदनाके क्षेत्रको वेदनाक्षेत्र और उसके विधानको वेदनाक्षेत्रविधान कहते हैं। इसमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं।

पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व।

वेदनाद्रव्यविधानकी ही तरह वेदनाक्षेत्रविधानका भी कथन किया गया है। पदमीमांसामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयकर्मकी क्षेत्रकी अपेक्षा वेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है, और अजघन्य भी है। इसीप्रकार सातों कर्मोंको जानना।

स्वामित्वके दो प्रकार है जघन्यपदरूप और उत्कृष्टपदरूप। स्वामित्वसे उत्कृष्टपदमें ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट किसके है ॥७॥ इस प्रश्नका समाधान करते हुए सूत्रकारने कहा है—'एक हजार योजनकी अवगाहना वाला जो मत्स्य स्वयंभुरमण समुद्रके बाह्य तट पर स्थित है ॥८॥ वह वेदना-समुद्घातसे समुद्घातको प्राप्त हुआ और तनुवातवलयको उसने स्पृष्ट किया है। फिर तीन मोडोंके साथ वह मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त हुआ। अनन्तर समयमें वह सातवें नरकमे उत्पन्न होगा। उसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। क्यों होती है, इसका समाधान धवलाटीकामें किया गया है।

इसी तरह ज्ञानावरणकी क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य वेदना सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य-पर्याप्तक जीवके बतलाई है।

अल्पबहुत्वमें भी तीन अनुयोगद्वार कहे हैं—जघन्यपद, उत्कृष्टपद और जघन्य-उत्कृष्टपद। और उनके द्वारा आठों कर्मोंकी उक्त वेदनाओंके अल्पबहुत्व-की प्ररूपणा की है।

६ वेदनाकालविधान[1]—इसमें भी पूर्ववत् तीन अनुयोगद्वार हैं। पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमांसामें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी वेदना कालकी अपेक्षा उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बतलाई है।

स्वामित्वमें, ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट आदि वेदना कालकी अपेक्षा किस-के होती है, यह पूर्ववत् बतलाया है। तथा ज्ञानावरणीयकी उत्कृष्ट वेदना कालकी अपेक्षा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके बतलाई है और वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कैसा होना चाहिये, उसका विस्तारसे कथन किया है। इसी तरह आठों कर्मोंकी वेदनाके

१. षट्खं०, पु० ११, पृ० ७५ से।

शेष सात कर्मोंकी जघन्य आबाधा सबसे थोड़ी है ।।१२४।। आबाधास्थान और आबाधाकाण्डक दोनों ही समान संख्यातगुणे हैं ।।१२५।।

उत्कृष्ट आबाधामेंसे एक समय कम जघन्य आबाधाको घटा देनेपर आबाधा स्थानोंकी उत्पत्ति होती है। अतः चूँकि जघन्य आबाधाकी अपेक्षा उत्कृष्ट आबाधा संख्यातगुणी है इसलिये आबाधास्थान भी उससे संख्यातगुणे हैं। और क्योंकि एक-एक आबाधास्थानसम्बन्धी जो पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिबन्धस्थान हैं उनकी आबाधाकाण्डक संज्ञा है। इसलिये आबाधास्थान और आबाधाकाण्डक दोनों समान हैं। इस तरहसे अल्पबहुत्वका विवेचन किया गया है।

दूसरी चूलिकामें—स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंकी प्ररूपणा तीन अनुयोगके द्वारा की गई है—

ये तीन अनुयोगद्वार हैं—जीवसमुदाहार, प्रकृतिसमुदाहार और स्थिति-समुदाहार।

स्थितिबन्धस्थानोंके कारणभूत संक्लेश-विशुद्धिस्थानोंको स्थितिबन्धाध्यवसाय-स्थान कहते हैं। असातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोंको संक्लेश कहते हैं और सातावेदनीयके बन्धयोग्य परिणामोंको विशुद्धिस्थान कहते हैं। ये संक्लेश-विशुद्धिस्थान स्थितिबन्धके मूल कारण हैं। इनका वर्णन यहाँ तीन अनुयोगद्वारोंसे किया गया है।

साता और असाताकी एक एक स्थितिमें इतने जीव हैं और इतने नहीं हैं, इस बातका ज्ञान प्रथम अनुयोगद्वार जीवसमुदाहारके द्वारा कराया गया है। यथा—
'ज्ञानावरणीयके बन्धक जीव दो प्रकारके हैं—सातबन्धक और असातबन्धक ।।१६६।।

सातबन्धकजीव तीन प्रकारके हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक।

असातबन्धकजीव तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुस्थानबन्धक।

आशय यह है कि साता या असातावेदनीयके बिना ज्ञानावरणीयका बन्ध नहीं होता। इसलिये ज्ञानावरणीयकर्मका बन्ध करनेवालोंके दो भेद कर दिये—सातवेद-नीयबन्धक और असातवेदनीयबन्धक। साताकी अनुभागशक्तिकी उपमा गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी गई है। गुड़के समान प्रथम भागको पहला स्थान, खांडके समान दूसरे भागको दूसरा स्थान, शक्करके समान तीसरे भागको तीसरा स्थान और अमृतके समान चौथे भागको चौथा स्थान कहा जाता है। इसी तरह दुःखदायी असाताके अनुभागको नीम, कांजीर, विष और हालाहलकी उपमा दी

गई है। नीमके समान प्रथम भागको पहला स्थान, कांजीरके समान दूसरे भाग-को दूसरा स्थान, विषके समान तीसरे भागको तीसरा स्थान और हालाहलके समान चतुर्थ भागको चौथा स्थान कहते हैं।

जिस साता अथवा असाताके अनुभागमें अपने-अपने उक्त चारों स्थान होते हैं वह अनुभागबन्ध चतुःस्थान कहा जाता है और उसको बाँधनेवाले जीव चतुःस्थान-बन्धक कहलाते हैं। इसीप्रकार त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक भी समझना चाहिये।

सातवेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध हैं ॥ १६९ ॥ त्रिस्थान-बन्धक संक्लिष्टतर (उत्कृष्ट कषायवाले) हैं ॥ १७० ॥ द्विस्थानबन्धक जीव उनसे संक्लिष्टतर हैं ॥ १७१ ॥

असातवेदनीयके द्विस्थानबंधक जीव सर्वविशुद्ध हैं ॥ १७२ ॥ त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं ॥१७३॥ चतुःस्थानबन्धक जीव उनसे संक्लिष्टतर हैं ॥१७४॥

सातवेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिको बाँधते हैं ॥१७५॥ साताके त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी मध्यम स्थितिको बाँधते हैं ॥ १७६ ॥ इत्यादि कथन जीवसमुदाहारमें किया गया है।

प्रकृतिसमुदाहारमें दो अनियोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगमके अनुसार ज्ञानावरणीयके असंख्यात लोकप्रमाण स्थितिबन्धाध्यव-सायस्थान हैं। इसीप्रकार शेष सात कर्मोंकी भी प्रमाणप्ररूपणा करना चाहिये। अल्पबहुत्वके अनुसार आयुकर्मके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान सबसे कम हैं। नाम और गोत्रकर्मके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान दोनों ही तुल्य असंख्यातगुणे हैं। ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय चारों कर्मोंके स्थितिबन्धाध्यवसाय-स्थान तुल्य हैं किन्तु नाम-गोत्रसे असंख्यातगुणे हैं। मोहनीयके स्थितिबन्धाध्यव-सायस्थान संख्यातगुणे हैं ॥ २४५ ॥

तीसरे स्थितिसमुदाहार अधिकारमें तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रगणना, अनुकृष्टि और तीव्रमन्दता ॥ २४६ ॥

प्रगणना अनुयोगद्वार 'अमुक अमुक स्थितिके बन्धके कारणभूत स्थितिबन्धा-ध्यवसायस्थान इतने इतने होते हैं' इसप्रकार स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंके प्रमाणकी प्ररूपणा करता है। यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिके स्थिति-बन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं ॥ २४७ ॥ द्वितीय स्थितिके स्थिति-बन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं ॥ २४८ ॥ तीसरी स्थितिके स्थिति-बन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं। इसप्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक असंख्यातलोक असंख्यातलोक प्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं ॥ २५० ॥

इसीप्रकार सातों कर्मोंके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंकी प्ररूपणा करना चाहिये ।। २५१ ।। इत्यादि ।

अनुकृष्टि अनुयोगद्वार प्रत्येक स्थितिके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंकी समानता व असमानताको बतलाता है। यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिमें जो स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं द्वितीय स्थितिमें वे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान भी हैं और अपूर्व भी हैं।

तीव्र-मन्दता अनुयोगद्वार जघन्य व उत्कृष्ट परिणामोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करता है। यथा — ज्ञानावरणीयका जघन्यस्थितिसम्बन्धी जघन्यस्थितिबन्धाध्यवसायस्थान सबसे मन्द अनुभागवाला है ।। २७२ ।। उसीका उत्कृष्ट स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान अनन्तगुणा है ।। २७३ ।। इत्यादि ।

७. वेदनाभावविधान[1]—चौथे वेदनानामक खण्डके वेदनाभावविधाननामक सप्तम अधिकारमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं—पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदोंकी मीमांसाको पदमीमांसा कहते हैं। यह पहला अनुयोगद्वार है। स्वामित्वसे यहाँ कर्मभावके स्वामित्वका ग्रहण किया गया है। यह दूसरा अनुयोगद्वार है। अल्पबहुत्वसे भी यहाँ कर्मभावके अल्पबहुत्वका ही ग्रहण किया गया है। यह तीसरा अनुयोगद्वार है।

पदमीमांसामें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंकी उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य भाववेदनाओंका विचार किया गया है। यथा—ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी होती है, अनुत्कृष्ट भी होती है, जघन्य भी होती है और अजघन्य भी होती है। इसी प्रकार शेष सातों कर्मोंकी भी जानना चाहिये।

स्वामित्वमें उत्कृष्ट आदि चार पदोंकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी भाववेदनाके स्वामीका कथन किया है। यथा—भावसे ज्ञानावरणीयकर्मकी उत्कृष्ट वेदना किसके होती है? पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि, सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त अवस्थाको प्राप्त, साकार उपयोगसे युक्त, जागृत और नियमसे उत्कृष्ट संक्लेशको प्राप्त जीवके द्वारा बाँधे गये उत्कृष्ट अनुभागका सत्त्व जिस जीवके होता है उसके ज्ञानावरणीय वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। चूँकि उक्त उत्कृष्ट अनुभागका सत्त्व एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त जीव जीवोंके यथायोग्य चारों गतियोंमेंसे किसी भी एक गतिमें वर्तमान रहते हुए होता है अतएव उक्त जीवके ज्ञानावरणीयकी वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। इसी प्रकारसे आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट आदि वेदनाओंके स्वामित्वका कथन किया गया है।

---

१. षट्खं०, पु १२ में ।

अल्पबहुत्वमें जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट पदोंके द्वारा पहले आठों मूल-कर्मोंके आश्रयसे अल्पबहुत्वका विचार किया है। फिर उत्तरप्रकृतियोंके आश्रयसे अनुभागके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है।

इस कथनमें उल्लेखनीय बात यह है कि पहले गाथासूत्रोंके द्वारा कथन किया गया है फिर गाथासूत्रोंमें प्रतिपादित कथनको गद्यात्मक सूत्रोंके द्वारा कहा गया है। धवलाटीकामें इन गाथासूत्रोंके आधारपर रचे गये गद्यात्मक सूत्रोंको चूर्णिसूत्र नाम दिया है। कसायपाहुडकी गाथाओंके ऊपर यतिवृषभ द्वारा रचे गये चूर्णिसूत्रोंकी तरह ही उन्हें यह संज्ञा दी गई है। ये गाथासूत्र छै हैं और तीन-तीनकी संख्यामें दो बार आये हैं। अर्थात् पहले तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये हैं और पुनः तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये हैं।

ये गाथाएँ प्राचीन प्रतीत होती हैं, इसीसे उन्हें ज्यों-का-त्यों देकर भूतबलीने अपने सूत्रोंके द्वारा उनमें कथित विषयका प्रतिपादन किया है।

अल्पबहुत्वानुगमके पश्चात् तीन चूलिकाएँ हैं।

प्रथमचूलिकाके प्रारम्भमें ये दो गाथाएँ हैं—

'सम्मत्तुप्पत्ती[1] वि य सावय विरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसंते ॥ ७ ॥
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणा य सेडीओ ॥ ८ ॥

'सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक, विरत (महाव्रती), अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षपक, चारित्रमोहका उपशामक, उपशान्तकषाय, क्षपक, क्षीणमोह, स्वस्थानजिन और योगनिरोधमें प्रवृत्त जिन इन ग्यारह स्थानोंमें उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। परन्तु निर्जराका काल उससे विपरीत है अर्थात् अन्तसे आदिकी ओर बढ़ता हुआ संख्यात गुणित श्रेणिरूप है।

इन दोनों गाथाओंको देकर सूत्रकारने गद्यसूत्रके द्वारा गाथोक्त विषयका प्रतिपादन किया है।

ये दोनों गाथाएँ दिगम्बर[2] तथा श्वेताम्बर साहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती है किन्तु इनकी सबसे प्राचीन उपलब्धि षट्खण्डागममें ही पाई जाती है क्योंकि अन्य जिन ग्रन्थोंमें ये दोनों गाथाएँ पाई जाती हैं उन सबमें कर्मप्रकृति[3] प्राचीन

१. षट्खं॰, पु॰ १२, पृ॰ ७८।
२. कार्ति॰ अनु॰, गा॰, गो॰ जी॰ का॰ गा॰।
३. 'सम्मत्तुप्पत्तिसावयविरए संजोयणाविणासे य। दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगुव-

है। किन्तु कर्मप्रकृति षट्खण्डागमसे अर्वाचीन है और उसमें थोड़ा-सा शब्द-भेद भी है। इन्हीं गाथाओंके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रमें[1] भी एक सूत्र द्वारा उक्त विषयका प्रतिपादन किया गया है। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टिसे भी उक्त दोनों गाथाओंकी स्थिति उल्लेखनीय है।

दूसरी चूलिका

दूसरी चूलिकामें[2] अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानकी प्ररूपणा बारह अनुयोग-द्वारोंके द्वारा की गई है। वे बारह अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं—अविभागीप्रति-च्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्य-प्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणा ॥१९८॥

एक-एक अनुभागबन्धस्थानमें इतने-इतने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, यह बतलानेके लिए अविभागीप्रतिच्छेदप्ररूपणा की गई है। एक परमाणुमें जो जघन्य अनुभाग पाया जाता है उसे अविभागीप्रतिच्छेद कहते हैं। यथा—जो जघन्य अनुभागस्थान है उसके सब परमाणुओंको एक जगह स्थापन करके, उनमेंसे सबसे मन्द अनुभाग वाले परमाणुको ग्रहण करो। उस परमाणुके रूप, रस और गन्धको छोड़कर केवल स्पर्शको ही बुद्धि द्वारा ग्रहण करो और बुद्धिके ही द्वारा उस स्पर्शगुणका तब तक छेद करो जब तक विभागरहित छेद हो सके। उसी विभागरहित अन्तिम छेदको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। उस अविभागप्रतिच्छेद रूपसे स्पर्शगुणके खण्डित करनेपर उसमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। उन सब अविभागी प्रतिच्छेदोंके समूहका नाम वर्ग है। पुनः उस परमाणुसमूहमेंसे उसी परमाणुके समान दूसरे परमाणुको ग्रहण करके उसके स्पर्शगुणके भी पूर्ववत् प्रज्ञाके द्वारा छेद करनेपर उतने ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। इस क्रमसे पूर्वपरमाणुके सदृश एक-एक परमाणुको लेकर प्रज्ञाके द्वारा उसके स्पर्शगुणके अविभागी प्रतिच्छेद करनेपर एक-एक वर्ग उत्पन्न होता है। जघन्यगुणवाले सब परमाणुओंके समाप्त होने तक यह क्रिया करनी होती है। इन सब वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं।

पुनः पूर्वोक्त परमाणुसमूहमेंसे एक परमाणुको ग्रहण करके प्रज्ञा द्वारा उसका छेद करनेपर उसमें पूर्वोक्त परमाणुसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते

संते ॥८॥ खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी। उदओ तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेढी ॥९॥ —कर्मप्र० उदया०।

१. 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।—त० सू० ९। ४५।

२. पु० १२, पृ० ८७ से।

है। यह एक वर्ग हुआ। इसे अलग स्थापित करना चाहिये। इसी क्रमसे उसके समान अन्य परमाणुओंको भी ग्रहण करके प्रत्येकका प्रज्ञाके द्वारा छेदन करनेपर तत्सदृश ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। उन सब वर्गोंके समूहकी दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अविभागी प्रतिच्छेदकी अधिकताके क्रमसे तीसरी, चौथी, पाँचवीं आदि वर्गणाओंको उत्पन्न करना चाहिये। इन सब वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते है। एक जघन्यस्थानमें ऐसे बहुतसे स्पर्द्धक होते हैं। इनका विस्तृत विवेचन धवलाटीकामें किया गया है। इस तरह अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणामें अविभागप्रतिच्छेदोंका कथन है। एक जीवमें एक समयमे जो कर्मानुभाग पाया जाता है उसे स्थान कहते हैं। स्थानके दो भेद हैं—अनुभागबन्धस्थान और अनुभागसत्त्वस्थान। उनका वर्णन स्थानप्ररूपणामें है। एक स्थानसे उसके अनन्तरवर्ती स्थानमें कितना अन्तर होता है, इसका कथन अन्तरप्ररूपणामें किया गया है।

छै वृद्धियाँ होती हैं—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि। काण्डकप्रमाण पूर्ववृद्धिके होनेपर एक बार उत्तरवृद्धि होती है। यथा—काण्डकप्रमाण अनन्तभागवृद्धिके होनेपर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है। और काण्डकप्रमाण असंख्यातभागवृद्धियोंके होनेपर एक बार संख्यातभागवृद्धि होती है। इस प्रकार अनन्तगुणवृद्धि तक यही क्रम जानना चाहिये। एक स्थानमें इन वृद्धियोंका विचार काण्डकप्ररूपणामें किया गया है।

ओजयुग्मप्ररूपणामे कहा गया है कि अविभागी प्रतिच्छेद कृतयुग्म हैं, स्थान कृतयुग्म है और काण्डक कृतयुग्म हैं। इसका खुलासा करते हुए धवलाकार श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है कि समस्त अनुभागस्थानोंके अविभागी प्रतिच्छेद कृतयुग्म हैं, क्योंकि उन्हें चारसे भाजित करनेपर कुछ शेष नहीं रहता। अतः विवक्षित राशिमे चारसे भाग देनेपर जहाँ कुछ शेष नही रहता या दो शेष रहते है उसे युग्म कहते हैं और जहाँ एक या तीन शेष रहते हैं उसे ओज कहते हैं।

उक्त सब प्ररूपणाओंका कथन सूत्रकारने तो केवल एक-एक सूत्रके द्वारा ही किया है। धवलाकारने प्रत्येकका व्याख्यान विस्तारसे करते हुए प्रत्येक प्ररूपणाका अभिप्राय व्यक्त किया है।

षट्स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिमें अनन्तसे जीवराशिका प्रमाण लेना चाहिये। असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धिमें असंख्यातसे असंख्यातलोकका प्रमाण लेना चाहिये। और संख्यातभागवृद्धि तथा संख्यातगुणवृद्धिमें संख्यातसे उत्कृष्टसंख्यात लेना चाहिये। अधस्तन-

स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि एक षट्स्थानवृद्धिमें अनन्तभागवृद्धि कितनी होती है, असंख्यातभागवृद्धि कितनी होती है, संख्यातभागवृद्धि कितनी होती है इत्यादिका कथन किया है।

समयप्ररूपणामें जघन्यअनुभागबन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टअनुभागबन्धस्थान तक जितने अनुभागबन्धस्थान हैं उनका प्रमाण बतलाकर उनमें परस्परमें अल्प-बहुत्व बतलाया है। यथा—आठ समय वाले अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान सबसे थोड़े हैं। सात समय वाले अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि।

वृद्धिप्ररूपणामें प्रथम तो यह बतलाया है कि अनुभागबन्धस्थानोंमें अनन्त-भागवृद्धि और अनन्तभागहानिसे लेकर छह वृद्धियाँ और छह हानियाँ होती हैं। फिर इन वृद्धि-हानियोंका काल बतलाया है कि अमुक वृद्धि और अमुक हानि इतने काल तक होती है। यथा—अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि कितने काल तक होती है? जघन्यसे एक समय तक और उत्कृष्टसे अन्तमुहूर्त काल तक होती हैं ॥२५२॥

यवमध्यप्ररूपणामें यवमध्यके दो भेद बताये हैं—कालयवमध्य और जीवयव-मध्य। यहाँ कालयवमध्यका कथन है। यद्यपि समयप्ररूपणासे ही कालयवमध्य सिद्ध है तथापि उस यवमध्यका प्रारम्भ और समाप्ति कौन-सी वृद्धि अथवा हानिमें हुई है, यह नहीं जाना जाता है। अतः उसका प्रारम्भ और समाप्ति इन वृद्धि-हानियोंमें हुई है, यह बतलानेके लिए यवमध्यप्ररूपणा की गई है। इसमें केवल एक सूत्र है।

पर्यवसानप्ररूपणामे बतलाया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवके जघन्यस्थानसे लेकर पहले कहे गये समस्त स्थानोंका पर्यवसान अनन्तगुणके ऊपर अनन्तगुणा होगा। इसमें भी एक ही सूत्र है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा अधिकारमें दो अनुयोगद्वार हैं—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधासे अनन्तगुणवृद्धिस्थान सबसे थोड़े हैं। उनसे असंख्यातगुणवृद्धिस्थान असंख्यातगुणे हैं। उनसे संख्यातगुणवृद्धिस्थान असंख्यात-गुणे हैं। उनसे संख्यातभागवृद्धिस्थान असंख्यातगुणे हैं। उनसे असंख्यातभागवृद्धि-स्थान असंख्यातगुणे हैं। उनसे अनन्तभागवृद्धिस्थान असंख्यातगुणे हैं। परम्परोप-निधामें अनन्तभागवृद्धिस्थान सबसे थोड़े हैं। उनसे असंख्यातभागवृद्धिस्थान असं-ख्यातगुणे हैं। उनसे संख्यातभागवृद्धिस्थान संख्यातगुणे हैं। उनसे संख्यातगुणवृद्धि-स्थान संख्यातगुणे हैं। उनसे असंख्यातगुणवृद्धिस्थान असंख्यातगुणे हैं। उनसे अनन्तगुणवृद्धिस्थान असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि कथन है।

तीसरी चूलिका—

तीसरी चूलिकामें जीवसमुदाहारका कथन है। पहले जिन असंख्यातलोक-

प्रमाण अनुभागबन्धस्थानोंकी प्ररूपणा की गई है उन सब स्थानोंमें जीव क्या सदृश होते हैं अथवा विसदृश होते हैं अथवा सदृश-विसदृश होते हैं ? इन प्रश्नोंका समाधान जीवसमुदाहारमें किया गया है। इसमें आठ अनुयोगद्वार हैं—एकस्थानजीवप्रमाणानुगम, निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, नानाजीवकालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ॥२६८॥

एकस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि एक-एक स्थानमे यदि जीव होते है तो एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टसे आवलीके असंख्यातवें भाग होते हैं ॥२६९॥

निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि निरन्तरजीवसहितस्थान उत्कृष्टसे आवलीके असंख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं ॥२७०॥

सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि जीवोंसे रहित अनुभागबन्धस्थान एक भी होता है, दो भी होते है, तीन भी होते है। इस तरह उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं ॥२७१॥

नानाजीवकालप्रमाणानुगममे बतलाया है कि एक-एक अनुभागबन्धस्थानमे नाना जीवोंका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलीके असंख्यातवें भाग है। वृद्धिप्ररूपणामें दो अनुयोगद्वार हैं—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधासे जघन्य अनुभागबन्धस्थानमे जीव सबसे थोड़े हैं ॥२७६॥ उनसे दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें जीव विशेष अधिक है ॥२७७॥ उनसे तीसरे अनुभागबन्धस्थानमे जीव विशेष अधिक हैं ॥२७८॥ इस प्रकार यवमध्य तक जीव विशेष-अधिक विशेष-अधिक हैं ॥२७९॥ इसके आगे जीव विशेषहीन हैं ॥२८०॥

इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तक जीव विशेषहीन विशेषहीन है। इसी प्रकार परम्परोपनिधासे कथन किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणामे बतलाया है कि सब स्थानोंके असंख्यातवें भागमें यवमध्य होता है। और यवमध्यके नीचेके स्थान थोड़े हैं और ऊपरके स्थान असंख्यातगुणे हैं।

स्पर्शनप्ररूपणामें उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान, जघन्य अनुभागबन्धस्थान, काण्डक और यवमध्य आदिका स्पर्शनकाल बतलाया है।

अल्पबहुत्वमें उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान, जघन्य अनुभागबन्धस्थान, काण्डक और यवमध्यमें स्थित जीवोंके अल्पबहुत्वका विचार किया गया है।

इस वेदनाभावविधानमें ३१४ सूत्र हैं।

८. वेदनाप्रत्ययविधान[1]

इस अनुयोगद्वारमें नैगम आदि नयोंके आश्रयसे ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों-

१. षट्खं०, पु० १२, पृ० २७५ से।

की वेदनाके बन्धके कारणोंका विचार किया गया है। यथा—नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना प्राणातिपात (प्राणीके प्राणोंका घातन) प्रत्ययसे, मृषावादप्रत्ययसे (असत्यवचन), अदत्तादानप्रत्ययसे (बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण), मैथुनप्रत्ययसे, परिग्रहप्रत्ययसे, रात्रिभोजनप्रत्ययसे, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययसे, निदानप्रत्ययसे, तथा अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माया, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग प्रत्ययसे होती है। प्रत्ययका अर्थ कारण है। अतः उक्त कारणोंसे ज्ञानावरणकी वेदना होती है। शेष सात कर्मोंकी वेदनाके प्रत्यय भी इसी प्रकार जानने चाहिए।

इनमें प्राणातिपात[1], मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पाँच पाप है, जिनका सर्वतः त्याग महाव्रत और एकदेश त्याग अणुव्रत कहलाता है। अभ्याख्यान[2], कलह आदिको अकलंकदेवने बारह भाषाओंके रूपमें गिनाया है।

वेदनाप्रत्ययविधानमें केवल १६ सूत्र हैं।

९. वेदनास्वामित्वविधान

इस अनुयोगद्वारके प्रथम सूत्र 'वेयणसामित्त[3] विहाणे त्ति' की धवलाटीकामें यह शंका की गई है कि जिस जीवके द्वारा जो कर्म बाँधा गया है वह जीव उस कर्मकी वेदनाका स्वामी है, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है, तब इस अनुयोगद्वार-की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है कि कर्मोंकी उत्पत्ति न केवल जीवसे होती है और न केवल अजीवसे होती है। किन्तु मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगको उत्पन्न करनेमें समर्थ पुद्गलद्रव्य और जीव कर्मबन्धके कारण है। अतः दो, तीन अथवा चार कारणोंसे उत्पन्न होकर जीवमें स्थित वेदना उनमेंसे एकके ही होती है, अन्यके नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः वेदनास्वामित्वका कथन करना उचित है।

वेदनास्वामित्वका विधान करते हुए कहा गया है कि नैगम और व्यवहार नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना कथञ्चित् जीवके होती है ॥२॥ कथञ्चित् नोजीवके होती है ॥३॥ धवलामें लिखा है कि अनन्तानन्त विस्रसोपचयोंसे

---

१. 'पंचमहव्वया पण्णत्ता, तं जहा—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, जाव सव्वातो परिग्गहातो वेरमणं। पंचाणुव्वता पण्णत्ता, तं जहा—थूलातो पाणाइवायातो वेरमणं थूलातो मुसावायातो वेरमणं थूलातो अदिन्नादाणातो वेरमणं सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे।'—स्थाना० स्था० ५, उ० १, सू० ३८९।

२. 'अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासम्बद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यक्‌मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा।'—त० वा०, पृ० ७५।

३. षट्खं०, पु० १२, पृ० २९४-२९५।

उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध कथञ्चित् जीव है, क्योंकि वह जीवसे भिन्न नहीं पाया जाता। इस विवक्षासे जीवके वेदना होती है। तथा अनन्तानन्तविस्रसोपचयोंसे उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध प्राणरहित होनेसे अथवा ज्ञान-दर्शनसे रहित होनेसे नोजीव है और उससे अभिन्न होनेसे जीव भी कथञ्चित् नोजीव है।

इस तरह जीव, नोजीव, अनेक जीव, अनेक नोजीव, एक जीव और एक अजीव, एक जीव और अनेक नोजीव, अनेक जीव और एक नोजीव, तथा अनेक जीव और अनेक नोजीवोंकी वेदनाका स्वामी उक्त दो नयोंसे बतलाया है। धवलाकारने प्रत्येक भंगका स्पष्टीकरण धवलाटीकामें किया है। इस तरह वेदनाके स्वामी जीव और पुद्गल दोनों होते हैं। संग्रहनयकी अपेक्षा वेदनाका स्वामी जीव है क्योंकि संग्रहनय जीव और अजीवका अभेद मानता है। इस अनुयोगद्वारमे केवल १५ सूत्र हैं।

१०. वेदनावेदनाविधान

जिसका वर्तमानमें वेदन किया जाता है या भविष्यमें वेदन किया जायगा, वह वेदना है। इस निरुक्तिके अनुसार आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धको वेदना कहा है। और अनुभवन करनेका नाम वेदना है। वेदनाकी वेदनाको वेदनावेदना कहते हैं अर्थात् आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धोंके अनुभवन करनेका नाम वेदना-वेदना है। उसके विधान—कथन करनेको वेदनावेदनाविधान[1] कहते हैं।

वेदनावेदनाका विधान करते हुए सूत्र २ के द्वारा कहा है कि नैगम नयकी अपेक्षा सभी कर्मको प्रकृति मानकर यह प्ररूपणा की जाती है। इस सूत्रकी धवला-में स्पष्टीकरण करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि नैगमनय बध्यमान (जो बंध रहा है), उदीर्ण (जो उदयमें आ गया है) और उपशान्त (जो सत्तामें स्थित है) इन तीनों ही कर्मोंकी वेदनासंज्ञा स्वीकार करता है। तदनु-सार कहा गया है कि ज्ञानावरणीयवेदना कथञ्चित् बध्यमानवेदना है, कथ-ञ्चित् उदीर्णवेदना है, कथञ्चित् उपशान्तवेदना है, इत्यादि अनेक भंगोंके द्वारा वेदनावेदनाका विधान कुछ विस्तारसे किया है। और धवलाटीकामें उन सब भंगोंके स्पष्टीकरणके साथ ही उनके अनेक अवान्तर भंगोंका भी कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमें ५८ सूत्र हैं।

११. वेदनागतिविधान

इस अनुयोगद्वारमें वेदनाकी गति अर्थात् गमनका कथन है। इसलिए इसे

---

१. 'का वेयणा? वेद्यते वेदिष्यत इति वेदनाशब्दसिद्धेः। अट्ठविहकम्मपोग्गलक्खंधो वेयणा ···अनुभवनं वेदना। वेदनाया वेदना वेदनावेदना अष्टकर्मपुद्गल-स्कन्धानुभव इत्यर्थः।—षट्खं०, पु० १२, पृ० ३०२।

वेदनागतिविधान नाम दिया है। पहले लिख आये हैं कि जीवके साथ सम्बद्ध कर्मपुद्गलस्कन्धोंकी वेदनासंज्ञा है। अत: योगके द्वारा जीवप्रदेशोंका संचरण होने-पर उनसे अभिन्न कर्मस्कन्धोंका भी संचार होता है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जायगा और कर्मप्रदेशोंको स्थित ही माना जायगा, तो देशान्तरमें गये हुए जीव-को सिद्धजीवके समान मानना होगा। क्योंकि पूर्वसंचित कर्म तो पूर्वस्थानमें ही स्थित हैं, उनका देशान्तरमें जाना संभव नहीं है। अत: जीव और कर्मके पार-तंत्र्यस्वरूप सम्बन्धको बतलानेके लिए और जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका हेतु योग ही है, इस बातको बतलानेके लिए इस अनुयोगद्वारका कथन किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहारनयोंकी अपेक्षा ज्ञाना-वरणीयवेदना कथञ्चित् स्थित है, क्योंकि जीवप्रदेशोंमें कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं। और उक्त वेदना कथञ्चित् स्थित-अस्थित है, क्योंकि छद्मस्थ जीवके जो प्रदेश जिस समय संचाररहित होते हैं उनमे स्थित कर्मप्रदेश भी स्थित होते है तथा जो प्रदेश संचार करते हैं उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी संचार करते हैं। चूँकि उसकी वेदना एक है, अत: वह वेदना स्थित-अस्थित कही जाती है। दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मोंकी वेदना भी ज्ञानावरणीयके समान स्थित और स्थित-अस्थित होती है। वेदनीयकर्मकी वेदना कथञ्चित् स्थित है क्योंकि चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवके प्रदेश अवस्थित रहते है। तथा वह कथञ्चित् अस्थित और कथञ्चित् स्थित-अस्थित है। नाम, गोत्र और आयुकर्मकी वेदना वेदनीयके तुल्य है क्योंकि ये सब कर्म अघातिया हैं। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा आठों कर्मोंकी वेदना कथञ्चित् स्थित और कथञ्चित् अस्थित है।

इस अनुयोगद्वारमें १२ सूत्र हैं।

१२. वेदनाअन्तरविधान[1]

वेदनावेदनाविधान अनुयोगद्वारमें यह कहा है कि बध्यमान कर्म भी वेदना है, उदीर्ण और उपशान्त कर्म भी वेदना है। उनमें जो बध्यमान कर्म है वह क्या बंधनेके समयमें ही पक कर अपना फल देता है अथवा द्वितीयादिक समयोंमें अपना फल देता है, यह बतलानेके लिये इस अनुयोगद्वारका अवतार हुआ है। बन्धके दो प्रकार हैं—अनन्तरबंध और परम्पराबन्ध। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके द्वारा कार्मणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्धोंके कर्मरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते हैं और बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर कर्मरूप पुद्गलस्कन्धों और जीवप्रदेशोंका जो बन्ध होता है उसे परम्परा-बन्ध कहते हैं।

---

१. षट्खं०, पु० १२, पृ० ३७० ।

इसमें बतलाया है कि नैगम और व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वेदना अनन्तरबन्ध है, परम्पराबन्ध है और तदुभयबन्ध है। संग्रह-नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वेदना अनन्तरबन्ध और परम्पराबन्ध है। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा आठों कर्मोंकी वेदना परम्पराबन्ध है।

इसमें ११ सूत्र हैं।

१२. वेदनासन्निकर्षविधान[1]

ज्ञानावरणादि कर्मोंकी वेदना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और जघन्य भी होती है। जघन्य तथा उत्कृष्ट भेदरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमेंसे किसी एकको विवक्षित करके उसमें शेष पद क्या उत्कृष्ट हैं, क्या अनुत्कृष्ट हैं, क्या जघन्य हैं, अथवा क्या अजघन्य हैं इस प्रकारकी जो परीक्षा की जाती है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। उसके दो भेद हैं—स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष और परस्थानवेदनासन्निकर्ष। किसी एक विवक्षित कर्मका जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव विषयक सन्निकर्ष होता है वह स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष है। और आठों कर्मविषयक सन्निकर्ष परस्थानवेदनासन्निकर्ष है।

स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष दो प्रकारका है—जघन्य और उत्कृष्ट। उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष चार प्रकारका है, द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे ॥ ॥

जिसके ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके वह क्षेत्र-की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ॥ ६ ॥ नियमसे अनुत्कृष्ट और असंख्यातगुणी हीन होती है ॥ ७ ॥ इसका खुलासा धवलाटीकामें किया है।

इसी तरह, जिसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रसे उत्कृष्ट होती है उसके वह द्रव्यकी अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है अथवा अनुत्कृष्ट? नियमसे अनुत्कृष्ट होती है ॥ १६ ॥

इत्यादि कथन है। इस अनुयोगद्वारमें ३२० सूत्र हैं।

१४. वेदनापरिमाणविधान

पहले द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन करके आठ ही प्रकृतियाँ कही हैं। तथा उन आठों प्रकृतियोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिके प्रमाणकी भी प्ररूपणा की है। यहाँ पर्यायार्थिकनयका अवलम्बन करके प्रकृतियोंके परिमाणका कथन किया गया है। इसमें यह तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्याश्रय ॥ २ ॥

प्रकृतिभेदसे कर्मभेदकी प्ररूपणा पहला अधिकार है। एक समयमें जो बाँधा जाता है वह समयप्रबद्ध है। समयप्रबद्धोंके भेदसे प्रकृतिभेदकी प्ररूपणा दूसरा

1. षट्खं०, पु० १२, पृ० ३७५।

अधिकार है और क्षेत्रभेदसे प्रकृतिभेदका कथन करनेवाला तीसरा अधिकार है।

इस प्रकार वेदनापरिमाणकी प्ररूपणा तीन प्रकारसे की है।

यथा—प्रकृत्यर्थता-अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म-की कितनी प्रकृतियाँ हैं? ॥३॥

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकर्मोंकी असंख्यातलोकप्रमाण प्रकृतियाँ हैं ॥४॥

आशय यह है कि जितने ज्ञानके भेद हैं उतनी ही कर्मकी आवरणशक्तियाँ हैं। उनके बिना असंख्यातलोकप्रमाण ज्ञान नहीं बन सकते। तथा सब ज्ञान दर्शन-पूर्वक ही होते हैं और जितने दर्शन हैं उतनी ही दर्शनावरणकी आवरणशक्तियाँ हैं। इस प्रकारसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी प्रकृतियाँ असंख्यातलोक-प्रमाण हैं।

वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं ॥७॥ मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं ॥१०॥ आयुकर्मकी चार प्रकृतियाँ हैं ॥१३॥ नामकर्मकी असंख्यातलोकमात्र प्रकृतियाँ हैं ॥१६॥ गोत्रकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं ॥१९॥ अन्तरायकर्मकी पाँच प्रकृतियाँ हैं ॥२२॥

समयप्रबद्धार्थता-अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्त-रायकर्मकी कितनी प्रकृतियाँ हैं? ॥२५॥ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्त-रायकर्मकी एक-एक प्रकृति, तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमोंको समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो, उतनी है ॥२६॥

आशय यह है कि इन तीनों कर्मोंकी स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है। उसके अन्तिम समयमें कर्मस्थितिप्रमाण समयप्रबद्ध होते हैं, क्योंकि कर्म-स्थितिके प्रथम समयसे लेकर उसके अन्तिम समय तक बाँधे गये समयप्रबद्धोंके एक परमाणुसे लेकर अनन्तपरमाणु तक कर्मस्थितिके अन्तिम समयमें पाये जाते हैं। कालभेदसे प्रकृतिभेदको प्राप्त हुए इन समयप्रबद्धोंका संकलन करनेपर एक समयप्रबद्धकी शलाकाओंको स्थापित करके उसे तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमोंसे गुणित करनेपर उतनी मात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायमेंसे एक-एक कर्मकी प्रकृतियाँ होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मकी स्थितिको उसकी समय-प्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर प्रत्येक कर्मकी प्रकृतियाँ जाननी चाहिये। आयुकर्म इसका अपवाद है। अन्तर्मुहूर्तकालको समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उतनी ही आयुकर्मकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं, क्योंकि आयुकर्मका बन्ध सदा नहीं होता।

इसी तरह क्षेत्रप्रत्यास अधिकारमें क्षेत्रप्रत्याससे गुणा करके प्रकृतियोंको लाया गया है। वीरसेनस्वामीने धवलामें[1] लिखा है कि—प्रकृत्यर्थतामें ज्ञानावरणकी जिन प्रकृतियोंकी प्ररूपणा की गई है उनको अपनी-अपनी समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर समयप्रबद्धार्थता प्रकृतियाँ होती हैं। फिर उनको क्षेत्रप्रत्याससे गुणित करनेपर क्षेत्रप्रत्यास सम्बन्धी प्रकृतियाँ होती हैं। इसमें ५३ सूत्र हैं।

१५. वेदनाभागाभागविधान

इसमें भी तीन अनुयोगद्वार है—प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास। इन तीनोंकी अपेक्षा अलग-अलग ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतियोंके भागाभागका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया है। यथा—प्रकृत्यर्थताकी अपेक्षा ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी प्रकृतियाँ अलग-अलग सब प्रकृतियोंके कुछ कम दो भागप्रमाण हैं। शेष छः कर्मोंमेंसे प्रत्येककी प्रकृतियाँ असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। इसी प्रकार समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यासकी अपेक्षा भी किस कर्मकी प्रकृतियाँ सब प्रकृतियोंके कितने भागप्रमाण है, इसका कथन किया है।

इसमें २१ सूत्र हैं।

१६. वेदनाअल्पबहुत्वविधान

इसमे भी प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यासकी अपेक्षा अलग-अलग ज्ञानावरणादि कर्मोंके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है। यथा—'प्रकृत्यर्थताकी अपेक्षा गोत्रकर्मकी प्रकृतियाँ सबसे थोड़ी हैं ॥३॥ वेदनीयकर्मकी भी उतनी ही प्रकृतियाँ है ॥४॥' 'समयप्रबद्धार्थताकी अपेक्षा आयुकर्मकी प्रकृतियाँ सबसे थोडी हैं ॥११॥' 'गोत्रकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे असंख्यातगुणी हैं ॥१२॥' 'वदनीयकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक हैं ॥१३॥'

'क्षेत्रप्रत्यासकी अपेक्षा अन्तरायकर्मकी प्रकृतियाँ सबसे थोड़ी हैं ॥१९॥' मोहनीयकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे संख्यातगुणी हैं ॥२०॥ आयुकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे असंख्यातगुणी हैं ॥२१॥' इत्यादि।

इसमें २६ सूत्र हैं।

इन सोलह अनुयोगद्वारोंके साथ वेदनाखण्ड समाप्त होता है।

४. वर्गणाखण्ड

स्पर्शअनुयोगद्वार[2]

वर्गणाखण्डका प्रारम्भ स्पर्शअनुयोगद्वारसे होता है। इस अनुयोगद्वारमें १६

---

१. षट्खं०, पु० १२, पृ० ४९८।

२. वही, पु० १३, पृ० १ से।

अवान्तर अनुयोगद्वार हैं—स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान, स्पर्शक्षेत्रविधान, स्पर्शकालविधान, स्पर्शभावविधान, स्पर्शप्रत्ययविधान, स्पर्शस्वामित्वविधान, स्पर्शस्पर्शविधान, स्पर्शगतिविधान, स्पर्शअनन्तरविधान, स्पर्शसन्निकर्षविधान, स्पर्शपरिमाणविधान, स्पर्शभागाभागविधान और स्पर्शअल्पबहुत्व ।

इनमेंसे केवल स्पर्शनिक्षेप और स्पर्शनयविभाषणताका ही वर्णन स्पर्शअनुयोगद्वारमें किया गया है ।

स्पर्शनिक्षेपका कथन करते हुए सूत्रकार भूतबलीने स्पर्शनिक्षेपके तेरह प्रकार बतलाये हैं—नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरक्षेत्रस्पर्श देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श ।

तदनन्तर उनका अर्थ न कहकर सूत्रकारने नयोंके द्वारा स्पर्शोंका कथन दो गाथाओंसे किया है । गाथाओं द्वारा बतलाया है कि ये सब स्पर्श नैगमनयके विषय हैं । किन्तु व्यवहारनय और संग्रहनय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शको नहीं स्वीकार करते । ऋजुसूत्र एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शको स्वीकार नहीं करता । तथा शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्शको ही स्वीकार करता है ।।७-८।।

वीरसेनस्वामीने धवलाटीकामें इसपर प्रकाश डाला है कि क्यों अमुक नय अमुक स्पर्शको ही विषय करता है और अमुक स्पर्शको विषय नहीं करता ।

स्पर्शनिक्षेपमें नययोजना करनेके पश्चात् सूत्रकारने स्पर्शनिक्षेपके तेरह प्रकारोंका अर्थ बतलाया है—

जिस जीव या अजीवका स्पर्श नाम रखा जाता है वह नामस्पर्श है । काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमें स्पर्शकी स्थापना स्थापनास्पर्श है । एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ स्पर्शको प्राप्त होना द्रव्यस्पर्श है ।।१२।। इसकी धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने द्रव्यस्पर्शके ६३ विकल्पोंका कथन किया है ।

जो द्रव्य एक क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है ।।१४।। जैसे एकआकाशप्रदेशमे स्थित पुद्गलस्कन्धोंका जो स्पर्श होता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है । जो द्रव्य अनन्तर क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श है ।।१६।।

जो द्रव्य एक देशरूपसे अन्य द्रव्यके अवयवके साथ स्पर्श करता है वह देशस्पर्श है ।।१८।। जो द्रव्य त्वचा (छाल) या नोत्वचा (ऊपरी पपड़ी) को स्पर्श करता है वह त्वक्स्पर्श है ।।२०।। जो द्रव्य सबका सब सर्वात्मना स्पर्श करता है वह सर्वस्पर्श है, जैसे परमाणु ।।२२।। कर्कश, मृदु, आदि आठ प्रकारका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है ।।२४।।

आशय यह है कि जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते हैं, जैसे कोमलता आदि। और जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे भी स्पर्श कहते हैं, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय। इन दोनोंका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है। और वह आठ प्रकारका है।

कर्मोंका कर्मोंके साथ जो स्पर्श होता है वह कर्मस्पर्श है। उसके ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं। धवलाटीकामें[1] कर्मस्पर्शके भेदोंका विवेचन विस्तारसे किया है।

बन्धस्पर्शके पाँच भेद हैं—औदारिकशरीरबन्धस्पर्श, वैक्रियिकशरीरबन्ध-स्पर्श, आहारकशरीरबन्धस्पर्श, तैजसशरीरबन्धस्पर्श और कार्मणशरीरबन्धस्पर्श। धवलाटीकामें[2] इन पाँचोंके २३ भंग बतलाये हैं, जिनमें १४ अपुनरुक्त हैं, शेष नौ पुनरुक्त हैं।

विष, कूट (चूहेदान), यंत्र, पिंजरा, कन्दक (हाथी पकड़नेका यंत्र) वागुरा (हिरण फँसानेकी फांसा) आदि तथा इनके कर्ता और इन्हें इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवाले, जो स्पर्शनके योग्य होंगे परन्तु अभी उसे स्पर्श नहीं करते, उन सबको भव्यस्पर्श करते हैं ॥३०॥

आशय यह है कि जो पर्याय भविष्यमें होने वाली होती है उसे भव्य या भावी कहते हैं। अतः जो भविष्यमें स्पर्शपर्यायसे युक्त होगा वह भव्यस्पर्श है। उक्त यंत्रादिका निर्माण पशुओंको पकड़नेके लिए किया जाता है। अतः चूँकि भविष्यमें वे पशुओंका स्पर्श करेंगे, अतः उन्हें भव्यस्पर्श कहा है। इसी तरह कारणमें कार्यका उपचार करके उनके निर्माताओंको और उन्हें इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवालोंको भी भव्यस्पर्श कहा है। जो स्पर्शप्राभृतका ज्ञाता उसमें उपयुक्त है वह भावस्पर्श है ॥३२॥

इन तेरह प्रकारके स्पर्शोंमेंसे प्रकृत स्पर्शअनुयोगद्वारमें 'कर्मस्पर्श' लिया गया है ॥३३॥

इसमें ३३ सूत्र हैं।

कर्मअनुयोगद्वार

इसमें १६ अनुयोगद्वार हैं—कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता, कर्मनामविधान, कर्मद्रव्यविधान, कर्मक्षेत्रविधान, कर्मकालविधान, कर्मभावविधान, कर्मप्रत्ययविधान, कर्मस्वामित्वविधान, कर्मकर्मविधान, कर्मगतिविधान, कर्मअनन्तरविधान, कर्म-सन्निकर्षविधान, कर्मपरिमाणविधान, कर्मभागाभागविधान, कर्मअल्पबहुत्व।

कर्मनिक्षेपके दस भेद हैं—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ॥४॥

---

१. षट्खं०, पु० १३, पृ० २६-२९।
२. वही, पृ० ३१-३३।

जिस जीव या अजीवका कर्म नाम रखा जाता है, वह नामकर्म है ॥१०॥ काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमें यह कर्म है, इस प्रकारकी स्थापनाको स्थापनाकर्म कहते हैं ॥१२॥ जो द्रव्य अपनी-अपनी स्वाभाविक क्रियारूपसे निष्पन्न हैं वह सब द्रव्यकर्म है, जैसे जीवद्रव्यका ज्ञानादिरूपसे परिणमन और पुद्गलद्रव्यका रूप-रसादिरूपसे परिणमन उनकी स्वाभाविक क्रिया है।

प्रयोगकर्मके तीन भेद है—मनःप्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोग-कर्म ॥१६॥ यह प्रयोगकर्म संसारदशामें वर्तमान पहलेसे बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंके तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली जीवोंके होता है ॥१७॥

कार्मणपुद्गलोंका मिथ्यात्व, असंयम, योग और कषायके निमित्तसे आठकर्म-रूप, सातकर्मरूप या छहकर्मरूप भेद करना समवदानकर्म है ॥२०॥

जो उपद्रावण (उपद्रव करना), विद्रावण (अंगछेदन आदि करना), परिता-पन (सन्ताप उत्पन्न करना) और आरम्भ (प्राणियोंके प्राणोंका घात करना) रूप कार्यसे निष्पन्न होता है वह अधःकर्म है ॥२२॥

ईर्याका अर्थ योग है। योगमात्रसे जो कर्म बंधता है वह ईर्यापथकर्म है। वह छद्मस्थ वीतरागोंके और सयोगकेवलियोंके होता है। धवलाटीकामें[1] इसका विवेचन थोड़ा विस्तारसे किया है।

बारह प्रकारके अभ्यन्तर और बाह्य तपको तपःकर्म कहते है ॥२६॥ धवला-टीकामें[2] तपोंका विस्तृत वर्णन है।

आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार करना, तीन बार नमस्कार, चार बार सिर नवाना और बारह आवर्त यह सब क्रियाकर्म है ॥२८॥

अर्थात् ये क्रियाकर्मके छै प्रकार हैं। क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना चाहिये, पराधीन नहीं। वन्दना करते समय गुरु, जिन और जिनालयकी प्रद-क्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है। तीनों सन्ध्याकालोंमें वन्दनाका नियम करनेके लिये तीन बार करना कहा हैं।

पैर धोकर शुद्ध मनसे जिनेन्द्रदेवके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकितवदन होकर जिनेन्द्रके आगे नमना प्रथम नमस्कार है। पुनः उठकर विनन्ति करके नमना दूसरा नमस्कार है। फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धि करके कषायसहित कायका उत्सर्ग करके, जिनके अनन्तगुणोंका ध्यान करके, चौबीस तीर्थङ्करोंकी वन्दना करके, फिर जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके

---

१. षट्खं०, पु० १३, पृ० ४८-५४।
२, वही, पु० १३, ५४-८८।

पृथ्वी पर नत होना तीसरा नमस्कार है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म करते समय तीन नमस्कार होते हैं।

सब क्रियाकर्मोंमें चार बार सिर नमाया जाता है। सामायिकके आदिमें, फिर उसके अन्तमें, फिर 'थोस्सामि' दण्डकके आदिमें और फिर अन्तमें। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें चार बार सिर नमाया जाता है।

सामायिक और 'थोस्सामि' दण्डकके आदि और अन्तमें मन-वचन-कायकी विशुद्धिके परावर्तनके बारह बार होते हैं। इसलिये एक क्रियाकर्म बारह आवर्तों-से युक्त होता है। यह सब क्रियाकर्म है।

कर्मप्राभृतका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त होता है उसे भावकर्म कहते हैं।

कर्मके इन भेदोंमेंसे यहाँ समवदानकर्मसे प्रयोजन है, क्योंकि कर्म अनुयोगद्वार-में समवदानकर्मका ही विस्तारसे कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमें ३१ सूत्र[1] हैं। ३१वें सूत्रकी धवलाटीकामें श्रीवीरसेन-स्वामीने लिखा है कि 'मूलतंत्रमें तो प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथ-कर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म प्रधान हैं, क्योंकि वहाँ इनका विस्तारसे कथन है।

यहाँ इन छै कर्मोंको आधार मानकर सत्, द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्पर्शन, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगोंके द्वारा कथन करते हैं। तदनुसार लगभग सौ पृष्ठोंमें उन्होंने विस्तारसे कथन किया है।

सूत्रकार भूतबलिने तो कर्मानुयोगद्वारमें समवदानकर्मसे ही प्रयोजन बतलाया है। इसलिए मूलतंत्रसे अभिप्राय महाकर्मप्रकृतिप्राभृतसे जान पड़ता है। उसके अन्तर्गत कर्मानुयोगद्वारमें उक्त छै कर्मोंका वर्णन रहा होगा।

प्रकृति अनुयोगद्वार[2]

प्रकृति अनुयोगद्वारके अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं— प्रकृतिनिक्षेप, प्रकृतिनयविभाषणता, प्रकृतिनामविधान, प्रकृतिद्रव्यविधान, प्रकृतिक्षेत्रविधान, प्रकृतिकालविधान, प्रकृतिभावविधान, प्रकृतिप्रत्ययविधान, प्रकृतिस्वामित्वविधान, प्रकृतिप्रकृतिविधान, प्रकृतिगतिविधान, प्रकृतिअन्तरविधान, प्रकृतिसन्निकर्षविधान, प्रकृतिपरिमाणविधान, प्रकृतिभागविधान और प्रकृतिअल्पबहुत्वविधान ॥ २ ॥

१, 'एदेसि कम्माणं केण कम्मेण पयदं ? समोदाणकम्मेण पयदं ॥३१॥
(धव)—कुदो ? कम्माणियोगद्दारम्मि समोदाणकम्मस्सेव वित्थरेण परूविदत्तादो। ...
मूलतंते पुण पयोगकम्म-समोदाणकम्म-आधाकम्म-इरियावथकम्म-तवोकम्म-किरियाकम्माणि पधाणं तत्थ वित्थरेण परूविदत्तादो—षट्खं०, पु० १३, पृ० ९० ।

२, वही, पु० १३, पृ० १९७ से ।

प्रकृतिनिक्षेपके चार प्रकार हैं—नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति ॥४॥ इनमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहारनय सबको स्वीकार करते हैं ॥६॥ ऋजुसूत्रनय स्थापनाप्रकृतिको नहीं चाहता ॥७॥ शब्दनय नाम-प्रकृति और भावप्रकृतिको स्वीकार करता है ॥८॥ जिस जीव या अजीवका 'प्रकृति' नाम किया जाता है वह नामप्रकृति है ॥९॥ काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदि-में 'यह प्रकृति है' ऐसी स्थापनाको प्रकृति कहते हैं ॥१०॥ द्रव्यप्रकृतिके दो भेद हैं—आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति ॥११॥ आगमद्रव्यप्रकृतिके अर्था-धिकार इस प्रकार हैं—स्थित, जित, परिजित, वाचनोगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रंथ-सम, नामसम और घोषसम ॥१२॥

वेदनाखण्डके कृति अनुयोगद्वारमें भी इन सबका कथन आ चुका है।

नोआगमद्रव्य प्रकृतिके दो प्रकार हैं—कर्मप्रकृति और नोकर्मप्रकृति ॥१५॥ घट, थाली, सकोरा, अरंजण और उलुंचण आदि विविध भाजनविशेषोंकी मिट्टी प्रकृति है। धान 'तप्पण' (तर्पण) आदि की जौ और गेहूँ प्रकृति है।[1] सब नोकर्मप्रकृति हैं ॥१८॥ कर्मप्रकृतिके ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं ॥१९। और ज्ञानावरणीयके आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय आदि पांच भेद हैं ॥२१॥

पहले कहा है कि जितने ज्ञानके भेद हैं उतनी ही ज्ञानको आवृत करनेवाले ज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ है। इस प्रकृतिअनुयोगद्वारमें सूत्रकारसे ज्ञानके भेदोंका आलम्बन लेकर ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोंका कथन किया है। यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय कर्मके चार, चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेद जानने चाहिये ॥२२॥ अवग्रहावरणीय, ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय ये चार भेद हैं ॥२३॥ अवग्रहावरणीय कर्मके दो भेद हैं—अर्थावग्रहावरणीय, और व्यञ्जनावग्रहावरणीय ॥२४॥ व्यञ्जनावग्रह केवल चार इन्द्रियोंसे होता है, अतः व्यञ्जनावग्रहावरणीय कर्मके भी चार भेद हैं। अर्थावग्रह पाँचों इन्द्रियों और मनसे होता है, अतः अर्थावग्रहावरणीय कर्मके छै भेद हैं। इसी तरह ईहा-वरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय कर्मोंके भी छै-छै भेद होते हैं, क्योंकि ये चारो ज्ञान इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होते हैं।

उक्त चारों ज्ञानोंको छहों इन्द्रियोंसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौबीस भेद होते है और उनके आवरण भी २४ ही होते हैं। इन चौबीस भेदोंमें जिह्वा, स्पर्शन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय सम्बन्धी चार व्यञ्जनावग्रहोंके मिलानेपर आभिनिबोधिक

---

१. 'घडपिढरसरावारंजणोलुंचणादीणं विविहभायणविसेसाणं मट्टिया पयडी, धाणतप्पणादीणं च जवगोधूमा पयडी, सा सव्वा णोकम्मपयडी णाम ॥१८॥—पु. १३, पृ. २०४-२०५।

ज्ञानके २८ भेद होते हैं और उतने ही उनके आवरणोंके भी भेद होते हैं। इनमें चार मूल भेदोंके मिलाने पर बत्तीस आभिनिबोधिक ज्ञानके भेद और उतने ही उनके आवरणोंके भी भेद होते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञानके ये भेद चार, चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस होते हैं।

ये ज्ञान बारह प्रकारके पदार्थोंको विषय करते हैं। वे हैं बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव, तथा इनके प्रतिपक्षी—एक, एकविध, चिर, निसृत, उक्त, अध्रुव। अतः उक्त चौबीस भेदोंको छैसे गुणा करने पर आभिनिबोधिक-ज्ञानके एकसौ चवालीस भेद होते हैं। उक्त अट्ठाईस भेदोंको छैसे गुणा करने पर १६८ भेद होते हैं। और उक्त बत्तीस भेदोंको छैसे गुणा करने पर १९२ भेद होते हैं। और उक्त चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेदोंको १२ से गुणा करने पर आभिनिबोधिकज्ञानके दोसौ अट्ठासी, तीनसौ छत्तीस और तीनसौ चौरासी भेद होते हैं। जितने ज्ञानके भेद हैं उतने ही उसके आवरणके भेद हैं। अतः आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयकर्मके भेदोंको बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—'इस प्रकार आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयकर्मके चार, चौबीस, अट्ठाईस, बत्तीस, अड़-तालीस, एकसौ चवालीस, एकसौ अड़सठ, एकसौ बानवे, दोसौ अठासी, तीन सौ छत्तीस, और तीनसौ चौरासी भेद होते हैं ॥३५॥

श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ बतलाते हुए कहा है—कि जितने अक्षर और अक्षरसंयोग हैं उतनी श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ हैं ॥४५॥

आशय यह है कि एक एक अक्षरसे श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अतः जितने अक्षर हैं उतने ही श्रुतज्ञान हैं। तेतीस व्यञ्जन, नौ स्वर अलग अलग ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस और चार अयोगवाह—जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और विसर्ग इस तरह चौंसठ मूल अक्षर हैं। इनके संयोगी अक्षरोंको लानेके लिए सूत्रकारने एक 'गणित-गाथा' दी है—

> संजोगावरणट्ठं चउसट्ठिं थावए दुवे रासीं।
> अण्णोण्णसमब्भासो रूवूणं णिद्दिसे गणिदे ॥४६॥

अर्थात् संयोगावरणोंको लानेके लिए चौंसठसंख्याप्रमाण दो राशि स्थापित करो—एक एकसे चौंसठ तक और दूसरी उसके नीचे चौंसठसे एक तक। दोनों-को परस्परमें गुणा करके जो लब्ध आवे उसमेंसे एक कम करनेपर कुल संयुक्ता-क्षरोंका प्रमाण होता है। इसके स्पष्टीकरणके लिये सूत्र ४६ की धवलाटीका देखना चाहिये।

उसी श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके बीस भेद बतलानेके लिये सूत्रकारने एक गाथा-सूत्र दिया है।

'पज्जय-अक्खर-पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइं ।
पाहुडपाहुड-वत्थू पुव्व समासा य बोधव्वा ॥१॥'

अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं ।

इन्हींको लेकर सूत्रकारने सूत्र ४८ में श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके बीस भेद गिनाये हैं । श्रुतज्ञानके इन भेदोंके विवेचनके लिये धवलाटीका देखना चाहिये ।

श्वेताम्बरीय नन्दिसूत्रमें ज्ञानकी सुन्दर चर्चा है । किन्तु श्रुतज्ञानके इन बीस भेदोंका कोई संकेत तक आगमिक परम्परामें नहीं मिलता । हाँ, कर्मग्रन्थमें एक गाथाके द्वारा श्रुतज्ञानके ये बीस भेद अवश्य गिनाये गये हैं ।

सूत्रकार भूतबलिने एक सूत्रके द्वारा श्रुतज्ञानके इकतालीस पर्यायशब्द गिनाये हैं । जो इस प्रकार हैं—प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियोंमें मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसन्निकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्र्य, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञानके पर्यायनाम हैं ॥५०॥ धवलामें इनका व्याख्यान किया है ।

अवधिज्ञानावरणीयकर्मकी असंख्यात प्रकृतियाँ बतलाते हुए अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय । भवप्रत्ययअवधिज्ञान देवनारकियोंके होता है और गुणप्रत्ययअवधिज्ञान तिर्यञ्चों और मनुष्योंके होता है ।

अवधिज्ञानके अनेक भेद हैं—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र ॥५६॥

जिसके अवधिज्ञान होता है उसके शरीरमें नाभिसे ऊपर श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि आकार बन जाते हैं । इन्हीं चिन्होंसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है । उन्हींके कारण उसे एक क्षेत्र या अनेक क्षेत्र कहते हैं ।

आगे गाथासूत्रोंके[1] द्वारा सूत्रकारने अवधिज्ञानके क्षेत्रसे सम्बद्ध कालका और कालसे सम्बद्ध क्षेत्रका, तथा देवोंके अवधिज्ञानके विषयका कथन किया है । सूत्र-गाथा १५ के द्वारा परमावधिज्ञानके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कथन किया

---

१. षट्खं०, धवला, पु० १३, पृ० ३०१-३२७ ।

है। गाथा नं० १७ के द्वारा जघन्य और उत्कृष्ट अवधिज्ञानके स्वामित्वका कथन किया है।

अवधिज्ञानसे सम्बद्ध ये गाथाएँ दिगम्बर परम्पराके साहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड[1] तो षट्खंडागम और उसकी टीका धवलाके आधार पर ही संगृहीत किया गया है, अतः उसमें तो कतिपय गाथाएँ यहींसे ली गई हैं।

महाबन्धके[2] आदिमें ये सब गाथाएँ थोड़ेसे व्यतिक्रमके साथ पायी जाती हैं। चूँकि महाबन्ध भूतबलीकी ही रचना है, अतः उनका वहाँ पाया जाना सम्भव है। गाथा नं० १२, १३, १४ तिलोयपण्णत्तिके[3] आठवें अधिकारमें पाई जाती हैं। गाथा नं० १२-१३, मूलाचारके[4] बारहवें अधिकारमें पाई जाती हैं। श्वेताम्बर परम्पराके नन्दिसूत्रमें भी ज्ञानकी चर्चा है। उसमें अवधिज्ञानके प्रकरणमें गाथाएँ (गा० नं० ५०, ५१, ५२, ५३, ५४) ऐसी हैं जो इस अनुयोगद्वारकी गा० ४-८ से मिलती हैं। कुछ पाठभेदके सिवाय और भेद नहीं है।

षट्खण्डागमके वेदना और वर्गणा खण्डमें जो सूत्ररूपमें गाथाएँ आई हैं, हमारा विश्वास है कि वे गाथाएँ प्राचीन होनी चाहिये। इसीसे भूतबलिने उन्हें ज्यों-का-त्यों अपने ग्रन्थमें सूत्ररूपमें रख लिया है। सम्भवतया इसीसे उनमेंसे कुछ गाथाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध होती हैं।

मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मकी दो प्रकृतियाँ—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरण और विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानावरण बतलाई हैं। उनके प्रसंगसे दोनों ज्ञानोंके स्वरूप, विषय आदिका कथन सूत्रकारने विस्तारसे किया है।

मनःपर्ययज्ञानका विषय बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—'मनके द्वारा मानस-को जानकर मनःपर्ययज्ञान दूसरोंकी संज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, नगरविनाश, देशविनाश, जनपदविनाश, खेटविनाश, कर्वटविनाश, मंडबविनाश, पट्टनविनाश, द्रोणमुखविनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय और रोगरूप पदार्थोंको जानता है ॥६३॥

केवलज्ञानका वर्णन करते हुए लिखा है—'स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ

---

१. गो०जी०का०गा०, ४०३-४०६, ४०७, ४२५, ४२६, ४२९, ४३१।
२. म०बं०, भा० १, पृ० ७१-७४।
३. ति० प०, गा० ६८५, ६८६, ६८७।
४. मूलाचा० अधि० १२, गा० नं० १०७-११०।

जीवादि द्रव्योंका सम्मिलन), अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदिकर्म (अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायरूपसे सब द्रव्योंकी आदि), अरहःकर्म (सब द्रव्योंकी अनादिता), सब लोक, सब जीव, और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे एक साथ जानते-देखते हुए विहार करते हैं ॥८२॥

इस प्रकार प्रकृतिअनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोंके सम्बन्धसे ज्ञानके भेदोंकी मौलिक चर्चा है। यही चर्चा सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके प्रथम अध्यायमें आगत ज्ञानविषयक कथनका आधार है। इसका कथन इन ग्रन्थोंके प्रकरणमें किया जायगा। इसी प्रकार दर्शनावरणीय आदि कर्मोंकी प्रकृतियोंका कथन प्रकृतिअनुयोगद्वारमें किया गया है। अन्तमें कहा है कि इन प्रकृतियोंमेंसे यहाँ कर्मप्रकृतिका प्रकरण है।

बन्धनअनुयोगद्वार[1]

बन्धनअनुयोगद्वारको आरम्भ करते हुए सूत्रकारने बन्धनके चार भेद किये हैं—१. बन्ध, २. बन्धक, ३. बन्धनीय और ४. बन्धविधान ॥१॥

बन्धके चार भेद हैं—नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ॥२॥ नैगम, संग्रह और व्यवहारनय सब बन्धोंको स्वीकार करते हैं ॥४॥ ऋजुसूत्रनय स्थापनाबन्धको स्वीकार नहीं करता ॥५॥ शब्दनय नामबन्ध और भावबन्धको स्वीकार करता है ॥६॥

जिस जीव या अजीवका 'बन्ध' यह नाम रखा जाता है वह नामबन्ध है। काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमें 'यह बन्ध है' ऐसी स्थापना करना स्थापनाबन्ध है। भावबन्धके दो भेद हैं—आगम भावबन्ध और नोआगम भावबन्ध। यह सब वर्णन पूर्ववत् है।

नोआगम भावबन्धके दो भेद हैं—जीवभावबन्ध और अजीवभावबन्ध।

जीवभावबन्धके तीन भेद हैं—विपाकप्रत्ययिक, अविपाकप्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक ॥१४॥

कर्मोंके उदय और उदीरणाको विपाक कहते हैं। विपाक जिस भावका कारण होता है वह विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध है। और कर्मोंके उदय और उदीरणाके अभावको अथवा कर्मोंके उपशम वा, क्षयको अविपाक कहते हैं। अविपाक जिस भावका कारण है वह अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध है। और विपाक तथा अविपाकसे जो भाव उत्पन्न होता है वह तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध है।

'देवभाव, मनुष्यभाव, तिर्यञ्चभाव, नारकभाव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक-

---

१. षट्खं०, धवला०, पु० १४।

वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, दोष, मोह, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ललेश्या, असंयतभाव, अविरतभाव, अज्ञानभाव, मिथ्यादृष्टिभाव ये सब विपाकप्रत्ययिक अथवा औदयिक भाव हैं ॥१५॥

अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्धके दो प्रकार हैं—औपशमिक और क्षायिक ॥१६॥

उपशान्तक्रोध, उपशान्तमान, उपशान्तमाया, उपशान्तलोभ, उपशान्तराग, उपशान्तदोष, उपशान्तमोह, उपशान्तकषाय, वीतरागछद्मस्थ, औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र आदि जितने औपशमिक भाव हैं वे सब औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१७॥

क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणदोष, क्षीणमोह, क्षीणकषाय, वीतरागछद्मस्थ, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचरित्र, क्षायिकदानलब्धि, क्षायिकलाभलब्धि, क्षायिकभोगलब्धि, क्षायिकपरिभोगलब्धि, क्षायिकवीर्यलब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध, बुद्ध, परिनिर्वृत्ति, सर्वदुःखअन्तकृत्, इसी प्रकार अन्य भी जो क्षायिक भाव हैं वे सब क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१८॥

एकेन्द्रिय लब्धि, द्वीन्द्रिय लब्धि, त्रीन्द्रिय लब्धि, चतुरिन्द्रिय लब्धि, पञ्चेन्द्रिय लब्धि, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, सम्यक्मिथ्यात्वलब्धि, सम्यक्त्वलब्धि, संयमासंयमलब्धि, संयमलब्धि, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, परिभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, आचारधर, सूत्रकृद्धर, स्थानधर, समवायधर, व्याख्याप्रज्ञप्तिधर, नाथधर्मधर, उपासकाध्ययनधर, अन्तकृद्धर, अनुत्तरौपपादिकदशधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकसूत्रधर, दृष्टिवादधर, गणी, वाचक, दशपूर्वधर, चतुर्दशपूर्वधर ये तथा इसी प्रकारके अन्य जो क्षायोपशमिक भाव हैं वे सब तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१९॥

इसी प्रकार अजीवभावबन्धके भी तीन भेद करके विपाकप्रत्ययिक, अविपाक प्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक अजीवभावबन्धोंका कथन किया है।

द्रव्यबन्धके दो भेद हैं—आगमद्रव्यबन्ध और नोआगमद्रव्यबन्ध।

नोआगमद्रव्यबन्धके दो भेद हैं—प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध।

विस्रसाबन्धके दो भेद हैं—सादि और अनादि। धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकायदेश और धर्मास्तिकायप्रदेश, अधर्मास्तिक, अधर्मास्तिकदेश, और अधर्मास्तिकप्रदेश, आकाशास्तिक, आकाशास्तिदेश, आकाशास्तिप्रदेश, इन तीनों ही अस्तिकायोंका जो परस्पर प्रदेशबन्ध है वह अनादिविस्रसाबन्ध है ॥३१॥

सादिवैस्रसिकबन्ध कहते हैं—विसदृश स्निग्धता और विसदृश रूक्षतामें बन्ध होता है। और समस्निग्धता और समरूक्षतामें भेद होता है॥ अतः

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुक्खस्स ल्हुक्खेण दुराहिएण।

णिद्धस्स ल्हुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ॥३६॥

स्निग्ध पुद्गलका दो अधिक स्निग्ध पुद्गलके साथ और रूक्ष पुद्गलका दो अधिक रूक्ष पुद्गलके साथ बन्ध होता है तथा स्निग्धगुण पुद्गलका रूक्षगुण पुद्गलके साथ सम या विषम गुण होने पर बन्ध होता है, जघन्यगुणवालेका बंध नहीं होता।

उक्त गाथा श्वेताम्बर परम्परामें भी पाई जाती है। किन्तु द्वितीय पंक्तिके अर्थमें दोनोंमें मतभेद है। इसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

उक्त गाथासे पहले इस बन्धनअनुयोगद्वारमें दो सूत्र हैं—

'वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदाबंधो ॥ ३२ ॥ समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदो ॥ ३३ ॥

श्वेता० प्रज्ञापनामें भी ठीक इसी आशयको शब्दशः लिये हुए एक गाथा और तदनन्तर उक्त गाथा इस प्रकार आती है—

समणिद्धयाए बंधो न होति समलुक्खयाए वि ण होति।

वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाणं ॥ १ ॥

णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण।

निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥२॥

—प्रज्ञापना०, परि० पद १३, सू० १८५

पुद्गलोंके बन्धका स्वरूप बतलाकर आगे लिखा है—

'इस प्रकार ये पुद्गल बन्धनपरिणामको प्राप्त होकर अभ्ररूपसे, मेघरूपसे सन्ध्यारूपसे, बिजलीरूपसे, उल्कारूपसे, कनक (वज्र) रूपसे, दिशादाहरूपसे, धूमकेतुरूपसे, इन्द्रधनुषरूपसे, क्षेत्रके अनुसार, कालके अनुसार, ऋतुके अनुसार, अयनके अनुसार, पुद्गलके अनुसार, बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते हैं।'

ये सब तथा इनसे अन्य जो अमंगलप्रभृति बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते हैं वह सब सादिवैस्रसिक बन्ध है ॥३७॥

प्रयोगबन्धके दो भेद हैं—कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध। नोकर्मबन्धके पाँच भेद हैं—आलापनबन्ध, अल्लीवनबन्ध, संश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरिबन्ध ॥४०॥

शकटोंका, यानोंका, युगोंका,[1] गड्डियोंका[2], गिल्लियोंका, रथोंका, स्यन्दनों[3]-

---

१. जो घोड़े और खच्चरोंसे खींची जाती है।

२. हल्का भार ढोने वाली गाड़ी।

३. युद्धोपयोगी साधनोंसे सम्पन्न रथ।

का, शिविकाओंका, गृहोंका, प्रासादोंका, गोपुरोंका और तोरणोंका काष्ठसे, लोहसे, रस्सीसे, चमड़ेकी रस्सीसे, और दर्भसे जो बन्ध होता है वह आलापनबन्ध है ॥४१॥ कटकोंका (चटाईका), कुड्योंका, गोवरपिण्डोंका, प्राकारोंका और शाटिकाओंका, तथा इस प्रकारके अन्य द्रव्योंका जो बन्ध होता है वह अल्लीवण-बन्ध है ॥४२॥ लकड़ी और लाखके बन्धको संश्लेषबन्ध कहते हैं ॥४३॥ औदारिक आदि शरीरोंके बन्धको शरीरबन्ध कहते हैं।

जीवके आठ मध्य प्रदेशोंका जो परस्परमें प्रदेशबन्ध है वह अनादि शरीर-बन्ध है।

कर्मबन्धको कर्मानुयोगद्वारकी तरह जानना चाहिये ॥६४॥

इस बन्धनअनुयोगद्वारमें ६४ सूत्र हैं।

२. बन्धकअनियोगद्वार

बन्धकअनुयोगको खुद्दाबन्ध नामक दूसरे खण्डकी तरह जान लेना चाहिये। खुद्दाबन्धमें इसका कथन हो चुका है।

३. बन्धनीयअनुयोगद्वार

जो बन्धके योग्य होता है उसे बन्धनीय कहते हैं। पुद्गल बन्धनीय हैं क्योंकि पुद्गलोंके सिवाय अन्य कोई पदार्थ बन्धनीय नहीं है। वे बन्धनीय पुद्गल स्कन्ध-स्वरूप होते हैं। और वे स्कन्ध वर्गणारूप होते हैं। अत: बन्धनीयका कथन करते हुए वर्गणाका कथन अवश्य करना चाहिये।

वर्गणाओंके सम्बन्धमें आठ अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं—वर्गणा, वर्गणाद्रव्य-समुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व ॥६९॥

वर्गणा—वर्गणाअनुयोगद्वारके विषयमें ये सोलह अनुयोगद्वार हैं—वर्गणा-निक्षेप, वर्गणानयविभाषणता, वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणाओजयुग्मानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणा-अन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणाउपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगम और वर्गणाअल्पबहुत्व ॥७०॥

वर्गणानिक्षेप छै प्रकारका है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्र-वर्गणा, कालवर्गणा, और भाववर्गणा ॥७१॥ नैगम, संग्रह और व्यवहार सब वर्गणाओंको स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र स्थापनावर्गणाको स्वीकार नहीं करता। शब्दनय नामवर्गणा और भाववर्गणाको स्वीकार करता है। इस तरह सूत्रकारने वर्गणाके सोलह अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिके दो ही अनुयोगद्वारोंका कथन किया है।

आगे वर्गणाका कथन करते हुए २३ वर्गणाएँ बतलाई हैं, जो इसप्रकार हैं—

एकप्रदेशी परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा १, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी, पंचप्रदेशी, षट्प्रदेशी, सप्तप्रदेशी, अष्टप्रदेशी, नवप्रदेशी, दसप्रदेशी, आदि संख्यातप्रदेशी, परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा २, असंख्यातप्रदेशी परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा ३, अनन्तप्रदेशी, परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा ४, आहार द्रव्यवर्गणा ५, अग्रहण द्रव्यवर्गणा ६, तैजसशरीर द्रव्यवर्गणा ७, अग्रहण द्रव्यवर्गणा ८, भाषाद्रव्यवर्गणा ९, अग्रहणद्रव्यवर्गणा १०, मनोद्रव्यवर्गणा ११, अग्रहण द्रव्यवर्गणा १२, कार्मणद्रव्यवर्गणा १३, ध्रुवस्कन्धद्रव्यवर्गणा १४, सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणा १५, ध्रुवशून्यवर्गणा १६, प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा १७, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा १८, बादर निगोद द्रव्यवर्गणा १९, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा २०, सूक्ष्म निगोदवर्गणा २१, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा २२, महास्कन्धवर्गणा २३ ।

इन तेईस वर्गणाओंके नाम सूत्रकारने बाईस सूत्रोंके द्वारा बतलाये हैं ।

इसका कारण यह है कि उन्होंने प्रथम चार वर्गणाओंके पश्चात प्रत्येक वर्गणा का निर्देश इस प्रकार किया है—'अनन्तानन्त प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणाके ऊपर आहार द्रव्यवर्गणा है ॥७९॥ 'आहार द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहणद्रव्यवर्गणा है ॥८०॥' 'अग्रहणद्रव्यवर्गणाके ऊपर तैजसद्रव्यवर्गणा है ॥८१ ॥' 'तैजस द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवर्गणा है ॥८२॥' इत्यादि ।

इसका कारण यह है कि पूर्वपूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक अंक मिलाने पर आगेकी जघन्य वर्गणाका प्रमाण होता है । यथा—सबसे प्रथम परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा तो एकपरमाणुरूप है । उसमें एक परमाणुके मिल जानेसे अर्थात् दो परमाणुओंके समागमसे द्विप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । यह जघन्यसंख्याताणुवर्गणा है क्योंकि जघन्य संख्यातका प्रमाण दो है । उत्कृष्ट संख्यातप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य असंख्यातप्रदेशी द्रव्यवर्गणा होती है । उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य अनन्तप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । अपने जघन्यसे अनन्तगुणी उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी पुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । ये चारों ही वर्गणाएँ अग्राह्य हैं—जीवके द्वारा इनका ग्रहण नहीं होता ।

उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य आहारद्रव्यवर्गणा होती है । औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गल स्कन्धोंको आहारद्रव्यवर्गणा कहते हैं । उत्कृष्ट आहारद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर प्रथम अग्रहणद्रव्यवर्गणा सम्बन्धी सर्वजघन्यवर्गणा होती है । जो

पुद्गलस्कन्ध पाँचों शरीर, भाषा और मनके अयोग्य होते हैं उनको अग्रहणवर्गणा कहते हैं। प्रथम उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य तैजस-शरीरद्रव्यवर्गणा होती है। इसके पुद्गलस्कन्ध तैजसशरीरके योग्य होते हैं। इसलिए यह ग्रहणवर्गणा है।

उत्कृष्ट तैजसशरीरद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर दूसरी अग्रहण द्रव्य-वर्गणा सम्बन्धी जघन्य अग्रहणद्रव्यवर्गणा होती है। यह पाँच शरीरोंके योग्य नहीं होती, इसलिये इसे अग्रहणद्रव्यवर्गणा कहा गया है।

दूसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य भाषाद्रव्य-वर्गणा होती है। भाषाद्रव्यवर्गणाके परमाणु पुद्गलस्कन्धभाषाओंके तथा शब्दों-के योग्य होते हैं।

उत्कृष्ट भाषाद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर तीसरी जघन्य, अग्रहणद्रव्य-वर्गणा होती है। इसके भी पुद्गलस्कन्ध ग्रहणयोग्य नहीं होते। तीसरी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य मनोद्रव्यवर्गणा होती है। मनोद्रव्यवर्गणासे द्रव्यमनकी रचना होती है। उत्कृष्ट मनोद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर चौथी जघन्यअग्रहणद्रव्यवर्गणा होती है। यह भी ग्रहण योग्य नहीं होती। चौथी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्यकार्मण-शरीरद्रव्यवर्गणा होती है। कार्मणद्रव्यवर्गणाके पुद्गलस्कन्ध आठ कर्मोंके योग्य होते हैं।

इस प्रकार पूर्वपूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक एक प्रदेशकी वृद्धि होने पर आगेकी जघन्य वर्गणा होती है। प्रथम परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणाको छोड़कर प्रत्येक वर्गणाके अपने जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपर्यन्त बहुतसे भेद होते हैं। धवला-टीकामें उनका कथन किया है। विस्तार भयसे यहाँ हमने कथन नहीं किया।

इन तेईस वर्गणाओंमेसे आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोद्रव्य-वर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच वर्गणाएँ ही ग्राह्यवर्गणाएँ हैं क्योंकि जीवके द्वारा इनका ग्रहण होता है। अतः बन्धनीयमें इन पाँचकी ही उपयोगिता है, शेष-वर्गणाएँ बन्धनीय नहीं हैं। किन्तु शेषवर्गणाओंका कथन किये बिना इन पाँच बन्धनीयवर्गणाओंका कथन नहीं किया जा सकता। इसलिये बन्धनीयके सम्बन्ध-में २३ पुद्गलवर्गणाओंका कथन किया गया है। और उसीके कारण इस पंचम खण्डका नाम वर्गणा खण्ड है।

धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा और बादरनिगोद द्रव्यवर्गणाका विवेचन बहुत विस्तारसे किया है।

इसके पश्चात् सूत्रकारने यह बतलाया है कि इन तेईस वर्गणाओंमेंसे कौन वर्गणा

भेदसे उत्पन्न होती है, कौन वर्गणा संघातसे उत्पन्न होती है और कौन वर्गणा भेद और संघात दोनोंसे उत्पन्न होती है।

स्कन्धोंका विभाग होनेको भेद कहते हैं। और परमाणुपुद्गलोंके सम्मिलन-का नाम संघात है। तथा भेदपूर्वक होनेवाले संघातको भेदसंघात कहते हैं।

परमाणुद्रव्यवर्गणा तो द्विप्रदेशी आदि ऊपरकी वर्गणाओंके भेदसे ही उत्पन्न होती है। शेष वर्गणाएँ भेदसे, संघातसे और भेदसंघातसे उत्पन्न होती हैं। अर्थात् अपनेसे नीचेकी वर्गणाओंके संघातसे और ऊपरकी वर्गणाओंके भेदसे तथा स्वस्थान की अपेक्षा भेद-संघातसे उत्पन्न होती हैं।

उक्त वर्गणाओंका कथन करनेके पश्चात् सूत्रकार भूतबलिने कहा है—

'अब इस बाह्यवर्गणाकी अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये ॥११७॥ इसके विषय-मे ये चार अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—शरीरिशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा, शरीर-विस्रसोपचयप्ररूपणा और विस्रसोपचयप्ररूपणा ॥११८॥'

धवलाटीकामें बतलाया है कि पाँचों शरीरोंकी बाह्यवर्गणा संज्ञा है। अतः सूत्रकारने उक्त चार अनुयोगोंके द्वारा उनका विशेष कथन किया है। सबसे प्रथम शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन करते हुए कहा कि 'जीव प्रत्येकशरीरवाले और साधारणशरीरवाले होते है ॥११९॥ साधारणशरीरवाले जीव नियमसे वनस्पति-कायिक होते है। और शेष जीव प्रत्येकशरीरी होते है ॥१२०॥ आगे सात गाथाओसे साधारणशरीरवाले जीवोंका कथन किया है। उनके प्रारम्भका सूत्र इस प्रकार है—'तत्थ इमं साहारणलक्खणं भणिदं ॥१२१॥' 'वहाँ साधारणका यह लक्षण कहा है।' इससे स्पष्ट है कि साधारणका कथन करनेवाली गाथा या गाथाएँ प्राचीन है। और अपने स्थलसे 'संभवतया' महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके बन्धनअनु-योगद्वारसे ही उठाकर यहाँ रखी गई है। यहाँ हम उन सातों गाथाओंको अर्थके साथ देते है—

"साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं ॥१२२॥"

साधारण आहार, साधारण उछ्वास-निश्वासका ग्रहण, यह साधारणकायवाले जीवोंका साधारणलक्षण कहा है।

'एयस्स[1] अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स ॥१२३॥'

एक जीवका जो अनुग्रहण (पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल परमाणुओंका ग्रहण

1. 'इक्कस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव। जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि इक्कस्स ॥९६॥—प्रज्ञा० १ पद १

आहारका निष्पन्न शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण) है, वह बहुतसे साधारण जीवोंका तथा उस एक ग्रहण करनेवाले जीवका भी है। तथा बहुत जीवोंका जो अनुग्रहण है वह पिण्डरूपसे उस एक विवक्षित निगोदिया जीवका भी है।

'समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती।
समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो ॥१२४॥'

"एक साथ उत्पन्न होनेवाले सब जीवोंके शरीरकी निष्पत्ति एक साथ होती है। एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ उच्छ्वास-निस्वास होता है।"

'जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥१२५॥'

"जिस शरीरमें एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्त जीवोंका मरण होता है और जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होती है ॥१२५॥"

'बादर-सुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण।
ते हु अणंता जीवा मूलयथूहल्लयादीहिं ॥१२६॥'

"बादरनिगोदजीव और सूक्ष्मनिगोदजीव ये परस्परमें बद्ध और स्पृष्ट होकर रहते हैं। वे जीव अनन्त होते हैं और मूलक, थूहर, आर्द्रक आदि कारणों-से होते हैं।"

'अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकअपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१२७॥'

"ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रसभावको प्राप्त नहीं किया, क्योंकि वे भाव-कलंक अर्थात् संक्लेशपरिणामोंकी अधिकतासे युक्त होते हैं, इसलिये निगोदवासको नहीं छोड़ते।"

'एगणिगोदशरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ॥१२८॥'

"एक निगोदिया जीवके शरीरमें द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा समस्त अतीत कालमें सिद्ध हुए जीवोंसे भी अनन्तगुणे जीव देखे गये हैं।"

इनमेंसे गाथा नं० १२२, १२३ और १२४ श्वे० प्रज्ञापनासूत्रके प्रथम पदमें भी पाई जाती हैं। वहाँ इनका क्रम विपरीत है अर्थात् १२४ (९५), १२३ (९६) और १२२ (९७) के क्रमसे है। गाथा १२३ में पाठभेद भी है। अस्तु,

उक्त गाथाओंके पश्चात् सूत्रकारने लिखा है—

'एदेण अट्ठपदेण तत्थ इमाणि अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति—संतपरू-

वणा, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥ १२९ ॥

इस अर्थपदके अनुसार यहाँ ये अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

ये आठों अनुयोगद्वार वही हैं, जिनका जीवट्ठाणके संतपरूवणा अनुयोगद्वारके आदिमें पुष्पदन्ताचार्यने निर्देश किया था। भूतबलिने शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन इन्हीं आठ अनुयोगोंके द्वारा किया है।

ओघसे कथन करते हुए कहा है कि—'ओघसे दो शरीरवाले, तीन शरीरवाले, चार शरीरवाले और शरीररहित जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

विग्रह गतिमें वर्तमान चारों गतियोंके जीव दो शरीरवाले होते है क्योंकि उनके वहाँ तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर होते हैं। औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरवाले मनुष्य और तिर्यञ्च अथवा वैक्रियिक, तैजस और कार्मण शरीरवाले देव और नारकी तीन शरीरवाले होते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण अथवा औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरवाले जीव चार शरीरवाले होते हैं। और मुक्त जीव शरीररहित होते हैं।

आगे सूत्रकारने आदेशसे १४ मार्गणाओंमें उक्त शरीरवाले जीवोंकी सत्ताका कथन किया है। संतपरूवणाके पश्चात् छै अनुयोगद्वारोंका कथन सूत्रकारने नहीं किया। टीकाकार वीरसेनस्वामीने धवलाटीकामें उनका कथन किया है। सूत्रकारने अन्तिम अल्पबहुत्वानुगमका कथन किया है। उसके साथ ही शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन समाप्त हो जाता है। उसके पश्चात् शरीरप्ररूपणाका कथन प्रारम्भ होता है।

शरीरप्ररूपणा

शरीरप्ररूपणा छै अनुयोगोंके द्वारा की गई है। वे छै अनुयोगद्वार हैं—नामनिरुक्ति, प्रदेशप्रमाणानुगम, निषेकप्ररूपणा, गुणकार, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व ॥ २३६ ॥ नामनिरुक्तिमें सूत्रकारने प्रत्येक शरीरके नामकी निरुक्ति की है—'उरालमिदि ओरालियं ॥२३७॥' उदार—स्थूल होनेसे औदारिक कहा जाता है।

'विविहगुणइड्ढिजुत्तमिदि वेउव्वियं ॥ २३८ ॥' विविध गुणों और ऋद्धियोंसे युक्त होनेसे वैक्रियिक कहा जाता है।

'णिवुणाणं वा णिण्णाणं वा सुहुमाणं वा आहारदव्वाणं सुहुमदरमिदि आहारयं

॥ २३९ ॥ अर्थात् आहारद्रव्योंमेंसे निपुणतर, स्निग्धतर और सूक्ष्मतर स्कन्धको आहार ग्रहण करता है, इसलिए आहारक कहा जाता है।

'तेयप्पहगुणजुत्तमिदि तेजइयं ॥ २४० ॥

तेज और प्रभा गुणसे युक्त है, इसलिये तैजस कहते हैं।

'सव्वकम्माणं परूहणुप्पादयं सुहदुक्खाणं बीजमिदि कम्मइयं ॥२४१॥

सब कर्मोंका प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दुःखका बीज है, इसलिये इसे कार्मण कहते है। इस प्रकार नामनिरुक्तिमें पाँचों शरीरोंके नामोंकी निरुक्ति की गई है।

प्रदेशप्रमाणानुगममें बतलाया है कि प्रत्येक शरीरके प्रदेश अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भाग हैं। निषेकप्ररूपणाका कथन छै अनुयोगोंके द्वारा किया है। वे छै अनुयोग हैं—समुत्कीर्तना, प्रदेशप्रमाणानुगम, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, प्रदेशविरच और अल्पबहुत्व।

इन छै अनुयोगद्वारोंका कथन करनेके पश्चात् पदमीमांसानामक अनुयोगद्वारका कथन है। उसमें बतलाया है कि औदारिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी तीन पल्यकी आयुवाला उत्तरकुरु और देवकुरुका मनुष्य होता है ॥४१८॥

आगे अनेक सूत्रोंके द्वारा उसकी अन्य विशेषताएँ भी बतलाई हैं, जिनके होनेसे ही वह उत्कृष्टप्रदेशसंचयका स्वामी होता है।

वैक्रियिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी बाईस सागरकी स्थितिवाला आरण-अच्युतकल्पका वासी देव होता है ॥४३१॥ उसकी भी अनेक विशेषताएँ बतलाई हैं। आहारकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी उत्तरशरीरकी विक्रिया करने वाला प्रमत्तसंयत मुनि होता है ॥४४६॥ तैजसशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह है जो पूर्वकोटिकी आयुवाला जीव सातवीं पृथिवीके नारकियोंकी आयुका बन्ध करके सातवीं पृथिवीमें उत्पन्न हुआ, वहाँसे निकल कर पुनः पूर्वकोटिकी आयुवालोंमें उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार मरण करके पुन. सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ तेतीस सागरकी आयुको पालता हुआ रहा। चरम समयवर्ती वह जीव तैजस शरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी होता है।

कार्मणशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह जीव होता है जो बादर-पृथिवीकायिक जीवोंमें दो हजार सागर कम कर्मस्थितिप्रमाणकाल तक रहता है। इत्यादि।

इसी तरह प्रत्येकशरीरके जघन्य प्रदेशाग्रके स्वामीका भी कथन किया है। अल्पबहुत्वमें बतलाया है कि औदारिकशरीरका प्रदेशाग्र सबसे थोड़ा है। उससे वैक्रियिकशरीरका प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है ॥४९८॥ उससे आहारकशरीरका

प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है ।।४९९।। उससे तैजसशरीरका प्रदेशाग्रका अनन्त-गुणा है ।।५००।। उससे कार्मणशरीरका प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है ।।५०१।।

शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणाका कथन अविभागप्रतिच्छेद, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, शरीर और अल्पबहुत्व इन छै अनुयोगोंके द्वारा किया गया है। इनके कथनमें बतलाया है कि एक-एक औदारिकशरीरमें सब जीवोंसे अनन्तगुणे अवि-भागी प्रतिच्छेद होते हैं। अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है। इस प्रकार अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण वर्गणाएँ होती हैं और अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवें भाग वर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भाग-प्रमाण अनन्त स्पर्धक होते हैं ।।५०९।। तथा शरीरके बन्धनके कारणभूत गुणोंका बुद्धिके द्वारा छेद करने पर अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं ।।५१२।। औदारिक शरीरके अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम हैं। उससे आगेके शेष चार शरीरोके अविभागी प्रतिच्छेद उत्तरोत्तर अनन्तगुणे होते हैं।

इसी तरह विस्रसोपचयका कथन करते हुए बतलाया है कि एक-एक जीव-प्रदेशपर अनन्त विस्रसोपचय उपचित होते हैं, जो कि सब जीवोंसे अनन्त गुणे हैं और वे सब लोकमेंसे आकर बद्ध हुए हैं। इत्यादि रूपसे विस्रसोपचयका कथन पूर्ण होनेके साथ बाह्यवर्गणाका कथन समाप्त होता है।

'इससे आगेके ग्रन्थका नाम चूलिका है ।।'५८१।।' ऐसा स्वयं सूत्रकारने निर्देश किया है।

चूलिका

जैसा कि चूलिकाका लक्षण कहा है, इसमे पहले सूचित किये गये अर्थोंका विशेष रूपसे कथन किया गया है। पहले जो 'जत्थेय मरदि जीवो' आदि गाथा कही थी उसके उत्तरार्धमें कहा गया था कि 'जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं।' उसीका विशेष कथन प्रारम्भमें किया गया है। तत्पश्चात् उक्त गाथाके पूर्वार्धका, जिसमें कहा है कि 'जिस शरीरमें एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्तानन्त जीवोंका मरण होता है', विशेष कथन किया है।

पहले तेईस वर्गणाओंका कथन किया है। उसमें बतलाया है कि ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य हैं और ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उसीका कथन करनेके लिए—बन्धनीयके चार अनुयोगद्वार ज्ञातव्य बतलाये हैं—वर्गणा, वर्गणानिरूपणा, प्रदेशार्थता और अल्पबहुत्व ।।७०६।।

वर्गणाप्ररूपणामें पुरानी बात ही दोहराई है—'आहार द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है। अग्रहण द्रव्यवर्गणाके ऊपर तैजोद्रव्यवर्गणा होती है, इत्यादि। यहाँ केवल पाँच ग्रहणवर्गणापर्यन्त ही उक्त कथनको दोहराया है क्योंकि यहाँ पाँच शरीरोंके ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्यका ही कथन किया है। अतः इस वर्गणाप्ररूपणाके ७०८ से ७१८ तकके सूत्र बन्धनअनुयोगद्वारकी वर्गणा-प्ररूपणाके ७६ से ८७ तकके सूत्रोंके साथ प्रायः अक्षरशः मिलते हैं। इसीसे सूत्र नं० ७१८ की धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने लिखा है कि इन सब सूत्रोंके द्वारा पूर्वोक्त वर्गणाओंकी ही सम्हाल की गई है।

दूसरे वर्गणानिरूपणाअनुयोगद्वारमें पाँचों शरीरोंके ग्रहणयोग्य और अग्रहण-योग्य वर्गणाओंका थोड़ा प्रकारान्तरसे कथन किया है। इस कथनमें आहार-वर्गणा आदि पाँचों ग्रहणवर्गणाओंका और उनके मध्यकी अग्रहणवर्गणाओंका स्वरूप भी बतलाया है। यथा—'औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके जिन द्रव्योंको ग्रहण कर जीव औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर रूपसे परिणमाते हैं उन द्रव्योंकी आहारवर्गणा संज्ञा है ॥७३॥' 'जिन द्रव्योंको ग्रहण कर जीव तैजसशरीररूपसे परिणमाता है उन द्रव्योंकी तैजसवर्गणा संज्ञा है ॥' इसी तरह जो वर्गणा चार प्रकारकी भाषारूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह भाषावर्गणा है और जो वर्गणा चार प्रकारके मनरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह मनोवर्गणा है। जो वर्गणा आठ प्रकारके कर्मरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह कार्मणवर्गणा है।

प्रदेशार्थता-अनुयोगद्वारमें बतलाया है कि औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक-शरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणामें तो पाँचों वर्ण, पाँचों रस, दोनों गंध और और आठों स्पर्श गुण होते हैं। किन्तु तैजसशरीरद्रव्यवर्गणा, भाषा-द्रव्यवर्गणा, मनोद्रव्यवर्गणा और कार्मणद्रव्यवर्गणामें पाँचों वर्ण, पाँचों रस, दोनों गन्ध होते हैं किन्तु स्पर्श चार ही होते हैं—स्निग्ध या रूक्ष, शीत या उष्ण, कठोर या कोमल, और गुरु अथवा लघु।

अल्पबहुत्वमें प्रदेशोंकी अपेक्षा उक्त वर्गणाओंके अल्पबहुत्वका कथन किया है। अल्पबहुत्वकी समाप्तिके साथ ही बन्धनीय अनुयोगद्वार समाप्त हो जाता है।

बन्ध, बन्धक, बन्धनीयका कथन कर चुकनेके पश्चात् केवल एक बन्ध-विधान शेष बचता है। वर्गणाखण्डके अन्तिम सूत्रमें उसका निर्देश करते हुए केवल इतना कहा है—'जो बन्धविधान है वह चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ॥७९७॥

इस सूत्रकी धवलाटीकामें श्रीवीरसेनस्वामीने लिखा है—'इन चारों बन्धों-का विधान भूतबलीभट्टारकने महाबन्धमें विस्तारके साथ लिखा है। इसलिये यहाँ हमने नहीं लिखा। अतः सकल महाबन्धका यहाँ कथन करनेपर बन्धविधान समाप्त होता है।

इस तरह पाँचवें वर्गणाखण्डकी समाप्तिके साथ भूतबली विरचित षट्खण्डा-गमके पाँच खण्ड समाप्त हो जाते हैं। किंतु चूँकि महाबन्धको इससे अलग स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें गिना जाता है, अतः वर्गणाखण्डके साथ ही षट्खण्डागम नामक ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

इसकी सूत्रसंख्या इस प्रकार है—

१. जीवट्ठाण····	प्र० पुस्तक १	सत्प्ररूपणा	१७७ सूत्र संख्या
	पुस्तक ३	द्रव्यप्रमाण	१९२ ,,
	पुस्तक ४	क्षेत्रानुगम	९२ ,,
	,,	स्पर्शनानुगम	१८५ ,,
	,,	कालानुगम	३४२ ,,
	पुस्तक ५	अन्तर	३९७ ,,
	,,	भाव	९३ ,,
	,,	अल्पबहुत्व	३८२ ,,
	पु० ६	चूलिका—प्रकृतिसमुत्कीर्तन	४६ ,,
	,,	स्थानसमुत्कीर्तन	११७ ,,
	,,	प्रथम महादण्डक	२ ,,
	,,	द्वितीय महादण्डक	२ ,,
	,,	तृतीय महादण्डक	२ ,,
	,,	उत्कृष्टस्थितिचू०	४४ ,,
	,,	जघन्यस्थितिचू०	४३ ,,
	,,	सम्यक्त्वोत्पत्तिचू०	१६ ,,
	,,	गत्यागतिचूलिका	२४३ ,,
२. खुद्दाबन्ध····	पुस्तक ७	सत्वप्ररूपणा	४३ ,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व	९१ ,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा काल	२१६ ,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा अन्तर	१५१ ,,
	,,	नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय	२३ ,,
	,,	द्रव्य प्रमाणानुगम	१७१ ,,

२. खुद्दाबंध	७ पुस्तक	क्षेत्रानुगम	१२४	सूत्र सं०
,,	,,	स्पर्शनानुगम	२७९	,,
,,	,,	नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम	५५	,,
,,	,,	,, ,, अन्तरानुगम	६८	,,
,,	,,	भागाभागानुगम	८८	,,
,,	,,	अल्पबहुत्वानुगम	२०५	,,
,,	,,	महादण्डक	७९	,,
३ बन्धस्वामित्वविचार	८ पुस्तक	बन्धस्वामित्व	३२४	,,
४ वेदना	९ पु०	कृतिअनुयोगद्वार	७६	,,
,,	१० पु०	वेदनानिक्षेप	३	,,
,,	,,	नयविभाषणता	४	,,
,,	,,	नामविधान	४	,,
,,	,,	द्रव्यविधान	२१३	,,
,,	११ पुस्तक	क्षेत्रविधान	९९	,,
,,	,,	कालविधान	२७९	,,
,,	१२ पुस्तक	भावविधान	३१४	,, गा०सं०८
,,	,,	प्रत्ययविधान	१६	,,
,,	,,	स्वामित्वविधान	१५	,,
,,	,,	वेदनाविधान	५८	,,
,,	,,	गतिविधान	१२	,,
,,	,,	अनन्तरविधान	११	,,
,,	,,	सन्निकर्षविधान	३२०	,,
,,	,,	परिमाणविधान	५३	,,
,,	,,	भागाभागविधान	२१	,,
,,	,,	अल्पबहुत्व	२६	,,
५ वर्गणाखण्ड	१३ पुस्तक	स्पर्शअनियोगद्वार	३३	,, गा० २
,,	,,	कर्मानुयोगद्वार	३१	,,
,,	,,	प्रकृतिअनुयोगद्वार	१४२	,, गा० १७
,,	१४ पुस्तक	बन्धनअनुयोगद्वार	७९७	,,

कुल सूत्रसंख्या ६८१९, गा०सं० २७

कसायपाहुड और छक्खंडागमका तुलनात्मक विवेचन

कसायपाहुड और छक्खंडागमके विश्लेषण और विवेचनके अनन्तर कक

दोनों सिद्धान्त-ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनपर प्रकाश डालना अनुचित न होगा। शैली और भाषाकी दृष्टिसे दोनोंकी भिन्नता पहले ही लिखी जा चुकी है। अतएव इस सन्दर्भमें विषय-वस्तुके प्रतिपादनकी दृष्टिसे दोनोंका तुलनात्मक निरूपण आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि छक्खंडागमके वेदना और वर्गणा खंडमें पच्चीस गाथा-सूत्र आये हैं, जो प्राचीन प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कसायपाहुडकी भी कुछ गाथाएँ गुणधर-विरचित न भी हों, पर वे जिस कसायपाहुडको उपसंहृत किया गया है उसीसे ज्यों-की-त्यों ले ली गयी हों। यतः प्राचीन परिपाटी ऐसी रही है।

एक विचारणीय बात यह है कि कसायपाहुड और छक्खंडागमकी कुछ गाथाएँ अन्य ग्रन्थोंमें मिलती हैं। परन्तु कसायपाहुडकी कोई भी गाथा न तो छक्खंडागममें मिलती है और न छक्खंडागमकी कोई गाथा कसायपाहुडमें ही उपलब्ध होती है। अन्य भी कोई ऐसा तथ्य नहीं मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि एककी छाया दूसरेपर है अथवा एकके रचयिताने दूसरे-की कृतिको देखा है। किन्तु थोड़ा-सा सादृश्य जहाँ प्रतीत होता है उसका उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा।

कसायपाहुडके सम्यक्त्वअधिकारके प्रारम्भमें चार गाथाओंके द्वारा पृच्छा की गयी है। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

दंसणमोहउवसामगस्स परिणामो केरिसो हवे।
जोगे कसाय उवजोगे लेस्सा वेदो य को भवे ॥९१॥
काणि वा पुव्व बद्धाणि के वा अंसे णिबंधदि।
कदि आवलियं पविसंति कदिण्हं वा पवेसगो ॥९२॥
के अंसे झीयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा।
अंतरं वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं ॥९३॥
किं ट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
ओवट्टेदूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि ॥९४॥

अर्थ—दर्शनमोहका उपशम करने वाले जीवका परिणाम कैसा होता है? किस योग, कषाय और उपयोगमें वर्तमान होता है, उसके कौन-सी लेश्या और कौन-सा वेद होता है? ॥९१॥ उसके पूर्वबद्ध कर्म कौनसे हैं और अब कौनसे नवीन कर्मांशोंको बांधता है? किन-किन प्रकृतियोंका उसके उदय होता है और किन-किन-की वह उदीरणा करता है? ॥९२॥ दर्शनमोहके उपशमकालसे पूर्व बन्ध अथवा उदयकी अपेक्षा कौन-कौनसे कर्मांश क्षीण होते हैं? कहाँ अन्तर करता है और कहाँपर किन-किन कर्मोंका उपशामक होता है? ॥९३॥ किस-किस स्थिति और

अनुभाग वाले किन-किन कर्मोंका अपवर्तन करके किस स्थानको प्राप्त करता है और अवशिष्ट कर्म किस-किस स्थिति और अनुभागको प्राप्त होते हैं ?

उधर जीवस्थानकी[1] चूलिकाके आरम्भमें ये पृच्छाएँ की गई हैं—

'कदि काओ पयडीओ बंधदि, केवडि कालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्तं लब्भदि वा ण लब्भदि वा, केवडिएण कालेण वा कदि भाए वा करेदि मिच्छत्तं, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दंसणमोहणीयं कम्मं खवेंतस्स चारित्तं वा संपुण्णं पडिवज्जंतस्स ॥१॥'

अर्थ—सम्यक्त्वको उत्पन्न करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव कितनी और किन प्रकृतियोंको बाँधता है ? कितनी कालस्थिति वाले कर्मोंके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है ? कितने कालके द्वारा मिथ्यात्वकर्मको कितने भागरूप करता है और किन-किन क्षेत्रोंमें तथा किसके पासमें कितने दर्शनमोहनीयकर्मको क्षपण करने वाले जीवके और सम्पूर्ण चारित्रको प्राप्त होने वाले जीवके मोहनीयकर्मकी उपशामना और क्षपणा होती है ? ॥१॥

दोनों ग्रन्थोंका प्रकरण एक ही है और पृच्छापूर्वक कथन करनेकी जैन आगमिक शैली है। किन्तु कसायपाहुडमें उक्त चार गाथाओंके द्वारा केवल पृच्छा ही की गई है। इन पृच्छाओंका उत्तर तो चूर्णिसूत्रकारने दिया है। किन्तु जीवस्थानचूलिकामें प्रारम्भमें सामूहिक रूपसे सब पृच्छाओंको देकर फिर एक-एक प्रकरणमें एक-एक पृच्छाका उत्तर दिया है। दोनों ग्रन्थोंकी उक्त पृच्छाओंमें केवल दो पृच्छा ऐसी हैं जो आपसमें मेल खाती हैं। किन्तु इतने मात्रसे निष्कर्ष निकालना तो दूर, कोई संभावना भी नहीं की जा सकती।

इसी तरह कसायपाहुडके इसी प्रकरणमें आगे १५ गाथाएँ आती हैं। उनमेंसे दो गाथाएँ उल्लेखनीय हैं। उनमें एक गाथा इस प्रकार है—

दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होई पज्जत्तो ॥९५॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम करने वाला जीव चारों ही गतियोंमें जानना चाहिये। वह जीव नियमसे पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है।

जीवस्थानकी सम्यक्त्वोपत्तिचूलिकामें इसीको विस्तारसे कहा है। यथा—

'उवसामेंतो[2] कम्हि उवसामेदि, चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेदि, णो एइंदियविगलिंदिएसु। पंचिंदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु

१. षट्खं०, पु० ६, पृ० १ ।
२. षट्खं०, पु० ६, पृ० २३८

उवसामेदि णो सम्मुच्छिमेसु । गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि ॥९॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मको उपशमाता हुआ जीव कहाँ उपशमाता है? चारों ही गतियोंमें उपशमाता है। चारों ही गतियोंमें उपशमाता हुआ पञ्चेन्द्रियोंमें उपशमाता है, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उपशमाता है। पंचेन्द्रियोंमें उपशमाता हुआ संज्ञियोंमें उपशमाता है, असंज्ञियोंमें नहीं। संज्ञियोंमें उपशमाता हुआ गर्भज जीवोंमें उपशमाता है, सम्मूर्छनजन्मवालोंमें नहीं। गर्भजोंमें उपशमाता हुआ पर्याप्तकोंमें उपशमाता है, अपर्याप्तकोंमें नहीं। पर्याप्तकोंमें उपशमाता हुआ संख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है, और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है ॥९॥

दोनोंकी तुलना करनेसे ऐसा आभास होता है कि ऊपरकी गाथाकी ही विभाषा नीचेके सूत्र द्वारा की गई है। किन्तु इतनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि षट्खण्डागमकारके सन्मुख कसायपाहुड था। अतः इस तरहके उल्लेखोंके आधारपर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

कसायपाहुडके[1] प्रदेशविभक्तिनामक अधिकारमें चूर्णिकारने मिथ्यात्वकर्म जघन्यप्रदेशसत्कर्मके स्वामीका कथन किया है और षट्खण्डागमके वेदनाखण्डके वेदनाद्रव्यविधान नामक अनुयोगद्वारमें द्रव्यसे ज्ञानावरणीयकर्मकी जघन्य-वेदनाके स्वामीका कथन किया है। दोनोंका यह कथन कुछ अर्थदृष्टिसे और कुछ शब्द-दृष्टिसे भी परस्परमें मेल खाता है। यद्यपि दोनों ग्रन्थकारोंमें उक्त विषयमें कुछ मौलिक मतभेद भी है, जो दोनों उद्धरणोंसे स्पष्ट है और जिसकी चर्चा आगे करेंगे, तथापि दोनोंका यह साम्य भी उल्लेखनीय है। इस साम्यका कारण यह भी हो सकता है, कि दोनों ग्रन्थकारोंको अपनी-अपनी परम्परासे वह इसी रूपमें प्राप्त

---

१. सुहुमणिगोदेसु कम्मट्ठिदिमच्छिदाउओ। तत्थ सव्वबहुआणि अपज्जतभवग्गहणाणि। दीहाओ अपज्जत्तद्धाओ।......जदा जदा आउअं बंधदि तदा तदा तप्पाओग्ग-उक्कस्सएसु जोगट्ठाणेसु बंधदि। हेट्ठिल्लीणं ट्ठिदीणं णिसेयस्स उक्कस्स पदेसं तप्पाओग्गं उक्कस्सविसोहिमभिक्खं गदो'—क० पा० सु०, पृ० १८८।

'जो जीवो सुहुमणिगोदजीवेसु पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणियं कम्मट्ठिदि-मच्छिदो। तत्थ य संसरमाणस्स बहुआ अपज्जत्तभवा, थोवा पज्जत्तभवा। दीहाओ अप-ज्जत्तद्धाओ रहस्साओ पज्जत्तद्धाओ। जदा जदा आउअं बंधदि तदा तदा तप्पाओग्गु-क्कस्सएण जोगेण बंधदि। उवरिल्लीणं ट्ठिदीणं णिसेयस्स जहण्णपदे हेट्ठिल्लीणं ट्ठि-दीणं णिसेयस्स उक्कस्सपदे बहुसो बहुसो जहण्णाणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि। बहुसो बहुसो मंदसंकिलेसपरिणामो भवदि।—षट्खं, पु० १०, पृ० २६८–२७१।

हुआ हो, क्योंकि मूल सिद्धान्त तो एक ही है, किन्तु उनमें जो मौलिक मतभेद है उनको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि केवल यह अंश चूर्णिसूत्रकारने वेदनाखण्डसे लिया होगा।

पहले हम लिख आये हैं कि कसायपाहुड (चूर्णिसूत्रसहित) और षट्खण्डागम ये दोनों दो भिन्न आचार्यपरम्पराओंके उत्तराधिकारी हैं क्योंकि दोनोंमें अनेक सैद्धान्तिक मतभेद हैं। अतः उन दोनोंका उद्गम यदि स्वतंत्र भावसे हुआ हो तो असंभव नहीं है। फिर यह हम पहले लिख आये हैं कि यतिवृषभके गुरु नागहस्ती भी कर्मप्रकृतिप्रधान थे और यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें कर्मप्रकृतिका निर्देश किया है। अतः यह संभव है कि यतिवृषभ भी महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता हों, जिसके आधारपर षट्खण्डागमके सूत्र रचे गये हैं। अतः दोनोंमें क्वचित् शब्दगत या अर्थगत साम्य हो सकता है।

छक्खंडागम और पण्णवणा

षट्खण्डागममें चर्चित विषयोंका कोई-कोई अंश विभिन्न श्वे० आगमिक साहित्यमें मिलता है। यथा, षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत बन्धनअनुयोगद्वारके आदिमें विस्रसाबन्ध और प्रयोगबन्धके भेदों-प्रभेदोंका कथन है। भगवती सूत्रके ८वें शतकके नौवें उद्देशमें भी वही कथन किञ्चित् अन्तरके साथ पाया जाता है। बन्धनअनुयोगद्वारमें[1] प्रयोगबन्धके दो भेद किये हैं—कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध। तथा नोकर्मबन्धके पाँच भेद किये हैं—आलापनबन्ध, अल्लीवनबन्ध, संश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरीबन्ध। भगवतीसूत्रमें प्रयोगबन्धके तीन भेद किये हैं—अनादिअपर्यवसित, सादिअपर्यवसित और सादिसपर्यवसित। तथा सादिसपर्यवसितके चार भेद किये हैं—आलापनबन्ध, अल्लियावणबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरप्रयोगबन्ध। दोनों ग्रन्थोंमें अपने-अपने ढंगसे इन बन्धोंके जो लक्षण दिये हैं उनमें शब्दभेद होते हुए भी अभिप्रायभेद नहीं है।

षट्खण्डागमकी जीवस्थानचूलिकामें जो कर्मोंकी जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति तथा आबाधा आदिका कथन है, प्रज्ञापनाके २३वें आदि पदोंमें भी उसीसे मिलता-जुलता हुआ कथन है। जैसे, जीवस्थानचूलिकाके आरम्भमें 'कदिकाओ पयडीओ बंधदि' इत्यादि प्रथमसूत्रके द्वारा पाँच प्रश्नोंका सूत्रपात करके फिर क्रमसे एक-एक चूलिकाके द्वारा उसका उत्तर दिया गया है। प्रज्ञापनाके[2] २३ वें पदके

---

१. षट्खं० पु० १४, पृ० ३७ आदि।

२. 'कति पयडी कहिं बंधइ कतिहि ठाणेहि बंधई जीवो। कइ वेदेइ य पयडी अणुभावो कतिविहो कस्स ॥१॥'—प्रज्ञा०

प्रारम्भमें भी एक गाथाके द्वारा कर्मविषयक पाँच प्रश्नोंको उठाया गया है—१. कितनी प्रकृतियाँ हैं ? २. किस प्रकारसे उनका बन्ध होता है, ३. कितने स्थानोंके द्वारा बन्ध होता है, ४. कितनी प्रकृतियोंका जीव वेदन करता है, और ५. किसे कर्मका अनुभाग कितने प्रकारका होता है ? और फिर क्रमसे इन पाँचों प्रश्नोंका समाधान किया गया है।

मूलकर्मोंका नाम बतलानेके पश्चात् उत्तरप्रकृतियोंकी गणना जैसे चूलिकामें की है, प्रज्ञापनामें भी की है। चूलिकामें प्रत्येक उत्तरप्रकृतिका नाम गिनाया है। प्रज्ञापनामें कहीं पूरा नाम गिनाया है तो कहीं संक्षिप्त। जिस प्रकार छठी चूलिका[1]-में कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति, उनकी आबाधा और निषेक बतलाये हैं, प्रज्ञापनामें भी अपने ढंगसे उनका उसी प्रकार कथन किया है। चूलिकामें जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका कथन पृथक् पृथक् किया है, प्रज्ञापनामें[2] एक साथ है। विषयकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंके अन्य भी कोई-कोई कथन मिलते हुए हैं। किन्तु प्रज्ञापनामें संकलित कर्मविषयक कथन साधारण कोटिका है। भगवती और प्रज्ञापना दोनों ही संग्रह ग्रन्थ हैं, जिनमें विविध विषय संगृहीत हैं। उनके देखनेसे प्रकट होता है कि उनकी संकलनाके समय श्रुतका कितना विच्छेद हो चुका था और अवशिष्ट अंशोंको सुरक्षित रखनेका किस प्रकार प्रयत्न किया गया था।

ग्यारहवाँ अंग विपाकसूत्र कर्मसिद्धान्तसे ही सम्बद्ध था, किन्तु उपलब्ध विपाकसूत्रमें वह बात नहीं है, यह उसका परिचय कराते हुए बतला चुके हैं। कसायपाहुड, चूर्णिसूत्र, षट्खण्डागम तथा प्रज्ञापना आदि आगमिक साहित्यके पर्यवेक्षणसे एक बात स्पष्ट है कि प्रश्नपूर्वक कथन करनेकी ही प्राचीन आगमिक-शैली थी।

छक्खंडागम और कर्मप्रकृति

एक कर्मप्रकृति नामक प्राचीन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें मान्य है। उसकी उपान्त्य गाथामें कहा गया[3] है कि 'मुझ अल्पबुद्धिने जो जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृति

---

१. 'पंचण्हं णाणावरणीयाणं णवण्हं दंसणावरणीयाणं असादावेदणीयं पंचण्हमंतराइयाण-मुक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ ॥४॥ तिण्णि वाससहस्साणि आबाधा ॥५॥ आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ ॥६॥'—षट्खं०, पु० ६, पृ० १४६-१५० ॥

२. 'नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्निय वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणिता कम्मठिई कम्मणिसेगो ।'—प्रज्ञा०, २३ प० ।

३. 'इय कम्मप्पगडीओ जहासुयं नीयमप्पमइणा वि । सोहियणाभोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नु ॥५६॥'—कर्मप्र०, सत्ता० ।

से इस ग्रन्थका उद्धार किया। जो मुझसे स्खलित कथन हुआ हो, दृष्टिवादके ज्ञाता उसे शुद्ध करके कहें।' इस परसे इस कर्मप्रकृतिको भी उसी कर्मप्रकृति प्राभृतसे उद्धृत कहा जाता है, जिसके आधारपर षट्खण्डागमसूत्रोंकी रचना हुई थी। किन्तु दोनोंकी तुलना करनेसे यह प्रकट नहीं होता कि भूतबलि आचार्य जिस प्रकार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे, उस प्रकार कर्मप्रकृतिकार भी उसके ज्ञाता थे। हाँ, उसके कुछ अंशोंके वे ज्ञाता अवश्य थे, जिन्हें उन्होंने दृष्टिवादके बचे अवशिष्टांशके रूपमें गुरुमुखसे श्रवण किया होगा और इसलिए कर्मप्रकृति-की प्रथम गाथाकी उत्थानिकाकी चूर्णिमें चूर्णिकारने जो कुछ कहा है वही समुचित प्रतीत होता है। चूर्णिकारने कहा है कि–'दुषमाकालके कारण जिनकी बुद्धि, आयुष्य वगैरह घटता जाता है ऐसे आजकलके साधुजनोंका उपकार करनेकी कामनासे आचार्यने विच्छिन्न हुए कर्मप्रकृति नामक महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान करानेके लिए उसी सार्थक नामवाले कर्मप्रकृतिसंग्रहणी नामक प्रकरणको आरम्भ किया है।' अतः कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होनेपर ही उक्त कर्मप्रकृतिसंग्रहणी नामक ग्रन्थ रचा गया है। उसका नाम कर्मप्रकृतिसंग्रहणी है, यही उसके लिए उचित भी है। उसीको लघु करके कर्मप्रकृति नामसे उसकी ख्याति हुई है।

●

तृतीय परिच्छेद

महाबंध

कसायपाहुड और छक्खंडागम इन दो मूल आगम-ग्रन्थोंके रचयिता, रचना-काल, विषयवस्तु एवं उनके महत्वके विवेचनके पश्चात् तृतीय आगम-ग्रन्थ महाबंधका विमर्श उपस्थित किया जा रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस महाबंध सिद्धान्तग्रन्थके रचयिता भी आचार्य भूतबलि हैं।

यह सिद्धान्त-ग्रन्थ छक्खण्डागमका अन्तिम खण्ड है। अपनी विशालता और विषयकी गम्भीरताके कारण इसे स्वतंत्र सिद्धान्त-ग्रन्थकी संज्ञा प्राप्त है।

आचार्य वीरसेनने छक्खंडागमपर अपनी धवलाटीका लिखी है, पर इनकी यह टीका पूर्वके पाँच खण्डोंपर ही है। इस छठे खण्डपर इनकी टीका नहीं है और न अन्य किसी आचार्यकी टीका प्राप्त है। इसका प्रधान कारण यही है कि आचार्य भूतबलिने इसे स्वयं विवरणात्मक शैलीमें रचा है। जो ग्रन्थ इस शैलीमें लिखा जाता है, उसपर भाष्य या वृत्तियाँ बडी कठिनाईसे लिखी जाती हैं। यतः सुगम-पर विवृत्ति या भाष्य लिखनेमें सौकर्य रहता है और उसकी व्याख्या सुबोध होनेके कारण छोड दी जाती है।

इस ग्रन्थकी शैली भी पूर्वके खण्डोकी सूत्रात्मक शैलीसे भिन्न है और इसका प्रमाण भी शेष पाँच खण्डोसे पाँच गुना है। अतः यह छठा खण्ड अपने पाँचों बड़े भाईयोसे अलग पड गया है और महाबन्ध नामसे एक स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमे ही प्रकाशित[1] हुआ है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[2] महाबन्धको तीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है और ब्रह्म हेमचन्द्रने[3] चालीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है। इसके रचयिता भी आचार्य भूतबलि हैं। उन्होंने चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमें ४४ सूत्रोंके द्वारा

---

१. महाबन्धका प्रकाशन ७ भागोंमें भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी ओरसे हुआ है।

२. 'सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥१३९॥ त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।'—श्रुताव०

३. 'सत्तरीसहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो। महबंधो चालीसं सिद्धंतत्थं अहं वंदे ॥८८॥'

जो मंगल किया है उसे टीकाकार[1] वीरसेनने शेष तीनों खण्डोंका अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबन्धका मंगल बतलाया है, क्योंकि वर्गणा और महाबन्धखण्डके आदिमें मंगल नहीं किया है। अतः यह स्पष्ट है कि महाबन्धके आरम्भमें ग्रन्थकार भूतबलिने मंगल नहीं किया।

महाबन्धका प्रकाशन हो जानेपर भी यह बात हमें इसलिये लिखनी पड़ी है कि इस ग्रन्थराजकी केवल एक ही प्रति मूडबिद्रीके सिद्धान्तबसतिभण्डारमें सुरक्षित मिली, किन्तु उसके भी १४ ताड़पत्र नष्ट हो गये थे। उनमें पहला पत्र भी था। इसलिये भूतबलिने इस खण्डग्रन्थका आरम्भ किस रूपमें किया था, उसके जाननेका कोई उपाय नहीं है।

वर्गणाखण्डके बन्धनअनुयोगद्वारके अन्तमें अथवा यह कहना चाहिये कि महाबन्धके आरम्भसे पूर्वमें बन्धनके चार भेदोंमेंसे बन्ध, बन्धक और बन्धनीयका कथन करनेके पश्चात् बन्धविधानके[2] चार भेद कहे हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन्हीं चार बन्धोंका वर्णन महाबन्धमें है। बन्धोंका विस्तारसे कथन होनेके कारण ही इसका नाम महाबन्ध रखा गया है। पहले प्रकृतिबन्धका कथन है।

चूँकि प्रथम ताड़पत्र नष्ट हो गया है, अतः अवधिज्ञानका निरूपण करनेवाली गाथाओंसे उपलब्ध महाबन्धका प्रारम्भ होता है। ये गाथाएँ वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें भी आई हैं। एक तरहसे प्रकृतिअनुयोगद्वारसे ही महाबन्धका आरम्भ होता है। यहाँ उसका नाम प्रकृतिसमुत्कीर्तन है। महाबन्धका प्रकृतिसमुत्कीर्तन वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृतिअनुयोगका ही संक्षिप्त रूप है। वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें पृच्छासूत्र भी हैं—'मणपज्जवणाणावरणीयस्स कम्मस्स केवडियाओ पयडीओ'—अर्थात् मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मकी कितनी प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकारके पृच्छासूत्र महाबन्धमें नहीं हैं, केवल विषयप्रतिपादन है और वह प्राकृतगद्यरूपमें है। दोनोंका अन्तर दिखानेके लिए यहाँ दोनों ग्रन्थोंसे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

'मणपज्जवणाणावरणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीयं चेव विउलमदिमणपज्जवणाणावरणीयं चेव ॥६१॥ जं तं उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीयं णाम कम्मं तं तिविहं—उजुगं मणोगदं जाणदि

---

१. 'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं? तिण्णं खंडाणं। कुदो? वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो।'—षट्खं पु० ९, पृ० १०५।

२. 'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं—पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि ॥७९७॥'

उजुगं वचिगदं जाणदि उजुगं कायगदं जाणदि ॥६२॥ मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदि चिंता, जीविदमरणं लाहालाहं सुहदुक्खं णयरविणासं देसविणासं जणवयविणासं खेडविणासं कव्वडविणासं मडंबविणासं पट्टण-विणासं दोणामुहविणासं अइवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमभयरोगकालसं[प]जुत्ते अत्थे वि जाणदि ॥६३॥ किं चि भूओ— अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि णो अवत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि ॥६४॥ कालदो जहण्णेण दो-तिण्णि-भवग्गहणाणि ॥६५॥ उक्कस्सेण सत्तट्ठ-भवग्गहणाणि ॥६६॥ जीवाणं गदिमागदिं पदुप्पादेदि ॥६७॥ खेत्तदो ताव जहण्णेण गाउवपुधत्तं उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भंतरदो णो बहिद्धा ॥६८॥ (छक्खं-डागम, पु० १३, पृ० ३२८-३३८)।

उक्त सूत्रोंको महाबन्धमें इस प्रकार निबद्ध किया गया है—

'जं तं मणपज्जवणाणावरणीयं कम्मं बंधंतो तं एयविधं। तस्स दुविहपरू-वणा उज्जुमदिणाणं चेव विपुलमदिणाणं चेव। जं तं उजुमदिणाणं तं तिविधं उज्जुगं मणोगदं जाणदि। उज्जुगं वचिगदं जाणदि। उज्जुगं कायगदं जाणदि। मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदि चिंतादि विजाणदि, जीविद-मरणं लाभालाभं सुहदुक्खं णगरविणासं देह(देस)विणासं जणपदविणासं अदिवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमभयरोगं उब्भयं इब्भयं संभमं वत्तमाणाणं जीवाणं णो अवत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि। जहण्णेण गाउदपुधत्तं। उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भंतरादो, णो बहिद्धा। जहण्णेण दो-तिण्णि भवग्गहणाणि, उक्कस्सेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि गदिरागदिं पदुप्पादेदि।" (म०बं०, भा० १, पृ० २४-२५।)

महाबंधमें ज्ञानावरणीयकी प्रकृतियोंके निमित्तसे ज्ञानके भेदका विवेचन तो प्रकृतिअनुयोगद्वारके अनुसार किया है। किन्तु बाकीके सात कर्मोंकी प्रकृतियोंकी केवल संख्या बतला दी है। यथा दर्शनावरणीयकर्मकी नौ प्रकृतियाँ हैं, वेदनीयकी दो प्रकृतियाँ हैं, आदि। चूँकि वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें कर्मोंकी प्रकृतियों-का वर्णन किया जा चुका था, इसीसे महाबन्धमें उन सबका वर्णन नहीं किया गया।

आगे बन्धस्वामित्वविचय-बन्धके स्वामीपनेके विचारका प्रतिपादन किया गया है। यह कथन बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डका संक्षिप्त रूप है।

महाबन्धमें भी तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके सोलह कारण बतलाये हैं किन्तु सोलह कारणोंके क्रममें थोड़ा अन्तर है। यहाँ आठवें नम्बरपर 'साधुसमाधि-संधारणता'के स्थानमें 'साधुप्रासुकपरित्यागता' पाठ है और नौवें नम्बरपर 'वैयावृत्ययोगयुक्तता'के स्थानमें 'समाधिसंधारणता' पाठ है। तथा नं० १०में 'साधु-

प्रासुकपरित्यागता' के स्थानमें 'वैयावृत्त्ययोगयुक्तता' पाठ है। शेष पाठ समान हैं।

आगेका ताड़पत्र त्रुटित होनेसे बन्धस्वामित्वका आदेशकथन अधूरा रह गया है। आगे कालप्ररूपणा है। इसका भी आरम्भिक भाग नहीं है। इसमें गति आदि मार्गणाओंकी अपेक्षा प्रत्येक कर्मप्रकृतिका जघन्य और उत्कृष्ट बन्ध-काल बतलाया है। यथा—नरकगतिमें एक जीवकी अपेक्षा तीर्थंकरप्रकृतिका जघन्यबन्धकाल ८४ हजार वर्ष और उत्कृष्ट साधिक तीन-तीन सागर है। आदि।

आगे एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगमका कथन करते हुए प्रत्येक कर्मके बन्ध-का अन्तरकाल बतलाया है। यह कथन जीवस्थानके अन्तरानुगम अनुयोगद्वारपर आधृत है, उसीके आधारपर कर्मोंके बन्धके अन्तरकालका कथन किया गया है।

तत्पश्चात् सन्निकर्षका कथन है। उसके दो भेद किये हैं—स्वस्थानसन्नि-कर्ष और परस्थानसन्निकर्ष। स्वस्थानसन्निकर्षमें बतलाया है कि ज्ञानावरणीय-कर्मकी जो एक भी प्रकृतिका बन्ध करता है वह उस कर्मकी शेष प्रकृतियोंका भी बन्धक होता है। इस प्रकार स्वस्थानसन्निकर्षमें एकजातीय प्रकृतियोंके बन्धके सन्निकर्षका कथन है और परस्थानसन्निकर्षमें सजातीय तथा विजातीय प्रकृतियों-के बन्धके सन्निकर्षका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणीय कर्मका बन्धक शेष चार श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय प्रकृतियोंका और दर्शनावरणकी चार तथा अन्तरायकर्मकी पाँच प्रकृतियोंका बन्धक है। कथन बहुत विस्तारसे किया गया है।

भंगविचयअनुयोगद्वारमें भंगोंका विचार किया गया है। यथा सातावेदनीय-के अनेक बन्धक और अनेक अबन्धक होते हैं। चारों आयुकर्मोंके अनेक बन्धक हैं, अनेक अबन्धक हैं। इस तरह प्रत्येक प्रकृतिके भंगोंका विचार बन्धक और अबन्धककी अपेक्षा किया गया है।

भागाभागानुगममें बतलाया है कि अमुक प्रकृतिके बन्धक अथवा अबन्धक सब जीवोंके कितने भागप्रमाण हैं? यथा—सातावेदनीयके बन्धक सब जीवोंके कितने भाग हैं? संख्यातवें भाग है। अबन्धक सब जीवोंके संख्यात बहुभाग हैं। असाताके बंधक सर्वजीवोंके कितने भाग हैं? संख्यात बहुभाग हैं। अबंधक सर्व-जीवोंके कितने भाग हैं? संख्यातवें भाग हैं। आदि।

परिमाणानुगम अनुयोगद्वारमें कर्मप्रकृतियोंके बन्धकों और अबन्धकोंका परिमाण बतलाया है। यथा—सातावेदनीयके बन्धक और अबन्धक कितने हैं? अनन्त हैं। असाताके बन्धक और अबन्धक कितने हैं? अनन्त हैं। दोनों वेदनीय-कर्मोंके बन्धक और अबन्धक अनन्त हैं, इत्यादि।

क्षेत्रानुगममें बतलाया है कि कर्मप्रकृतियोंके बन्धक और अबन्धक जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं। यथा—साता और असाताके बन्धक और अबन्धक जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं? सर्वलोकमें। दोनों वेदनीयकर्मोंके बन्धक कितने क्षेत्रमें रहते हैं? सर्वलोकमें। अबन्धक कितने क्षेत्रमें रहते हैं? लोकके असंख्यातवें भागमें।

स्पर्शनानुगममें स्पर्शनका कथन है। यथा—साताके बन्धकों और अबन्धकोंने कितने क्षेत्रका स्पर्शन किया है? सर्वलोकका। असाताके बन्धकों और अबन्धकोंने कितने क्षेत्रका स्पर्शन किया है? सर्वलोकका। दोनों प्रकृतियोंके बन्धकोंने सर्वलोकका स्पर्शन किया है। और अबन्धकोंने लोकके असंख्यातवें भागका स्पर्शन किया है।

कालानुगममें नाना जीवोंकी अपेक्षा प्रकृतियोंके बन्धकोंका काल बतलाया है। यथा—साता और असाताके बन्धक और अबन्धक कितने काल तक होते हैं? सर्वकाल होते हैं। दोनोंके बन्धक और अबन्धक कितने काल तक होते हैं? सर्वकाल होते हैं। नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगममें कर्मप्रकृतियोंके बन्धकों और अबन्धकोंका अन्तरकाल नाना जीवोंकी अपेक्षा बतलाया है। नरकायु, मनुष्यायु और देवायुके बन्धकोंका जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे २४ मुहूर्त अन्तर है। अर्थात् अधिक-से-अधिक २४ मुहूर्तका समय ऐसा आ सकता है जिनमें कोई जीव इन तीनों आयुकर्मोंका बन्धक न हो। अबन्धकोंका अन्तर नही है। तिर्यञ्चायुके बन्धकों और अबन्धकोंका अन्तर नहीं है। इत्यादि।

भावानुगममें बतलाया है कि कर्मप्रकृतियोंके बन्धकों और अबन्धकोंका कौन भाव है? यथा—मिथ्यात्वके बन्धकोंका कौन भाव है? औदयिक भाव है। अबन्धकोंमें कौन-सा भाव है? औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक या पारिणामिक।

अल्पबहुत्वके दो भेद किये हैं—एकजीवअल्पबहुत्व और दूसरा कालअल्पबहुत्व। इन दोनोंके भी स्वस्थान और परस्थानकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। यथा—साता और असाता दोनों प्रकृतियोंके अबन्धक जीव सबसे कम हैं। साताके बन्धक जीव अनन्तगुणे हैं। असाताके बन्धक जीव उनसे संख्यातगुणे हैं। दोनोंके बन्धक जीव इनसे विशेष अधिक हैं। यह स्वस्थानजीवअल्पबहुत्वके कथनका उदाहरण है।

ओघकी अपेक्षा आहारकशरीरके बन्धक जीव सबसे कम हैं। तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धक जीव उनसे असंख्यातगुणे हैं। मनुष्यायुके बन्धक जीव उनसे असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि। यह परस्थानजीवअल्पबहुत्वका उदाहरण है।

चौदह जीवसमासोंमें साता-असाता इन दोनों प्रकृतियोंके बन्धकोंका जघन्यकाल समान रूपसे स्तोक है। सूक्ष्मअपर्याप्तकोंमें साताके बन्धकका उत्कृष्टकाल

संख्यातगुणा है। असाताके बन्धकका उत्कृष्टकाल संख्यातगुणा है। इत्यादि। यह स्वस्थानकालअल्पबहुत्वका उदाहरण है।

परस्थानकालअल्पबहुत्वमें परिवर्तमान प्रकृतियोंका परस्थानमें अल्पबहुत्वका कथन किया है। ऐसी परिवर्तमान प्रकृतियाँ यहाँ २१ ली हैं—४ गति, २ गोत्र, २ वेदनीय, ४ आयु, हास्य-रतिका युगल और यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिका युगल। इन्हींके अल्पबहुत्वका विवेचन है।

इस प्रकार उक्त अनुयोगोंके द्वारा प्रकृतिबन्धका कथन ओघसे और आदेशसे किया गया है।

बन्धस्वामित्वविचयमें तो गुणस्थानों और मार्गणाओंमें कर्मप्रकृतियोंके बन्धके केवल स्वामियोंका ही कथन था। यहाँ उनके बन्धकों और अबन्धकोंके काल क्षेत्र, अन्तर आदि अनुयोगद्वारोंका कथन किया गया है।

२. स्थितिबन्धाधिकार

स्थितिबन्धके मुख्य अधिकार दो हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। मूलप्रकृतिस्थितिबन्धके मुख्य अधिकार चार हैं—स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

प्रत्येक कर्मके जघन्यस्थितिबन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टस्थितिबन्धस्थान तकके समस्त विकल्पोंको स्थितिबन्धस्थान कहते हैं। समस्त संसारी जीव चौदह जीवसमासोंमें विभक्त हैं। इनमेंसे एक-एक जीवसमासमें अलग-अलग कितने स्थितिविकल्प होते हैं, स्थितिबन्धके कारणभूत संक्लेशस्थान और विशुद्धिस्थान कितने हैं, और सबसे जघन्य स्थितिबन्धसे लेकर उत्तरोत्तर किसके कितना स्थितिबन्ध होता है, अल्पबहुत्वकी प्रक्रिया द्वारा इन तीन बातोंका कथन स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणामें किया गया है।

एक समयमें बँधे हुए कर्मोंके निषेकोंका उस समय प्राप्त स्थितिमें जिस क्रमसे निक्षेप होता है उसे निषेकरचना कहते हैं। इसका कथन करनेवाली प्ररूपणाको निषेकप्ररूपणा कहते हैं। निषेकप्ररूपणाका कथन दो अनुयोगोंके द्वारा किया गया है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधाके द्वारा बतलाया है कि आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका जितना स्थितिबन्ध होता है उसमेंसे आबाधाकालको कम करके जो स्थिति शेष रहती है उसके प्रथम समयमें सबसे अधिक कर्मपरमाणु निक्षिप्त होते हैं, और उसके आगे द्वितीयादि समयोंमें क्रमसे उत्तरोत्तर एक-एक चयहीन कर्मपरमाणुओंका निक्षेप होता है। इस प्रकार प्रति समयमें जिस कर्मके जितने परमाणुओंका बन्ध होता है उनका उक्त प्रकारसे

स्थितिके समयोंमें विभाग हो जाता है। किन्तु आयुकर्मकी आबाधा उसके स्थिति-बन्धमें सम्मिलित नहीं है। इसलिये आयुकर्मके कर्मपरमाणुओंका विभाग उसके क्रमसे स्थितिबन्धके सब समयोंमें होता है।

किस कर्मकी कितनी आबाधा होती है, इस बातका भी यहाँ संकेत किया है। जीवस्थानके चूलिकाअनुयोगद्वारकी छठवीं और सातवीं चूलिकामें क्रमसे उत्कृष्ट-स्थितिबन्ध और जघन्यस्थितिबन्धका कथन करते हुए आबाधाका भी कथन किया गया है। अतः उसको फिर यहाँ लिखना जरूरी नहीं है।

परम्परोपनिधामें बतलाया है कि प्रथम निषेकसे आगे पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाणस्थान जानेपर प्रथम निषेकमें जितने कर्मपरमाणु निक्षिप्त होते हैं उनसे वे आधे रह जाते हैं। इसी प्रकार जघन्यस्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण जानेपर वे आधे-आधे रह जाते हैं। सब कर्मोंकी निषेक-रचनाका यही क्रम है।

बंधको प्राप्त कर्म जितने काल तक फल देनेमें समर्थ नहीं होते उतने कालको आबाधाकाल कहते हैं। और जितने स्थितिविकल्पोंका एक-सा आबाधाकाल होता है उतने स्थितिविकल्पोंकी एक आबाधा होनेसे आबाधाकाण्डक संज्ञा है। इसका विचार जिसमें किया जाता है उसे आबाधाकाण्डकप्ररूपणा कहते हैं।

आबाधाकाण्डकप्ररूपणामें बतलाया है कि उत्कृष्टस्थितिसे पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाणस्थान जाने तक इन सब स्थितिविकल्पोंका एक आबाधाकाण्डक होता है अर्थात् इतने स्थितिविकल्पोंकी उत्कृष्ट आबाधा होती है।

उसके बाद इतने ही स्थितिविकल्पोंकी एक समय कम आबाधा होती है। इस प्रकार जघन्यस्थितिपर्यन्त ले जाना चाहिये। यहाँ जितने स्थितिविकल्पोंकी एक आबाधा होती है उसकी आबाधाकाण्डकसंज्ञा है। आबाधारहित उत्कृष्ट स्थितिमें उत्कृष्टआबाधाकालका भाग देनेपर एक आबाधाकाण्डकका प्रमाण आता है। किन्तु आयुकर्ममें यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि आयुकर्मकी आबाधा उसके स्थितिबन्धके अनुपातसे नहीं होती।

चौथे अल्पबहुत्वप्रकरणमें जीवसमासोंमें जघन्यआबाधा, आबाधास्थान, आबाधाकाण्डक, उत्कृष्टआबाधा, नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एकप्रदेशगुणहानि-स्थानान्तर, जघन्यस्थितिबन्ध, स्थितिबन्धस्थान और उत्कृष्टस्थितिबन्ध इन सबके अल्पबहुत्वका कथन किया है।

आगे उक्त विवेचनको अर्थपद मानकर चौबीस अधिकारोंके द्वारा मूलप्रकृति-स्थितिबन्धका कथन किया गया है। वे अधिकार हैं—अद्धाछेद, सर्वबन्ध, नो-

सर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादि-बन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, स्वामित्व, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसन्निकर्ष, नाना-जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। इसके बाद भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसान-समुदाहार और जीवसमुदाहार। इन प्रकरणों द्वारा भी मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध-का विचार किया गया है। इनमेंसे भुजगारबन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं, पदनिक्षेप-के तीन अनुयोगद्वार हैं, वृद्धिबन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं और अध्यवसानसमुदा-हारके तीन अनुयोगद्वार हैं। जीवसमुदाहारका कोई अवान्तरअनुयोगद्वार नहीं है।

आगे उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धका भी विचार इसी प्रकारसे किया गया है। अन्तर इतना है कि मूलप्रकृतिस्थितिबन्धमें केवल आठ मूलकर्मोंके आश्रयसे विचार किया गया है और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धमें १२० उत्तरप्रकृतियोंके आश्रयसे विचार किया गया है क्योंकि यद्यपि आठों कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं तथापि दर्शन-मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंमेंसे सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति ये दो अबन्धप्रकृतियाँ हैं और पाँच बन्धनों तथा पाँच संघातोंका पाँच शरीरोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, तथा स्पर्शनामकर्मके ८, रसनामकर्मके ५, गन्धनामकर्मके २ और वर्णनामकर्मके ५, इन बीस भेदोंमेंसे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन चारका ही ग्रहण किया जाता है। इस तरह २ + १० + १६ = २८ प्रकृतियोंके कम हो जानेसे १२० बन्धप्रकृतियाँ अभेदविवक्षामें ली गई हैं।

३ अनुभागबन्धाधिकार

आत्माके साथ बन्धको प्राप्त होने वाले कर्मोंमें राग, द्वेष और मोहके निमित्तसे जो फलदानशक्ति पड़ती है उसे अनुभागबन्ध कहते हैं। मूलप्रकृति और उत्तर-प्रकृतिकी अपेक्षा उसके भी दो भेद है—एक मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और दूसरा उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध। इस प्रकरणमें इन्हीं दोनों बन्धोंका विस्तारसे कथन किया गया है।

सबसे प्रथम मूलप्रकृतिअनुभागबन्धका कथन किया गया है। उसमें दो मुख्य अनुयोगद्वार हैं—निषेकप्ररूपणा और स्पर्धकप्ररूपणा। निषेकरचना दो प्रकारकी है, एक स्थितिकी अपेक्षा और एक अनुभागकी अपेक्षा। आबाधाकालको छोड़कर स्थितिके प्रत्येक समयमें बन्धको प्राप्त कर्मपुंजका जो निक्षेप होता है वह स्थिति-की अपेक्षा निषेकरचना है। स्थितिबन्धाधिकारमें उसका कथन किया गया है। अनुभागके आधारसे निषेकरचनाका कथन वेदनाखण्डका परिचय कराते हुए किया गया है। अनुभागकी मुख्यतासे निषेक दो प्रकारके होते हैं—सर्वघाति और देश-घाति। यद्यपि सर्वघाती और देशघाती भेद घातिकर्मोंमें ही सम्भव है तथापि

यहाँ अघातिकर्मोमें भी ये दो भेद किये गये हैं क्योंकि अघातिकर्म भी जीवके प्रतिजीवीगुणोंको घातनेके कारण घातिप्रतिबद्ध ही हैं। अतः निषेकप्ररूपणामें आठ कर्मोके सर्वघाति और देशघाति निषेकोंका कथन किया गया है।

अनन्तानन्तअविभागीप्रतिच्छेदोंके समुदायको एक वर्ग कहते हैं। अनन्तानन्त वर्गोंकी एक वर्गणा होती है और अनन्तानन्त वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। वेदनाखण्डमें स्पर्धकप्ररूपणाका परिचय कराया गया है। स्पर्धकप्ररूपणामें स्पर्धकोंका कथन है।

ये दोनों अनुयोगद्वार आगेकी प्ररूपणाके मूलाधार हैं। उनको आधार बनाकर संज्ञा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध आदि चौबीस अनुयोगोंके द्वारा अनुभागबन्धका कथन किया गया है। यहाँ संक्षेपमें इनका परिचय कराया जाता है।

संज्ञा—संज्ञाके दो भेद हैं, घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा। आठ कर्मोमेंसे चार कर्म घाती हैं और चार अघाती हैं। घातिकर्मके भी दो भेद हैं, सर्वघाती और देशघाती। जो जीवके ज्ञानादि गुणोंको पूरी तरहसे घातते हैं उन्हें सर्वघाती कर्म कहते हैं और जो एकदेशघात कहते हैं उन्हें देशघाती कहते हैं। चार घातिकर्मोका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती और देशघाती होता है। जघन्य अनुभागबन्ध देशघाती होता है तथा अजघन्य अनुभागबन्ध देशघाती और सर्वघाती होता है। शेष चार कर्मोंका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध घातीसे सम्बद्ध अघाती होता है। घातिसंज्ञामें यह कथन किया गया है।

घातिकर्मोमें लता, दारु, अस्थि और शैलकी उपमाको लिये हुए चार प्रकारका अनुभाग माना गया है। जिसमें यह चारों प्रकारका अनुभाग होता है, उसे चतुःस्थानिक अनुभाग कहते हैं। जिसमें शैलके बिना शेष तीन प्रकारका अनुभाग होता है उसे त्रिस्थानिक अनुभाग कहते हैं। जिसमें लता और दारुरूप अनुभाग होता है उसे द्विस्थानिक अनुभाग कहते हैं। और जिसमें केवल लता रूप अनुभाग होता है उसे एकस्थानिक अनुभाग कहते हैं। चारों घातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक होता है। जघन्यअनुभागबन्ध एकस्थानिक होता है, और अजघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है।

अघातिकर्म दो प्रकारके होते हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त कर्मोके अनुभागकी उपमा गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी जाती है। और अप्रशस्त

क्योंकि अनुभागकी उपमा नीम, कांजीर, विष और हालाहलसे भी जाती है। अघातिकर्मोंमें भी पाये जानेवाले चारों प्रकारके अनुभागको चतुःस्थानिक अन्तके भेदको छोड़कर पाये जानेवाले शेष तीन प्रकारके अनुभागको त्रिस्थानिक और अन्तके दो भेदोंको छोड़कर पाये जाने वाले शेष दो प्रकारके अनुभागको द्विस्थानिक कहते हैं। चार अघातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुस्थानिक, त्रिस्थानिक, और द्विस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक होता है। तथा अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक होता है। यह सब कथन घातिसंज्ञामें किया गया है।

सर्व-नोसर्वबन्ध—सब अनुभागोंके बन्धको सर्वबन्ध और उससे कम अनुभाग बन्धको नो सर्वबन्ध कहते हैं। इनका विचार इस अनुयोगमें किया है। आठों कर्मोंका अनुभागबन्ध सर्वबन्धरूप भी होता है और नो सर्वबन्ध रूप भी होता है।

उत्कृष्ट अनुत्कृष्टबन्ध—सबसे उत्कृष्ट अनुभागबन्धको उत्कृष्ट अनुभागबन्ध और उससे कम अनुभागबन्धको अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध कहते हैं।

सभी कर्मोंमें दोनों प्रकारका अनुभागबन्ध होता है।

जघन्य-अजघन्य अनुभागबन्ध—सबसे कम अनुभागबन्धको जघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं। और उससे अधिक अनुभागबन्धको अजघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं। सभी कर्मोंमें दोनों प्रकारका अनुभागबन्ध होता है।

सादि-अनादि ध्रुवाध्रुवबन्ध—किसी कर्मका बन्ध न होकर पुनः बन्ध होवे तो उसे सादि बन्ध कहते हैं। जो जीव अनादि कालसे पहले ही गुणस्थानमें वर्तमान है उसका बन्ध अनादिबन्ध है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका कर्मबन्ध अध्रुव है। ऊपर जो उत्कृष्ट आदि चार प्रकारका बन्ध कहा है वह सादि है अथवा अनादि, इसका कथन इन अनुयोगद्वारोंमें किया गया है।

स्वामित्व—इसका कथन तीन अनुयोगद्वारोंकी अपेक्षा किया गया है वे तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा। प्रत्यय कहते हैं। कारणको कर्मबन्धके चार प्रत्यय हैं—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग। इन चारोंमेंसे किसके निमित्तसे किस कर्मका बन्ध होता है इसका विस्तार प्रत्ययानुगममें किया गया है। यथा-छह कर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय होते हैं। वेदनीयकर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयमप्रत्यय कषाय प्रत्यय और योगप्रत्यय होता है।

कर्मोंके अनुभागका विपाक जीवमें, पुद्गलमें, क्षेत्रमें या भवमें होता है।

तदनुसार कर्मोके चार भेद किये गये हैं — जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गल-विपाकी और क्षेत्रविपाकी। चार घातिकर्म, वेदनीय और गोत्र ये जीवविपाकी हैं। आयुकर्म भवविपाकी है क्योंकि नारक आदि भवोंमें उसका विपाक देखा जाता है नामकर्मकी कुछ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं, कुछ पुद्गलविपाकी और कुछ क्षेत्रविपाकी। यह सब कथन विपाकदेशमें किया गया है।

प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणामें कहा है कि चार घातिकर्म अप्रशस्त हैं और अघाति-कर्म प्रशस्त भी हैं अप्रशस्त भी। इन तीन अनुयोगद्वारोंका कथन करनेके बाद उसके आधारसे स्वामित्वका कथन विस्तारसे किया गया है।

भुजगारबन्ध—भुजगारसे यहाँ भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्ध लिये गये हैं। वर्तमान समयमें पिछले समयसे अधिक भागबन्ध होना भुजगार बन्ध है। और कम अनुभागबन्ध होना अल्प- अनु-तरबन्ध है। तथा पिछले समयमें जितना अनुभागबन्ध हुआ हो, वर्तमानमें भी उतना ही अनुभागबन्ध होना अवस्थितबन्ध है। तथा पिछले समयमें बन्ध न होकर वर्तमानमें बन्ध होनेको अवक्तव्यबन्ध कहते हैं। इन चारों प्रकारके बन्धों-की अपेक्षा अनुभागबन्धका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया हैं। इसमें तेरह अवान्तर अधिकार हैं —समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व।

पदनिक्षेप—इस अनुयोगद्वारमें अनुभागबन्ध सम्बन्धी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि, उत्कृष्ट अवस्थान, जघन्यवृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थान-का समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन अवान्तर अधिकारोंके द्वारा कथन किया गया है।

वृद्धि—वृद्धिबन्धमें छह वृद्धि, छह हानि, अवस्थित और अवक्तव्य पदोंका समुत्कीर्तना, स्वामित्व काल, अन्तर, नानाजीवोंकी अपेक्षा भंग विचयानुगम भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन तेरह अनुयोगोंके द्वारा कथन किया गया है।

अध्यवसान समुदाहार—इसमें ये बारह अनुयोगद्वार हैं—अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान, अन्तर, काण्डक, ओजयुग्म, षट्स्थान, अधस्तन स्थान, समय, वृद्धि, यवमध्य पर्यवसान और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। चतुर्थ वेदना खण्डके अन्तर्गत वेदनाभाव विधान नामक अनुयोगद्वारकी द्वितीय चूलिकाका परिचय कराते हुए इन सबका परिचय करा आये हैं।

जीवसमुदाहार—इसमें आठ अनुयोगद्वार हैं—एक स्थान जीव स्थान प्रमाणा-

गुगम, निरन्तर स्थान-जीव प्रमाणानुगम, सान्तर स्थान जीव प्रमाणानुगम, नानाजीव काल प्रमाणानुगम, वृद्धि प्ररूपणा, यवमध्य प्ररूपणा, स्पर्शन प्ररूपणा और अल्पबहुत्व। उक्त वेदना भाव विधानके परिचयसे इनका परिचय भी ज्ञात किया जा सकता है।

इसप्रकार मूलप्रकृति अनुभागबन्धका कथन करके पश्चात् उत्तर प्रकृति अनुभागबन्धका कथन उक्त अनुयोगोंके द्वारा किया गया है।

प्रदेशबन्धाधिकार

महाबन्धके इस अन्तिम अधिकारमें मूलप्रकृति प्रदेशबन्ध और उत्तर प्रकृति-प्रदेशबन्धका कथन किया गया है। दोनोंके कथनका प्रकार एक ही है। सबसे प्रथम भागाभाग समुदाहारका कथन है—

भागाभाग समुदाहार—आठ मूलकर्मोंका बन्ध होते समय किस कर्मको समयप्रबद्धका कितना भाग मिलता है यह इसमें बतलाया गया है। सबसे कम भाग आयुको मिलता है क्योंकि उसका स्थितिबन्ध सब कर्मोंसे अल्प है। उससे नामकर्म और गोत्रकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है—क्योंकि दोनोंका स्थितिबन्ध तुल्य होते हुए भी आयुकर्मसे अधिक है। इन दोनोंसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है क्योंकि इन तीनोंका स्थितिबन्ध नाम गोत्रसे अधिक है किन्तु परस्परमें समान है। उनसे मोहनीयकर्मको अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसका स्थितिबन्ध सबसे अधिक है। किन्तु वेदनीयकर्मको मोहनीयसे भी विशेष अधिक भाग मिलता है क्योंकि सुख दुःखके निमित्तसे वेदनीयकी निर्जरा बहुत होती रहती है। आठो कर्मोंको जो भाग मिलता है वह उनकी बन्धको प्राप्त अवान्तर कर्म प्रकृतियोमें बँट जाता है। घातिकर्मोंको प्राप्त द्रव्य दो भागोंमें हो जाता है सर्वघाती और देशघाती। सर्वघाती द्रव्य सब प्रकृतियोंमें बट जाता है किन्तु देशघाती द्रव्य केवल देशघाती प्रकृतियोंमें ही बटता है। वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति बंधती है अतः इन्हें जो द्रव्य मिलता है वह सब उस एक ही कर्मप्रकृतिको मिल जाता है। अतः इनमें अवान्तर विभाग नही होता। शेष पाँच कर्मोंमें ही अवान्तर विभाग होता है। उनकी जिस समय जितनी अवान्तर प्रकृतियाँ बंधती हैं। उतनेमें ही बटवारा होता है।

यद्यपि महाबन्धकी रचना गद्य सूत्रात्मक है। तथापि उत्तर प्रकृति प्रदेश बन्धाधिकारके प्रारम्भमें दो गाथाएँ आती हैं। उनके द्वारा घातिकर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंमें बटवारेके क्रमका निर्देश किया गया है। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

'जं सव्वघादिपत्तं सगकम्म पदेसाणंतिमो भागो ।
आवरणाणं चदुधा तिधा च तध पंचधाविग्धे ॥
मोहे दुधा चदुद्धा पंचधा वा पि बज्झमाणीणं ।
वेदणीयाउगगोदे य बज्झमाणीणं भागो से ॥
(म० बं०, भा० ६, पृ० ८९)

इनमें बतलाया है कि प्रदेशबन्धके होने पर घातिकर्मोंको जो द्रव्य प्राप्त होता है उसका अनन्तवाँ भाग सर्वघाती द्रव्य है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य है। ज्ञानावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी चारों देशघाती प्रकृतियोंमें विभक्त हो जाता है। दर्शनावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी तीनों देशघाती प्रकृतियोंमें बट जाता है। अन्तरायकर्म देशघाती ही है। अतः उसको प्राप्त द्रव्य उसकी पाँचों देशघाती प्रकृतियोंमें बट जाता है। मोहनीयकर्मके देशघाती द्रव्यके मुख्य दो भाग होते हैं एक भाग कषायवेदनीयको मिलता है और एक भाग नोकषाय वेदनीयको। कषायवेदनीयका द्रव्य बन्धानुसार चार भागोंमें और अकषायवेदनीयका द्रव्य पाँच भागोंमें विभक्त हो जाता है। वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमेंसे एक कालमें एकका ही बन्ध होता है। इसलिये इन कर्मोंको प्राप्त द्रव्य बंधने वाली उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है।

भागाभाग समुदाहारके पश्चात् चौबीस अनुयोगद्वारोंका निर्देश है। जो इस प्रकार हैं—स्थानप्ररूपणा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध; अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध अध्रुवबन्ध, स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षाकाल, अन्तर, सन्निकर्ष, नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। उनके पश्चात् भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धि, अध्यवसान समुदाहार और जीव समुदाहारका कथन किया गया है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्थान प्ररूपणा—इसके अवान्तर अधिकार दो हैं—योग स्थान प्ररूपणा और प्रदेशबन्ध प्ररूपणा। योग स्थान प्ररूपणामें चौदह जीव समासोंके आश्रयसे पहले जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंके अल्प बहुत्वका कथन किया है। फिर दस अनुयोगोंके द्वारा उनका विशेष कथन किया है। वे दस अनुयोगद्वार हैं—अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंको लानेमें कारण है

उसे योग कहते हैं। जीवके सब प्रदेशोंमें योग शक्ति तारतम्यरूपसे रहती है। उसीसे योग स्थान बनते हैं। पहली अविभागी प्रतिच्छेद प्ररूपणामें बतलाया है कि प्रत्येक आत्म प्रदेशमें योगशक्तिके कितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। उन्हींके समूहको वर्गणा और वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। वर्गणा और स्पर्धक प्ररूपणामें उनकी वर्गणाओं और स्पर्धकोंका कथन है।

अन्तर प्ररूपणामें बतलाया है कि एक स्पर्धककी अन्तिमवर्गणासे दूसरे स्पर्धककी प्रथमवर्गणामें अविभागी प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा कितना अन्तर होता है। स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि कितने स्पर्धक मिलकर एक योगस्थान बनता है। अनन्तरोपनिधामें बतलाया है कि जघन्य योगस्थानसे लेकर उत्कृष्ट योगस्थान तक प्रत्येक योगस्थानमें कितने स्पर्धक बढ़ते जाते हैं। परम्परोपनिधामें बतलाया है कि कितने योगस्थान आगे जाकर वे स्पर्धक दुने हो जाते हैं। समय प्ररूपणामें बतलाया है कि चार समय वाले, पाँच समय वाले, छह समय वाले, सात समय वाले, आठ समय वाले तथा पुनः सात समय वाले, छह समय वाले, पाँच समय वाले, चार समय वाले, और इनसे ऊपरके तीन समय वाले तथा दो समय वाले योगस्थान अलग-अलग जगत् श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। वृद्धि प्ररूपणामें योगस्थानमें होने वाली असंख्यात भाग वृद्धि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग-वृद्धि-संख्यातभागहानि संख्यातगुणवृद्धि-संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणवृद्धि-असंख्यात गुणहानि, इन चार हानि-वृद्धियोंका कथन किया गया है। अल्पबहुत्व प्ररूपणमें आठ समयवाले सात समय वाले आदि योगस्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन है। योगस्थान प्रकरणका दूसरा अधिकार प्रदेशबन्ध स्थान प्ररूपणा है। इसमें बतलाया है कि जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्धस्थान हैं किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेषकी अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं।

सर्व-नो सर्वबन्ध—समस्त प्रदेशबन्धको सर्वबन्ध और उससे कमको नो सर्व-बन्ध कहते हैं। ओघसे सभी कर्मोंका सर्वबन्ध भी होता है और नो सर्वबन्ध भी होता है। आदेशसे नरक गतिमें मोहनीय और आयु कर्मके सिवाय शेष कर्मोंका नो सर्वबन्ध होता है।

उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धप्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सभी कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है। आदेशसे नरक गतिमें मोह और आयुकर्मके सिवाय शेष छै कर्मोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है।

जघन्यअजघन्य प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सब कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है और अजघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है।

सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे छह कर्मोंका उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुवबन्ध है अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सादि आदि चारों प्रकारका होता है। मोहनीय और आयुकर्मका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य अजघन्य प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुवबन्ध होता है। इत्यादि कथन है।

स्वामित्वप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंका कथन किया है। सामान्यरूपसे जो उत्कृष्ट योगसे युक्त होता है और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके साथ कमसे कम प्रकृतियोंका बन्ध करता है वह उत्कृष्ट प्रदेश बन्धका स्वामी होता है। तथा जो जघन्य योगसे युक्त होता है और जघन्य प्रदेशबन्धके साथ अधिकसे अधिक प्रकृतियोंका बन्ध करता है, वह जघन्य प्रदेशबन्धका स्वामी होता है।

कालप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें जघन्य और उत्कृष्टप्रदेशबन्धके कालका कथन किया गया है। यथा—ओघसे छह कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल दो समय है, इत्यादि।

अन्तरप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल व उत्तरप्रकृतियोंके उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोंके अन्तरकालका कथन है। यथा—ओघसे छह कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेश-बन्धका जघन्य अन्तरकाल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तप्रमाण है, इत्यादि।

सन्निकर्षप्ररूपणामें—उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्यप्रदेशबन्धके आश्रयसे स्वस्थान सन्निकर्ष और परस्थानसन्निकर्षका कथन किया गया है। पहले उत्कृष्ट-स्वस्थान और उत्कृष्टपरस्थान सन्निकर्षका कथन है, पश्चात् जघन्यस्वस्थान और जघन्यपरस्थान सन्निकर्षका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणकर्मका उत्कृष्टप्रदेश-बन्ध करनेवाला जीव श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका नियमसे उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करता है। यह उत्कृष्टस्वस्थान सन्निकर्षका उदाहरण है। इसी प्रकार ओघ और आदेशसे सब सन्निकर्ष घटित किये है। यह प्रकरण काफ़ी बड़ा है। उत्कृष्ट सन्निकर्षके अन्तमें यहाँ भी 'पवाइज्जमाण' और अपवाइज्जमाण उपदेशोंका निर्देश मिलता है। जैसा कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें मिलता है।

भंगविचयप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल व उत्तरप्रकृतियोंके उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशबन्धके भंगोंका नानाजीवोंकी अपेक्षा कथन किया गया है। उसमेंसे मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन नष्ट हो गया है।

भागाभागप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंमें भागाभागप्ररूपणाका कथन भी नष्ट हो

गया है। उत्तरप्रकृतियोंमें भागाभागका कथन वर्तमान है। उदाहरणके लिये—तीन आयु, वैक्रियिकषट्क और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीव इनका बन्ध करनेवाले जीवोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात बहुभागप्रमाण होते हैं, इत्यादि कथन किया गया है। परिमाणप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन करनेवाला भाग नष्ट हो गया है। उत्तरप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन करनेवाला भाग अवशिष्ट है। उसमें बतलाया है—तीन आयु, और वैक्रियिकषट्कका उत्कृष्टप्रदेशबन्ध और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात है। आहारकद्विकका उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट-प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव संख्यात हैं। इत्यादि रूपसे बन्ध करनेवालोंका परिमाण बतलाया गया है।

क्षेत्रप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोमें क्षेत्रप्ररूपणाका कथन तो त्रुटित है। उत्तर-प्रकृति विषयक कथन अवशिष्ट है। उसमें बतलाया है कि तीन आयु, वैक्रियिक-षट्क, आहारकद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोका क्षेत्र लोकके असख्यातवें भाग है और शेष प्रकृतियोका उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोंका क्षेत्र लोकके संख्यातवें भागप्रमाण है। इत्यादि कथन है।

स्पर्शन प्ररूपणा—मूलप्रकृतियोमे कथन करनेवाला भाग तो नष्ट हो गया है। उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध करने-वालोंके स्पर्शनका कथन अवशिष्ट है।

नानाजीवोंकी अपेक्षाकाल—मूलप्रतियोकी अपेक्षा उत्कृष्टकाल प्ररूपणा नष्ट हो गई जघन्यकालप्ररूपणा तथा उत्तरप्रकृति विषयककाल प्ररूपणा अवशिष्ट है।

नानाजीवोंकी अपेक्षा अन्तर—इसमें ओघतथा आदेशसे मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोंका अन्तरकाल नानाजीवोंकी अपेक्षा बतलाया गया है। यथा—आठों कर्मोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धका जघन्य अन्तर एक समय है। अनुत्कृष्ट-प्रदेशबन्धका अन्तरकाल नही है। उत्तरप्रकृतियोकी अपेक्षा भी यही काल है, इत्यादि कथन है।

भावप्ररूपणा—चूंकि सब प्रकृतियोंका बन्ध औदयिकभावसे होता है इसलिये यहाँ सब मूल और उत्तरप्रकृतियोंका जघन्य और उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोंके औदयिक भाव बतलाया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—अल्पबहुत्वके दो भेद हैं स्वस्थान अल्पबहुत्व और परस्थान अल्पबहुत्व। मूलप्रकृतियोंमे स्वस्थान अल्पबहुत्व संभव नहीं है। उत्तर-प्रकृतियोंका दोनो प्रकारका अल्पबहुत्व संभव है। यहाँ दोनों प्रकारका अल्प-बहुत्व उत्कृष्ट तथा जघन्यप्रदेशबन्धकी अपेक्षा ओघ तथा आदेशसे बतलाया है।

भुजगार बन्ध

इस प्रकरणमें भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोंका कथन है। पिछले समयकी अपेक्षा वर्तमानमें अधिक प्रदेशोंका बन्ध करना भुजगार बन्ध है, कम प्रदेशोंका बन्ध करना अल्पतरबन्ध है, पिछले समयमें जितना प्रदेश बन्ध किया था वर्तमान समयमें भी उतना ही प्रदेशबन्ध होना अवस्थितबन्ध है, और बन्ध न करके बन्ध करना अवक्तव्यबन्ध है। इन बन्धोंका कथन तेरह अनुयोगोंके द्वारा किया गया है—समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व। ताड़पत्रके नष्ट हो जानेसे इस प्रकरणका कुछ भाग लुप्त हो गया है।

यहाँ भी मूल प्रकृतियोंमें ओघसे अवस्थित पदके कालका कथन करते हुए पवाइज्जंत तथा अपवाइज्जंत उपदेशका निर्देश किया है।

पदनिक्षेप

उक्त भुजगार अल्पतर आदि पद उत्कृष्ट भी होते हैं और जघन्य भी होते हैं। अतः इस प्रकरणमें भुजगारके उत्कृष्ट वृद्धि और जघन्य वृद्धि ये दो भेद करके अल्पतरके उत्कृष्ट हानि और जघन्य हानि ये दो भेद करके तथा अवस्थित पदके उत्कृष्ट अवस्थान और जघन्य अवस्थान ये दो भेद करके कथन किया गया है। अतः पदनिक्षेपके समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रत्येकके उत्कृष्ट और जघन्य ये दो भेद करके कथन किया है। तदनुसार उत्कृष्ट समुत्कीर्तना, उत्कृष्ट स्वामित्व और उत्कृष्ट अल्पबहुत्वमें ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि और उत्कृष्ट अवस्थानका कथन है। तथा जघन्य समुत्कीर्तना, जघन्य स्वामित्व और जघन्य अल्पबहुत्वमें ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य वृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थानका कथन है।

इस प्रकरणका भी ताड़पत्र नष्ट हो जानेसे कितना ही अंश लुप्त हो गया है।

वृद्धि

वृद्धि पदसे यहाँ वृद्धि, हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन चारोंका ग्रहण होता है। इन चारोंके अवान्तर भेद बारह हैं—अनन्त भाग वृद्धि, अनन्तभाग हानि, असंख्यातभागवृद्धि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागहानि संख्यातगुणवृद्धि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणहानि, अवस्थित और अवक्तव्य। यहाँ इन पदोंकी अपेक्षा समुत्कीर्तना आदि तेरह अनुयोगोंका ओघ

और आदेशसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें कथन किया है। यहाँ भी मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा वृद्धि अनुयोगद्वारका कथन करने वाला प्रकरण ताड़पत्रके नष्ट हो जानेसे नष्ट हो गया है। केवल उत्तर प्रकृतियोंका प्रकरण अवशिष्ट है।

अध्यवसानसमुदाहार

अध्यवसान समुदाहारके अन्तर्गत दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगममें योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका कथन करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरणीय कर्मके असंख्यात प्रदेशबन्धस्थान हैं जो योगस्थानोंसे संख्यातवें भाग प्रमाण अधिक हैं। इसका कारण भी बतलाया है। मूलप्रकृतियोंकी तरह ही उत्तर प्रकृतियोंमें प्रत्येक प्रकृतिकी अपेक्षा योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका अलग-अलग कथन किया है। तथा अल्पबहुत्वमें इन योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा किया है।

जीवसमुदाहार

जीवसमुदाहारके अन्तर्गत भी दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगममें चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंको कथन करनेके बाद, उन्हीं चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध स्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन किया है। तथा अल्पबहुत्वमें उसके जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट भेद करके ओघ व आदेशसे सब मूल व उत्तर प्रकृतियोंके प्रदेशोंके बन्धक जीवोंके अल्पबहुत्वका कथन किया है।

इस प्रकार महाबन्धके अन्तर्गत प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबंधाधिकारोंके विषयका यह सामान्य परिचय है। चारों अधिकारोंकी शैली तथा अनुयोगद्वार आदि सब समान हैं। केवल आधार भूत प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध आदि बन्धोंको लेकर ही विषय भेद पाया जाता है।

महाबन्धके उपर्युक्त वस्तु-विश्लेषणसे यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त-ग्रन्थमें अनुयोगद्वार पूर्वकबन्धके भेदोंका विवेचन किया गया है। इस विवेचन-सन्दर्भमें जिन भुजाकार आदि बन्ध-विकल्पोंका कथन आया है उनका उत्तरकालीन साहित्यपर पूरा प्रभाव दिखायी पड़ता है। वास्तवमें बन्धका ऐसा सूक्ष्म और विस्तृत प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

●

द्वितीय अध्याय

चूर्णिसूत्र साहित्य

दिगम्बर परम्परामें मूल सिद्धान्त ग्रन्थोंके कुछ ही समय पश्चात् चूर्णिसूत्र साहित्य लिखा गया है। इस साहित्य विधाका उद्गम कब और कैसे हुआ यह तो निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता पर 'कसायपाहुड' पर यतिवृषभके जो चूर्णि सूत्र उपलब्ध हैं, उनके अध्ययनसे यह अनुमान होता है कि इतने प्रौढ़ सूत्र एकाएक नहीं लिखे जा सकते हैं। अवश्य कोई पूर्ववर्ती परम्परा रही होगी, जो अनवच्छिन्न कालके प्रवाहमें आज उपलब्ध नहीं है।

मूल सिद्धान्त ग्रन्थों और चूर्णि सूत्रोंके तुलनात्मक अध्ययनसे इतना अवश्य प्रकट होता है कि चूर्णिसूत्र सिद्धान्त ग्रन्थोंके पश्चात् और अन्य भाष्य एवं विवृत्तियोंके पूर्वमें रचे गये होंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि दिगम्बर परम्पराका 'चूर्णिसूत्र साहित्य' श्वेताम्बर-परम्पराके 'चूर्णि साहित्य' से स्थापत्य और वर्ण्य-विषय दोनों ही दृष्टियोंसे भिन्न है। श्वेताम्बर परम्पराकी चूर्णियाँ गद्यात्मक और पद्यात्मक मिश्रित शैलीमें लिखी गयी हैं। इनकी भाषा भी संस्कृत मिश्रित प्राकृत है तथा कतिपय चूर्णियाँ प्राकृतमें भी उपलब्ध हैं। इन चूर्णियोंकी शैली-की एक प्रमुख विशेषता आख्यानात्मक उदाहरणों द्वारा विषयके स्पष्टीकरणकी है। चूर्णिकार अपनी ओरसे कोई सिद्धान्तात्मक नये तथ्य अंकित नहीं करता, अपितु निर्युक्तियों और भाष्यों द्वारा विवृत तथ्योंकी ही पुष्टि करता है।

पर दिगम्बर परम्पराके चूर्णि सूत्रोंमें आगम सम्बन्धी नये तथ्योंकी प्रचुरता है। बीज पदरूप गाथा सूत्रों पर ये 'चूर्णिसूत्र' वृत्तिका कार्य करते हुए भी अनेक नये तथ्योंको सूत्र रूपमें प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि जयधवलाकारने चूर्णि सूत्रोंके भी व्याख्यान लिखे हैं। बताया जाता है कि 'कसायपाहुड' की गाथाओंका सम्यक् अर्थ अवधारण कर उन पर वृत्ति सूत्र लिखे गये हैं। ये वृत्ति सूत्र ही चूर्णिसूत्र कहे जाते हैं। 'जयधवला' में वृत्ति सूत्रका लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

'सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो।'[1]

---

१. जयधवला अ० प० ५२।

अर्थात् जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रगत विशेष अर्थोंका संग्रह किया गया हो, ऐसे सूत्रोंके विवरणको वृत्ति सूत्र कहते हैं।

चूर्णि सूत्रोंके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारके साहित्यमें वृत्ति रूप संक्षिप्त सूत्र लिखे जाने पर भी अर्थ बहुल पदोंका समावेश किया गया जिससे चूर्णि सूत्रोंमें पर्याप्त प्रमेयका समावेश हुआ है। यदि इन चूर्णि सूत्रोंको चूर्णि पदों का समानार्थक मान लिया जाय, तो चूर्णिपदकी व्याख्यामें समाहित सभी लक्षण इन सूत्रोंमें घटित होते हैं। हम यहाँ चूर्णिपदका लक्षण प्रस्तुत करते हैं।

अत्थबहुलं महत्थं हेउ-निवाओवसग्गगम्भीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गम-णयसुद्धं त चुण्णपयं ॥[1]

अर्थात् अर्थबहुल, महान अर्थका धारक या प्रतिपादक, हेतु निपात और उपसर्गसे युक्त गम्भीर, अनेक पद समन्वित और अव्यवच्छिन्न चूर्णिपद कहलाते हैं। आशय यह है कि जिनमें वस्तुका स्वरूप धारा प्रवाहसे कहा गया हो तथा जो अनेक प्रकारके जाननेके उपाय और नयोंसे शुद्ध हों, उन्हें चौर्ण अथवा चूर्णि सम्बन्धीपद कहते हैं।

चूर्णिपदका यह लक्षण चूर्णि सूत्रोंमें घटित होता है। अतः यह अनुमान सहज है कि 'वृत्ति'[1] और 'चूर्णि' एकार्थक हैं। आचार्य यतिवृषभने 'कसायपाहुड' के गाथा-सूत्रोंपर वृत्यात्मक ऐसे सूत्र लिखें, जो बीजपदोंके विश्लेषणके साथ प्रसंगगत नये तथ्योंके भी सूचक हैं। अतएव चूर्णि सूत्र सूत्रात्मक शैलीमें रचित बीजपद विवृत्यात्मक ऐसा साहित्य है, जिसमें शब्द अल्प और अर्थबहुल पाया जाता है। यथार्थतः चूर्णिसूत्रकार गाथा-सूत्रोंके बीजपदोंका विश्लेषण कई सूत्रोंमें भी करते हैं। बीजपदोंमें अन्तर्निहित अर्थका विश्लेषण जब तक प्रकट नहीं हो जाता, तब तक वे संक्षिप्त रूपमें सूत्रोंका प्रणयन करते हैं। अपने इस कथन-की पुष्टिके हेतु "पेज्जदोसविहत्तिअत्थाहियारा" की दूसरी गाथा बाईसवीं संख्यक ली जा सकती है। चूर्णि सूत्रकारने इस गाथाके प्रत्येक पदको बीज मान-कर प्रकृति विभक्तिका १२९ सूत्रोंमें, स्थिति विभक्तिका ४०७ सूत्रोंमें, अनुभाग विभक्तिका १८९ सूत्रोंमें, प्रदेश विभक्तिका २९२ सूत्रोंमें, क्षीणाक्षीणका १४२ सूत्रोंमें और स्थित्यन्तिकका १०६ सूत्रोंमें वर्णन किया है। इस वर्णनसे यह ध्वनित होता है कि चूर्णिसूत्र साहित्य बीजपदोंका व्याख्यात्मक तो है ही, साथ ही उसमें ऐसे भी अनेक पद प्रयुक्त हैं, जिनकी व्याख्या या वर्णन जाननेके लिये संकेत किया गया है। अणुचिंतिऊण णेदव्वं (सूत्र १९२, गाथा ६२), णेण्हियव्वं (सूत्र १५५, गाथा १२३), दट्ठव्वं (सूत्र ३२५, गाथा १२३), साहेयव्वं (सूत्र ८५

1. अभिधान राजेन्द्र 'चुण्णपद'।

गाथा ५८९,) आदि पदोंसे यह प्रकट है कि चूर्णिसूत्रोंमें निहित अर्थ उच्चारणाचार्य या व्याख्यानाचार्यों द्वारा अवगन्तव्य अथवा मननीय है।

चूर्णि सूत्रोंके विश्लेषणके सम्बन्धमें 'जयधवलाटीका' में भी कतिपय तथ्य उपलब्ध हैं। हम यहाँ इस विमर्शको प्रस्तुतकर 'चूर्णि सूत्र' साहित्य विधाके स्वरूप निर्धारणका प्रयास करेंगे। वास्तवमें यह साहित्य विधा वृत्त्यात्मक ऐसी मौलिक विधा है, जिसमें बीज पदोंकी वृत्तिके साथ विषय सम्बन्धी नये तथ्य भी संकेतित हैं। चूर्णि सूत्रोंमें प्रस्तुत की गयी वृत्तियाँ सूत्रात्मक हैं, भाष्यात्मक नहीं। साहित्य विधाकी मनोवैज्ञानिक पीठिकामें बतलाया जाता है कि मूल आगम सम्बन्धी रचनाओंके तत्काल ही सूत्रात्मक वृत्तियाँ लिखी जाती हैं, जो उत्तरकालीन वार्तिकका पूर्व रूप रहती हैं, ऐसे सूत्रोंकी व्याख्याएँ भी उत्तरकालमें टीकाकारों द्वारा लिखी जाती हैं।

जयधवलाकी मंगल गाथाओंमें यतिवषभको वित्तिसुत्तकत्ता[1]—वृत्तिसूत्र कर्ता लिखा है। और जयधवलाके अन्दर[2] तो चुण्णिसुत्त करके बहुतायतसे उनका उल्लेख पाया जाता है। इसी तरह षट्खण्डागमकी[3] टीका धवलामें भी चुण्णिसुत्त नामसे उनका निर्देश पाया जाता है। इन्द्र नन्दिने अपने श्रुतावतारमें[4] वृत्तिसूत्र और चूर्णिसूत्र दोनों नामोंका प्रयोग बड़े ढंगसे किया है। उन्होंने लिखा है कि उसके पश्चात् यतिवृषभने उन गाथाओं पर वृत्ति सूत्र रूपसे छै हजार प्रमाण चूर्णि सूत्रोंकी रचना की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यतिवृषभकी इस कृतिका नाम चूर्णिसूत्र है और कषायपाहुडकी वृत्तिरूप होनेसे उन्हें वृत्ति सूत्र कहते हैं।

धवलामें इन्हें पाहुड़[5] चुण्णिसुत्त भी कहा है। कसायपाहुड़का संक्षिप्त नाम पाहुड़ करके उसके चूर्णिसूत्र होनेसे पाहुड़चुण्णिसुत्त कहना उचित ही है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी अन्तिम[6] गाथामें त्रिलोकप्रज्ञप्तिका परिमाण बतलाते हुए

---

१. 'सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ।' —क० प्रा०, भा० १, पृ० २।
२. क० पा० भा० १, पृ० ५, १२, २७; ८८, ९६।
३. 'पुणो सो अत्थो आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहरभडारयं संपत्तो। पुणो तत्तो आइरियपरंपराए आगंतूण अज्जमंखु-णागहत्थिभडारयाणं मूलं पत्तो। पुणो तेहि दो-हिवि कमेण जदिवसह भडारयस्स वक्खाणिदो, तेणवि अणुभागसंकमे सिस्साणुग्गहट्ठम चुण्णिसुत्ते लिहिदो।' —षट्खं, पु० १२, पृ० २३२।
४. 'तेन ततो यतिपतिना तद्गाथा वृत्तिसूत्ररूपेण। रचितानि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ चूर्णि-सूत्राणि॥ १५६॥ —तत्त्वानु०, पृ० ८७।
५. 'पयत्तं कत्थ सिद्धं? पाहुड चुण्णिसुत्ते सुप्पसिद्धं।' —षट्खं, पु० १२, पृ० ९४।
६. 'चुण्णिसरूवं छक्करणसरूवपमाण होइ किं जं तं। अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्ति-णामाए॥७७॥ —ति० प० भा० २, प० ८८१।

'चूर्णिसुत्तम्' का निर्देश आया है जो यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रोंके लिये ही आया है। इस आधारसे यतिवृषभकी कृती आगे आनेसे यह मानना पड़ता है कि यतिवृषभने स्वयं अपनी कृतिको 'चूर्णि' संज्ञा प्रदान की थी।

दि० जैनसाहित्यमें चूर्णिसूत्रके नामसे प्रसिद्ध अन्य किसी रचनासे हम अवगत नहीं हैं। किन्तु धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने षट्खण्डागमके सूत्रोंको भी 'चुण्णिसुत्त' नामसे अभिहित किया है। परन्तु उन्हीं सूत्रोंको चूर्णिसूत्र कहा है जो गाथाके व्याख्यानरूप हैं। बात यह है कि वेदनाखण्डमें कुछ गाथाएँ भी आती हैं जो सूत्र उनके व्याख्यानरूप हैं उन्हींको धवलाकारने चूर्णिसूत्र[1] कहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गाथाओंके व्याख्यानरूप सूत्र चूर्णिसूत्र कहे जाते थे।

जयधवलाकारने यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रोंको वृत्तिसूत्र कहा है। जिस प्रसंगसे जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका लक्षण किया है, उस प्रसंगको भी यहाँ दे देनेसे उसपर विशेषप्रकाश पड़ेगा।

प्रसंग यह है कि चूर्णिसूत्रोंमें एक जगह केवल दोका अंक रखा है। उसपर शंकाकार पूछता है कि यह दोका अंक यहाँ क्यों रखा? तो जयधवलाकार उत्तर देते हैं कि अपने हृदयमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये यतिवृषभाचार्यने २ का अंक रखा है। इसपर शंकाकार पुनः पूछता है कि उस अर्थको अक्षरोंके द्वारा क्यों नहीं कहा? तो जयधवलाकार उत्तर देते हैं कि वृत्तिसूत्रका अर्थ कहनेपर चूर्णिसूत्रके उपयुक्त कोई नाम ही नहीं रहता क्योंकि जिसमें वृत्तिसूत्रका अर्थ भी कहा गया हो उसे वृत्तिसूत्र नहीं कहा जा सकता। 'जो सूत्रका ही व्याख्यान करता है तथा जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त है और जिसमें सूत्रके समस्त अर्थको संग्रहीत कर दिया गया है उसे वृत्तिसूत्र[2] कहते हैं।

वृत्तिसूत्रका उक्त लक्षण यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें पूर्णतया घटित होता है क्योंकि उसकी शब्द रचना संक्षिप्त है फिर भी उनमें गाथासूत्रोंका समस्त अर्थ संगृहीत है। संभव है जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका यह लक्षण चूर्णिसूत्रोंकी दृष्टि रखकर ही बनाया हो।

किन्तु इस प्रकारके वृत्तिसूत्रोंको चूर्णिसूत्र नाम देनेका हेतु क्या है यह पूर्वमें लिखा जा चुका है।

महत्त्व

चूर्णिसूत्रोंका महत्त्व कसायपाहुडकी गाथाओंसे किसी तरह कम नहीं प्रतीत

---

१. 'एदस्स गाहासुत्तस्स विवरणमाबेण रचिद उवरिम चुण्णिसुत्तादो।'
—षट्खं०, पु० १२, पृ० ४१।

२. क० पा०, भा० २, पृ० १४१।

होता। चूंकि गाथासूत्रोंमें जिन अनेक विषयोंकी पृच्छा मात्र और सूचना मात्र है उन सबका प्रतिपादन चूर्णिसूत्रोंमें किया गया है। अतः एक तरहसे कसायपाहुड और चूर्णिसूत्र दोनों मिलकर एक ग्रन्थरूप हो गये हैं और चूर्णिसूत्रकारका मत कसायपाहुणकारका मत माना जाता है। वीरसेनस्वामीने धवला टीकामें अनेक स्थानों पर चूर्णिसूत्रकारके मतको 'कसायपाहुड'[1]के नामसे उल्लिखित किया है। इतना ही नहीं किन्तु चूर्णिसूत्रको उद्धृत करके उसे पाहुडसुत्त[2] नामसे अभिहित किया है।

धवला[3]में अनेक स्थानों पर षट्खण्डागमके मतके सामने चूर्णिसूत्रकारके मतको रखकर वीरसेनस्वामीने दोनोंको परस्पर विरुद्ध बतलाया है। और इस तरह चूर्णिसूत्रकारके मतोंको षट्खण्डागमके मतोंसे समकक्षता प्रदान की है। इसका प्रभाव हम उत्तर कालीन ग्रन्थकारों पर भी पाते हैं। विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके जैनाचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने धवलाके आधार पर लब्धिसार[4] नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उसमें उन्होंने पहले यतिवृषभके मतका निर्देश किया है तदनन्तर भूतबलिके मतका निर्देश किया है। यतिवृषभका मत उनके चूर्णिसूत्रोंके आधार पर ही दर्शाया गया है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। अत: चूर्णिसूत्रोंका महत्त्व स्पष्ट है।

कसायपाहुड और चुण्णिसुत्त : अधिकार विमर्श

यह लिख आये हैं कि दो गाथाओंके द्वारा गुणधराचार्यने कषाय प्राभृतके अधिकारोंका नाम निर्देश किया है। और वे दोनों गाथाएं गुणधरकृत ही मानी गई हैं उसमें कोई मतभेद नहीं है।

यति वृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोंके द्वारा १५ अर्थाधिकारोंका निर्देश किया है किन्तु गुणधर निर्दिष्ट अधिकारोंसे उसमे अन्तर है।

जयधवला टीकामे इस पर आपत्ति करते हुए यह आशङ्का की गयी है कि गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये पन्द्रह अधिकारोंके रहते हुए उन्हीं पन्द्रह अधिकारोंको अन्य प्रकारसे बतलानेके कारण यतिवृषभ गुणधर भट्टारकके दोष दिखाने वाले क्यों नही होते ? इसका परिहार करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि

---

१. कसायपाहुडे सम्मत्तसम्मामिच्छत्ताणमुक्कस्साणु भागो दसणमोहक्खवगं मोत्तूण सव्वत्थ होदित्ति परूविदत्तादो वा णव्वदे–षट्खं, पु० १२, पृ० ११६, पृ० १२९, पृ० १३८।

२. षट्० पु० १२, पृ० २३१। 'एसो पाहुड चूण्णिसुत्ताभिप्पाओ।– षट्खं, पु० ६, पृ० ३३१

३. 'कसायपाहुडसुत्तेणेदंसुत्तं विरुज्झदि त्ति। वुत्ते सच्चं विरुज्झइ—षट्खं, पु० ८, पृ० ५६। 'एसो संतकम्मपाहुडउवदेसो कसायपाहुड उवदेसो पुण . . . पु० १, पृ० २१७।

४. जदि मरदि सासणो सो णिरय तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि। णियमा देवं गच्छदि जइवसह मुणिंदं वयणेण ॥३४९॥ उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि। भूतबलिणाह णिम्मल सुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५०॥ लब्धि०

यतिवृषभने गुणधराचार्यके द्वारा कहे गये अधिकारोंका निषेध नहीं किया किन्तु उनके ही कथनका अभिप्रायान्तर व्यक्त किया है। गुणधराचार्यने तो पन्द्रह अधिकारोंकी दिशा मात्र दिखलाई है। उससे यह आशय नहीं लेना चाहिये कि जिन अधिकारोंका गुणधराचार्यने निर्देश किया है वे ही अधिकार होने चाहिये। इसी बातको दिखलानेके लिये यतिवृषभने अन्य प्रकारसे पन्द्रह अधिकार कहे हैं। संभवतः अपने उक्त परिहारको उपपन्न करनेके लिये जयधवलाकारने एक तीसरे प्रकारसे पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश किया है और लिखा है कि इसी प्रकार चौथे पांचवें आदि प्रकारोंसे पन्द्रह अधिकारोंका कथन कर लेना चाहिये। गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट पन्द्रह अधिकारोंका कथन करने वाली गाथाएं इस प्रकार हैं—

> 'पेज्जदोस विहत्ती ट्ठिदि अणु भागे च बंधगे चेय।
> वेदग उवजोगेवि य चउट्ठाण वियंजणे चेय ॥१३॥
> सम्मत्त देस विरयी संजम उवसामणा च खवणा च।
> दसंण चरित्त मोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥

१. पेज्जदोसविहत्ती (प्रेयोद्वेष विभक्ति,), २. ट्ठिदि (स्थिति विभक्ति), ३. अणु भाज (अनुभाग विभक्ति), ४-५. बंधग (अकर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक और कर्मबंधकी अपेक्षा बन्धक अर्थात् संक्रामक), ६. वेदग (वेदक), ७. उवजोग (उपयोग) ८. चउट्ठाण (चतुःस्थान), ९ वियंजण (व्यञ्जन), सम्मत्त (१०. दर्शनमोहकी उपशामना और ११. दर्शनमोहकी क्षपणा। १२. देस विरयी देश विरति), १३. संजम (सकल संयम), १४. उवसामणा च (चारित्र मोहकी उपशामना), १५ खवणा च (चारित्रमोहकी क्षपणा) ये पन्द्रह अधिकार गुणधराचार्यने कहे हैं। उक्त गाथाओं के ही आधार पर रचित चूर्णिसूत्रोंमें यतिवृषभने नीचे लिखे अनुसार पन्द्रह अधिकार गिनाये हैं—

पेज्ज दोसे १. (प्रेयोद्वेष, विहत्ति ट्ठिदि अणु भागे च २. (प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीणा और स्थित्यन्तिककोलिये हुए दूसरा अधिकार), बंधगेति बंधो च ३ संकमो च ४. (बन्धकपदसे तीसरा बन्धक और चौथा संक्रम) अधिकार वेदएत्ति उदओ च ५. उदीरणा च ६ (वेदकपदसे पांचवा उदयाधिकार और छठा उदीरणाधिकार), उवजोगे च ७. (उपयोग), चउट्ठाणेच ८ (चतुः स्थान), वंजणे च ९. (व्यञ्जन), सम्मत्तेत्ति दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०. दसंणमोहणीयक्खवणा च ११ ('सम्यक्त्व' पदसे दर्शन मोहनीयकी उपशामना नामक दसवां दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नामक ग्यारहवां अधिकार), देसविरदी च १२ (देशविरति नामक बारहवां अधिकार), संजमे उवसामणा च खवणा च चारित्त मोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४. (चारित्र मोहनीयकी उपशामना नामक तेरहवां और चारित्र मोहनीयकी

क्षपणा नामक चौदहवां अधिकार) अद्धा परिमाणणिद्देसो १५. (और पन्द्रहवां अद्धापरिमाण निर्देश नामक अधिकार।

गुणधराचार्यने 'पेज्जदोस विहत्ती' इत्यादि गाथाके पूर्वार्ध द्वारा पांच अधिकारोंको सूचित किया है। किन्तु उनके नामोंके सम्बन्धमें 'पेज्ज दोस विहत्ती ट्ठिदि अणु भागे य बधगेचेय। केवल इतना ही कहा है। इस गाथांशसे पेज्जदोस विहत्ती, ट्ठिदि, अणुभाग और बंधक इन चार नामोंका संकेत मात्र मिलता है। उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रारम्भके पांच अधिकारोंमेंसे कौन अधिकार किस नाम वाला है। इसीसे आचर्य यतिवृषभ उक्त गाथार्थके शब्दोंका अनुसरण करते हुए भी उसके द्वारा केवल चार अधिकारोंका निर्देश करते हैं और वेदक अधिकारके उदय और उदीरणा दो भेद करके संख्याकी पूर्ति करते हैं।

तथा गुणधराचार्यने संयमासंयम लब्धि और लब्धिको तेरहवां और चौदहवां अधिकार माना है। किन्तु यतिवृषभने संयमासंयम लब्धिको तो स्वतंत्र अधिकार माना है परन्तु गाथामें आये हुए संजमे पदको उपशामना और क्षपणाके साथ जोड़ दिया है और इस तरह उन्होंने संयम लब्धि नामक अधिकारको नहीं माना। इस तरह जो एक संख्याकी कमी हुई उसकी पूर्ति उन्होंने अद्धापरिमाण निर्देशको पन्द्रहवां अधिकार मानकर की है।

जिन दो गाथाओंमें पन्द्रह अधिकारोंका नाम निर्देश है, उनका अन्तिम पद 'अद्धापरिमाणणिद्देसो' है। उससे कुछ आचार्योंके मतानुसार 'अद्धा परिमाण-निर्देश' नामका पन्द्रहवां अधिकार है। परन्तु जिन एक सौ अस्सी गाथाओंमें पन्द्रह अधिकारोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमें अद्धापरिमाणका निर्देश करने वाली छह गाथाएं नही आई हैं। तथा पन्द्रह अधिकारोंमें गाथाओंका विभाग करते हुए इस प्रकारकी कोई सूचना भी नही की गई है। इससे प्रतीत होता है कि गुणधराचार्यको अद्धापरिमाण निर्देश नामका पन्द्रहवां अधिकार इष्ट नहीं था। किन्तु यतिवृषभने उसे एक स्वतंत्र अधिकार माना है।

यह समीकरण हमने उक्त अधिकार निर्देशक चूर्णिसूत्रोंको सामने रख कर किया है। किन्तु यतिवृषभके समस्त चूर्णिसूत्रोंके अवलोकनसे पता चलता है कि उन्होंने उक्त पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश करके भी अपने चूर्णिसूत्रोंकी रचना गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट अधिकारोंके अनुसार ही की है।

यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिए कि यतिवृषभने अधिकारके लिए आम्निक शब्द अनुयोगद्वारका प्रयोग किया है। यथा—'विहत्तिट्ठिदिअणुभागेसु' तिअणियोगद्दारे।'

इस दूसरे अधिकारके अन्तर्गत बाईसवीं गाथाके¹ पदच्छेद करते हुए यति-वृषभने इसमें प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिकका समावेश कर लिया है।

आगे² बंधकके दो भेद बंध और संक्रम करके तीसरे और चौथे अधिकारका ग्रहण किया है। आगे वेदक³ अधियोगद्वारके उदय और उदीरणा भेद करके पाँचवें और छठे अधिकारका निर्देश किया है। गुणधराचार्यने वेदकके दो भेद नहीं किये हैं। आगे 'उवजोगेत्ति' अणियोगद्दारस्स सुत्तं⁴ लिखकर सातवें उपयोग अधिकारका निर्देश किया है। आगे 'चउट्ठाणेत्ति अणियोगद्दारे'⁵ लिखकर आठवें चतुःस्थान नामक अधिकारका निर्देश किया है। फिर⁶ 'वंजणेत्ति अणियोगद्दारस्स सुत्तं' लिखकर नौवें व्यंजन नामक अधिकारका निर्देश किया है।

कसायपाहुडकी अधिकार-निर्देशक गाथा १४ में 'सम्मत्त' पद आया है उससे यतिवृषभने भी दो अधिकार लिये हैं—एक दर्शनमोहकी उपशामना और एक दर्शनमोहकी क्षपणा। किन्तु अधिकारोंका वर्णन करते समय एक सम्यक्त्व⁷ नामक अनुयोगद्वारका ही निर्देश किया है। यद्यपि उसके अन्तर्गत दर्शनमोहकी उपशमना और क्षपणा दोनोंका कथन किया है किन्तु उनका निर्देश अनुयोगद्वार शब्दसे नहीं किया।

आगे देशविरति⁸ नामक १२ वें अधिकारका निर्देश है।

यह पहले लिख आये हैं कि गुणधराचार्यने तेरहवाँ अधिकार संयमलब्धि नामक माना है और यतिवृषभने इसे नहीं माना। किन्तु अधिकारोंके वर्णनमें

---

१. 'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती तह ट्ठिदीए अणुभागे। उक्कस्समणुक्कस्सं झीणमझीणं च ट्ठिदियं वा ॥२२॥ चूर्णिसू०—पदच्छेदो। तं जहा—पयडीए मोहणिज्जा विहत्ति त्ति एसा पयडिविहत्ती। तह ट्ठिदी चेदि एसा ट्ठिदिविहत्ती। अणुभागे त्ति अणुभाग-विहत्ती। उक्कस्समणुक्कस्स त्ति पदेसविहत्ती। झीणमझीण त्ति। ट्ठिदियं वा त्ति।' —क० पा० सु०, पृ० ४८-४९।

२. 'बंधगेत्ति एदस्स बे अणियोगद्दाराणि। तं जहा—बंधो च संकमो च।'—(क० पा० सु० पृ०—२४८)।

३. 'वेदगेत्ति अणियोगद्दारे दोण्णि अणिओगद्दाराणि। तं जहा—उदओ च उदीरणा च।' —क० पा० सु० पृ० ४६५।

४. क० पा० सु०, पृ० ५५६।

५. क० पा० सु० पृ० ५९७।

६. वही पृ० ६११।

७. 'कसायपाहुडे सम्मत्ते त्ति अणिओगद्दारे'—वही पृ० ६१४।

८. 'देसविरदेत्ति अणिओगद्दारे'—वही, पृ० ६५८।

'लद्धि[1] तहा चरित्तस्स' लिखकर यतिवृषभने चारित्रलब्धि नामक अनुयोगद्वारका निर्देश किया है और यह भी लिखा है कि संयमासंयमलब्धि नामक अधिकारमें जो गाथा आई है वही गाथा इस अधिकारमें है। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि जिन गाथाओंके द्वारा अधिकारोंमें गाथाओंका विभाजन किया गया है, और जिन पर चूर्णिसूत्र नहीं है, उन्हीं गाथाओंमेंसे ६ नम्बरकी[2] गाथामें 'लद्धि तहा चरित्तस्स' पद आया है। और उसीमें यह कहा है कि दोनों अधिकारोंमें एक गाथा है। उसीका अनुसरण यतिवृषभने भी किया है।

तथा गुणधरने अद्धापरिमाणनिर्देशको अधिकार नही माना, और यतिवृषभने माना है किन्तु उनके चूर्णिसूत्रोंमें अद्धापरिमाणनिर्देश नामक किसी अधिकारका व्याख्यान नहीं है। अतः गुणधराचार्यसे कुछ भिन्न अधिकारोंको मानकर भी यतिवृषभने अधिकारोंके वर्णनमें प्रायः गुणधराचार्यका ही अनुसरण किया है।

चूर्णिसूत्रोंकी रचना और व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्रोंकी रचनाशैली सूत्ररूप है। जिस तरह कसायपाहुडके गाथासूत्रोंका रहस्य आर्यमंक्षु और नागहस्तीके द्वारा यतिवृषभ जान सके उसी तरह यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंके व्याख्याता चिरन्तनाचार्यों और उच्चारणाचार्योंके द्वारा ही जयधवलाकार जान सके थे, क्योंकि सूत्र तो सूचक होता है। २३३ गाथाओंके द्वारा सूचित अर्थकी सूचना यतिवृषभने ६००० प्रमाण चूर्णिसूत्रोंके द्वारा दी और उनका व्याख्यान उच्चारणाचार्यने १२००० प्रमाण उच्चारणा वृत्तिके द्वारा किया और उसका आश्रय लेकर ६०००० प्रमाण जयधवला टीका रची गई। अतः छै हजारमें ६० हजार समाये हुए हैं। इसीसे चूर्णिसूत्रोंमें 'अणुचिंतिऊण णेदव्वं' (चिन्तन करके ले जाना चाहिये), 'अणुमाणिय णेदव्वं' (अनुमान करके घटित कर लेना चाहिये, 'वत्तव्वं' (कहना चाहिये), 'विहासियव्वाओ' (विशिष्ट वर्णन करना चाहिये) इस प्रकारके शब्दोंका बाहुल्य है।

जिस प्रकार चूर्णिसूत्रोंकी सहायताके बिना कसायपाहुडके सूत्रोंका रहस्य समझना सम्भव नहीं है वैसे ही जयधवलाष्टीकाके साहाय्य बिना चूर्णिसूत्रोंके रहस्यको नहीं समझा जा सकता।

---

१. 'लद्धि तहा चरित्तस्सेत्ति अणिओगद्दारे पुव्वं गमणिज्जं सुत्तं।' तं जहा। जा चेव संजमासंजमे भणिदा गाहा सा चेव एत्थ वि कायव्वा।' —वही, पृ० ६६९।

२. 'लद्धीय संजमासंजमस्स लद्धि तहा चरित्तस्स। दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि ॥६॥

उदाहरणके लिये मूलपयडि[1] विभत्तिमें एक चूर्णिसूत्र, केवल दो का अंक रूप है। इसके सम्बन्धमें पीछे लिखा है।

शिष्यने शंका की कि यह दो का अंक क्यों रखा है ? जयधवलाकारने उत्तर दिया—अपने मनमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये चूर्णिसूत्रकारने यहाँ दो का अंक रखा है। इसपर शिष्यने पुनः पूछा—उस अर्थका कथन अक्षरोंसे क्यों नहीं किया ? तो जयधवलाकारने उत्तर दिया—इस प्रकार वृत्तिसूत्रोंका अर्थ कहनेसे चूर्णिसूत्र ग्रन्थ बेकाम हो जाता, इस भयसे चूर्णिसूत्रकारने यहाँ अंक द्वारा अपने हृदयस्थित अर्थका कथन किया।

जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोंको देशामर्षक[2] कहा है अतः उन्होंने जगह-जगह लिखा है कि इससे सूचित अर्थका कथन उच्चारणावृत्तिके साहाय्यसे और एलाचार्यके प्रसादसे करता हूँ। इन बातोंसे चूर्णिसूत्रोंकी संक्षिप्तता और अर्थबहुलता-पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु संक्षिप्त और अर्थपूर्ण होनेपर भी चूर्णिसूत्रोंकी रचना-शैली विशद और प्रसन्न है। भाषा और विषयका साधारण जानकार भी उनका पाठ सुगमतापूर्वक कर सकता है। चूर्णिसूत्रोंकी व्याख्यानशैलीसे अभिप्राय यह है कि चूर्णिसूत्रोंके द्वारा गाथासूत्रोंके व्याख्यानकी क्या शैली है ? आगे उसपर प्रकाश डाला जाता है।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कसायपाहुडकी सभी गाथाओंपर चूर्णिसूत्र नहीं रचे गये हैं, कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनपर चूर्णिसूत्र नहीं हैं। कसाय-पाहुडकी समस्त गाथासंख्या २३३ है। इनमें १८० मूलगाथा हैं, शेष ५३ सम्बन्ध-गाथा आदि हैं। इन ५३ गाथाओंमेंसे केवल तीनपर ही चूर्णिसूत्र है १२ सम्बन्ध ज्ञापक गाथाओंपर, ६ अद्धापरिमाणनिर्देश सम्बन्धी गाथाओंपर और संक्रमवृत्ति-सम्बन्धी ३५ गाथाओंमेंसे ३२ गाथाओं पर चूर्णिसूत्र नहीं हैं। और इस तरह २३३ गाथाओंमेंसे ५० पर कोई चूर्णिसूत्र नहीं हैं।

जिन ५० गाथाओंपर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है उन्हें भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। संक्रमवृत्तिसम्बन्धी बत्तीस गाथाओंका उत्थानिकासूत्र और उपसंहार सूत्र है। इन गाथाओंकी क्रमसंख्या २७ से ५८ तक है। २७ वीं गाथाके प्रारम्भका चूर्णिसूत्र इस प्रकार है—[3]'एत्तो पयडिट्ठाण संकमो, तत्थ पुव्वं गम-

---

१. 'जइवसहाइरियेण एसो दोण्हमंको किमट्ठमेत्थ ठविदो ? सगहियट्ठियअत्थस्स जाणावणट्ठं। सो अत्थो अक्खरेहि किण्ण परूविदो ? वित्तिसुत्तस्स अत्थे भण्णमाणे णिण्णामो गंथो होदित्ति भएण ण परूविदो—क० पा०, भा० २, पृ० १४।

२. 'एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्तं जेण जाणाविदं तेण चउण्हं गईणं उच्चारणाबलेण एलाइरियपसाएण च सेसकम्माणं परूवणा कीरदे'—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ७५४५।

३. क० पा० सु०, पृ० २६०।

[illegible] सुत्तसमुक्कित्तणा। तं जहा-' अर्थात् यहाँसे आगे प्रकृतिसंक्रम [illegible] संक्रमका प्रकरण है। उसमें प्रथम गाथासूत्रोंकी समुत्कीर्तना करनी चाहिये।' इसके पश्चात् ३२ गाथाएँ आती हैं। उनके अन्तमें चूर्णिसूत्र इस प्रकार है 'सुत्तसमुक्कित्तणाए समत्ताए इमे अणिओगद्दारा।' अर्थात् संक्रम सम्बन्धी गाथाओंकी समुत्कीर्तनके समाप्त होनेपर ये (आगे कहे गये) अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं।'[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये बत्तीस गाथाएँ चूर्णिसूत्रकारके सम्मुख थीं। किन्तु उन्होंने इनका पदच्छेदरूपसे या विभाषारूपसे व्याख्यान करना आवश्यक नहीं समझा। इनमें आगत विषयका परिज्ञान अनुयोगद्वारोंमें आगत विवेचनसे हो जाता है। किन्तु शेष १८ गाथाओंका न तो कोई उत्थानिका-सूत्र है और न कोई उपसंहारसूत्र। मानो ये गाथाएँ उनके सामने थी ही नहीं। यद्यपि चूर्णिसूत्रोंके अनुगमसे ऐसा प्रमाणित नहीं होता। फिर भी साधारण दृष्टिसे देखनेपर ऐसा ही प्रतीत होता है।

अब जिन गाथाओंपर चूर्णिसूत्र हैं उनके विषयमें प्रकाश डालेंगे। गाथा[2] नम्बर एकपर जो चूर्णिसूत्र है उनकी उत्थानिकादि नहीं है तथा चूर्णिसूत्रकी रचना उपक्रमरूप होते हुए भी इस प्रकारसे की गई है कि उसमें गाथाका अभिप्राय आ जाता है। इस उपक्रमके रूपमें आगे अलगसे प्रकाश डालेंगे। गाथा नम्बर दो से बारह तक पर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है। गाथा नम्बर[3] १३ और १४ में कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश है। इन गाथाओंकी भी कोई उत्थानिका नही है और चूर्णिसूत्रोंमें केवल पन्द्रह अधिकारोंके नाम इस तरहसे दर्शाए हैं कि दोनों गाथाओंके प्राय: पूरे शब्द

---

१. क० पा० सु०, पृ० २८७।

२. 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए। पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥१॥ चू० सू०—'णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो।'

३. पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेय। वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियंजणे चेय ॥१३॥ सम्मत्त देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च। दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥ चू० सू०—अत्थाहियारो पण्णारसविहो (अण्णेण पयारेण)। तं जहा—पेज्जदोसे १, विहत्तिट्ठिदि अणुभागे च २, बंधगे त्ति बंधो च ३, संकमो ४, वेदए त्ति उदओ च ५, उदीरणा च ६, उवजोगे च ७, चउट्ठाणे च ८, वंजणे च ९, सम्मत्ते त्ति दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दंसणमोहणीयक्खवणा च ११, देसविरदी च १२, संजमे उवसामणा च खवणा च—चरित्तमोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४, 'दंसणचरित्तमोहे' त्ति पदपरिपूरणं। अद्धापरिमाणणिद्देसो त्ति १५, एसो अत्थाहियारो पण्णारसविहो।

—क० पा०, भा० १, पृ० १८४-१९२।

चूर्णिसूत्रोंमें आ गये हैं, कोई पद छूटा नहीं है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंसे यतिवृषभके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंमें भेद है। अस्तु, गाथा नम्बर १५ से २० तक पर भी कोई चूर्णिसूत्र नहीं है। गाथा २१ से कसायपाहुडमें चर्चित विषयका आरम्भ होता है और सबसे प्रथम इसी गाथाका उत्थानिकासूत्र पाया जाता है। 'एत्तो सुत्तसमोदारो', 'इसके अनन्तर गाथासूत्रका समवतार' होता है। 'समवतार' शब्द कितना आदर-सूचक है यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। आगे किसी सूत्रकी उत्थानिकामें इस शब्दका व्यवहार मेरी दृष्टिसे नहीं गुजरा।

चूर्णिसूत्रकारने उपक्रमके पाँच भेद बतलाये हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें[1] उपक्रमके छै भेद भी बतलाये हैं—उनमें उक्त पाँच भेदोंके सिवाय एक भेद समवतार भी है। चूर्णि-सूत्रकारने यद्यपि समवतारको उपक्रमके भेदोंमें नहीं गिना, फिर भी उन्होंने 'एत्तो सुत्तसमोदारो' के द्वारा शायद उसी छठे भेदका उल्लेख किया है। अस्तु, गाथाके समवतारके पश्चात् चूर्णिसूत्र[2] में कहा है कि इस गाथाके पूर्वार्धकी 'विहासा' (विभाषा) करना चाहिये। जयधवलाकारने सूत्रके द्वारा सूचित अर्थका विशेष कथन करनेको विभाषा[3] कहा है। आव० नि०[4] के कर्ताने अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिकको एकार्थक बतलाते हुए उनमें उत्तरोत्तर विशेष कथनकी अपेक्षा विशेष बतलाया है। विशे० भाष्यके[5] कर्ताने भी विविध प्रकारसे अथवा विशिष्ट प्रकारसे कथन करनेको विभाषा कहा है।

जयधवलाकारने[6] विभाषाके दो भेद किये हैं—एक प्ररूपणाविभाषा और एक

---

१. 'अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—आणुपुव्वी १, नामं २, पमाणं ३, वत्तव्वया ४, अत्थाहियारे ५, समोआरे ६।—अनु० द्वा०, सू० ७० ।

२. 'पढमस्स गाहाए पुरिमद्धस्स विहासा कायव्वा—क० पा० भा० १, पृ० ३६५।

३. 'सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसिऊण भासा विभासाविवरणं त्ति वुत्तं होदि।'
जा० ध० प्रे० का० पृ० ३११९।

४ अणुओगो य निओगो भास विभासा य वत्तियं चेव। एए अणुओगस्स उ नामा एगट्ठिया पंच ॥१२८॥ कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिघरिए पोंड देसिए चेव। भासग विभासए वा वित्ति-करणे य आहरणा ॥१२९॥ आ० नि०

५. विविहा विसेसओ वा होइ विभासा दुगाइ पज्जाया। जह सामइयं समओ सामाओ वा समाओ वा ॥१४२१॥ विशे० भा०

६. 'विहासा दुविहा होदि—परूवणाविहासा सुत्तविहासा चेदि।' तत्थ परूवणाविहासा णाम सुत्तपदाणि अणुच्चारिय सुत्तसूचिदासेसत्थस्स वित्थरपरूवणा। सुत्तविहासा णाम गाहासुत्ताणमवयवत्थपरामरसमुहेण सुत्तफासो—ज० ध० प्रे० का०।

सूत्रविभाषा। सूत्रके पदोंका उच्चारण न करके सूत्रके द्वारा सूचित समस्त अर्थका विस्तारसे कथन करनेको प्ररूपणाविभाषा कहते हैं। और गाथासूत्रोंके अवयवार्थका परामर्श करते हुए सूत्रका स्पर्श करनेको सूत्रविभाषा कहते हैं। चूर्णिसूत्रकारने कहीं तो गाथासूत्रोंकी सूत्रविभाषा की है और कहीं प्ररूपणा-विभाषा की है। इसीसे जयधवलाकारने उन्हे 'विभाषासूत्रकार' के नामसे भी अभिहित किया है।

इन दोनों विभाषाओंमेसे सूत्रविभाषा गाथाके पदच्छेदपूर्वक होती है क्योंकि अवयवार्थका कथन पदच्छेद बिना नही हो सकता। किन्तु ऐसी गाथाएं स्वल्प ही हैं, जिनका चूर्णिसूत्रकारने पदच्छेदपूर्वक व्याख्यान किया है। अतः बहुत कम गाथाओंकी सूत्रविभाषा पाई जाती है, इसके विपरीत अधिकांश गाथाओंकी प्ररूपणाविभाषा की गई है।

उदाहरणकेलिये गाथासंख्या २२ का व्याख्यान पदच्छेदपूर्वक किया है और इसका कारण यह है कि यह एक ही गाथा प्रारम्भके कई अधिकारोंकी आधार-भूत है। इसीसे उसका पदच्छेद करके प्रत्येक पदकी विभाषा की गई है। इसी तरह संक्रम अधिकारके अन्तर्गत प्रकृतिसंक्रमकी तीन गाथाओंका भी पदच्छेद-पूर्वक ही अर्थ किया है। यद्यपि ये गाथाएं सरल हैं किन्तु उनमें उक्त अधिकार में आगत विषयोंकी सूचना है। अतः उनका पदच्छेद करके उनके द्वारा सूचित अर्थका विस्तारसे कथन किया है।[1]

डा० वासुदेवशरण अग्रवालने[2] लिखा है कि 'पाणिनिने दो अर्थोंमे वृत्ति-शब्दका प्रयोग किया है—एक तो शिल्प या रोजगारके लिये····दूसरे ग्रन्थकी टीकाको भी वृत्ति कहा जाता था। पाणिनिसूत्र 'वृत्तिसर्गतायनेषुक्रमः' (१।३।३८) की काशिकामें एक उदाहरण दिया है—'ऋक्षु: अस्य क्रमते बुद्धिः'। ऋग्वेदकी व्याख्यामें इनकी बुद्धि बहुत चलती है। इस उदाहरणमें वेदमंत्रोंके व्याख्यानको वृत्ति कहा है। मंत्रोके प्रत्येक पदका विग्रह और उनका अर्थ यही इन आरम्भिक वृत्तियोंका स्वरूप था। जैसा शतपथकी मंत्रार्थशैलीसे ज्ञात होता है। पतञ्जलिने व्याकरणसूत्रोंके व्याख्यानके लिये भी उसी शैलीका उल्लेख किया है।'

यह हम लिख आये कि जयधवलाकारने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंको वृत्ति-सूत्र कहा है। किन्तु वेदमंत्रोंके व्याख्यानरूप वृत्तिसे उनके इन वृत्तिसूत्रोंकी

---

१. 'एत्तो एदासिं गाहाणं पदच्छेदो कायव्वो होदि, अवयवत्थवक्खाणे पयारंतराभावादो।' —अ० ध० प्रे० का० पृ० ३४७१।

२. पा० भा०, पृ० ३३२।

प्रक्रियामें अन्तर है। इसीसे जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोंको विभाषाग्रन्थ[1] अथवा विभाषासूत्र भी कहा है और चूर्णिसूत्रकारको विभाषासूत्रकार कहा है। उक्त वृत्तिसे[2] विभाषामें अन्तर है। जो दोनोंके लक्षणोंसे स्पष्ट है।

दर्शनमोहक्षपणानामक अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने[3] परिभाषाका भी निर्देश किया है और परिभाषाके पश्चात् सूत्रविभाषा करनेका निर्देश किया है। जयधवलाके[4] अनुसार गाथासूत्रमें निबद्ध अथवा अनिबद्ध किन्तु प्रकृतमें उपयोगी जितना अर्थसमूह है उस सबको लेकर विस्तारसे अर्थका कथन करनेको परिभाषा कहते हैं। परिभाषाका अनुगमन पहले करना चाहिये, पीछे सूत्रविभाषा करनी चाहिये, क्योंकि सूत्रपरिभाषा करनेसे सूत्रके अर्थके विषयमें निश्चय नहीं किया जा सकता।

विभाषा और परिभाषा शब्दोंका यह अर्थ अन्यत्र देखनेमें नहीं आता।

सारांश यह है कि चूर्णिसूत्र विभाषारूप हैं—उनके द्वारा गाथासूत्रोंके द्वारा सूचित समस्त अर्थोंका विस्तारसे कथन किया है। कहीं यह कथन गाथाके अवयवार्थपूर्वक भी किया है। गाथासूत्रोंका निर्देशकरके उनका विवरण करना यह उनकी सामान्यशैली है। प्रकृतचर्चापर और भी प्रकाश डालनेके लिये बन्धक नामक अधिकारकी व्याख्यानशैलीका चित्रण किया जाता है।

इस अधिकारके प्रारम्भमें ही यह चूर्णिसूत्र आता है—'बंधगेत्ति एदस्स वे अणिओगद्दाराणि। तं जहा, 'बंधो च संकमो च'। इसके द्वारा चूर्णिसूत्रकार बन्धक अधिकारके प्रारम्भ होनेको तथा उसके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोंकी सूचना करके 'एत्थ सुत्तगाहा' इस उत्थानिकाके द्वारा गाथाका अवतरण करके, उसके बाद गाथासे सूचित होनेवाले अर्थकी सूचना देकर पदच्छेदपूर्वक गाथाके प्रत्येक पदका व्याख्यान करते हैं। इस अधिकारका मुख्य विषय 'संक्रम' है। अतः

---

१. 'संपहि एदस्सेवात्थस्स फुडीकरणट्ठमुवरिमं विहासागंथमाढवेइ' ज० ध० प्रे० का० पृ० ७३१८ ७१२३, ७१२५, ७१२७, ७१३४।

२. एत्तो अद्दीदासेसपबंधेण विहासिदत्थाणं गाहासुत्ताणं सकवणिद्देसं कुणमाणो विहासासुत्तयारो इदमाह—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६१७९।

३. 'पच्छा सुत्तविहासा। तत्थ ताव पुव्वं गमणिज्जा परिहासा।—क० पा०सु० पृ० ६४२।

४. 'का सुत्तविहासा णाम? गाहासुत्ताणमुच्चारणं कादूण तेसिं पदच्छेदादिमुहेण जा अत्थपरिक्खा सा सुत्तविहासा त्ति भण्णदे। सुत्त परिहासा पुण गाहासुत्तणिबद्धमणिबद्धं च पयदोवजोगिजमत्थजादं तं सव्वं घेत्तूण वित्थरदो अत्थपरूवणा। सा ताव पुव्वमेत्थाणुगंतव्वा पच्छा सुत्तविहासा कायव्वा। किं कारणम्? सुत्तपरिभासमकादूण सुत्तविहासाए कीरमाणाए सुत्तत्थविसयणिच्छयाणुववत्तीदो—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६३१७-१८।

चूर्णिसूत्रकार संक्रमका वर्णन प्रारम्भ करनेसे पहले उसके प्रकृत अर्थका ज्ञान करानेके लिये पाँच उपक्रमोंका कथन करते हैं और यह बतलाकर कि यहाँ प्रकृतिसंक्रमसे प्रयोजन है। वे प्रकृतिसंक्रमकी तीन गाथाओंका कथन करते हैं। पुन: लिखते हैं—ये तीन गाथाएँ प्रकृतिसंक्रमअनुयोगद्वारमें हैं और इन गाथाओं-का पदच्छेद इस प्रकार है। गाथाओंका व्याख्यान समाप्त होने पर चूर्णिसूत्र आता है—'एस सुत्तफासो'। यह इस बातकी सूचना देता है कि सूत्रगाथाओंका अवयवार्थ समाप्त हुआ। इससे चूर्णिसूत्रकारकी व्याख्यानशैलीकी क्रमबद्धता और स्पष्टता प्रकट है।

गाथासंख्याकी दृष्टिसे चारित्रमोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकार सबसे बड़ा है। इसमें ११० गाथाएं हैं, जिनमें २४ मूलगाथाएं हैं और ८६ भाष्य-गाथाएं हैं। प्रत्येक मूलगाथा और उससे सम्बद्ध भाष्यगाथाओंकी समुत्कीर्तना और विभाषा ऐसे सुन्दर ढंगसे की गई है कि प्रत्येक गाथाका हार्द समझनेमें सरलता होती है और पाठक उकताता नहीं।

यहाँ आगत 'सुत्तफास' शब्द अपना कुछ वैशिष्टय रखता है। अत: उसके सम्बन्धमें दो शब्द लिखना आवश्यक है।

गाथाओंकी उत्थानिकाके रूपमें 'एत्थ सुत्तगाहा', 'तत्थ सुत्तगाहा', 'सुत्त-समुक्कित्तणा' जैसे चूर्णिसूत्रोंकी तरह 'एत्तो[1] सुत्तप्फासो कायव्वो' चूर्णिसूत्र भी क्वचित् पाये जाते हैं। इसका अर्थ होता है—आगे सूत्रस्पर्श करना चाहिये। यहाँ 'सूत्रस्पर्श' शब्द 'सूत्रसमुत्कीर्तन'के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

किन्तु गाथासूत्रके उपसंहाररूपमें भी 'एस सुत्तप्फासो' चूर्णिसूत्र क्वचित् पाया जाता है। इसका अर्थ जयधवलाकारने[2] इस प्रकार किया है—'यह गाथासूत्रोंके अवयवार्थका परामर्श (विचार) किया। स्पर्शका अर्थ परामर्श भी होता है।

अनु० द्वा० सू०में अनुगमके दो भेद किये हैं—सूत्रानुगम और निर्युक्ति-अनुगम। तथा निर्युक्ति-अनुगमके तीन भेद किये हैं—निक्षेप-निर्युक्ति अनुगम, उपोद्घात-निर्युक्ति अनुगम और सूत्रस्पर्शक-निर्युक्ति अनुगम। सूत्रके व्याख्यानको सूत्रानुगम कहते हैं। निर्युक्त अर्थात् सूत्रके साथ सम्बद्ध अर्थोंको स्पष्ट करना,

---

१. 'एत्तो सुत्तफासो कायव्वो भवदि।' पुव्वं परिभासिदत्थाणं गाहासुत्ताणमेण्हि समु-क्कित्तणा जहाकमं कायव्वा त्ति भणिदं होइ'—ज० ध० प्रे० का० पृ० ६६७९।

२. 'एसो गाहासुत्ताणमवयवत्थपरामरसो कओ त्ति भणिदं होइ'—ज० ध० प्रे० का० पृ० ६४९१।

उक्त व्याख्याको निर्युक्ति कहते हैं और सूत्रका स्पर्श करनेवाली निर्युक्तिको सूत्र-स्पर्शकनिर्युक्ति कहते हैं। इसमें प्रथम अस्खलित और अविकल आदि रूपसे शुद्ध और निर्दोष सूत्रका उच्चारण करना होता है। संभवतया यही प्रथम 'सुत्तप्फास' है जो उत्थानिकारूपमें आया है।

वि० भा०में लिखा है कि सूत्रका उच्चारण करनेपर, उसकी शुद्धताका नियम हो जानेपर फिर पदच्छेद करनेपर और सूत्रमें आगत शब्दोंका निक्षेप हो जानेपर सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिका अवसर आता है। यह दूसरा सुत्तफास है जो अन्तमें आया है।

इस तरह चूर्णिसूत्रमें आगत 'सुत्तफास' शब्दका अर्थ जानना चाहिये।

चूर्णिसूत्रकारने जैसे कसायपाहुडकी गाथाओंको सूचनासूत्र और पृच्छासूत्र कहा है वैसे ही किन्हीं गाथाओंको वागरण (व्याकरण) सूत्र भी कहा है। जयधवलाकारने व्याकरणसूत्रका अर्थ व्याख्यानसूत्र[2] किया है। और वह भी व्याकरणशब्दकी व्युत्पत्तिपूर्वक किया है। किन्तु व्याख्यानके अर्थमें व्याकरणशब्दका प्रयोग न तो वैयाकरणोंमें देखा गया और न श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमें ही।

किन्तु बौद्ध परम्परामें 'वेय्याकरण' शब्द 'अर्थवर्णना' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध जातक पाँच भागोंमें विभक्त हैं—पच्चुप्पन्न वत्थु, अतीतवत्थु, गाथा, वेय्याकरण या अत्थवण्णना और समोधान। गाथाएँ जातकके प्राचीनतम अंश हैं। गाथाओंके बाद प्रत्येक जातकमें वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओंकी व्याख्या और उसका शब्दार्थ होता है। पालीके वेय्याकरण अर्थमें ही यतिवृषभने प्राकृत 'वागरण' शब्द का प्रयोग किया है।

आगामिक व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्र—किसी भी आगामिक विषयके प्रतिपादनकी जैन शैली अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है और उस वैशिष्ट्यके दर्शन अन्यत्र नहीं होते। इसका एक कारण यह है कि जैन परम्परामें वस्तुदर्शनकी और दृष्टवस्तुके प्रतिपादनकी अपनी शैली पृथक् है। उस शैलीको समझे बिना जैन आगामिक साहित्यमें चर्चित विषयोंको समझना कठिन है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। वह प्रत्येक वस्तुको अनेकधर्मात्मक मानता है। उसके मतसे वस्तु अनेक धर्मोंका एक अखण्ड पिण्ड है। वस्तुके उन अनेक

१. वि० भा० पू० पृ० ८८२।

२. वागरणसुत्तं ति व्याख्यानसूत्रमिति, व्याक्रियतेऽनेनेति व्याकरणं प्रतिवचनमित्यर्थः।

धर्मोंको जान सकना किसी अल्पज्ञके लिये शक्य नहीं है । और अल्पज्ञ मनुष्य अपने अपने दृष्टिकोणसे वस्तुको जानते हैं और समझते हैं कि हमने पूर्ण वस्तुको जान लिया । फलतः वे एक ही वस्तुके विषयमें विभिन्न दृष्टिकोण रखनेके कारण परस्परमें टकरा जाते हैं । अनेकान्तदृष्टि उनके इस पारस्परिक विरोधको मिटाकर समन्वयका मार्ग बतलाती है । वह बतलाती है कि एक ही वस्तुको लेकर परस्परमें टकरानेवाली दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक अंशको ही ग्रहण करती है और एकांशको ही पूर्ण वस्तु मान बैठनेके कारण उनमें विरोध प्रतिभासित होता है । इस अनेकान्तग्राही दृष्टिको जैनदर्शन 'प्रमाण' के नामसे पुकारता है । और जो दृष्टि वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी वस्तुमें वर्तमान इतर धर्मोंका प्रतिक्षेप नहीं करती उसे नय कहते हैं । संक्षेपमें सकलग्राही ज्ञानको प्रमाण और एकांशग्राही ज्ञानको नय कहते है । यह नय प्रमाणका ही भेद माना गया है । चूंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है अतः द्रव्यदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको द्रव्यार्थिक नय और पर्यायदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको पर्यायार्थिक नय कहते हैं । द्रव्यदृष्टि अभेदप्रधान है और पर्यायदृष्टि भेदप्रधान है । द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार तथा पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ।

संकल्पमात्रसे ही वस्तुका व्यवहार करनेवाले ज्ञानको नैगमनय कहते हैं । जैसे रसोई करनेका संकल्प करके उसका सामान जुटानेमें लगा मनुष्य पूछने पर उत्तर देता है मैं रसोई बना रहा हूँ । समस्त पदार्थोंको अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है । जैसे वन, सेना, नगर । ये संज्ञाएं संग्रहनयमूलक हैं । और संग्रहनयके द्वारा संगृहीत पदार्थोंका क्रमशः भेद-प्रभेद करके ग्रहण करनेवाला नय व्यवहारनय है । जैसे वनमें आम आदिके वृक्ष हैं । पदार्थकी वर्तमान एक क्षणवर्ती पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय ऋजुसूत्रनय है । इस नयकी दृष्टिमें एक वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय अतीत और अनागतसे भिन्न है तथा अतीतके नष्ट हो जाने और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे वर्तमान क्षण ही व्यवहारोपयोगी है ।

काल, कारक, लिंग, संख्या आदिके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला नय शब्दनय है । आशय यह है कि इनके भेदसे यह नय एक ही वस्तुको भिन्नरूप ग्रहण करता है । शब्दभेदसे अर्थभेदका ग्राही समभिरूढ नय है । जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर शब्द एक लिंगवाले होनेपर भी विभिन्न अर्थके वाचक हैं क्योंकि इन शब्दोंकी प्रवृत्तिका निमित्त भिन्न है, इन्दन क्रिया इन्द्रशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त और पूर्दारण (नगरोंका उजाड़ना) क्रिया पुरन्दरशब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त है ।

शब्दनय इन तीनों शब्दोंमें अर्थभेद नहीं मानता, क्योंकि तीनोंमें लिंगादि भेद नहीं है, परन्तु समभिरूढ नय मानता है, यही दोनोंमें अन्तर है।

क्रियाके भेदसे अर्थभेद माननेवाला एवंभूतनय है। जिस शब्दका जिस क्रिया-रूप अर्थ हो उस क्रियाके कालमें ही उस शब्दका व्यवहार करना उचित मानता है। जब इंद्र इन्दनक्रिया करता हो उसी समय उसे इन्द्र कहना उचित है। यह इस [1]नयका मन्तव्य है।

इन नयोंके सिवाय जैनदर्शनकी एक देन निक्षेप है। उसके चार भेद हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदिकी अपेक्षा न करके व्यवहारके लिये वस्तुकी यथेच्छ संज्ञा रखनेको नाम निक्षेप कहते हैं, जैसे किसी साधारण मनुष्यके द्वारा अपने पुत्रका नाम 'राजा' रख लेना नाम निक्षेप है। किसी वस्तुमें किसी अन्यकी स्थापना कर लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे राजाके मर जाने पर उसके प्रतिनिधिके रूपमें उसकी मूर्तिको राजा मानकर स्थापित करना।

जो भविष्यमें राजा होनेवाला हो या राज्यपदसे उतर चुका हो उसको राजा कहना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमानमें राज्यासीनको राजा कहना भाव निक्षेप है। इस निक्षेपके चार प्रयोजन हैं—अप्र[2]कृतका निराकरण, प्रकृतका प्ररूपण, संशयका विनाश और तत्त्वार्थका व्यवहार।

अर्थात् जब प्रत्येक वस्तुका लोकमें चार रूपोंमें व्यवहार पाया जाता है तब श्रोताको यह जानना आवश्यक है कि कहाँ नामरूप वस्तुका व्यवहार अपेक्षित है और कहाँ स्थापना, द्रव्य या भाव रूप वस्तुका, जिससे वह विसंवादमें न पड़े। इसके लिये निक्षेप आवश्यक है।

नयों और निक्षेपोंमें वही सम्बन्ध है जो ज्ञान और ज्ञेयमें होता है। नय ज्ञानरूप है तो निक्षेप ज्ञेयरूप है। आगमिक शैलीमें प्रत्येक वस्तुका विवेचन पहले नय और निक्षेपके द्वारा होता है। कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें भी उसी शैलीको अपनाया गया है। यहाँ चूर्णिसूत्रोंके आधारपर उसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

पहली गाथाके उत्तरार्ध 'पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम।' में इस ग्रन्थके दो नाम कहे हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। ये दोनों नाम किस अभिप्रायसे कहे हैं यह बतलाते हुए चूर्णिसूत्रकार लिखते हैं—

---

१. नयोंका स्वरूप जाननेके लिये देखें—कसायपाहुड भा० १, पृ० १९९-२५८

२. 'अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च। संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च'। ज० ध० प्र० का०, पृ० ३४६।१

'उस[1] प्राभृतके दो नाम हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। इन दोनों नामोंमेंसे पेज्जदोसपाहुड नाम अभिव्याहरण निष्पन्न है।

अभिमुख अर्थके व्याहरण अर्थात् कथनको अभिव्याहरण कहते हैं और जो उससे उत्पन्न हो उसे अभिव्याहरण निष्पन्न कहते हैं। अतः पेज्ज (प्रेय) और दोसका कथन करनेवाला प्राभृत पेज्जदोस प्राभृत कहलाता है।

'और कसायपाहुड नाम नय निष्पन्न है।'

आशय यह है कि 'पेज्ज और दोस' ये दोनों कषाय कहलाते हैं। और कषायका कथन करनेवाले प्राभृतको कषाय प्राभृत कहते हैं। अतः कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न है क्योंकि द्रव्यार्थिक नयके द्वारा पेज्ज और दोसका एकीकरण करके उन्हें कषाय संज्ञा दी गई है। अस्तु

पेज्ज, दोस, कसाय और पाहुड ये शब्द जिनसे दोनो नाम बने हैं, अनेक अर्थोंमें व्यवहृत होते हुए पाये जाते हैं। इसलिये अप्रकृत अर्थका निषेध करके प्रकृत अर्थका, जो वहाँ लिया गया है—ग्रहण करनेके लिये चूर्णिसूत्रकार उनमें निक्षेपोंकी योजना करते हैं—उन[2] चारों शब्दोंमेंसे पहले पेज्जका निक्षेप करना चाहिये—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, और भावपेज्ज।'

ऐसा कहा है कि—'पदका[3] उच्चारण करके और उसमें किये गये निक्षेपोको जानकर 'यहाँ इस पदका क्या अर्थ है' इस प्रकार ठीक रीतिसे अर्थ तक पहुँचा देते हैं अर्थात् अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान करा देते हैं इसलिये उन्हें नय कहते हैं।'

अतः निक्षेपकी योजना करके और उसके अर्थको स्थगित करके चूर्णिसूत्रकार यह बतलाते है कि कौन नय किस निक्षेपको चाहता है—

'नैगमनय[4], संग्रहनय और व्यवहारनय सभी निक्षेपोको स्वीकार करते हैं।'

'ऋजुसूत्रनय[5] स्थापनाके सिवाय सभी निक्षेपोंको स्वीकार करता है।'

---

१. 'तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि। तं जहा-पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि कसायपाहुडे त्ति वि। तत्थ अभिवाहरणनिप्पण्णं पेज्जदोसपाहुडं। णयदो णिप्पण्णं कसायपाहुडं—क० पा० भा० १, पृ० १९७-१९९।

२. 'तत्थ पेज्जं णिक्खिवियव्वं—णामपेज्जं ट्ठवणपेज्जं दव्वपेज्जं भावपेज्जं चेदि।—क० पा० भा० १, पृ० २५८ :

३. 'उच्चारयम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण। अत्थं णयंति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिदा ॥११८॥— क० पा० भा० १, पृ० २५९

४. 'णेगमसंगहववहारा सव्वे इच्छंति— क० पा० भा० १, पृ० २५९।'

५. 'उजुसुदो ठवणवज्जे'। पृ० २६२।

'शब्द[१] समभिरूढ और एवंभूतनय नाम निक्षेप और भाव निक्षेपको विषय करते हैं।' इनका विशेष खुलासेके लिये जयधवला टीका देखनी चाहिये। अब हम पुनः निक्षेपोंकी ओर आते हैं। 'पेज्ज' यह शब्द नाम पेज्ज है। किसी दूसरे पदार्थमें 'यह पेज्ज है' इसप्रकार पेज्जकी स्थापना करना स्थापना पेज्ज है। द्रव्य पेज्जके दो भेद हैं—आगम द्रव्य पेज्ज और नोआगम द्रव्यपेज्ज। जो जीव पेज्ज विषयक शास्त्रको जानता हुआ भी पेज्जविषयक शास्त्रके उपयोगसे रहित अर्थात् उसमें लगा हुआ नहीं है, उसे आगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं।

नोआगमद्रव्यपेज्जके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। पेज्जविषयक शास्त्रके ज्ञाताके भूत, वर्तमान और भावि शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं। जो भविष्यमें पेज्जविषयक शास्त्रको जाननेवाला होगा उसे भावि नोआगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यपेज्जके दो भेद हैं—कर्मपेज्ज और नोकर्मपेज्ज।

उक्त निक्षेपोंका अर्थ सुगम जानकर यतिवृषभाचार्यने उनका अर्थ नहीं कहा। आगेके निक्षेपका अर्थ करते हुए वह कहते है—'नोकर्म[२]-तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्ज तीन प्रकारका है—हितपेज्ज, सुखपेज्ज और प्रियपेज्ज। इन तीनोंके सात भंग होते हैं।'

जो द्रव्य व्याधिके उपशमनका कारण होता है उसे हित कहते हैं, जो द्रव्य जीवके आनन्दका कारण होता है उसे सुख कहते हैं और जो वस्तु अपनेको रुचती है उसे प्रिय कहते हैं। तीन भंग तो ये हैं ही। द्राक्ष हितरूप भी है और सुखरूप भी है। नीम हितरूप भी है और प्रिय भी है, पित्त ज्वरके रोगीको कड़वी वस्तु प्रिय लगती है। दूध सुखकर भी है और प्रिय भी है। ये तीन द्विसंयोगी भंग हुए। गुड़ और दूध हितकर, सुखकर और प्रिय होते हैं। ये सब सात भंग होते हैं।

'यह[३] तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्जका सात भंगरूप कथन नैगमनयकी अपेक्षासे है।' संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रकी अपेक्षा समस्त द्रव्यपेज्जरूप है।" भावपेज्जका[४] कथन स्थगित करते हैं।

---

१. '[सद्दणयस्स] णामं भावो च'। क० पा० भा० पृ० २६४।

२. 'णोआगमदव्वपेज्जं तिविहं—हिदं पेज्जं, सुहं पेज्जं, पियं पेज्जं। गच्छगा च सत्त भंगा' क० पा० भा० १, पृ. २७१।

३. 'एदं णेगमस्स। संगहववहाराणं उजुसुदस्स च सव्वं दव्वं पेज्जं।' क० पा० भा० १, पृ. २७४।

४. भावपेज्जं ट्ठवणिज्जं'।—क० पा० भा० १, पृ. २७६।

इसप्रकार पेज्जमें निक्षेपोंकी योजना करके चूर्णिसूत्रकार दोसमें निक्षेप योजना करते हैं।

'दोसका[1] निक्षेप करना चाहिये—नामदोस, स्थापनादोस, द्रव्यदोस और भावदोस। नैगम, संग्रह और व्यवहार सभी निक्षेपोंको विषय करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापनाको छोड़ शेष तीन निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं। शब्दनय नाम निक्षेप और भाव निक्षेपको विषय करते हैं।'

सुगम जानकर यतिवृषभाचार्यने नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगमद्रव्यनिक्षेपके दो भेदोंका कथन नहीं किया। उसके तीसरे भेदका कथन करते हुए वह कहते हैं—

'जो द्रव्य[2] जिस उपघातके निमित्तसे उपभोगको नहीं प्राप्त होता वह उपघात उस द्रव्यका दोष है। यही तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोष है।'

'वह उपघात दोस कौनसा है? साड़ीका अग्निसे जल जाना या चूहोंके द्वारा खाया जाना आदि उपघातदोस है। भावदोसका कथन स्थगित करते हैं।'

इस प्रकार दोसमें निक्षेप योजना करके चूर्णिसूत्रकार कषायमें निक्षेप योजना करते हैं—

'कषायका[3] निक्षेप करना चाहिये—नामकषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, समुत्पत्तिकषाय, आदेशकषाय, रसकषाय और भावकषाय।' नैगमनय सभी कषायोंको स्वीकार करता है। संग्रह और व्यवहारनय समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषायको स्वीकार नहीं करते। ऋजुसूत्रनय इन दोनोंको और स्थापना कषायको स्वीकार नहीं करता।

शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतनय नामकषाय और भावकषायको विषय करते हैं।'

नामकषाय, स्थापनाकषाय, आगमद्रव्यकषाय, ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकषाय और भाविनोआगमद्रव्यकषायका स्वरूप सुगम जानकर यतिवृषभने नहीं कहा। नो आगम तद्व्यतिरिक्त द्रव्यकषायका स्वरूप वह कहते हैं—

---

१. 'दोसो णिक्खियव्वो णामदोसो, ट्ठवणदोसो, दव्वदोसो भावदोसो चेदि। वही पृ. २७७।

२. 'णोआगमदव्वदोसो णाम जं दव्वं जेण उवघादेण उवभोगं ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम। तं जहा, सादियाए अग्गिदद्धं वा मूसयभक्खियं वा एवमादि।' वही, पृ० २८१-२८२।

३. 'कसाओ ताव णिक्खियव्वो णामकसाओ ट्ठवणकसाओ दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुप्पत्तिकसाओ आदेसकसाओ रसकसाओ भावकसाओ चेदि। वही, पृ० २८७।

'सर्जकषाय[1] सिरीषकषाय आदि नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकषाय है।' सालवृक्षके कसैले रसको सर्जकषाय और सिरसवृक्षके कसैले रसको सिरीषकषाय कहते हैं।

क्रोध[2] वेदनीय कर्मके उदयसे जीव क्रोधरूप होता है। इसलिये प्रत्यय-कषायकी अपेक्षा क्रोधवेदनीय कर्म क्रोध कहा जाता है। इसी तरह मानवेदनीय कर्मके उदयसे जीव मानरूप होता है, इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा मानवेदनीय कर्मको मान कहा जाता है। मायावेदनीयकर्मके उदयसे जीव मायारूप होता है इसलियेमायावेदनीय कर्म प्रत्ययकषायकी अपेक्षा माया है। लोभवेदनीयकर्मके उदयसे जीव लोभी होता है इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा लोभकर्म लोभ कहलाता है। इस प्रकार जो क्रोधादिरूप कर्मको प्रत्ययकषाय कहा है वह नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहा है। और ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे क्रोध कर्मके उदयकी अपेक्षा जीव क्रोधकषायरूप होता है इसलिये क्रोधकर्मका उदय प्रत्ययकषाय[3] है। इसीप्रकार मान, माया आदिके विषयमें भी जानना चाहिये।

समुत्पत्तिकषायकी[4] अपेक्षा कहीं जीव क्रोधरूप है और कहीं अजीव क्रोध-रूप है। जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्ति-कषायकी अपेक्षा क्रोध है और जिस लकड़ी, ईंट आदि टुकड़ेके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है, समुत्पत्तिकषायकी अपेक्षा वह लकड़ी या ईंट आदिका टुकड़ा क्रोध है। इसप्रकार एक जीव या एक अजीव, अनेक जीव या अनेक अजीव या मिश्र, इनमेंसे जिसके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिकषायकी अपेक्षा क्रोध कहा जाता है। इसी प्रकार मान, माया और लोभके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये।

आदेशकषायकी[5] अपेक्षा चित्रमें अंकित क्रोधी जीवकी आकृति—भ्रुकुटि चढ़ी हुई, मस्तकमें त्रिवली पड़ी हुई आदि—क्रोधरूप है। इसी तरह चित्रमें अंकित गर्विष्ठ पुरुष या स्त्री आदेशकषायकी अपेक्षा मान है। चित्रमें अंकित दूसरेको ठगते हुए मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा माया है और चित्रमें अंकित लालची मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा लोभ है। इसीप्रकार[6] लकड़ी-

---

१. 'नोआगम द्व्वकसाओ जहा सज्जकसाओ सिरिसकसाओ एवमादि। वही, पृ० २८५।
२. वही, पृ० २८७।
३. वही, पृ० २९०।
४ क० पा० भा० १, पृ० २९१ आदि।
५. वही, पृ० ३०१।
६. एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसाओ णाम॥ क० पा० भा० १, पृ० [illegible]।

गये, खोदे गये, कपड़ेपर काढ़े गये, भित्तिपर चित्रित किये गये और पत्थर पर खोदी गयी क्रोधी, मानी, मायावी और लोभीकी आकृतियाँ आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध, मान, माया और लोभ कहे जाते हैं।

ये दोनों समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषाय नैगमनयके विषय हैं। अन्य नयोंके नहीं।

जिस[1] द्रव्य या जिन द्रव्योंका रस कसैला है उस या उन द्रव्योंको रसकषाय कहते हैं। और कषायसे रहित द्रव्यको नोकषाय कहते हैं।

भावनिक्षेपके दो भेद हैं—आगमभावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेप। नोआगमभावनिक्षेपकी अपेक्षा क्रोधका वेदन करनेवाला जीव क्रोधकषाय है। इसीप्रकार मान, माया और लोभको भी जानना चाहिये।

इस तरह आचार्य यतिवृषभने 'कसायप्राभृत' नामके कषायशब्दका निक्षेपोंके द्वारा कथन करके यह बतलाया कि कषायशब्दका व्यवहार कितने रूपोंमें किस-किस प्रकारसे होता है। और उनमेंसे यहाँ केवल भावकषाय ही विवक्षित है, शेष कषाय नहीं।

आगे इस भावकषायका विशेष कथन करनेके लिये आचार्य यतिवृषभने छः अनुयोगद्वारोंका कथन किया है—

१. कषाय क्या है ? २. कषाय किसके होती है ? ३. कषाय किस साधनसे होती है ? ४. कषाय किसमें होती है ? ५ कषाय कितने काल तक होती है ? और ६. कषायके कितने प्रकार हैं ? इन छै अनुयोगोंका नाम क्रमशः[2] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान है। इनके द्वारा कथन करनेसे कषायके विषयकी पूरी जानकारी या कथनी हो जाती है, इसीसे जैन आगामिक[3] परम्परामें सभी पदार्थोंका विवेचन इन छै अनुयोगोंके द्वारा करनेका विधान है। अस्तु,

कषायका निक्षेपविधिसे कथन करनेके पश्चात् यतिवृषभने 'पाहुड' का कथन किया है—

---

१. वही, पृ० २०४।

२. 'निर्देश-स्वामित्व-साधन-अधिकरण-स्थिति-विधानतः। त० सू० १-६।

३. 'किं केण कस्स कत्थ वि केवचिरं कदिविधो य भावो य। छहिं अणिओगद्दारेंं सव्वे भावाणुगंतव्वा॥" मूलाचा० ८-१५। 'दुविहा परूवणा छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो। किं कस्स केण व कहिं केवचिरं कइविधे य भवे ॥८९१॥ आव० नि०

'पाहुडका'[1] निक्षेप करना चाहिये। नामपाहुड, स्थापनापाहुड, द्रव्यपाहुड और भावपाहुड इसप्रकार पाहुडके विषयमें चार निक्षेप होते हैं।

इनमेंसे सबका स्वरूप न बतलाकर आचार्य यतिवृषभने नोआगमतद्व्यतिरिक्त-निक्षेपका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा पाहुडके तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

यहाँ पाहुड (प्राभृत) का अर्थ भेंट है। भेंटमें दिये गये हाथी, घोड़ा आदि सचित्त पाहुड हैं।

मणि, मुक्ता आदि अचित्त पाहुड हैं और रत्नालंकार भूषित स्त्री मिश्र पाहुड है।

'नोआगम'[2] भावपाहुडके दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। दोगंधिय[3] पाहुड प्रशस्त नोआगम भावपाहुड है। और कलहपाहुड अप्रशस्त नोआगम भावपाहुड है।

इनकी व्याख्या करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि परमानन्द और आनन्द सामान्यकी संज्ञा 'दोगंधिय' है। जो वस्तु परमानन्द या आनन्दका कारण होती है उपचारसे उसे भी 'दोगंधिय' कहते हैं। केवल आनन्द तो किसीको उपहारमें नहीं दिया जा सकता, अतः आनन्द या परमानन्दका निमित्त कोई द्रव्य भेंट देना दोगंधियपाहुड कहा जाता है। अतः दोगंधियपाहुडके दो भेद हैं—परमानन्दपाहुड और आनन्दमात्रपाहुड। केवलज्ञान और केवल-दर्शनरूप लोचनोंसे समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले वीतराग जिनेन्द्रदेवने निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान् आचार्योंकी परम्परासे भव्यजनोंके लिये भेजा गया जो बारह अंगरूप वाणी या उसका एक देश परमानन्द दोगन्धिक पाहुड है। इस ग्रन्थमें पाहुडसे परमानन्द दोगंधिय पाहुड ही इष्ट है।

इसके पश्चात् यतिवृषभने 'पाहुड' शब्दकी निरुक्ति[4] की है—'पदेहि पुदं (फुडं) पाहुडं'। पदोंसे जो स्फुट अर्थात् व्यक्त हो उसे 'पाहुड' कहते हैं।

---

१. 'पाहुडं णिक्खिवियव्वं। णामपाहुडं ट्ठवणपाहुडं दव्वपाहुडं भावपाहुडं चेदि एवं चत्तारि णिक्खेवा एत्थ होंति।' वही, पृ० ३२२।

२. 'णोआगमदो भावपाहुडं दुविहं पसत्थमप्पसत्थं च' वही, पृ० ३२३।

३. 'पसत्थं जहा दोगंधियं पाहुडं। अपसत्थं जहा कलहपाहुडं।' वही, पृ० ३२४, ३२५।

४. 'पाहुडेत्ति का णिरुत्ती? जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं।' वही, पृ० ३२६।

सारांश यह है कि यहाँ कषायविषयक श्रुतज्ञानको कषाय कहा है और उसके पाहुडको कषायपाहुड कहा है।

इसतरह 'कषायपाहुड' के अर्थ विवेचन पूर्वक निरुक्तिके साथ उपक्रम समाप्त होता है।

यह हम लिख आये कि निक्षेप और नयके द्वारा वस्तुका विवेचन करनेकी आगमिक पद्धति थी। उसी पद्धतिका दर्शन हम कसायपाहुडके गाथासूत्रोंमें भी पाते हैं—

उपक्रमके पश्चात् जिस गाथासूत्रका[२] समवतार होता है उसमें कहा है—

'किसनयकी अपेक्षा किस-किस कषायमें पेज्ज (प्रेयस्त्व) होता है। अथवा 'किस नयकी अपेक्षा किस कषायमें दोष होता है ? कौन नय किस द्रव्यमें दुष्ट होता है अथवा कोन नय किस द्रव्यमें पेज्ज होता है ?'

इस गाथाके द्वारा उठाये गये प्रश्नोंका समाधान आचार्य यतिवृषभ अपने चूर्णिसूत्रोंके द्वारा करते हैं—

'इस गाथाके पूर्वार्धकी विभाषा (विवरण) करना चाहिये। वह इसप्रकार है—

नैगमनय और संग्रहनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया प्रेय है और लोभ प्रेय है।'

आशय यह है कि इस ग्रन्थके दो नाम हैं—कषायपाहुड या पेज्जदोसपाहुड। यहाँ कषायके लिये उसके स्थानमें दो शब्दोंका प्रयोग किया है पेज्ज (प्रेय) और दोस (द्वेष)। अतः यह बतलाना आवश्यक है कि कषायके भेदोंमेंसे कौन प्रेय है और कौन द्वेषरूप है ? तभी तो कषायके लिए 'पेज्जदोस' नाम घटित हो सकता है ?

क्रोध द्वेष है क्योंकि सकल अनर्थकी जड़ है। मान भी इसीसे द्वेषरूप है, किन्तु माया पेज्ज है क्योंकि उसकी सफलतासे मनुष्यको सन्तोष होता है। यही बात लोभके विषयमें भी जानना चाहिये। आशय यह है कि जो कषाय उसके कर्ताके लिये संतापका कारण हो वह द्वेष है और जो आनन्दका कारण हो वह पेज्ज है।

'व्यवहारनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ पेज्ज है।'

मायाचार लोकनिन्द्य और अविश्वासका कारण होनेसे द्वेष है किन्तु लोभसे द्रव्य बचाकर मनुष्य सुखपूर्वक जीवन बिताता है इसलिये लोभ पेज्ज है।

---

२ 'पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स। दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायए को कहिं वा वि॥ २१ । क० पा० अ० १, पृ० ३६४।

'ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान न द्वेष है न पेज्ज है, माया न द्वेष है न पेज्ज है, किन्तु लोभ पेज्ज है।' शब्दनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ द्वेष है। क्रोध मान माया पेज्ज नहीं हैं किन्तु लोभ कथंचित् पेज्ज है।

इसप्रकार चूर्णिसूत्रकारने गाथासूत्रकारके द्वारा प्रश्नरूपसे निर्दिष्ट विषयका ही नयदृष्टिसे विवेचन किया है। अतः जैन आगमिक परम्पराकी यह विषय-विवेचनपद्धति गाथासूत्रकारसे भी प्राचीन प्रतीत होती है। संभव है पूर्वोंका विवेचन इसी शैलीमें हो।

वर्तमान श्वेताम्बरमान्य मूलसूत्रोंमें हमें इस पद्धतिके दर्शन नहीं होते। किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें निक्षेपयोजनाका क्रमबद्ध विधान विस्तारसे मिलता है और उसमें नयोंका भी प्रयोग किया गया है।[1] असलमें अनुयोगद्वारसूत्र, जैसा कि उसके नामसे प्रकट है—अनुयोगसे ही सम्बन्ध रखता है। प्रस्तुत अनुयोगद्वारसूत्रकी उत्थानिकामें उसके टीकाकार हेमचन्द्र मलधारीने लिखा है कि जिनवचनमें प्रायः आचार आदि समस्त श्रुतका विचार उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नयोंके द्वारा होता है और इस अनुयोगद्वारमें उन्हीं उपक्रम आदि द्वारोंका कथन है।' अतः जिनवचनके व्याख्यानकी परिपाटी, जिसका अनुसरण गाथासूत्रकार और चूर्णिसूत्रकारने किया है उसीका विवेचन अनुयोगद्वारमें मिलता है, जो उस परिपाटीका ही समर्थक है।[2] निर्युक्तियोंमें भी निक्षेप योजनाका विधान मिलता है। किन्तु प्रकृत विषय कषायमें निक्षेपयोजनाका विधान विशेषावश्यकभाष्यमें ही देखनेको मिलता है।

छक्खंडागम और चूर्णिसूत्रोंकी तुलना

छक्खंडागम और चूर्णिसूत्रकी तुलनाकी दृष्टिसे अन्य भी दो-एक बातें उल्लेखनीय हैं। जिस तरह छक्खंडागममें निक्षेप और नय-योजना की गई है, चूर्णिसूत्रोंमें भी की गई है।

किन्तु दोनोंमें अन्तर है। भूतबलिने वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्डके अनुयोगद्वारोंमें निक्षेपयोजना करते हुए प्रत्येक निक्षेपका स्वरूप स्पष्ट रूपसे बतलाया है और उसमें पुनरुक्तिका भी ख्याल नहीं किया है। इसके प्रमाण रूपमें कृति

1. 'जिणपवयणउप्पत्ती पवयण एगट्ठिया विभागो य। दारविही य नयविही वक्खाणविही य अणुओगो ॥२२५॥ नामे ठवणा दविए, खित्ते, काले वयण भावे वा। एसो अणुओगस्स निक्खेवो होई सत्तविहो ॥१२९॥ जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं। जत्थऽवि य न जाणिज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ। आ० नि० ॥४॥
2. जिनवचने ह्याचारादि श्रुतं प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिक्षेपानुगमनयद्वारै विचार्यते। प्रस्तुत शास्त्रे च तान्येवोपक्रमादि द्वाराण्यभिधास्यन्ते'। अनु० टी०।

अनुयोगद्वार तथा वर्गणाखण्डके स्पर्श अनुयोगद्वार, कर्म अनुयोगद्वार, प्रकृति अनुयोगद्वार और बन्धन अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेपके कथनपरक सूत्रोंको देख जाइये, कृति, स्पर्श आदि शब्दोंके भेदके सिवाय उनमें कोई भेद नहीं है। किन्तु यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें आवश्यकतानुसार निक्षेप-योजना की, यथा—'पेज्जं णिक्खियव्वं—णामपेज्जं, ठवणपेज्जं, दव्वपेज्जं, भावपेज्जं चेदि।' (क० पा० सु० पृ० १६)। 'दोसो णिक्खिवियव्वो—णामदोसो, ठवणदोसो, दव्वदोसो, भावदोसो।' (पृ० १९), किन्तु सिवाय नोआगमद्रव्यनिक्षेपके किसी निक्षेपका स्वरूप या उदाहरण नहीं दिया। इससे कसायपाहुडकी तरह ही चूर्णिसूत्रों-की भी संक्षिप्त शब्दरचना द्योतित होती है। साथ ही ऐसा भी प्रकट होता है कि भूतबलि-पुष्पदन्ताचार्यको षट्खण्डागमके सूत्रोंकी रचना करते हुए इस बातका ध्यान था कि जहाँ तक शक्य हो, सूत्ररचना स्पष्ट हो, जिससे उसके अध्येताको उसे समझनेमें कठिनाई नहीं हो, इसीलिये उन्होंने शब्दलाघवपर विशेष ध्यान नहीं दिया और न पुनरुक्तिको दोष माना और ऐसा शायद उन्होंने इसलिये किया—क्योंकि बचे-खुचे महाकर्मकृतिप्राभृतके भी एकमात्र ज्ञाता धरसेनाचार्यका स्वर्गवास हो चुका था और अब आगे श्रुतज्ञानकी परम्पराके स्रोतका अन्त आ गया था।

किन्तु यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें हम वह बात नहीं पाते। उनके द्वारा यद्यपि कसायपाहुडकी गाथाओंका रहस्य खुलता है किन्तु स्वयं उनका रहस्य खोलनेके लिए व्याख्याकारोंकी आवश्यकता है। इससे ऐसा लगता है कि या तो यतिवृषभके सामने श्रुतविच्छेदका वैसा भय उपस्थित नहीं हुआ था या उनकी शैली ही ऐसी थी।

एक बात और भी उल्लेखनीय है—'चूर्णिसूत्रमें[1] केवल चित्रकर्म, काष्ठकर्म और पोतकर्मका उल्लेख मिलता है। किन्तु षट्खण्डागमके स्थापनानिक्षेप विषयक सूत्रमें काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्मके सिवाय लेप्यकर्म, लेण्णकर्म, सेलकर्म, गृह-कर्म, भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेंडकर्मका भी निर्देश है।

इसी तरह जयधवलामें ही एक दूसरे स्थानमें चूर्णिसूत्रके साथ जीवट्ठाणका विरोध बतलाते हुए कहा[2] है—'यदि कहा जाय कि आठ समय अधिक छह महीनाके नियमके बलसे एक-एक गुणस्थानमें जीवोंके संचयका समानरूपसे कथन

---

१. 'आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो...। ...एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा।'
—क० पा० सु० पृ० २४।

२. 'ण च जीवट्ठाणसुत्तेण अट्ठसमयाहियछमासणियमबलेण एगेगगुणट्ठाणम्मि जीव-संचयं सरिसभावेण परूवणेण सह विरोहो, पुधभूदआइरियाणं मुहविणिग्गयत्तेण बोण्हं धप्पमाणत्तुवगयाणं विरोहाणुववत्तीदो।' —क० पा०, भा० २, पृ० ३६१।

करनेवाले जीवस्थानके सूत्रके साथ इस कथनका विरोध हो जायगा, सो भी बात नहीं है क्योंकि ये दोनों उपदेश अलग-अलग आचार्योंके मुखसे निकले हैं। अतः दोनों स्वतन्त्र रूपसे स्थित होनेके कारण उनमें विरोध नहीं हो सकता।'

यहाँ चूर्णिसूत्रके कथनको जीवस्थानके कथनसे स्वतन्त्र मानते हुए उन्हें दो पृथक्-पृथक् आचार्योंका उपदेश बतलाया है।

षट्खण्डागमका छठा खण्ड महाबंध है, जो स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें माना जाता है, वह भी आचार्य भूतबलिकी कृति है। जयधवलामें उसको भी तंत्रान्तर बतलाया है। महाबन्ध और कसायपाहुडके मतभेदकी चर्चा करते हुए उसमें लिखा[1] है—'महाबन्धमें विकलेन्द्रियोंमें स्वस्थानमें ही संक्लेशक्षयसे संख्यातभागवृद्धिरूप बन्धके दो समय कहे हैं। उसके बलसे कसायपाहुडको समझना ठीक नहीं है क्योंकि भिन्न पुरुषके द्वारा रचित ग्रन्थान्तरसे ग्रन्थान्तरका ज्ञान नहीं हो सकता।'

जयधवलाकी तरह धवला-टीकामें भी षट्खण्डागम और कसायपाहुडके मतभेदोंकी चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है।

धवलामें[2] लिखा है कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहले सोलह प्रकृतियोंका क्षय होता है, पीछे आठ कषायोंका क्षय होता है, यह 'संतकम्मपाहुड' का उपदेश है। किन्तु कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कषायोंका क्षय होनेपर पीछे सोलह कर्मोंका क्षय करता है। ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है। तथा दोनो कथन प्रमाण है, यह वचन भी घटित नही होता; क्योंकि एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नही होना चाहिये ऐसा न्याय है।'

प्रकृत विषयकी चर्चा करते हुए इसी प्रसंगमें धवलामे आगे जो शंका-समाधान किया गया है वह भी द्रष्टव्य है। लिखा है—

शंका—उक्त दोनों वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है; क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते। अतः उनके वचनोंमे विरोध नहीं होना चाहिये।

समाधान—यह कहना ठीक है किन्तु उक्त वचन तीर्थङ्करके वचन नही हैं, आचार्योंके वचन हैं। आचार्योंके वचनोंमें विरोध होना सम्भव है।

---

१. 'महाबंधम्मि विगलिंदिएसु सत्थाणे चेव संकिलेसक्खएण संखेज्जभागवड्ढिबंधस्स बे समया परूविदा, तब्बलेण कसायपाहुडस्स ण पडिबोहणा काउं जुत्ता; तंतंतरेण भिण्ण-पुरिसकएण तंतंतरस्स पडिबोयणाणुववत्तीदो।' —क० पा०, भा० ४, पृ० १६५।

२. 'एसो संतकम्मपाहुड-उवएसो। कसायपाहुड-उवएसो पुण ‥‥।'
—षट्खं०, पु० १, पृ० २१७।

शंका—तो फिर [1]आचार्यकथित सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृतको सूत्रपना कैसे सम्भव हो सकता है।

समाधान—तीर्थङ्करके द्वारा अर्थरूपसे कहे गये और गणधरके द्वारा ग्रन्थरूपसे निबद्ध द्वादशांग आचार्य परम्परासे निरन्तर चले आ रहे थे। परन्तु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होनेपर और उन अंगोंको धारण कर सकनेवाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। तब श्रेष्ठ बुद्धिवालोंका अभाव देखकर तीर्थविच्छेदके भयसे पापभीरु और गुरुपरम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करनेवाले आचार्योंने उन्हें पोथियोंमें लिपिबद्ध किया। अतएव उनमें असूत्रपना नहीं हो सकता।

शंका—तब तो द्वादशांगका अवयव होनेसे उक्त दोनों ही वचन सूत्र हो जायेंगे?

समाधान—दोनोंमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोंको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि उन दोनोंमें परस्परमें विरोध है।

शंका—दोनों वचनोंमेंसे किसको सत्य माना जाये?

समाधान—यह तो केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा नहीं जान सकता। उक्त विस्तृत चर्चासे मतभेदका कारण भिन्न आचार्यपरम्पराका होना ही प्रकट होता है।

२. जीवट्ठाणके [2]अन्तरानुगममें चारों कषायोंका उत्कृष्ट अन्तर काल छै मास बतलाया है। उसकी धवला टीकामें लिखा है कि ऐसा माननेपर पाहुडसुत्त (कसायपाहुड) के साथ व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि उसका उपदेश भिन्न है।

३. जीवस्थान चूलिकाकी [3]धवलामें लिखा है—'यह व्याख्यान अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथम समयमें होनेवाले स्थितिबन्धका सागरोपम कोटिलक्ष पृथक्त्वप्रमाण कथन करनेवाले पाहुडचूर्णिसूत्रसे विरोधको प्राप्त होता है, ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये। वह तंत्रान्तर है।

४. उक्त चूलिकाकी [4]धवलामे ही अन्यत्र लिखा है—'इस द्वितीयोपशम

---

१. आइरिय-कहियाणं संतकम्मकसायपाहुडाणं कधं सुत्तत्तणमिदि चेण्ण, तित्थयरकहियत्थाणं गणहरदेवकयगंथरयणाणं बारहंगाणं आइरियपरंपराए णिरंतरमागयाणं जुगसहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठुबुद्धीणं खयं दट्ठूण तित्थवोच्छेदभएण वज्जभीरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तणविरोहादो।' —षट्खं०, पु० १, पृ० २२१।

२. 'ण पाहुडसुत्तेण वियहिचारो, तस्स भिण्णोवदेसत्तादो।' —षट्खं० पु० ५, पृ० ११२।

३. षट्खं० पु० ६, पृ० १७७।

४. पु० ६, पृ० ३११।

सम्यक्त्वकालके भीतर जीव असंयमको भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयमको भी प्राप्त हो सकता है और छह आवली काल शेष रहनेपर सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता है। यदि सासादनको प्राप्त करके मरता है तो नरकगति, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु नियमसे देवगतिमें जाता है। यह पाहुडचूर्णिसूत्रका अभिप्राय है। किन्तु भगवन्त भूतबलिके उपदेशानुसार उपशमश्रेणिसे उतरता हुआ जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं करता।'

५. उसीमें पुनः अन्यत्र[1] लिखा है—'यह बात प्राभृतसूत्र (कसायपाहुडचूर्णिसूत्र) के अभिप्रायानुसार कही गई है। परन्तु जीवस्थानके अभिप्रायसे संख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्योंमें सासादनगुणस्थान सहित निर्गमन नहीं बन सकता, क्योंकि उपशमश्रेणिसे उतरे हुए मनुष्यका सासादनगुणस्थानमें गमन सम्भव नहीं है।'

खुद्दाबन्धकी धवला-टीकामें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और चूर्णिसूत्रकर्ताके उपदेशोंमें भेद बतलाते हुए लिखा[2] है—'मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अन्तिम समयमें दस प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है, यह महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपदेश है। चूर्णिसूत्रकर्ताके उपदेशके अनुसार मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके अन्तमें पाँच प्रकृतियोंका उदयविच्छेद होता है, शेष पाँचका उदयविच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें होता है।'

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना हुई है। अतः षट्खण्डागमके मत अवश्य ही महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मत होने चाहिये। और इस तरहसे चूर्णिसूत्रकारके मत महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मतोंसे भी भिन्न थे, यह कहा जा सकता है। अतः ये सैद्धान्तिक मतभेद बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं।

[3]खुद्दाबन्धकी ही धवला-टीकामें एक अन्य भी उल्लेखनीय चर्चा है, जो इस प्रकार है—

शंका—कसायपाहुडसुत्तके साथ यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता है?

समाधान—सचमुचमें कषायप्राभृतके सूत्रसे यह सूत्र (२४) विरुद्ध पड़ता है किन्तु यहाँ एकान्तग्रह नहीं करना चाहिये कि यही सत्य है या वहीं सत्य है, क्योंकि श्रुतकेवलियों या प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके बिना इस प्रकारका निश्चय करनेपर मिथ्यात्वका प्रसंग आयेगा।

---

१. पु० ६, पृ० ४४४।

२. 'एसो महाकम्मपयडिपाहुडउवएसो। चुण्णिसुत्तकत्ताराणमुवएसेण पंचण्णं पयडीणमुदयवोच्छेदो।' —पु० ८, पृ० ९।

३. पु० ८, पृ० ५६–५७।

शंका—सूत्रोंमें विरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—अल्पश्रुतके धारक आचार्योंके द्वारा रचे गये सूत्रों व उपसंहारोंमें विरोधका होना सम्भव प्रतीत होता है।

शंका—उपसंहारोंको सूत्रपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—घट, घटी, सकोरा आदिमें रखे हुए अमृतसागरके जलमें अमृतत्व पाया ही जाता है।

इस प्रकार षट्खण्डागम और कसायपाहुडचूर्णिसूत्र दो भिन्न आचार्य-परम्पराओंके उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। इसीसे उनके कतिपय सैद्धान्तिक मन्तव्योंमें मतभेद है।

अनुयोगद्वार और चूर्णिसूत्र

अनुयोगद्वारसूत्र स्वतंत्र ग्रन्थ है, व्याख्याग्रन्थ नहीं है, किन्तु चूर्णिसूत्र व्याख्यासूत्र है। अनुयोगद्वारमें जिस आगमिक शैलीका वर्णन मिलता है, चूर्णिसूत्रोंमें भी उसी आगमिक शैलीका वर्णन होता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन आगमिक व्याख्या-शैली वही थी जो इन दोनों सूत्र-ग्रन्थोंमें पाई जाती है।

अनुयोगद्वारसूत्रको परम्परासे आर्यरक्षितकी कृति माना जाता है। पट्टावलियोंके अनुसार आर्यरक्षित आर्यमंक्षु और नागहस्तीके मध्यमें हुए थे। अतः उनका समय[1] विक्रमकी प्रथम शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। इस हिसाबसे अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णिसूत्रोंका पूर्वज सिद्ध होता है। किन्तु उसको देखनेसे उसकी प्राचीनतामें सन्देह होता है। नन्दिसूत्रमे अनुयोगद्वारका नाम आया है। और नन्दिसूत्र वलभी वाचनाके समय अर्थात् विक्रमकी छठी शताब्दीके प्रारम्भमें रचा गया माना जाता है। नन्दिमें मिथ्याश्रुत और अनुयोगमें [2]लौकिकश्रुतके नामसे अनेक ग्रन्थोंके नाम दिये हैं। उनमें माठर और षष्ठितंत्रका भी नाम है। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकापर माठरकी कृति प्रसिद्ध है तथा [4]अनुयोगद्वारमें लौकिक भावावश्यकका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—पूर्वाह्णमें भारतका और अपराह्णमें रामायणका वाचन अथवा श्रवण करना है यह लौकिक भावावश्यक है।

---

१. 'श्रीमदार्यरक्षितसूरिः सप्तनवत्यधिकपंचशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्गभणिति पट्टावल्यादौ दृश्यते।' —प॰ स॰, पृ॰ ४८।

२. से किं तं लोइयं भावावस्सयं ? पुव्वण्हे भारहं अवरण्हे रामायणं, से तं लोइयं भावावस्सयं (सू॰ २५)।

३. क॰ पा॰ भा॰ १, पृ॰ ।

४. 'जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा······(सू॰ १०) अ॰।

भारत और रामायणके इस प्रकार आवश्यक रूपसे वाचन अथवा श्रवणका प्रचलन संभवतः ही गुप्तकालमें होना चाहिये। अतः अनुयोगद्वारसूत्र गुप्तकालसे पूर्वका नहीं होना चाहिये।

चूर्णिसूत्रोंके साथ उसकी तुलना करनेपर भी उसका कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। प्रत्युत चूर्णिसूत्र ही उससे अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं। आदेश[1] कषायका स्वरूप बतलाते हुए चूर्णिसूत्रोंमें चित्रकर्म, काष्ठकर्म और पोत्तकर्मका ही उल्लेख है किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें लेप्यकर्मका भी निर्देश मिलता है। इसी तरह उसमें पूर्ववत् शेषवत् आदि अनुमानके तीन भेद गिनाये हैं। जो न्यायसूत्रोंमें पाये जाते हैं।

चूर्णिसूत्र : ऐतिहासिक महत्त्व—दो परम्पराएँ

यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं उपदेशकी दो परम्पराएँ, जिनमेंसे एकको वह पवाइज्जमाण (प्रवाह्यमान) और दूसरीको अपवाइज्जमाण कहते हैं। इन दोनों परम्पराओंका निर्देश कसायपाहुडके उपयोग नामक अधिकारमें पाया जाता है।

'पवाइज्जमाण'की व्याख्या बतलाते हुए जयधवलाकारने लिखा है—'जो सब आचार्योंके द्वारा सम्मत हो और प्राचीनकालसे बिना किसी विच्छेदके सम्प्रदाय-क्रमसे आता हुआ शिष्य-परम्पराके द्वारा लाया हो उसे पवाइज्जंत उपदेश कहते हैं। अथवा यहाँ पर भगवान आर्यमंक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण और नागहस्ती क्षपणके उपदेशको पवाइज्जमाण स्वीकार करना चाहिये।

उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने[2] लिखा है कि इस गाथाकी विभाषाके विषयमें दो उपदेश पाये जाते हैं। एक उपदेशके द्वारा व्याख्यान समाप्त करके लिखा है कि अब पवाइज्जंत उपदेशके द्वारा चौथी गाथाकी विभाषा करते हैं। इसी 'पवाइज्जंत' की टीकामें जयधवलाकारने उक्त बात कही है।

इससे ऐसा प्रकट होता है कि कसायपाहुडके गाथासूत्रोंके व्याख्यानमें आर्यमंक्षु और नागहस्तीमें मतभेद था। आचार्य यतिवृषभने आर्यमंक्षुके मतको प्रथम

---

१. (सू० ४१),

२. 'एक्केण उवएसेण चउत्थीए विहासा समत्ता भवदि। पवाइज्जंतेण उवएसेण चउत्थीए गाहाए विभासा।' ज० ध०—को पुण पवाइज्जंतोवएसो णाम वुत्तमेदं? सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतवो त्ति घेत्तव्वो।'

—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ५९२०।

स्थान दिया, और यद्यपि दूसरे उपदेशको—जिसे जयधवलाकार नागहस्तीका बतलाते हैं—पवाइज्जंत बतलानेसे प्रथम उपदेशका अपवाइज्जंत होना स्वयं सिद्ध है, किन्तु उन्होंने अपनी लेखनीसे उसे अपवाइज्जंत नहीं कहा। इसी तरह इसी अधिकारकी सातवीं गाथाकी विभाषामें भी दोनों उपदेशोंका कथन करके एक[1] उपदेशको पवाइज्जंत लिखा और अन्तमें लिख दिया कि इन दोनों उपदेशोंसे त्रसजीवोंके कषायोदयस्थान जान लेना चाहिये। ऐसा करके यतिवृषभने जहाँ प्राचीन उपदेशकी सुरक्षा की वहाँ दूसरेकी अवहेलना नहीं की। यह उनके बड़प्पनको तो द्योतित करता ही है, साथ ही आर्यमंक्षुके प्रति अनादरभावको भी प्रकट नहीं करता।

किन्तु जयधवलाकारने इसी अध्यायमें तथा आगे आर्यमंक्षु और नागहस्ती दोनोंके उपदेशको पवाइज्जंत भी कहा है।

उपयोगाधिकारकी प्रथम गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने लिखा है—'पवाइज्जंत उपदेशकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोंका विशेष अन्तर्मुहूर्त है और उसी पवाइज्जंत उपदेशकी अपेक्षा चारों गतियोंमें अल्पबहुत्वका कथन करते हैं।'

इस टीकामें [2]जयधवलाकारने दोनोंके उपदेशको पवाइज्जंत कहा है। इसी तरह सम्यक्त्व अनुयोगद्वारमे[3] भी उन्होंने दोनोंके उपदेशको पवाइज्जंत कहा है। ऐसी स्थितिमे उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाके चूर्णिसूत्रोंकी व्याख्यामें जो उन्होंने आर्यमंक्षुके उपदेशोंको पवाइज्जंत और नागहस्तीके उपदेशोंको अपवाइज्जंत कहा है, उसके साथ संगति नहीं बैठती और दोनों कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। किन्तु जयधवलाके शब्दोंपर ध्यान देनेसे यह विसंगति दूर हो जाती है।

जयधवलाकारने वहाँ पहले 'पवाइज्जंत उपदेश' की व्याख्या की है कि जो सर्वाचार्य सम्मत आदि हो वह पवाइज्जंत उपदेश है। फिर 'अथवा' कहकर आर्यमंक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा है। किन्तु अपवाइज्जमाणके पहले आगत 'एत्थ' शब्द खास ध्यान देने योग्य है जो बतलाता है कि यहाँपर अपवाइज्जमाणसे आर्यमंक्षुका उपदेश ग्रहण करना चाहिये। अतः आर्यमंक्षुका प्रत्येक उपदेश अपवाइज्जमाण नहीं है। किन्तु नागहस्तिके साथ एत्थ पद नही है। अतः नागहस्ती-

---

१. एसो उवएसो पवाइज्जइ। अण्णो उवदेसो······। एदेहिं दोहि उवदेसेहिं कसाय-उदयट्ठाणि णेदव्वाणि तसाणं। —क० पा० सु०, पृ० ५९२—५९३।

२. 'तेसिं चेव भयवंताणमज्जमंखु-णागहत्थीणं पवाइज्जंतेण उवएसेण।'
—ज० ध० सं० का०, पृ० ५९६४।

३. 'पवाइज्जंतेण पुण उवएसेण सव्वाइरियसम्मदेण अज्जमंखु-णागहत्थिमहावाचयमुहकमल विणिग्गएण।' —ज० ध० प्रे० का०, ६२६१।

का कोई उपदेश अपवाइज्जंत नहीं था—सब उपदेश पवाइज्जंत था। किन्तु आर्यमंक्षुका कोई-कोई उपदेश अपवाइज्जंत भी था।

इस तरह चूर्णिसूत्रोंमें विभिन्न उपदेशोंकी परम्पराके दर्शन होते हैं।

चूर्णिसूत्रके रचयिता

चूर्णिसूत्रके रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं। ये गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्तिके उत्तराधिकारी हैं। पट्टावलि, शिलालेख तथा अन्य स्रोतोंसे आचार्य यतिवृषभके जीवन-परिचय, समय आदिके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है।

इनकी दो ही कृतियाँ मानी जाती हैं—एक कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्र और दूसरी त्रिलोकप्रज्ञप्ति। किन्तु उनमें अन्य बातोंका तो कहना ही क्या, ग्रन्थकर्ता तकका नाम नहीं पाया जाता। हाँ, त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें एक गाथा आई है—

"पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं।
दट्ठूण परिसवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं॥

इस गाथामें 'जदिवसह' (यतिवृषभ) नाम आया है। और उसके अन्तमें वषह (वृषभ) शब्द होनेसे उसका अनुप्रास मिलानेके लिये अन्य शब्दोंके अन्तमें भी 'वसह' पद दिया है। जिनवरवृषभ और गणधरवृषभ पद तो स्पष्ट ही हैं, क्योंकि जिनवर वृषभ प्रथम तीर्थङ्कर थे और उनके प्रथम गणधरका नाम भी वृषभ ही था। किन्तु 'गुणवसहं' पद स्पष्ट नहीं है। यों तो उसे 'गणहरवसहं' का विशेषण किया जा सकता है, जैसा कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति[1] के हिन्दी अनुवादमें और श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति'[2] शीर्षक लेखमें किया है। किन्तु उससे कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नहीं होता। इसी तरह 'दट्ठूण परिसवसहं' पद भी अस्पष्ट है।

जयधवलाके सम्यक्त्व-अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें मंगलाचरणरूपमें भी यह गाथा पाई जाती है। और उससे उक्त पदोंकी समस्या सुलझ जाती है। गाथा इस प्रकार है—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं
दुसहपरीसहविसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं॥

इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—

'जिनवरवृषभको, गणधरवृषभको, गुणधरवृषभ (श्रेष्ठ) और दुस्सह परीषह-

---

१. जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित।
२. जै० सा० इ०, पृ० ७।

को सहनेवाले तथा कर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ यतिवृषभको[1] प्रणाम करो। इसमें यतिवृषभके दो विशेषण हैं—एक दुस्सह परीषहको सहनेवाले और दूसरा कर्म-सूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ। पहले विशेषणके सम्बन्धमें श्रीप्रेमीजीने लिखा[2] है कि—'शिवार्यकी भगवतीआराधनाकी एक गाथा और उसकी टीकापर मेरी दृष्टि गई। गाथा और उसकी टीका इस प्रकार है—

> अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण।
> उड्डाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी ॥२०७५॥

टीका—अहिमारएण अहिमारकनाम्ना बुद्धोपासकेन। णिवदिम्मि श्रावस्तिका-नगरीनाथे जयसेनाख्ये। गणी यतिवृषभाचार्यः।

यह प्रसंग समाधिमरणका है, जिसे आराधनामें पंडितमरण कहा है। हरि-षेणके बृहत्कथाकोशकी १५६वीं और नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशकी ८१वीं कथामें इसका विवरण मिलता है, जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

राजा जयसेन पहले बौद्ध भिक्षु शिवगुप्तका शिष्य था। एक बार यतिवृषभ अपने संघके साथ श्रावस्ती आये और उनका उपदेश सुनकर जयसेन जैनधर्मका श्रद्धालु हो गया। यह शिवगुप्तको अच्छा नहीं लगा। उसने पड़ौसी बौद्ध राजा सुमतिको भड़काया और उसने जयसेनके पास पत्र भेजा कि तुम पुनः बौद्ध हो जाओ। पर जयसेन न माना, तब सुमतिने आकर श्रावस्तीको घेर लिया और अपने स्कन्धावारमें बैठकर कहा कि मेरी सेनामें कोई ऐसा है जो जयसेनको मार दे। तब अहिमारक नामक बुद्धोपासकने कहा कि हाँ, मैं यह काम करूँगा। उसने कपटसे यतिवृषभके पास जिनदीक्षा ले ली और उन्हींके साथ रहने लगा। दूसरे दिन राजा जयसेन जब जिनमन्दिरमें यतिवृषभ और इस नवीन मुनिकी वन्दनाके लिये आया और वह ज्यों ही सिर झुकाकर वन्दना करने लगा त्यों ही अहिमारकने खड्गसे उसका सिर उतार लिया। यतिवृषभ स्तम्भित रह गये। तत्काल ही उन्होंने सोचा कि यह उपप्लव बिना आत्मघातके शान्त न होगा। उन्होंने राजाके रक्तसे दीवारपर लिख दिया कि एक मुनिवेषीने यह जो अपकर्म किया है उसके धोनेका इसके सिवाय कोई उपाय नहीं है और उन्होंने उसी समय तलवारसे अपना वध कर लिया।'

प्रेमीजीने उक्त कथासार शायद आराधनाकथाकोशके आधारपर दिया है,

---

१. यतिवृषभविषयक अन्य लेखोंके लिए देखो—जै० सा० इ० वि० प्र०, पृ० ५८६। ति० प० की प्रस्तावना, क० पा०, भा० १, प्रस्ता० पृ० ३९।

२. जै० सा० इ०, पृ० २०, २१।

क्योंकि हरिषेणके कथाकोशमें आचार्यका नाम अभिमारक आया है, अहिमारक नहीं। अस्तु,

जिस मूलाराधनानामक टीकामें गणिका अर्थ यतिवृषभाचार्य किया गया है वह पण्डित आशाधरकृत है। खेद है कि अपराजित सूरिने उदाहरण सम्बन्धी गाथाओंकी टीका नहीं की। हरिषेण आशाधरसे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुए हैं और उन्होंने अपने कथाकोशकी १५६वीं कथामें आचार्यका नाम यतिवृषभ[1] लिखा है। अतः संभव है कि आशाधरने अपनी टीकामें गणीका अर्थ यतिवृषभाचार्य उसीके आधारसे किया हो।

इसमें तो सन्देह नहीं कि 'दुसहपरीसहविसहं' विशेषणके साथ कथाकी संगति ठीक बैठती है।

किन्तु ऐसी स्थितिमें उक्त गाथा यतिवृषभकृत होना सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मघातके पश्चात् मरण होनेपर आचार्य स्वयं अपने विषयमें कुछ लिख नहीं सकते। यह तो उनका कोई वीरसेन स्वामी जैसा भक्त ही लिख सकता है क्योंकि उन्हींकी जयधवलाटीकाके सम्यक्त्व-अधिकारके प्रारम्भमें उक्त गाथा पाई जाती है। और गुणधर तथा यतिवृषभके प्रति उनकी असीम श्रद्धा थी। इसके समर्थन में जयधवलासे दोनोंके सम्बन्धमें एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

जयधवलाकी उत्थानिकामें वीरसेन स्वामीने लिखा है—

'ज्ञानप्रवाद' नामक पूर्वकी दसवीं निर्दोष वस्तुके तीसरे कषायप्राभृतरूपी समुद्रके जल-समूहसे धोये गए मतिज्ञानरूपी लोचनोंसे जिन्होंने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष-कर लिया है और जो तीनों लोकोंके परिपालक हैं, उन गुणधर भट्टारकके द्वारा तीर्थविच्छेदके भयसे कही गई गाथा।'

'पच्चक्खीकय-तिहुवणेण' (प्रत्यक्षीकृतत्रिभुवनेन) और तिहुवण-परिपालएण' (त्रिभुवनपरिपालकेन) ये दो विशेषण ऐसे हैं जो जिनेन्द्रदेवके लिए उपयुक्त हैं। उनका प्रयोग गुणधरके लिये करके वीरसेन स्वामीने उनके प्रति अपनी असीम भक्तिका ही परिचय दिया है।

यही श्रद्धा हम उनकी यतिवृषभके प्रति भी पाते हैं। जयधवलामें एक शंका-

---

१. 'अन्यदा विहरन् क्वापि वृषभो यतिपूर्वकः।
राजाचार्यः समायातः श्रावस्तीं संघसंयुतः ॥६॥'

२. णाणप्पवादामलदसमवत्थुतदियकसायपाहुडउवहिजलणिवहप्पक्खालियमइणाणलोयणकलाव-पच्चक्खीकयतिहुवणेण तिहुवणपरिपालएण गुणहरभडारएण'—क० पा० भा० १, पृ० ४।

का समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने[1] कहा है—'विपुलाचलके शिखरपर स्थित महावीररूपी सूर्यसे निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्य-परम्परासे आकर, गुणधराचार्यको प्राप्त होकर गाथारूपसे परिणत हो, पुनः आर्यमंक्षु-नागहस्तीके द्वारा यतिवृषभके मुखसे चूर्णिसूत्ररूपसे परिणत हुई दिव्यध्वनिरूपी किरणोंसे हमने ऐसा जाना है।' यहाँ यतिवृषभके वचनोंको भगवान महावीरकी दिव्यध्वनिके साथ एकरसता बतलानेसे यतिवृषभके प्रति वीरसेन स्वामीकी असीम श्रद्धा व्यक्त होती है। तभी तो वे जिनेन्द्रोंमें श्रेष्ठ प्रथम जिन और गणधरोंमें श्रेष्ठ उनके प्रथम गणधरके साथ गुणधर और यतिवृषभको नमस्कार करनेकी प्रेरणा करते हैं।

स्वयं यतिवृषभ अपने विषयमें ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त गाथामें आगत 'जइवसह' शब्द श्लेषरूपसे प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। स्वयं उसके साथ दो विशेषण पद लगे हुए हैं। यदि उसे श्लेषरूपमें प्रयुक्त माना जाता है तो गाथाके पूरे उत्तरार्धको किसी विशेष्यके साथ प्रयुक्त करना होगा। गाथाके पूर्वार्द्धमें तीन विशेष्यपद हैं, जिणवरवसह, गणहरवसह और गुणहरवसह। अब इन तीनों विशेष्योंमेंसे किसके विशेषणरूपसे उक्त तीनों विशेषणोंका प्रयोग किया जाये, यह समस्या उत्पन्न होती है। खींचातानी करके किसी एकके साथ या तीनोंके साथ तीनों भेदोंको संयुक्त कर देनेपर भी यतिवृषभ जैसे ग्रन्थकारकी कृतिके अनुरूप स्वाभाविकता उसमें नहीं रहती। अस्तु,

दूसरा विशेषण 'धम्मसुत्तपाढरवसह' बतलाता है कि यतिवृषभ धर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ थे, किन्तु धर्मसूत्रसे किस सूत्र-ग्रन्थका अभिप्राय है यह स्पष्ट नहीं होता। इस तरहके शब्दका व्यवहार भी जैनपरम्परामें मेरे देखनेमें नहीं आया।

वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभ महावीर-निर्वाणके एक हजार वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० ४७३ से पूर्व नहीं हो सकते, क्योंकि उसमें महावीर-निर्वाणसे एक हजार वर्ष तकके प्रमुख राजवंशोंकी कालगणना दी हुई है और वह इस रूपमें है कि सहसा उसे प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता। उनके चूर्णिसूत्रोंसे भी कोई बात ऐसी प्रकट नहीं होती, जिससे उनकी अर्वाचीनता प्रमाणित हो सके। उन्होंने अपने चूर्णिसूत्रोंमें 'एसा कम्मपवादे' और 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृतिका उल्लेख किया है।

---

१. "एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम-लोहज्ज-जंबुसामियादिआइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहिंतो जइवसहमुहणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।" —क० पा०, भा० ५, पृ० ३८८।

कसायपाहुडके चारित्रमोहोपशामना नामक अधिकारमें यतिवृषभने उपशामनाके दो भेद किये हैं—एक करणोपशामना और दूसरा अकरणोपशामना। तथा करणोपशामनाके भी दो भेद किये हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। और लिखा है कि अकरणोपशामनाका कथन कर्मप्रवादमें और देशकरणोपशामनाका कथन कर्मप्रकृतिमें है। कर्मप्रवाद आठवें पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति दूसरे पूर्वके पञ्चम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका नाम है। अब प्रश्न यह होता है कि यतिवृषभने इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश स्वयं उन्हें देखकर किया है या अन्य किसी आधारपर किया है? दिगम्बर उल्लेखोंके अनुसार पूर्वोंका ज्ञान तो वीर निर्वाणसे ३४५ वर्ष पर्यन्त ही प्रचलित रहा है। उसके पश्चात् तो विकलित ज्ञान ही रह गया था। श्वेताम्बर उल्लेखोंके अनुसार वीरनिर्वाणसे लगभग छः सौ वर्ष पश्चात् स्वर्गगत हुए आर्यरक्षितसूरि साढ़े नौ पूर्वोके ज्ञाता थे। उन्हींके वंशज नागहस्ती थे। वे आठवें कर्मप्रवादके ज्ञाता हो सकते हैं। नन्दिसूत्रमें उन्हें कर्मप्रकृतिमें प्रधान तो बतलाया ही है। इसलिए उनके द्वारा यतिवृषभको कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृति दोनोंका अनुगम होना शक्य है। इन्हीं दो का निर्देश चूर्णिसूत्रोंमें पाया जाता है। अतएव चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आर्यमंगुके न सही तो कम-से-कम नागहस्तीके तो लघु समकालीन होने ही चाहिये। विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें आर्यमंगुका नाम नहीं है। गुणधरने नागहस्तीको कसायपाहुडके सूत्रोंका व्याख्यान किया। और गुणधर नागहस्तिके पास यतिवृषभने उनका अध्ययन किया। इसमें गुणधरके पास अध्ययन करने वाली बातका समर्थन अन्यत्रसे नहीं होता, अतः उसे छोड़ देने पर भी नागहस्तीके समीप अध्ययन करनेकी ही बात पुष्ट होती है। एक अन्य बात यह भी है कि[1] त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी उपलब्ध प्रतिमें हम बहुत-सी ऐसी गाथाएं पाते है जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं और उनसे ली गई प्रतीत होती हैं। यद्यपि इससे यतिवृषभकी प्राचीनताको विशेष क्षति नहीं पहुँचती, क्योंकि कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी माना गया है तथापि यतिवृषभमें यदि इस प्रकारका संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती तो उसका कुछ आभास उनके चूर्णिसूत्रोंमें भी परिलक्षित होता। अतः हमारा अनुमान है कि इन प्राचीन गाथाओंका कोई एक मूलस्रोत रहा है, जहाँसे कुन्दकुन्द और यतिवृषभ दोनोंने ही उन गाथाओंको ग्रहण किया होगा। दूसरे, धरसेनने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके विच्छेदके भयसे ही भूतबलि-पुष्पदन्तको उसका ज्ञान दिया था। उन्होंने उसके आधारपर षट्खण्डागमको रचना की और इस तरह महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञान उनके साथ समाप्त हो गया। तब यतिवृषभको कर्मप्रकृतिका

---

१. ति. प. भा. २ की प्रस्तावना तथा अनेकान्त वर्ष २, पृ. ३।

ज्ञान किससे मिला ? अतः यतिवृषभ ऐसे समयमें होने चाहिये जब कर्मप्रकृति-प्राभृतका ज्ञान अवशिष्ट था।

तीसरे, यह आगे बतलायेंगे कि छक्खंडागम और कसायपाहुडमें अनेक बातोंको लेकर मतभेद है, अतः उन दोनोंको तंत्रान्तर कहा गया है। जो मतभेद बतलाया जाता है उसका आधार कसायपाहुड पर रचित चूर्णिसूत्र हैं। वही उस मतभेदका प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हीं परसे धवला व जयधवलामें भूत-बलि और यतिवृषभके मतभेदकी चर्चा देखनेमें आती है। उस चर्चापरसे यतिवृषभका व्यक्तित्व भूतबलिके समकक्ष प्रतीत होता है। दोनोंके सूत्रोंकी भी तुलनासे यही बात प्रमाणित होती है। अतः यतिवृषभ भूतबलि पुष्पदन्तसे विशेष अर्वाचीन प्रतीत नहीं होते। और जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे। चूंकि धरसेन और नागहस्ती लगभग समकालीन प्रमाणित होते हैं, क्योंकि दोनों-का समय वीर-निर्वाणकी सातवी शताब्दीमें थोड़ा आगे-पीछे आता है। अतः यतिवृषभ भी उसी समयके लगभग होने चाहिये।

यतिवृषभकी रचनाएं

आचार्य यतिवृषभकी कृतिरूपसे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—एक प्रकृत चूर्णिसूत्र[1] और दूसरी तिलोयपण्णत्ती[2]। दोनों उपलब्ध हैं और हिन्दी अर्थके साथ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं। तिलोयपण्णत्तीका विषय लोकरचनासे सम्बद्ध है, अतः उसका परिचय आदि इस ग्रन्थके लोकरचना विषयक प्रकरणमें दिया जायगा।

तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम[3] गाथामें तिलोयपण्णत्तीका प्रमाण आठ हजार बतलाते हुए लिखा है कि चूर्णिस्वरूप और षट्करणस्वरूपका जितना प्रमाण है उतना ही तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि षट्करणस्वरूप नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवृषभकृत होना चाहिये।

पं० जुगलकिशोर मुख्तारका कहना है कि 'करणस्वरूप' नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवृषभके द्वारा रचा गया था जो अभी तक अनुपलब्ध है। बहुत सम्भव है कि वह ग्रन्थ उन करणसूत्रोंका ही समूह हो, जो गणितसूत्र कहलाते हैं और जिनका कितना ही उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार और धवला जैसे ग्रन्थोंमें पाया जाता है। चूर्णिसूत्रोंकी संख्या चूंकि छः हजार हैं अतः करणस्वरूप ग्रन्थकी संख्या दो हजार श्लोक परिमाण समझनी चाहिये,

---

१. श्री वीरशासन संघ, कलकत्तासे प्रकाशित।
२. जीवराज ग्रन्थ माला, शोलापुरसे प्रकाशित।
३. चुण्णिसरूवछक्करणसरूवपमाण होइ किं जं तं। अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्ति-णामाए ॥७७॥ ति, प., भा. २, पृ. ८८०।

इन दोनोंकी संख्या मिलकर आठ हजार परिमाण इस ग्रन्थ (तिलोयपण्णत्ती) का बैठता है (जै० सा० इ० वि० प्र०, पृ० ५८९)।

किन्तु सिद्धान्तशास्त्री पं० हीरालालजी शास्त्रीने कसायपाहुडसुत्तकी प्रस्तावनामें उक्त अन्तिम गाथाके उक्त अंशका भिन्न अर्थ किया है। उन्होंने गाथा उद्धृत करके लिखा है—'इसमें बतलाया गया है कि आठ करणोंके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाली कम्मपयडीका और उसकी चूर्णिका जितना प्रमाण है उतने ही आठ हजार प्रमाण इस तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है।'

गाथाके प्रथम चरण 'चुण्णिसरूव-छक्करणसरूव' में 'छ' के स्थान पर 'त्थ' पाठभेद भी मिलता है। पण्डितजीने 'त्थ' के स्थानमें 'ट्ठ' मानकर 'अट्ठकरण' शब्द निष्पन्न किया है। चूंकि कर्मप्रकृतिमें आठ करणोंके स्वरूपका कथन है अतः 'अट्ठकरण' नाम कर्मप्रकृतिके लिए ही प्रयुक्त किया है, ऐसा पं० जीका विचार है। और यतः आप कर्मप्रकृतिकी चूर्णिका रचयिता आचार्य यतिवृषभको मानते हैं, इसलिये आपने उक्त प्रकारका अर्थ किया है।

कर्मप्रकृतिकी चूर्णिके कर्ताका विचार करते समय इस बात पर प्रकाश डाला जायेगा कि यतिवृषभ उसके कर्ता नही हो सकते। यहाँ तो हम इतना ही लिखना उचित समझते हैं कि पण्डितजीने ति० प० की उक्त अन्तिम गाथा-का जो अर्थ किया है वह अपनी उक्त कल्पनाके आधार पर उतावलीमें कर डाला है। यह ठीक है कि कर्मप्रकृतिमें आठ करणोंके भी स्वरूपका कथन है। किन्तु आठ करणोंके सिवाय उदय और सत्ताका भी कथन है और पहली गाथामें ही आठ करणोंके साथ उदय और सत्त्वके भी कथनकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है। अतः ऐसे ग्रन्थका नाम 'अट्ठकरणसरूव' नहीं हो सकता।

दूसरे, प्रकृत कम्मपयडी या कर्मप्रकृतिका 'अट्ठकरणसरूव' नाम भी था, इसका एक भी समर्थक प्रमाण मेरे देखनेमें नही आया। जिस चूर्णिको पंडितजी यतिवृषभकृत मानते है उसमें भी प्रथम गाथाकी उत्थानिकारूपसे 'कम्मपयडी-संगहणी' नामका निर्देश करते हुए उसे सार्थक बतलाया है।

तीसरे, 'चुण्णिसरूवट्ठकरणसरूव'का अर्थ 'कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि' करना भी कष्टसाध्य ही है। उसका सीधा-सा अर्थ होता है चूर्णि और अट्ठकरण (कर्मप्रकृति)। अट्ठकरणकी चूर्णि यह अर्थ तो नहीं होता। फिर कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका परिमाण बतलानेके लिए अपनी कृतियोंके सिवाय अन्य कृतिका निर्देश क्यों करेगा। अतः पं० जीने तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम गाथाके स्वकल्पित अर्थके आधारपर जो कर्मप्रकृतिचूर्णिको यतिवृषभकी कृति बतलाया है वह ठीक नहीं है। इसी तरह सत्तरीचूर्णि तथा शतकचूर्णि भी यतिवृषभकृत नहीं हैं। इस पर विशेष प्रकाश चूर्णियोंके कर्तृत्वके विवेचनके समय डाला जायेगा।

चूर्णिसूत्रोंकी विषयवस्तु

आचार्य गुणधररचित गाथासूत्रोंपर आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है। अतः चूर्णिसूत्रोंका भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय वही है, जो कसायपाहुडका है। किन्तु आचार्य गुणधरने अपने पृच्छात्मक गाथासूत्रोंमें जो जिज्ञासाएं मात्र व्यक्त की थीं या जिन विषयोंकी सूचनामात्र की थी उन सबको चूर्णिसूत्रकारने भी संक्षेपमें ही कहनेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिए आचार्य गुणधरने एकमात्र गाथा (२२) के द्वारा आदिके चार अधिकारोंका निर्देशमात्र किया है। किन्तु यतिवृषभने उस एक गाथाका अवलम्बन लेकर चारों अधिकारोंका कथन किया है। सबसे प्रथम उन्होंने गाथाका पदच्छेद किया है—'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ति' इस पदसे प्रकृतिविभक्ति नामक पहला अर्थाधिकार है। 'तह ट्ठिदी' से स्थितिविभक्ति दूसरा अर्थाधिकार है। 'अणुभागे' से अनुभागविभक्ति तीसरा अर्थाधिकार है। 'उक्कस्समणुक्कस्सं'से प्रदेशविभक्ति चतुर्थ अर्थाधिकार है। 'क्षीणाक्षीण' पांचवां अर्थाधिकार है और 'स्थित्यन्तक' छठा है। प्रकृति-विभक्तिके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति। मूलप्रकृतिविभक्तिके आठ अनुयोगद्वार हैं—स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, भागाभाग, अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोंका कथन करनेपर मूलप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती है। इसके पश्चात् उत्तरप्रकृतिविभक्ति दो प्रकारकी है—एकैकउत्तरप्रकृति-विभक्ति और प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति। उनमेंसे एकैकउत्तर प्रकृतिविभक्तिके ये अनुयोगद्वार हैं—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, सन्निकर्ष और अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोंके कहने पर एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती है।

इस तरह चूर्णिसूत्रकारने गुणधराचार्यके द्वारा सूचित आद्य अधिकारोंका विवेचन किया है। उक्त अनुयोगद्वार आगमिक परम्पराकी देन हैं। उनके द्वारा किसी भी वर्ण्य वस्तुका विवेचन करनेसे उसके विषयमें पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिसूत्रकारने पांच उपक्रमोंका निर्देश किया है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। नामके छह भेद, प्रमाणके सात भेद, वक्तव्यताके तीन भेद और अर्थाधिकार केपन्द्रह भेद हैं।

तिलोयपण्णत्तिके प्रारम्भमें कहा है—

जो ण पमाण-णएहि णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥

अर्थात् जो नय, प्रमाण, निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नहीं करता, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त प्रतीत होता है ।

इस आचार्यपरम्परासे आगत न्यायको दृष्टिमें रखकर चूर्णिसूत्रोंमें भी तदनुसार कथन किया है । प्रथम गाथामें आगत 'कसायपाहुड' शब्दपर चूर्णिसूत्र द्वारा कहा गया है—उस पाहुडके दो नाम हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड । पेज्जदोसपाहुडनाम अभिव्याहरण निष्पन्न है और कसायपाहुडनाम नयनिष्पन्न है । पेज्जका निक्षेप करते हैं—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, भावपेज्ज । नैगम, संग्रह, व्यवहारनय सब निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं । ऋजुसूत्रनय स्थापनाको छोडकर शेष तीनको स्वीकार करता है । शब्दनय नामनिक्षेप और भावनिक्षेपको स्वीकार करता है ।

इसी तरह दोस कसाय और पाहुडमें भी निक्षपोंकी योजना करके उनमें नयकी योजना की है ।

पाहुडशब्दकी निरुक्ति 'पदेहि पुदं' की है अर्थात् पदोंसे स्फुट होनेसे प्राभृत कहते हैं ।

प्रकृतिविभक्तिका कथन करते हुए विभक्तिका निक्षेप किया है—नामविभक्ति, स्थापनाविभक्ति, द्रव्यविभक्ति, क्षेत्रविभक्ति, कालविभक्ति, गणनाविभक्ति संस्थानविभक्ति और भावविभक्ति । विभक्तिका अर्थ करते हुए कहा है—तुल्यप्रदेशी द्रव्य तुल्यप्रदेशी द्रव्यका अविभक्ति है और वही द्रव्य असमानप्रदेशी द्रव्यका विभक्ति है अर्थात् विभक्तिका अर्थ असमानता है ।

प्रकृतिविभक्तिके अन्तर्गत प्रकृतिस्थानविभक्तिका कथन करते हुए मोहनीय कर्मके पन्द्रह प्रकृतिसत्वस्थान कहे हैं—२८, २७, २६, २४, २३, २२, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २. १ । चूर्णिसूत्रकारने इनका कथन एकसे किया है । किन्तु यहाँ हम मोहनीयकर्मके इन सत्वस्थानोंको इसी क्रमसे लिख रहे जिस क्रमसे ऊपर कहे हैं । उससे पाठक यह जान सकेंगे कि मोहनीयकर्मका क्षय किस क्रमसे होता है ।

मोहनीयकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अठाईस हैं । जिसके सब प्रकृतियोंकी सत्ता है वह अट्ठाईस प्रकृतिस्थान विभक्तिवाला है । ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिथ्यादृष्टि होता है । उनमेंसे सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है । उसके सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्ता होती है । उनमेंसे सम्यक्मिथ्यात्वकी उद्वेलना करने वाला सादिमिथ्यादृष्टिजीव या

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला होता है। अठाईस प्रकृतियोंमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका विसंयोजन करने वाला सम्यग्दृष्टि चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला होता है। मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्त्वप्रकृति तथा सम्यमिथ्यात्वप्रकृतिके शेष रहने पर मनुष्य सम्यग्दृष्टि तेईस प्रकृतियोंको विभक्ति वाला होता है। मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्प्रकृतिके शेष रहने पर सम्यग्दृष्टि मनुष्य बाईस प्रकृतियोंकी विभक्ति वाला होता है। दर्शनमोहनीयका क्षय करने वाला जीव इक्कीस प्रकृतियोंकी विभक्ति वाला होता है। नौवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया. लोभका क्षपण करने वाला संयमी मनुष्य तेरह प्रकृतियोंकी विभक्ति वाला होता है। फिर उसी गुणस्थानमें नपुंसकवेदका क्षय करनेपर बारह प्रकृतियोंकी, स्त्रीवेदका क्षय करने पर ग्यारह प्रकृतियोंकी, छह नोकषायोंका क्षय करनेपर पाँच प्रकृतियोंकी, पुरुषवेदका क्षय करनेपर चार प्रकृतियोंकी, तथा क्रमसे संज्वलन क्रोध, मान और मायाका क्षय करनेपर तीन, दो और एक विभक्ति वाला होता है। एक विभक्ति वालेके केवल एक संज्वलनलोभकषाय शेष रहती है। इसका विनाश कृष्टिकरणके द्वारा किया जाता है।

चूर्णिसूत्रकारने इन्हीं प्रकृतियोंके स्थितिसत्व, अनुभागसत्व, प्रदेशसत्व आदिका कथन अनुयोगद्वारोंसे किया है। किन्तु उन्होंने सभी अनुयोगद्वारोंका कथन नहीं किया। जहाँ जिनका कथन आवश्यक समझा वहाँ उनका कथन किया है। समस्त कथन इतना अधिक परिभाषाबहुल है कि कर्मसिद्धान्तके अभ्यासी पाठकके लिये भी दुरूह है। उस सबका परिचय कराना भी कष्टसाध्य है। फिर भी कुछ कम दुरूह विषयोंका परिचय कराते हैं—

बन्धक अधिकारमें आगत संक्रम-अधिकारमें मोहनीयके उक्त २८ आदि प्रकृतिस्थानोंके संक्रम पर भी विचार किया गया है। प्रत्येक प्रकृतिसत्वस्थानकी प्रकृतियाँ बतलानेके साथ किस स्थानका संक्रम होता है और किसका नहीं होता इसका स्पष्टीकरण किया है।

इस संक्रम-अधिकारको आचार्य गुणधरने भी विस्तारसे लिखा है और चूर्णिसूत्रकारने भी उसे यथानुरूप स्पष्ट किया है। इसके स्पष्टीकरणके लिये उन्होंने स्थानसमुत्कीर्तन, सर्वसंक्रम, नोसर्वसंक्रम, उत्कृष्टसंक्रम, अनुत्कृष्टसंक्रम, जघन्यसंक्रम, अजघन्यसंक्रम, सादिसंक्रम, अनादिसंक्रम, ध्रुवसंक्रम, अध्रुवसंक्रम, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, सन्निकर्ष, अल्पबहुत्व, भुजकार, पदनिक्षेप और वृद्धि अनुयोगद्वार सूचित किये हैं। किन्तु विवेचन केवल स्थानसमुत्कीर्तन, काल अन्तर और अल्पबहुत्व-

का ही किया है। प्रकृतिसंक्रमकी तरह ही स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम, और प्रदेशसंक्रमका कथन किया है।

संक्रमके पश्चात् वेदक अधिकार है। इसमें आचार्य गुणधरने जो आशंकासूत्र उपस्थित किये हैं उन सबका विवेचन चूर्णिसूत्र द्वारा किया गया है। वेदकके दो अनुयोगद्वार हैं—उदय और उदीरणा। पहली गाथा प्रकृति-उदीरणा और प्रकृति-उदयसे सम्बद्ध है। आगेकी गाथाएँ उदीरणासे सम्बद्ध होनेसे चूर्णिसूत्रकारने उदीरणाका ही कथन विस्तारसे किया है। अनुयोगद्वारोंका क्रम आवश्यकतानुसार परिवर्तनसे सर्वत्र चलता है।

आगे उपयोगाधिकारमें आशङ्कासूत्रोंको स्पष्ट करते हुए प्रत्येक कषायका उपयोगकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है अर्थात् क्रोध आदिकी ओर उपयोग अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। गाथामें पूछा गया है कि किस कषायका उपयोग काल किस कषायके उपयोगकालसे अधिक है? इसके समाधानमें चूर्णिसूत्रकारने कहा है कि क्रोध कषायका काल मानकषायसे अधिक है। मायाकषायका काल क्रोध-कषायसे अधिक है। लोभकषायका काल मायाकषायसे अधिक है। यह कथन गतिको लेकर भी किया है। जैसे नरक गतिमें लोभकषायका काल सबसे कम है। देवगतिमें क्रोधका काल नरकगतिके लोभके कालसे अधिक है आदि। कषायोंके अध्ययनके लिये यह अधिकार बहुत उपयोगी है।

सम्यक्त्व-अधिकारमे चूर्णिसूत्रकारने अधःकरण अपूर्वकरण, और अनिवृत्तिकरणका कथन किया है। इनके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दर्शनमोह-क्षपणामे उसके प्रस्थापकका स्वरूप विस्तारसे कहा है। उसमें सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थितिकी सत्ताके सम्बन्धमें दो मतोंका भी निर्देश चूर्णिकारने किया है। कहा है कितने ही आचार्य कहते है कि उस समय (अर्थात् सम्यक्मिथ्यात्वके एक आवली प्रमाण स्थितिसत्व शेष रहने पर) सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थिति संख्यात हजार वर्ष शेष रहती है। किन्तु प्रवाह्यमान उपदेशसे आठ वर्ष प्रमाण शेष रहती है। अन्तिम दो अधिकारोमें चारित्रमोहकी उपशमना और क्षपणाके सम्बन्धमें विपुल सामग्री भरी हुई है। लिखा है—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन किये बिना शेष कषायोंका उपशम करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करने पर अन्तर्मुहूर्त काल तक अधःप्रवृत्त रहता है। फिर दर्शनमोहनीयका उपशम करके कषायोंका उपशम करनेके लिये अधःप्रवृत्तकरण करता है। चूर्णिसूत्रमें प्रश्न किया गया है कि उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ अवस्थित परिणामवाला होने पर भी क्यों गिरता है। उत्तर दिया है कि उपशमकालका क्षय हो जानेसे गिरता है। आगे उसका विस्तारसे कथन किया है।

इसी तरह चारित्रमोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकारमें सर्वप्रथम उसके प्रस्थापकका कथन किया है। फिर उसकी विशेष क्रियाका कथन किया है। अन्तमें कृष्टिवेदकक्रियाका कथन है। पुनः कृष्टिक्षपणक्रियाका कथन है।

चूर्णिसूत्रोंके अन्तमें उक्त पन्द्रह अर्थाधिकारोंसे अतिरिक्त एक पश्चिम स्कन्धाधिकार विशेष है। इसमें कहा है कि सयोगकेवली अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर पहले आवर्जित करण करते हैं, उसके बाद केवली समुद्घात करते हैं। इस तरह इसमें केवलीसमुद्घातका कथन है। केवलीसमुद्घातके अनन्तर सयोग-केवली सूक्ष्मक्रियाप्रतियाति ध्यानको करते हैं। फिर अयोगकेवली होकर समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याकर एक समयमें मुक्ति स्थान पहुंच जाते हैं।

नीचे हम चूर्णिसूत्रोंकी संख्या अधिकारानुसार देते हैं—

अधिकारके क्रमसे चूर्णिसूत्रोंकी संख्या

१	पेज्जदोसविहत्ती	११२
२	प्रकृतिविभक्ति	१३०
३	स्थितिविभक्ति	४०७
४	अनुभागविभक्ति	१८९
५	प्रदेशविभक्ति	२९२
	क्षीणाक्षीण	१४२
	स्थित्यन्तिक	१०६
६	बन्धक	११
	संक्रम	७४०
७	वेदक	६६८
८	उपयोग	३२१
९	चतुस्थान	२५
१०	व्यञ्जन	०
११	सम्यक्त्व	१४०
	दर्शनमोहक्षपणा	१२८
१२	संयमासंयमलब्धि	९०
१३	संयमलब्धि	१६
१४	चारित्रमोहोपशमना	७०६
१५	चारित्रमोहक्षपणा	१५७२
	पश्चिमस्कन्ध	५२

●

तृतीय अध्याय

मूलागम-टीकासाहित्य

प्रथम परिच्छेद

धवला-टीका

कसायपाहुड और छक्खंडागम पर विशाल टीकाएँ लिखी गयी हैं। यह टीका-साहित्य अपने गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियोंसे इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे ग्रन्थोंकी संज्ञाएँ प्राप्त हैं। किसी भी विषयका टीका-साहित्य तब लिखा जाता है जब मूल ग्रन्थोंका ज्ञान लुप्त होने लगता है और आगमकी वशवर्तिता अनिवार्य हो जाती है। दिगम्बर परम्परामें उक्त दोनों मूलागमोंपर आचार्य कुन्दकुन्दसे ही टीकाएँ लिखी जाने लगी थीं। शामकुण्ड, तुम्बूलराचार्य, वप्पदेव वीरसेन आदि अनेक आचार्योंने टीकाएँ लिखी।

इन्द्रनन्दिने[1] अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि वप्पदेवके पश्चात् कुछ काल बीत जानेपर सिद्धान्तोंके रहस्य ज्ञाता एलाचार्य हुए। ये चित्रकूटके निवासी थे। इनसे आचार्य वीरसेनने सकल सिद्धान्तका अध्ययन किया। तत्पश्चात् गुरुकी अनुज्ञासे वाटकग्रामके आनतेन्द्र जिनालयमें षट्खण्डसे पहले व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त कर आगेके बन्धन आदि अठारह अधिकारोंके द्वारा 'सत्कर्म' नामक छठे खण्डकी रचना की। और इसको पहलेके पाँच खण्डोंमें मिलाकर छह खण्ड किये।

धवला-टीका : नामकरण

वीरसेनने पूर्वोक्त छह खण्डों पर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण संस्कृतमिश्रित प्राकृत-भाषामें 'धवला' नामक टीका लिखी। इस टीकाके नामकरणका कारण यह प्रतीत होता है कि अमोघवर्षकी उपाधि 'धवल' होनेके कारण इस टीकाका नाम उनकी स्मृतिमें रखा गया है। दूसरी बात यह है कि यह टीका अत्यन्त विशद और स्पष्ट है, इसी कारण इसे 'धवला' कहा गया ज्ञात होता है। तीसरी बात यह है कि यह टीका कार्त्तिक मासके धवल—शुक्ल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी, अतएव सम्भव है कि इसी निमित्तसे उक्त नामकरण हुआ है।

---

१. श्रुतावतार, पद्य १७७—१८४।

महत्त्व

जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेनके शिष्य जिनसेनने लिखा[1] है—'टीका तो वीरसेनकृत है बाकी तो या तो पद्धति कहे जानेके योग्य हैं या पंजिका कहे जानेके योग्य हैं' जिनसेनाचार्यका उक्त कथन कोरा श्रद्धा-भक्ति मूलक नहीं है किन्तु उसमें यथार्थता है। और उसका अनुभव सिद्धान्तके पारगामी ही नहीं साधारण ज्ञाता भी धवला और जयधवला टीकाके अवलोकनसे सरलता पूर्वक कर सकते हैं। इतनी बृहत्काय और शुद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओंसे परिपूर्ण अन्य टीका जैन परम्परामे तो दूसरी है नही, भारतीय साहित्यमें भी नहीं है। फिर ये टीकाएँ तो प्राकृत-गद्यमे निबद्ध हैं, जिनके बीचमें कहीं-कहीं संस्कृत[2] की भी पुट है और वह ऐसी शोभित होती है जैसे मणियोंके मध्यमें मूंगे-के दाने।

जिनसेनके अनुसार सम्पूर्ण श्रुतकी व्याख्याको अथवा श्रुतकी सम्पूर्ण व्याख्याको टीका[3] कहते है। यह लक्षण वीरसेनकृत टीकाओंमें पूरी तरहसे घटित होता है। सम्भवतया वीरसेनकी टीकाको देखकर ही जिनसेनने टीकाका उक्त लक्षण बनाया जान पड़ता है। सचमुचमे धवला और जयधवला जैन सिद्धान्त-की चर्चाओंका आकर है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत सम्बन्धी जो ज्ञान वीरसेनको गुरुपरम्परासे तथा उपलब्ध साहित्यसे प्राप्त हो सका वह सब उन्होंने अपनी दोनों टीकाओंमे निबद्ध कर दिया है और इस तरह-से उनकी ये दोनों टीकाएँ एक प्रकारसे दृष्टिवादके अंगभूत उक्त दोनों प्राभृतोंका ही प्रतिनिधित्व करतीं हैं। वे मूल षट्खण्डागम तथा चूर्णिसूत्र सहित कसायपाहुडका ऐसा अंग बन गईं और उन्होंने उन्हे ऐसा आत्मसात् कर लिया कि उन्होंने अपना २ स्त्रीलिंगत्व छोड़कर सिद्धान्तका पुल्लिंगत्व स्वीकार कर लिया और षट्खण्डागम सिद्धान्त धवलसिद्धान्तके नामसे तथा कसायपाहुड सिद्धान्त जयधवलसिद्धान्त के नामसे ख्यात हो गया। और इन्हीं नामोंसे उनका [4]उल्लेख किया जाने लगा। इतना ही नही, किन्तु जो धवलटीकाके साथ षट्खण्डागम सिद्धान्तका पारगामी होता था उसे सिद्धान्तचक्रवर्तीके पदसे भी भूषित किया जाने लगा। ऐसी महत्त्वपूर्ण ये दोनों वीरसेनीया टीकाएँ है।

---

१. 'टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धति पञ्जिकाः ॥३९॥'—ज० ध० प्रश०

२. 'प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित्संस्कृतमिश्रया। मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थ-विस्तरः ॥३७॥' ज० ध० प्र०

३. 'कृत्स्नाकृत्स्नश्रुतव्याख्ये ते टीकापञ्जिके स्मृते ॥४०॥ ज० ध० प्रश०।

४. 'णउ बुज्झिउ आयमसद्दधामु। सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥'—म० पु० प्रा०।

प्रामाणिकता

इन टीकाग्रन्थोंको इतना महत्त्व मिलनेका कारण वीरसेनका बहुश्रुत होना तो है ही, जिसका परिचय धवला तथा जयधवलाकी प्रत्येक पंक्तिसे मिलता है, साथ ही वीरसेनकी प्रामाणिकता भी उसका एक कारण है। वीरसेन स्वामीको जो कुछ प्राप्त हुआ उसे उन्होंने अपनी शैलीमें ज्यों-का-त्यों निबद्ध कर देना ही उचित समझा। जिन विषयों पर उन्हें दो प्रकारके मत मिले, उनपर उन्होंने दोनों परस्पर विरोधी मतोंको ज्यों-का-त्यों दे दिया और किसी एक पक्षमें अपना मत अथवा झुकाव व्यक्त नहीं किया। इस तरहके उदाहरण दोनों टीकाओंमें बहुतायतसे मिलते हैं। यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—उससे ग्रन्थकारकी निर्मलताके साथ-ही-साथ जैनपरम्पराको प्रामाणिक बनाये रखनेकी प्रकृति पर भी प्रकाश पड़ता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीव संतकम्मपाहुडके अनुसार पहले सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके तब आठ कषायोंका क्षय करता है और कसाय-पाहुडके अनुसार पहले आठ कषायोंको क्षय करके पश्चात् सोलहका क्षय करता है। इसके सम्बन्धमें वीरसेन स्वामीने जो लिखा है, सम्बद्ध सैद्धान्तिक चर्चाको छोड़कर उसका संक्षिप्त आशय यहां दिया जाता है—

"[1]शङ्का—दोनों वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते। अत: उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये?

समाधान—आपका कहना ठीक है किन्तु ये दोनों जिनेन्द्रके वचन न होकर उनके पश्चात् हुए आचार्योंके वचन हैं। इसलिये उनमें विरोध होना संभव है।

शंका—तो फिर आचार्योंके द्वारा कहे गये सतंकम्मपाहुड और कसायपाहुड सूत्र कैसे हुए?

समाधान—तीर्थङ्करोंके द्वारा अर्थरूपसे प्रतिपादित और गणधरोंके द्वारा ग्रन्थरूपमें रचित बारह अंग आचार्यपरम्परासे निरन्तर चले आते थे। परन्तु कालके प्रभावसे बुद्धिके उत्तरोत्तर क्षीण होने पर और उन अंगोंको धारण करने वाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। इसलिये आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषोंका अभाव देखकर, अत्यन्त पापभीरु और गुरु-परम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करने वाले आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे अवशिष्ट बचे श्रुतको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना होनेका विरोध है।

---

१. षट्खं० पु० १, पृ० २१७—२२२।

शंका—यदि ऐसा है तो उक्त दोनों ही कथनोंको द्वादशांगका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त होता है ?

समाधान—उन दोनोंमेंसे कोई एकको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोंको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि उन दोनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है।

शंका—तब सूत्रविरुद्ध लिखनेवाले आचार्यको पापभीरु कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त दोनों कथनोंमेंसे किसी एक ही कथनका संग्रह करनेपर पापभीरुता नहीं रहती। किन्तु उक्त दोनों कथनोंका संग्रह करने वाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती।

शंका—उक्त दोनों वचनोंमेंसे कौन वचन सत्य है ?

समाधान—इस बातको तो केवली अथवा श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा कोई नहीं जान सकता। अतः उसका निर्णय न होनेसे वर्तमान कालके पाप भीरू आचार्योंको दोनों ही वचनोंका संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा।

इस प्रकारके पापभीरू आचार्यके कथनमें अप्रामाणिकताकी अशंका नहीं की जा सकती।

व्याख्यान शैली

षट्खण्डागमके सूत्र अल्पाक्षर होने पर भी असन्दिग्ध है—पढ़ते ही शब्दार्थका बोध हो जाता है। किन्तु उनमें जो सार भरा हुआ है उसका तो आभास भी साधारण पाठकको नहीं हो पाता। अतः वीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीकाके द्वारा सूत्रोंके शब्दार्थको न कहकर उनमें भरे हुए सारको ही प्रकट किया है। किन्तु वह सार-उद्घाटन भी ऐसा है कि उससे सूत्रगत प्रत्येक शब्दकी स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जाती है और यदि क्वचित् कदाचित् किसी सूत्रमें कोई शब्द भूलसे छूट गया हो तो विचारशील पाठकको यह प्रतिभास हुए बिना नहीं रहता कि अमुक शब्द यहाँ छूट गया है। इसका एक उदाहरण दे देना उचित होगा।

धवलासहित षट्खण्डागमकी जो प्रतिलिपि मूड़बिद्रीसे बाहर गई उसमें जीवट्ठाणके संतप्ररूपणा अनुयोगद्वारके ९३ वें सूत्रमें 'संजद' शब्द लिखनेसे छूट गया। किन्तु वीरसेन स्वामीकी टीकाके अनुशीलनसे वह बराबर प्रकट होता है कि सूत्रमें 'संजद' शब्द छूटा हुआ है। बादको जब मूड़बिद्री

की प्राकृतमीय प्रतिसे मिलान करनेकी सुविधा प्राप्त हुई तो उसमें 'संजद' शब्द पाया गया।

धवलाकी व्याख्यानशैलीपर प्रकाश डालनेकी दृष्टिसे यहाँ उस[1] तिरानवे सूत्रकी टीकाका अर्थ दिया जाता है। वह टीका संस्कृतमें है। यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि यद्यपि धवलाटीका संस्कृतमिश्रित प्राकृत-भाषामें निबद्ध है तथापि सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका व्याख्यानसंस्कृतभाषा प्रधान है। अस्तु,

'सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुण-स्थानोंमें मानुषी नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥९३॥ यह सूत्रार्थ है। इसकी टीकाका अर्थ इस प्रकार है—

शंका—हुण्डावसर्पिणी कालमें सम्यग्दृष्टी जीव स्त्रियोंमें क्या नहीं उत्पन्न होते ?

समाधान—नहीं उत्पन्न होते।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना ?

समाधान—इसी आर्षसे जाना।

शंका—इसी आर्षसे तो द्रव्यस्त्रियोंका मोक्ष जाना भी सिद्ध हो जायेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयम उत्पन्न नहीं होता।

शंका—वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं होना चाहिये ?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं है, यदि उनके भावसंयम होता तो भावअसंयमके अविनाभावी वस्त्रादिका ग्रहण करना संभव नहीं था।

शंका—स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान कैसे हो सकते हैं ?

१—'सम्मामिच्छाइट्ठी-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्, नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेदिति चेन्न, सवासत्वादप्रत्याख्यानगुणास्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्य-विरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानु-पपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साराद् विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवंतीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति ॥ षट्खं, धव० पु० १, पृ. ३३२—३३३।

समाधान—भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सत्त्व माननेमें कोई विरोध नहीं है।

शंका—नौवें गुणस्थानके ऊपर भावभेद नहीं पाया जाता, अतः स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं है ?

समाधान—यहाँ वेदकी प्रधानता नहीं है। गतिकी प्रधानता है और वह पहले नष्ट नहीं होती।

शंका—फिर भी वेदविशिष्ट गतिमें तो चौदह गुणस्थान संभव नहीं हुए ?

समाधान—वेदविशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे स्त्री पुरुष आदि संज्ञाको धारण करने वाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नही आता।

उक्त चर्चा जैन सिद्धान्तकी मान्यताओंसे सम्बद्ध होनेके साथ-ही-साथ दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्वके मूलकारण वस्त्र और स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवादसे सम्बद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको मोक्ष मानता है, दिगम्बर सम्प्रदाय नही मानता है। किन्तु उक्त सूत्रमें मानुषीके चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। इसीपरसे उसकी टीकामें उक्त विवादको स्थान दिया गया है। चौदह गुणस्थान होनेका मतलब ही मोक्षलाभ है क्योंकि चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त करनेके पश्चात् ही मुक्तिलाभ होता है।

इसीसे टीकामें शंका की गई है कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रियोंको भी मोक्ष सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि मानुषीके चौदह गुणस्थान ९३ वें सूत्रमें बतलाये हैं। किन्तु गुणस्थानोंकी तरह मार्गणाएं भी भावप्रधान हैं उनमें भी भावकी मुख्यता है। अतः मानुषीसे आशय उस मनुष्यसे है जिसके शरीरसे पुरुष होते हुए भी अन्तरंगमें स्त्रीवेदका उदय है। उसे ही भावस्त्री कहते है और स्त्री-शरीरधारीको द्रव्यस्त्री कहते हैं। भावस्त्रीके ही चौदह गुणस्थान होते हैं, द्रव्यस्त्रीके नहीं।

श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके अनुसार भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीपर्यायमें जन्म नही लेता। जैन कर्मसिद्धान्तका यह एक सर्वसम्मत नियम है। किन्तु बाइसवें तीर्थङ्कर मल्लिनाथको श्वेताम्बर परम्परामें स्त्री माना है। तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध सम्यग्दृष्टिके ही होता है तथा तीर्थङ्कर होने वाला जीव सम्यक्त्वके साथ ही जन्म लेता है। अतः इस सिद्धान्तके अनुसार कोई तीर्थङ्कर स्त्री नहीं हो सकता। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें ऐसा मान लिया गया और उसे हुण्डावसर्पिणी कालका दोष[1] माना है। उसीको लक्षमें रखकर वीरसेन स्वामीने

१. 'दसअच्छेरा पण्णत्ता–उवसग्ग गब्भहरणं इत्थी तित्थं'''। स्था. १० ठा.।

प्रारम्भमें ही यह शंका उठाई है कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि क्यों उत्पन्न नहीं होता।

श्वेताम्बरीय[1] टीकाकारोंने भी कर्मसिद्धान्तके उक्त कथनकी संगति अपनी उक्त मान्यताके साथ बैठानेके लिए उसमें अपवाद जोड़ दिया है कि सम्यग्दृष्टि स्त्रीनपुंसकोंमें उत्पन्न नहीं होता, यह बहुतायतकी अपेक्षा है, कदाचित् हो भी जाता है। किन्तु पञ्चसंग्रहकारने इस तथोक्त अपवादकी चर्चा नहीं की। यह उल्लेखनीय है। अस्तु,

इस तरह श्री वीरसेन स्वामीने अपनी धवलाटीकामें प्रत्येक सूत्रका व्याख्यान करते हुए उससे सम्बद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओंका उपपादन करके खूब विश्लेषण किया है और गूढ-से-गूढ़ विषयको सरलरूपसे स्पष्ट किया है।

विषय-परिचय

यों तो षट्खण्डागमके विषय-परिचयसे धवलाका विषय-परिचय हो ही जाता है क्योंकि वह उसकी टीका है तथापि सात हजार सूत्रोंकी बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण टीकामें ऐसी भी बहुत-सी प्रासंगिक चर्चाएं है जिनका मूल ग्रन्थके विषय-परिचयमें आभास नहीं हो सकता। साथ ही जिस शैलीसे धवला-का प्रारम्भ किया गया है उसका परिचय कराना भी उचित है।

जिन, श्रुतदेवता, गणधरदेव, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलीको नमस्कार करनेके पश्चात् प्रथम सूत्रकी उत्थानिकाके रूपमें वीरसेनने एक गाथा दी हैं—

> मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
> वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो ॥१॥

इसमें कहा है कि मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छै बातोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्यको शास्त्रका व्याख्यान करना चाहिये। इसे वीरसेनस्वामीने आचार्य परम्परासे आगत न्याय कहा है और इसलिए सबसे प्रथम उक्त छै बातोंका कथन अपनी धवला टीकाके प्रारम्भमें किया है। वीरसेन स्वामीसे पहले तिलोयपण्णत्ति[2]में ही उक्त गाथासे मिलती

---

१. 'मणुस्सेसु सम्मदिट्ठी इत्थीनपुंसगेसु न उववज्जइ त्ति प्राचुर्यवचनम्, कादाचित्काद् भवति'-सि.चू., पृ. ४३।

'तिर्यग् मनुष्येषु स्त्रीवेद-नपुंसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात्, एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम्, तेन मल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचार.'। —सप्त. टी., पृ. २१७।

२. 'मंगल-कारण-हेदू सत्थस्स पमाण-णाम-कत्तारा। पढमं चिय कहिदव्वा एसा आइरिय-परिभासा ॥७॥ ति. प., १ अ.।

जुलती गाथा पायी जाती है जिसमें उक्त छै बातोंका प्रथम कथन करनेको 'आचार्य-परिभाषा' कहा है। इससे पहलेके किसी ग्रन्थमें इस आचार्यपरम्परा-गत न्यायके दर्शन नहीं होते।

तिलोयपण्णत्तिके[1] ही प्रारम्भमें एक गाथा द्वारा बतलाया है कि 'जो नय प्रमाण तथा निक्षेपके द्वारा अर्थका निरीक्षण नहीं करता, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त प्रतीत होता है।' इसी बातको लक्ष्यमें रखकर वीरसेन स्वामीने प्रत्येक प्रकरणमें यथास्थान नय-निक्षेपके द्वारा प्रकृत अर्थका विवेचन किया है। उनके नयविषयक विवेचनका विशेष आधार सिद्धसेनका सम्मति-सूत्र रहा है और उन्होंने उसके नयकाण्डका उपयोग बहुतायतसे किया है।

नय-निक्षेप योजनाके द्वारा 'मंगल' का विश्लेषण और निरूपण करनेके पश्चात् वीरसेन स्वामीने षट्खण्डागमके मंगलसूत्र णमोकारमंत्रके अर्थका विवेचन सुन्दर रीतिसे किया है। मंगलके पश्चात् निमित्त, हेतु आदिका कथन करके ग्रन्थकर्ताका कथन किया है और उसमें बतलाया है कि कर्ता दो तरहके होते हैं—अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता। अर्थकर्ता तो भगवान् महावीर हैं। उन्होंने पंचशैलपुर (राजगृही) में विपुल नामक पर्वत पर श्रावण शुक्ला प्रतिपदके दिन सूर्योदय होनेपर अपनी प्रथम धर्मदेशना दी थी।

ग्रन्थकर्ताका वर्णन करते हुए भगवान् महावीरके प्रधान शिष्य गौतम गणधरसे द्वादशांगकी परम्परा जिस क्रमसे प्रवाहित तथा क्रमशः विलुप्त होती हुई धरसेनाचार्यको और उनसे पुष्पदन्त और भूतबलिको प्राप्त हुई उसका कथन किया है। और अन्तमें लिखा है—कि इस ग्रन्थके मूलतंत्रकर्ता वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुतन्त्रकर्ता गौतम स्वामी हैं और उपतन्त्रकर्ता भूतबलि, पुष्पदन्त आदि मुनिवर हैं। तिलोयपण्णत्ति (१-८०) में गौतम गणधरको उपतन्त्रकर्ता और शेष आचार्योंको अनुतन्त्रकर्ता कहा है।

प्रथम खण्ड जीवस्थानका अवतार करते हुए अवतारके चार भेद कहे हैं—उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुयोग। तथा उपक्रमके पाँच भेद यतिवृषभके[2] चूर्णि-सूत्रोंके अनुसार कहे हैं—आनुपूर्वी नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। इन सबके कथनके पश्चात् मूलग्रन्थका व्याख्यान आरम्भ होता है।

---

१. जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं। तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥ ति. प. १अ.।

२. '......पंचविहो उवक्कमो। तं जहा—आणुपुवी णामं पमाणं वक्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि'—क. पा., भा. १ पृ. १३। 'सो वि उवक्कमो पंचविहो आणुपुव्वी, णामं, पमाणं वत्तव्वदा, अत्थाहियारो चेदि।'—षट्खं. पु. १ पृ. ७२।

दूसरे सूत्रका व्याख्यान करते हुए बारह अंगों और चौदह पूर्वोके विषयका और पदोंका कथन किया है। फिर बतलाया है कि जीवस्थानका कौन अनुयोगद्वार द्वितीय पूर्वके अन्तर्गत कर्मप्रकृतिके किस प्राभृतके किस-किस अधिकारसे लिया गया है। इसके पश्चात् मूलग्रन्थगत निरूपण चौदह मार्गणाओंका, फिर चौदह गुणस्थानोंका और तत्पश्चात् मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका वीरसेन स्वामीने अपनी टीकामें यथास्थान शंका-समाधानपूर्वक बड़ी सुगम रीतिसे किया है।

इसके पश्चात् उन्होंने उक्त कथनके आश्रयसे विशेष कथन किया है। यह कथन षट्खण्डागम पुस्तक दो के रूपमें प्रकाशित हुआ है। इसमें मूलसूत्र नहीं है केवल धवला है। उसका प्रारम्भ करते हुए उन्होंने लिखा है—'अब सत्-प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनन्तर उनकी प्ररूपणा कहेंगे। प्ररूपणा किसे कहते हैं? ओघ (सामान्य) और आदेश (विशेष) की अपेक्षा गुणस्थानोंमें, जीवसमासोंमें, पर्याप्तियोंमें, प्राणोंमें, संज्ञाओंमें, गतियोंमें, इन्द्रियोंमें, कायोंमें, वेदोंमें, कषायोंमें, संयमोंमें, दर्शनोंमें, लेश्याओंमें, भव्योंमें, अभव्योंमें, सम्यक्त्वोंमें, संज्ञी-असंज्ञियोंमें, आहारी-अनाहारियोंमें और उपयोगोंमें पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणोंसे विशेषित करके जो जीवकी परीक्षा की जाती है उसे प्ररूपणा कहते हैं। कहा भी है—[१]'गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदहमार्गणाएं और उपयोग ये क्रमसे बीस प्ररूपणाएं हैं।'

सत्प्ररूपणाके सूत्रोंमें इन बीस प्ररूपणाओंमेंसे शेष प्ररूपणाओंका अर्थ तो बतलाया है किन्तु प्राण, संज्ञा और उपयोग प्ररूपणाका अर्थ नहीं बतलाया—पंचसंग्रहमें इनका कथन है और वीरसेनस्वामीने उसका अनुकरण करते हुए बीस प्ररूपणाओंका कथन किया है। इसीसे जो यह शंका[२] उठाई है कि ये बीस प्ररूपणाएं सूत्रोक्त हैं या नहीं? यदि सूत्रोक्त नहीं हैं तो ये प्ररूपणा नहीं हो सकतीं, क्योंकि सत्प्ररूपणाके सूत्रोंमें जो बात नहीं कही गई, उसे वे कहती हैं। और यदि ये सूत्रानुसार कही गई हैं कि तो जीवसमास, प्राण, पर्याप्ति, उपयोग और संज्ञा प्ररूपणाका मार्गणाओंमें जिस प्रकार अन्तर्भाव होता है उस प्रकार कहना चाहिये।'

इस शंकासे तथा बीस प्ररूपणाओंका निर्देश करनेवाली गाथाके उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि उक्त बीस प्ररूपणाओंका आधार भले ही सत्प्ररूपणाके सूत्र रहो, किन्तु यह वस्तु वीरसेन स्वामीकी मूलभूत उपज नहीं है और न सत्प्ररूपणाके

१. 'गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवजोगो वि य कमसो वीसंतु परूवणा भणिया॥—षट्खं पु. २, पृ. ४११।
२. 'अथ स्यादियं विंशतिविधा प्ररूपणा किमु सूत्रेणोक्ता उत नोक्तेति⋯⋯।—षट्खं, पु. २, पृ. ४१३-४१४।

सूत्रोंमें ही उस प्रकारका कथन है। उन्होंने जो गाथा उद्धृत की है वह वि० प्राकृत पञ्चसंग्रहके जीवसमासनामक प्रथम प्रकरणकी दूसरी गाथा है। और जीवसमासप्रकरणमें बीसों प्ररूपणाओंका कथन है। सम्भवतया उसीके अवलम्बनसे वीरसेन स्वामीने बीस प्ररूपणाओंका विस्तारसे निरूपण किया है। यह विस्तार अवश्य ही उनकी प्रतिभाका चमत्कार हो सकता है।

जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणनामक अनुयोगद्वारके व्याख्यानको आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने जो मंगलाचरण किया है उसमें 'दव्वणिओगं गणियसारं' लिखकर द्रव्यानुयोगको गणितसार कहा है। चूंकि इस अनुयोगद्वारमें जीवोंकी संख्याका वर्णन है अतः इसमें गणितकी प्रधानता है। स्व० डा० अवधेश नारायण-सिंहका एक अंग्रेजी निबन्ध षट्खण्डागमकी चतुर्थ पुस्तकके आदिमें प्रकाशित हुआ है और पाँचवीं पुस्तककी आदिमें उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें गणितके उक्त अधिकारी विद्वान्ने लिखा है—

'वीरसेन तत्त्वज्ञानी और धार्मिक दिव्य पुरुष थे। वे वस्तुतः गणितज्ञ नहीं थे। अतः जो गणितशास्त्रीय सामग्री धवलाके अन्तर्गत है वह उनसे पूर्ववर्ती लेखकोंकी कृति कही जा सकती है और मुख्यतया पूर्वगत टीकाकारोंकी। जिनमेंसे पाँचका इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें उल्लेख किया है। ये टीकाकार कुन्द-कुन्द, शामकुन्ड, तुंबुलूर, समन्तभद्र और वप्पदेव थे, जिनमेंसे प्रथम लगभग सन् २०० के और अन्तिम सन् ६०० के लगभग हुये। अतः धवलाकी अधिकांश गणितशास्त्रीय सम्बन्धी सामग्री सन् २०० से ६०० तकके बीचके समयकी मानी जा सकती है। इस प्रकार भारतवर्षीय गणितशास्त्रके इतिहासकारोंके लिए धवला प्रथमश्रेणीका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हो जाता है क्योंकि उसमें हमें भारतीय गणितशास्त्रके इतिहासके सबसे अधिक अन्धकारपूर्ण समय, अर्थात् पांचवीं शताब्दीसे पूर्वकी बातें मिलती हैं। विशेष अध्ययनसे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि धवलाकी गणितशास्त्रीय सामग्री सन् ५०० से पूर्वकी है। उदाहरणार्थ, धवलामें वर्णित अनेक प्रक्रियाएं किसी भी अन्य ज्ञात ग्रन्थमें नहीं पायी जातीं तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलताका आभास भी है जिसकी झलक पश्चात्के भारतीय गणितशास्त्रसे परिचित विद्वानोंको सरलतासे मिल सकती है। धवलाके गणितभागमें वह परिपूर्णता और परिष्कार नहीं है जो आर्यभटीय और उसके पश्चात्के ग्रन्थोंमें हैं।'

विद्वान् लेखकने धवलान्तर्गत गणितशास्त्रके सम्बन्धमें अपने लेखमें विस्तारसे प्रकाश डाला है। अतः यहां उसकी विशेष चर्चा नहीं की है।

क्षेत्रप्रमाणका कथन करते हुए कहा है कि जगतश्रेणीके घनको लोक

कहते हैं और सात राजु प्रमाण आकाशके प्रदेशोंकी लम्बाईको जगतश्रेणी कहते हैं। तथा तिर्यग्लोकके मध्यम विस्तारको राजू कहते हैं। इस पर यह शंका की गई है कि तिर्यग्लोकका अन्त स्वयंभुरमण समुद्रकी वेदिकासे उस ओर कितना स्थान आकर होता है ? तो उत्तर दिया गया है कि असंख्यात द्वीपों और समुद्रोंके व्याससे जितने योजन रुके हुए हैं उनसे संख्यातगुणा जाकर तिर्यग्लोकका अन्त आता है और उसका समर्थन तिलोयपण्णत्तिसे किया गया है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार अर्थ करनेसे परिकर्मसे भी विरोध नहीं आता है। तब पुनः शंका की गई है कि अन्य व्याख्यानोंसे तो विरोध आता है ? तो कह दिया कि वे सब व्याख्यानाभास हैं। उन्हें व्याख्याना-भास सिद्ध करके तथा अन्य एक-दो आपत्तियोंका निरसन करके अपने अर्थका समर्थन करनेके पश्चात् वीरसेनने लिखा[1] है—'यद्यपि यह अर्थ पूर्वाचार्योंके सम्प्रदायके विरुद्ध है तथापि आगमके आधार पर और युक्तिके बलसे हमने उसका प्ररूपण किया है। इसलिये इस विषयमें यह इसी प्रकार है ऐसा आग्रह न करते हुए अन्य अभिप्रायका असंग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा कल्पित युक्तियोंको निर्णायक नहीं माना जा सकता।

इसी तरह क्षेत्रानुगमद्वारमें लोकके आकारको लेकर वीरसेन स्वामीने अपने एक नये अभिप्रायका सयुक्ति स्थापन किया है। लोकका आकर अधो-भागमें वेत्रासन, मध्यमें झल्लरी और ऊर्ध्व भागमें मृदंगके समान माना गया है। किन्तु धवलाकारने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि लोकको सात राजुका घन प्रमाण कहा है और ऐसा आकार माननेसे वह प्रमाण नहीं आता। इस बातको प्रमाणित करनेके लिये उन्होंने अपने गणितज्ञानको विविध और अश्रुतपूर्व प्रक्रियाओंके द्वारा उक्त आकारवाले लोकका क्षेत्रफल निकाला है जो जगत-श्रेणीके घन ३४३ राजूसे बहुत कम बैठता है। अतः उन्होंने लोकका आकार पूर्व पश्चिम दिशामें तो उक्त प्रकारसे घटता-बढ़ता हुआ माना है किन्तु उत्तर दक्षिण दिशामें सर्वत्र सात राजू ही माना है। इस तरह माननेसे उसका क्षेत्रफल ३४३ राजू बैठ जाता है तथा दो दिशाओंसे उसका आकार वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके आकार भी दिखाई देता है।

उक्त लम्बी चर्चाका उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है कि लोकका बाहुल्य सात राजू मानना करणानुयोगसूत्रके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसकी न तो

---

१. 'एसो अत्थो जइवि पुव्वाइरियसंपदायविरुद्धो तो वि तंत-जुत्तिबलेण अम्हेहिं परूविदो। तदो इदमित्थं वेत्ति णेहासंगहो कायव्वो, अइंदियत्थविसए छदुमत्थवियप्पिदजुत्तीणं णिण्णयहेउत्ताणुववत्तीदो।' —षट्खं० पु० ३, पृ० ३८।

विधि है और न निषेध ही है। अत: लोकका ऐसा ही आकार मानना चाहिये।[1] स्पर्शनानुगमद्वारमें सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्शक्षेत्र बतलाते हुए प्रसंग-वश असंख्यात-द्वीप समुद्रोंके ऊपर फैले हुए ज्योतिष्क देवोंका (चन्द्र और उसके परिवाररूप गृह, नक्षत्र आदिका) प्रमाण भी गणितशास्त्रके अनेक करणसूत्रोंके द्वारा निकाला गया है। कहावत प्रसिद्ध है कि तारोंको कौन गिन सकता है ? उन्हीं तारोंकी गणना गणितके अनुसार की गई है। (पृ. १५०-१६०)

इसी प्रकरणमें द्वीपों और समुद्रोंका क्षेत्रफल अनेक गणितसूत्रोंके द्वारा पृथक्-पृथक् और सम्मिलित रूपसे निकालनेकी प्रक्रियाएँ दी गई हैं और यह भी सिद्ध किया है कि इस मध्यलोकमें कितना भाग समुद्रोंसे अवरुद्ध है। (भा० ४, पृ० १९४-२०३) इस तरह द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम और स्पर्शनुगम अधिकार गणितशास्त्रकी दृष्टिसेभी महत्त्वके है।

इसी तरह कालानुगममें कालविषयक अनेकों शंकाओंका अपूर्व समाधान किया गया है। जीवस्थानके शेष अनुयोगद्वारोंमें भी जैन सिद्धान्त विषयक अनेकों चर्चाएं चर्चित हैं। उन सबका संकेत करना भी यहाँ शक्य नहीं है। चूलिकाके सम्यक्त्वोपत्ति चूलिका नामक अधिकारके सूत्र ११ में कहा है कि अढ़ाई द्वीप समुद्रोंमें स्थित पन्द्रह कर्मभूमियोंमें जहाँ जिस कालमें जिन केवली और तीर्थङ्कर होते हैं वहाँ जीव दर्शनमोहनीय कर्मका क्षपण करता है। इस सूत्रकी व्याख्यामें वीरसेन स्वामीने कहा है[2] यहाँ पर 'जिन' शब्दको दुबारा ग्रहण करके, जिन दर्शनमोहनीयकर्मका क्षपण करते हैं ऐसा कहना चाहिये, अन्यथा तीसरी पृथिवीसे निकले हुए कृष्ण आदिके तीर्थकरत्व नहीं बन सकता है, ऐसा किन्हीं आचार्योंका व्याख्यान है। इस व्याख्यानके अनुसार दुषमा, अति दुषमा सुषमा और सुषमा कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नही होती, शेष दोनों कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शनमोहकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्यायसे आकर तीसरे कालमें उत्पन्न हुए बर्द्धनकुमार आदिके दर्शनमोहकी क्षवणा देखी जाती है। यहाँ यह व्याख्यान प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये।

इसका यह मतलब हुआ कि जो उसी भवमें जिन या तीर्थङ्कर होनेवाले होते हैं वे तीर्थङ्करादिकी अनुपस्थितिमें तथा तीसरे कालमें भी दर्शनमोहका क्षपण करते हैं। यह अपवाद कथन धवलाके सिवाय अन्यत्र नहीं देखा जाता।

चूलिका का यह अधिकार व्याख्यानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

---

१. षट्खं० पु० ४, पृ० १२-२२।

२. षट्खं. पु० ६, पृ० २४६-२४७।

इसके १६ वें सूत्रके व्याख्यानमें धवलाकारने कसायपाहुडचूर्णिसूत्रोंके अनुसार सकलचारित्रकी प्राप्तिका कथन करते हुए औपशमिक चारित्रकी प्राप्तिके विधानमें-अनन्तानुबन्धी विसंयोजना और दर्शनमोहनीयके उपशमका कथन, कषायोपशमनाका कथन, उपशान्तकषायके पतनका क्रम, फिर क्षायिक चारित्रकी प्राप्तिका विधान आदि कथन बहुत ही विशद रीतिसे किया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता।

कृति-अनुयोगद्वारके आदिमें मंगलके निमित्तसे निमित्त, हेतु, परिमाण, कर्ता आदिका पुनः विवेचन धवलाकारने किया है, जिसमें कर्ताके निमित्तसे भगवान् महावीर, उनके समवसरण आदिका वर्णन उल्लेखनीय है। उनमें भगवान् महावीर-की सर्वज्ञताको भी सिद्ध किया है।

भगवान् महावीरकी आयु मोटे रूपसे बहत्तर वर्ष मानी जाती है तथा मोटे रूपसे ही नौ मास गर्भस्थकाल, तीस वर्ष कुमारकाल, १२ वर्ष छद्मस्थकाल (तपस्या काल), और ३० वर्ष केवलिकाल कहा जाता है। किन्तु धवलाकारने 'अण्णे के वि आइरिया' करके अन्य आचार्योंके मतसे उक्त कालका प्रतिपादन किया है। वह अन्य आचार्योंका मत गर्भमें आनेके दिनसे लेकर निर्वाण प्राप्त करनेके दिन तककी गणनाके आधार पर स्थापित है। उसे हम ठीक-ठीक कालगणना कह सकते हैं। उसके अनुसार भगवान्[1] महावीरकी आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन थी। उसका हिसाब इस प्रकार है—आसाढ़ शुक्ल षष्ठीके दिन भगवान् महावीर त्रिशलाके गर्भमें आये। और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन उन्होंने जन्म लिया। चैत्र मासके दो दिन, वैसाखको आदि लेकर २८ वर्ष, पुनः वैसाखसे लेकर कार्तिक पर्यन्त सात मास कुमाररूपसे विताकर मगसिर कृष्णा दसमीके दिन उन्होंने प्रव्रज्या धारण की। अतः २८ वर्ष ७ मास, १२ दिन पर्यन्त वह घरमें रहे। अब छद्मस्थकाल लीजिये—मगसिर कृष्णपक्षकी एकादशीसे लेकर मगसिरकी पूर्णिमा तक २० दिन, फिर पौष माससे लेकर बारह वर्ष, फिर उसी माससे लेकर चार मास, चूंकि उन्हें वैसाख शुक्ला दशमीके दिन केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, अतः वैसाखके पच्चीस दिन, इस तरह बारह वर्ष पांच मास, पन्द्रह दिन तक भगवान् महावीर छद्मस्थ रहे। अब केवली काल लीजिए—वैसाख शुक्ल पक्षकी एकादशीसे लेकर पूर्णिमा तक पांच दिन, फिर ज्येष्ठसे लेकर २९ वर्ष, फिर ज्येष्ठसे ही लेकर आसोज पर्यन्त पांच मास, फिर कार्तिक मासके कृष्ण पक्षके चौदह दिन बिताकर मुक्त हो गये। अमावस्याके दिन सब देवेन्द्रोंने मिलकर निर्वाणपूजा की, इसलिये उस दिनको भी सम्मिलित

१. षट्खं०, पु० ९, पृ० १२१–१२६।

कर लेनेपर १५ दिन होते हैं। अतः २९ वर्ष ५ मास, २० दिन तक भगवान् महावीर केवली रहे।

९ मास ८ दिन + २८ व० ७ मा० १२ दि० + १२ व०, ५ मा०, १५ दि० + २९ व० ५ मा०, २० दि० इस सब कालका जोड़ ७१ वर्ष, ३ मास, २५ दिन होता है। इतनी ही महावीर भगवान्‌की आयु बैठती है। किन्तु जब चौथे कालमें ७५ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष थे तब भगवान् महावीर गर्भमें आये थे और उनके निर्वाणके पश्चात् तीन वर्ष, ८ माह, १५ दिन बीतनेपर श्रावण कृष्णा पड़वाके दिन पांचवें दुषमा कालका प्रवेश हुआ। इस हिसाबसे भगवान् महावीरकी आयु बहत्तर वर्ष ठहरती है। इस तरहसे दोनोंमें ८ माह ५ दिन का अन्तर पड़ता है।

इन दोनों उपदेशोंमेंसे कौन ठीक है[1]? इस प्रश्नके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने लिखा है—'इस विषयमें एलाचार्यका वत्स्य (वीरसेन) अपनी जबान निकालना नहीं चाहता, क्योंकि न तो इस विषयमें कोई उपदेश प्राप्त है और न उक्त दोनों कथनोंमें ही कोई बाधा है किन्तु दोनोंमेंसे सत्य एक ही होना चाहिए।' (पु० ९, पृ० १२६)।

तिलोयपण्णत्ति (अ० ४) में भगवान् महावीरकी आयु ७२ वर्ष बतलाई है और गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाणकी तिथियां उक्त प्रकारसे ही दी हैं। इसी तरह श्वेताम्बरी[1] आगमिक साहित्यमें भी आयु ७२ वर्ष और तिथियां उक्त ही हैं। केवल मोक्ष-दिवसमें एक दिनका अन्तर है। कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रात्रिमें मुक्ति बतलाई है। तथा महावीरके गर्भमें आनेका काल भी वही दिया है जो ऊपर धवलामें दिया है अर्थात् चतुर्थ कालमें ७५ वर्ष ८॥ माह शेष रहने पर महावीर भगवान् गर्भमें आये। अतः मोटी कालगणनामें और दिन मासकी काल गणनामें ८ मास ५ दिनका अन्तर रह जाता है।

वीरसेन स्वामीने अपनी जयधवला[2] टीकाके आरम्भमें भी उक्त मतभेदकी चर्चा बिल्कुल इसी रूपमें की है।

अर्थकर्ताके पश्चात् ग्रन्थकर्ताका कथन करते हुए धवलाकारने लिखा है—भगवान् महावीरकी वाणी तो बीजपदरूप होती है। जिसकी शब्दरचना संक्षिप्त हो, और जो अनन्त अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत अनेक चिन्होंसे संयुक्त हो उसे बीजपद कहते हैं। इन बीजपदोंमे जो अर्थ निहित रहता है उसका प्ररूपण

१. 'पंचहत्तरिए वासेहि अद्धनवमेहि य मासेहि सेसेहि'''त्ति, पञ्चसप्ततिवर्षेसु सार्द्धाष्टमासाधिकेषु शेषेषु श्रीवीरावतारः। द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्यायुः। श्रीवीरनिर्वाणाच्च त्रिभिर्वर्षैः सार्द्धाष्टमासैश्चतुर्थारकसमाप्तिः।'—कल्पसूत्र सुबो०।

२. क० पा०, भा० १, पृ० ७६–८२।

गणधर करते हैं। अतः बीजपदोंके व्याख्याता होनेके कारण गणधर ग्रन्थकर्ता कहे जाते हैं।

गणधरका कथन करते हुए लिखा[1] है—'वे अक्षर-अनक्षररूप सब भाषाओंमें कुशल होते हैं। समवसरणमें स्थित सब जनोंको 'यह हमारी भाषामें हमको समझाते हैं', इस प्रकार सबको विश्वासकारक होते हैं। और अपने मुखसे निकली हुई अनेक भाषाओंमेंसे जो श्रोता जिस भाषाका भाषी होता है उसके कान उसी भाषाका प्रवेश कराते तथा अन्य भाषाओंका निवारण करते हैं।'

किन्तु धवलाके[2] प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने भगवान् महावीरके अतिशयोंका वर्णन करते हुए उनकी भाषाकी यह विशेषता बतलाई है कि एक योजन क्षेत्रमें बैठे हुए और अठारह महाभाषाओं तथा सात सौ लघुभाषाओंके भाषी प्राणियों-की भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली उनकी भाषा होती है। तिलोयपण्णत्ति[2] आदिमें भी ऐसा ही कहा है। किन्तु उक्त कथनमें इससे अन्तर प्रतीत होता है। उसमें कहा है कि भगवान्के द्वारा कहे गये बीजपदोंको, जो अवश्य ही अनेक भाषा गर्भित होते हैं, गणधरदेव उपस्थित प्राणियोंको समझाते हैं और वे प्राणी उन्हें अपनी-अपनी भाषामें समझते हैं। अर्थात् गणधरकी भाषा भी भगवान्की भाषाकी तरह सर्वभाषात्मक होती है तथा गणधर जो जिस भाषाका भाषी है उसके कानमें वही भाषा जाने देते हैं। शेषको रोक देते हैं। गणधरकी इस विशेषताका समर्थन अन्यत्रसे नहीं होता। श्वे० साहित्यके समवायांगमें[3] तीर्थङ्करके चौतीस अतिशयोंमें एक अतिशय यह है कि भगवान् अर्द्धमागधी भाषाके द्वारा

---

१. संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगयं बीजपदं णाम। तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारससत्तसयकुभाससरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारो णाम। बीजपदणिलीणत्थपरूवयाणं दुवालसंगाणं कारओ गणहरभडारओ गंथकत्तारो, अब्भुवगमादो। षट्खं. पु० ९, पृ० १२७। 'परोवदेसेण विणा अक्खराणक्खर-सरूवासेसभासाकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्तणेण अम्हम्हाणं भासाहि अम्हम्हाणं चेव कहदित्ति सव्वेसिं पच्चउप्पाअओ, समवसरणजणसोदिंदएसु सगमुहविणिग्गयाणेय-भासाणं संकरेण पवेसस्स विणिवारओ गणहरदेवो गंथकत्तारो।'—पृ० १२८। २ षट्खं., पु० १, पृ० ६१।

२. अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासासयाइं सत्त तहा। अक्खर-अणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥९०१॥ एदासुं भासासुं तालुवदंतो ट्ठकंठवावारे। परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥९०२॥—ति. प. ४,। 'एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोन्तरनेष्ट-बहूश्च कुभाषाः। अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म 'जिनस्य महिम्ना ॥७०॥'
—म० पु. १३ पर्व।

३. 'भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सा वि य णं अद्धमागही भासा भासि-ज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आइरियमणाइरियाणं दुपय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरिसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ।' समव०, ३५।

धर्मका उपदेश देते हैं और वह अर्धमागधी भाषा समस्त आर्य-अनार्योंके दुपाये-चौपाये, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोंके अपनी-अपनी भाषारूपसे परिणमन करती है। अर्थात् ये तीर्थङ्करका ही अतिशय है।

किन्तु[1] तीर्थङ्कर गणधरकी अपेक्षा थोड़ा ही कथन करते हैं उसका द्वादशांगरूपमें विस्तार तो गणधर ही करते हैं। इसीसे गणधरके अभावमें भगवान् महावीरकी वाणी केवल ज्ञान होनेके पश्चात ६६ दिन बाद खिरी। इसका कथन जयधवलाके[2] प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने किया है।

ग्रन्थकर्ता गणधर तथा उत्तरोत्तरतंत्रकर्ता आचार्योंका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने प्रकृत षट्खण्डागमकी उत्पत्तिका पुनः संक्षिप्त कथन किया है। फिर आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकारके भेदसे पाँच उपक्रमोंका कथन करके निक्षेप, नय आदिका कथन किया है, जैसा कि ग्रन्थके आदिमें कथन करनेकी आगमिक परम्परा रही है। इस सबके पश्चात् कृति-अनुयोगद्वारका व्याख्यान आरम्भ होता है।

वेदना खण्डके[3] वेदनाकालविधानमें आयुकर्मकी उत्कृष्ट वेदना सूत्रकारने देवायु और नरकायुका उत्कृष्ट बंध करनेवाले स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुंसकवेदी कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवके बतलाई है। उसका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि यहाँ भाववेद लेना चाहिये। ऐसा न लेनेसे द्रव्यस्त्रीवेदके साथ भी नरकायुके उत्कृष्ट बन्धका प्रसंग आयेगा, किन्तु स्त्रियां छठे नरक तकका ही आयुबन्ध कर सकती है।'

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार भी स्त्री यद्यपि मोक्ष जा सकती है किन्तु मरकर सातवें नरकमें उत्पन्न नहीं हो सकती।

वर्गणाखण्डके कर्म-अनुयोगद्वारमें ईर्यापथकर्म[4] और तपःकर्मका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने दोनोंके सम्बन्धमें बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। तथा प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म, इन छह कर्मोंका सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा ओघ और आदेशोंसे कथन[5] किया है। उसमें बतलाया है कि देवों और नारकियोंमें प्रयोगकर्म, समवदानकर्म तथा क्रियाकर्म होते हैं।

---

१. 'जिणभणिइ च्चिय सुत्तं गणहरकरणम्मि को विसेसोत्थ ?। सो तदविक्खं भासइ न उ वित्थरओ सुयं किंतु ॥१११८॥ 'स तीर्थङ्करस्तदपेक्ष' गणधरप्रज्ञापेक्षमेव किञ्चिदल्पं भाषते, न तु सर्वजनसाधारणं विस्तरतः समस्तमपि द्वादशाङ्गश्रुतम्, विशे० भा०
२. क. पा०, भा. १, पृ० ७५।
३, षट्खं., पु. ११, पृ. ११४।
४, वही, पु. १३, पृ. ४८-८८।
५. वही, पु. १३, पृ. ९१-१९६।

तिर्यञ्चोंमें ईर्यापथकर्म और तपःकर्म नहीं होता, शेष चार कर्म होते हैं। मनुष्योंमें छहों कर्म होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रयोगकर्म तेरहवें गुणस्थान तक सब जीवोंके होता है क्योंकि यथासम्भव मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति तेरहवें गुण-स्थान पर्यन्त सब जीवोंके पाई जाती है। समवदानकर्म दसवें गुणस्थान तकके सब जीवोंके होता है क्योंकि यहाँ तकके सब जीवोंके किसीके आठ, किसीके सात और किसीके छः कर्मोंका निरन्तर बन्ध होता रहता है। अधःकर्म केवल औदारिक शरीरके आलम्बनसे होता है इसलिये उसका सद्भाव मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। ईर्यापथकर्म उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके होता है अतः वह भी मनुष्योंके ही संभव है। क्रियाकर्म चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे होता है इसलिए वह चारों गतियोंमें सम्भव है। तपःकर्म छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे होता है अतः यह भी मनुष्योंके ही संभव है। इस प्रकार काफी प्रकाश डाला है।

इसी खण्डके प्रकृति[1] अनुयोगद्वारमें प्रसंगवश शब्दकी गतिका वर्णन करते हुए दो-एक ऐसी बातें कही हैं जो अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आईं। धवलाकारने लिखा है—'शब्दपुद्गल अपने उत्पत्तिप्रदेशसे उछलकर दसों दिशाओंमें जाते हुए उत्कृष्टरूपसे लोकके अन्त भाग तक जाते है। यह बात सूत्रके अविरुद्ध व्याख्याता आचार्यवचनोंसे जानी जाती है। तथा सभी शब्द लोकपर्यंत नहीं जा पाते, थोड़े जा पाते है। धीरे-धीरे वे घटते जाते हैं। तथा सभी शब्द एक समयमें ही लोक पर्यन्त नहीं जाते हैं। कुछ शब्दपुद्गल दो समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालमें लोक पर्यन्त जाते हैं। शब्दोंके इस प्रकार [2]गमनके तथा उनके [3]सुनाई देनेके समर्थनमें धवलाकारने दो प्राचीन गाथाएं भी उद्धृत की हैं। दोनों ही गाथाएं शब्दके सम्बन्धमें वर्तमान आविष्कारोंकी दृष्टिसे अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

षट्खण्डागममें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी उतनी ही प्रकृतियाँ बतलाई हैं जितने मूल अक्षर और उनके संयोगसे निष्पन्न अक्षरोंका प्रमाण होता है। संयोगी अक्षरोंका प्रमाण साधनेके लिये सूत्रकारने जो गणित-गाथा दी है उसका[4] व्याख्यान करते हुए धवलाकारने सत्ताईस स्वर, तेतीस व्यंजन और चार योगवाह

---

१. षट्खं. पु. १३, पृ. २२२–२२४।

२. 'पभवच्चुदस्स भागा बट्ठाणं णियमसा अणंता दु। पढमागासपदेसे बिदियम्मि अणंतगुणहीणा ॥२॥'—वही, पृ॰ २२३।

३. 'भासागदसमसेडिं सद्दं जदि सुणादि मिस्सयं सुणादि। उस्सेडिं पुण सद्दं सुणेदि णियमा पराघादे ॥३॥'—पृ॰ २२४।

४. षट्. पु. १३, पृ. २४९-२६०।

इन चौंसठ मूलवर्णोंके संयोगी अक्षरोंको निष्पन्न करके बतलाया है। तथा उनकी संख्या निकालनेके सम्बन्धमें कई गणित-गाथाएं उद्धृत की हैं।

श्रुतज्ञानावरणके भेदोंके सम्बन्धसे श्रुतज्ञानके[1] बीस भेदोंका निरूपण भी महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका कथन भी अपना महत्त्व रखता है।

वर्गणाप्ररूपणा अनुयोगद्वारमें २३ वर्गणाओं[2]का कथन भी महत्त्वपूर्ण है। वर्गणाओंके सम्बन्धमें इतना ठोस कथन अन्यत्र नहीं पाया जाता। उनमें भी प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा, बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा, और सूक्ष्मनिगोदद्रव्यवर्गणा विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्गणाद्रव्यसमुदाहारके चौदह अनुयोगद्वारोंमेंसे सूत्रकारने केवल दो ही अनुयोगद्वारोंका कथन किया है। शेष बारहका कथन धवलाकारने किया है।

इन तेईस वर्गणाओंमें एक आहारवर्गणा भी है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गलस्कन्धोंकी आहार द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। इसी खण्डके [3]चूलिका नामक अधिकारमें सूत्रकारने आहारद्रव्यवर्गणाका उक्त लक्षण कहा है। उसका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने लिखा है—आहारशरीरवर्गणाके भीतर कुछ वर्गणाएं औदारिक शरीरके योग्य हैं, कुछ वर्गणाएं वैक्रियिकशरीरके योग्य हैं और कुछ वर्गणाएं आहारक शरीरके योग्य हैं। इस प्रकार आहारशरीरवर्गणा तीन प्रकार की है। इस पर यह शंका की गई कि यदि इन तीनों शरीरोंकी वर्गणाएं अवगाहनाभेदसे और संख्याभेदसे अलग-अलग हैं तो आहारद्रव्यवर्गणा एक ही क्यों कही? इसका उत्तर धवलाकारने यह दिया है कि उन तीनोंके बीचमें अग्राह्यवर्गणाके द्वारा अन्तर नहीं है। अर्थात् जैसे आहारवर्गणा और तेजोद्रव्यवर्गणा, तेजोद्रव्यवर्गणा और भाषावर्गणा आदिके बीचमें अग्राह्यवर्गणाके द्वारा अन्तर है वैसा अन्तर औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक शरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणाके बीचमें नहीं है इसलिए आहार द्रव्यवर्गणा एक ही है। कर्मप्रकृति, और कर्मचूर्णिमें भी उक्त तीनों शरीरोंके प्रायोग्य वर्गणाओंके बीचमें अग्राह्यवर्गणा नहीं बतलाई है। किन्तु विशेषावश्यकमें बतलाई है। उसके पश्चात्से श्वेताम्बर परम्पराके पंचसंग्रह आदिमें तथा टीकाग्रन्थों और चूर्णियोंमें विशेषावश्यकभाष्यकी परम्परा[4] प्रवर्तित देखी जाती है।

---

१. षट्. पु. १३ पृ. २६१–२७९
२. षट्खं, पु, १४, पृ. ५४-१३४।
३. षट्खं, पु. १४, पृ. ५४७।
४. 'इह चूर्णिकृदादयः औदारिकवैक्रियाहारकशरीरप्रायोग्याणां वर्गणानामपन्तरालेऽग्रहणवर्गणा नेच्छन्ति परं जिनभद्रगणिक्षमश्रमणादिभिरिष्यन्त इति तन्मतेनोक्ता।
—कर्मप्र. टी., बन्ध-, पृ. ४५।

प्रत्येकशरीरवर्गणा और बादरनिगोदवर्गणाके सम्बन्धमें कुछ मोटी बातें इस प्रकार हैं—

एक जीवके एक शरीरमें जो कर्म-नोकर्म स्कन्ध संचित होता है, उसकी प्रत्येकशरीरवर्गणा संज्ञा है। यह प्रत्येकशरीर, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी आहारकशरीरवाले प्रमत्तसंयत और केवलीजिनके होता है। इनको छोड़कर बाकी जितने संसारी जीव हैं उनका शरीर या तो निगोदजीवोंसे प्रतिष्ठित होनेके कारण सप्रतिष्ठित प्रत्येकरूप होता है या स्वयं निगोद रूप होता है। हाँ, जो प्रत्येकवनस्पति निगोद रहित होती है वह इसका अपवाद है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब मनुष्योंका शरीर निगोदिया जीवोंसे प्रतिष्ठित माना है तो आहारकशरीरी, संयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थामें मनुष्यका शरीर निगोदिया जीवोंसे रहित कैसे हो जाता है ?

इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जिस प्रमत्तसंयत मुनिके आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसका जो औदारिक शरीर है वह तो निगोदिया जीवोंसे युक्त ही होता है किन्तु उसके जो आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसमें निगोदिया जीव नहीं रहते। इसी प्रकार जब वह मनुष्य बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है तो उसके शरीरमें जो निगोदिया जीव रहते हैं उनका क्रमसे अभाव होता जाता है क्योंकि ध्यानसे निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति और स्थितिके कारण हट जाते हैं। इसपर यहाँ शंका की गई है कि जो व्यक्ति ध्यानके द्वारा अपने शरीरमें बसनेवाले निगोदिया जीवोंका संहार कर डालता है वह मोक्ष कैसे प्राप्त करता है ? इस प्रसंगसे संक्षेपमें जैनो अहिंसाका स्वरूप धवलाकारने[1] बतलाया है। और प्रमाण रूपसे कुछ उद्धरण भी दिये हैं।

बादरनिगोदवर्गणाका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने एक सेचीयवक्खाणाइरिय[2] प्ररूपित कथनका उल्लेख किया है। सेचीयव्याख्याचार्य कौन थे, यह जाना नहीं जा सका। शायद 'सेचीय' शब्द अशुद्ध हो।

इस तरह वर्गणाखण्डके अन्त भागमें वर्गणाओंका व्याख्यान अनेक दृष्टियोंसे मौलिक है। और जो यहाँ हैं वह अन्यत्र नहीं।

सत्कर्मान्तर्गत शेष अट्ठारह अनुयोगोंका परिचय—

यह हम पहले लिख आये हैं कि भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागमका छठा खण्ड महाबन्ध है। धवलाकारने उसपर कोई टीका नहीं लिखी। केवल आदिके पांच खण्डों पर ही धवला-टीका लिखी है। मगर षट्खण्डागम नामको सार्थक रखनेके

१. षट्० पु० १४, पृ० ८९–९०।

२. '''ट्ठाणपरूवणं सेचीयवक्खाणाइरियपरूविदं वत्तइस्सामो—पृ० १०१।

लिये उन्होंने महाबन्धके स्थानमें एक सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचकर शेष पाँच खण्डोंमें शामिल कर दिया। षट्खण्डागमके परिचयमें यह बतलाया है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिके छै अनुयोगद्वारोंको लेकर षट्खण्डागमकी रचना की गई है। अतः शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका साधारण परिचय वीरसेनस्वामीने अपने इस सत्कर्म नामक खण्डमें किया है और उसका आधार वप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठा खण्ड था। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[1] ऐसा ही लिखा है।

सत्कर्मका आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि 'भूतबलि भट्टारकने यह सूत्र देशामर्शक रूपसे लिखा है, अतः इस सूत्रसे सूचित शेष अठारह अनियोगद्वारोंका कुछ संक्षेपसे प्ररूपण करता हूँ। शेष अठारह अनुयोगद्वारोंके नाम इस प्रकार हैं—निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित, अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिम स्कन्ध और अल्पबहुत्व।

७. निबन्धन—इस अनुयोगद्वारकी आवश्यकता बतलाते हुए लिखा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके द्वारा कर्मोंका कथन किया जा चुका है और उनके कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगका भी कथन किया जा चुका है। अब उन कर्मोंका व्यापार बतलानेके लिये निबन्धन अनुयोगद्वार आया है।

इसमें बतलाया है कि ज्ञानावरणकर्म सब द्रव्योंमें निबद्ध है क्योंकि उसका एक भेद केवलज्ञानावरण केवलज्ञानका विरोधी है और केवलज्ञान त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंसे पूर्ण छै द्रव्योंको जानता है। किन्तु ज्ञानावरण सब पर्यायोंमें निबद्ध नहीं है क्योंकि ज्ञानावरणके भेद मतिज्ञानावरणादि सब द्रव्योंको नहीं जानते और न सब पर्यायोंको जानते हैं।

दर्शनावरणकर्म आत्मामें ही निबद्ध है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो दर्शन और ज्ञान एक हो जायेंगे। वेदनीयकर्म सुख व दुःखमें निबद्ध है। मोहनीयकर्म आत्मामें निबद्ध है क्योंकि जीवके सम्यक्त्व और चारित्र गुणको घातना उसका स्वभाव है। आयुकर्म भवसे निबद्ध है क्योंकि भवधारण करना उसका लक्षण है। नामकर्मका विपाक पुद्गलनिबद्ध भी है, जीवनिबद्ध भी है और क्षेत्रनिबद्ध भी है। इसलिये वह तनसे निबद्ध है। गोत्रकर्म आत्मासे निबद्ध है और अन्तराय

१. श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं वप्पदेवगुरुः ॥१७३॥ अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपञ्चखण्डे तु। व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च ततः संक्षिप्य ॥१७४॥ षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां........।...व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्। उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः। १८०॥ सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य। इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८१॥'—श्रुताव०।

कर्म दानादिसे निबद्ध है। इसी प्रकार उत्तरप्रकृतियोंमें भी निबद्धताका विचार किया है।

अन्तमें वीरसेन स्वामीने लिखा[1] है—'इस अनियोगद्वारमें इतनी ही प्ररूपणा की गई है क्योंकि शेष अनन्त पदार्थ विषयक निबन्धनके उपदेशका अभाव है।'

८. प्रक्रम—यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि प्रत्येक अनुयोगद्वारके आरम्भमें प्रथम निक्षेप-योजना की गई है। जैसे प्रक्रमके छै भेद किये हैं—नाम प्रक्रम, स्थापना प्रक्रम, द्रव्य प्रक्रम, क्षेत्र प्रक्रम, काल प्रक्रम और भाव प्रक्रम। फिर प्रत्येकका स्वरूप बतलाकर यह स्थिर किया है कि यहाँ कर्म प्रक्रमका प्रकरण है अतः वही लेना चाहिये। अतः यहाँ कार्मणपुद्‌गलप्रचयको प्रक्रम कहा है।

शंकाकारने शंका की है कि कर्मसे ही कर्मकी उत्पत्ति होती है अकर्मसे कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती? धवलाकारने इसका विरोध करते हुए सांख्यके सत्कारणवादका खण्डन किया है। और अन्तमें सप्तभंगकी योजना की है। पश्चात् वस्तुको विनाशस्वभाव मानने वाले बौद्धका खण्डन करके वस्तुको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया है। फिर मूर्त कर्मोंका अमूर्त जीवके साथ सम्बन्ध कैसे होता है, इसका समाधान करते हुए प्रक्रमके तीन भेद किये हैं—प्रकृति प्रक्रम स्थिति प्रक्रम और अनुभाग प्रक्रम। फिर उनका वर्णन किया है। अन्तमें अल्प-बहुत्वका कथन करके लिखा है, यह निक्षेपाचार्यका[2] उपदेश है।

९. उपक्रम—प्रक्रम और[3] उपक्रममें अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि प्रक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूपसे बन्धको प्राप्त होनेवाले प्रदेशाग्रोंका कथन करता है। परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वार बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर सत्व रूपसे स्थित कर्मपुद्‌गलोंके व्यापारका कथन करता है।

उपक्रमके चार भेद किये हैं—प्रकृतिबन्धनउपक्रम, स्थितिबन्धन-उपक्रम, अनुभागबन्धनउपक्रम और प्रदेशबन्धनउपक्रम। और लिखा[4] है कि 'संतकम्मपयडिपाहुड' में जैसा कथन किया है वैसा कर लेना चाहिए। इसपर

---

१. 'एवमेत्थ अणिओगद्दारे एत्तियं चेव परूविदं, सेसअणंतत्थविसयउवदेसाभावादो।' —षट्खं. पु. १५, पृ. १४।

२. 'एसो णिक्खेवाइरियउवएसो—पु. १५, पृ. ४०।

३. 'पक्कम-उवक्कमाणं को भेदो? पयडि-ट्ठिदि-अणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवणं पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण बंध-बिदिय-समयप्पहुडिसंतसरूवेण ट्ठिदकम्मपोग्गलाणं वावारं परूवेदि।'—पु. १५, पृ. ४२।

४. 'एत्थ एदेसिं चदुण्णमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविदं तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो'—पु. १५, पृ. ४३।

यह शंका की गई कि महाबन्धमें जैसा कथन किया गया है वैसा कथन यहाँ क्यों नहीं करना चाहिए? उसके समाधानमें कहा गया है कि महाबन्ध तो प्रथम समयमें होनेवाले बन्धमात्रका कथन करता है। उसका कथन करना यहाँ योग्य नहीं है। चूंकि उपक्रम बन्धनके प्रथम समयके पश्चात् सत्वरूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंमें होनेवाले व्यापारका कथन करता है। अतः यहाँ उदीरणा और उपशमका कथन किया है। उदयावलीको छोड़कर आगेकी स्थितियोंमें अवस्थित कर्मप्रदेशोंको उदयावलीमें निक्षिप्त करनेको उदीरणा कहते हैं। इसका बहुत विस्तारसे कथन किया है।

इसमें एक[1] बात उल्लेखनीय यह है कि क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा-प्रचला-का उदय न माननेवालोंके मतका निर्देश किया है। कर्मप्रकृतिकार[2] इसी मतको माननेवाले है।

उदीरणाके पश्चात् उपशामनाका कथन है, जो यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंकी अनुकृति है। लिखा[3] है—कर्म-उपशामनाके दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। कर्मप्रवादमें उसका विस्तारसे कथन किया है। करणो-पशामनाके भी दो भेद हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। सर्व-करणोपशामनाके दो नाम और भी हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना। इस सर्वकरणोपशामनाकी प्ररूपणा 'कसायपाहुड' में करेंगे। देशकरणोपशामनाके अन्य भी दो नाम हैं—अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। उसीका यहां प्रकरण है। अप्रशोस्तोपशामनाके द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है उसमें उत्कर्षण भी हो सकता है, अपकर्षण भी हो सकता है तथा अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण भी हो सकता है किन्तु उसका उदय नही हो सकता। इस अप्रशस्त उपशामनाका कथन स्वामित्व, काल आदि अनुयोगोंके द्वारा किया गया है।

१०. उदय—इस अनुयोगद्वारमें कर्मोंके उदयका कथन है। उदयके चार भेद किये हैं—प्रकृति उदय, स्थिति उदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय। फिर प्रत्येकके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिकी अपेक्षा दो-दो भेद करके उनका कथन अनुयोगोंके द्वारा किया है।

११. मोक्ष—कर्मद्रव्यमोक्षके चार भेद किये हैं—प्रकृति मोक्ष, स्थिति

---

१. 'खीणकसायम्मि णिद्दापयलाणमुदीरणा णत्थि त्ति भणंताणमभिप्पाएण' पु. १५, पृ. ११० ।

२. 'इंदियपज्जत्तीए दुसमयपज्जत्तगाए [उ] पाउग्गा। णिद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चज्ज ॥१८॥—क. प्र., अ ४।

३. पु. १५, पृ. २७५—२७६।

मोक्ष, अनुभाग मोक्ष और प्रदेश मोक्ष। प्रकृति मोक्षके दो भेद हैं—मूलप्रकृति मोक्ष और उत्तरप्रकृति मोक्ष। उनमें भी प्रत्येकके दो भेद हैं—देशमोक्ष और सर्वमोक्ष। किसी कर्मप्रकृतिका निर्जराको प्राप्त होना अथवा अन्य प्रकृतिरूपसे संक्रान्त होना प्रकृति मोक्ष है। इसका अन्तर्भाव प्रकृति उदय और प्रकृति संक्रममें होता है। अपकर्षणको प्राप्त हुई, उत्कर्षणको प्राप्त हुई, अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त हुई और अधःस्थितिके गलनेसे निर्जराको प्राप्त हुई स्थितिका नाम स्थितिमोक्ष है। इसी तरह अपकर्षणको प्राप्त हुए, उत्कर्षणको प्राप्त हुए, अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त हुए अधःस्थिति गलनसे निर्जराको प्राप्त हुए अनुभागको अनुभाग मोक्ष कहते हैं। अधःस्थिति गलनके द्वारा प्रदेशोंकी निर्जरा होनेको और प्रदेशोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होनेको प्रदेश मोक्ष कहते हैं। जीव और कर्मका पृथक् हो जाना मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्षके कारण हैं। समस्त कर्मोंसे रहित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, चारित्र, सुख, सम्यक्त्व आदि गुणोंसे पूर्ण, निरामय, नित्य, निरंजन और कृत कृत्य जीवको मुक्त कहते हैं। इनका कथन निक्षेप, नय, निरुक्ति और अनुयोगद्वारोंसे करना चाहिये।

१२. सक्रम—इस अनुयोगद्वारमें कर्म संक्रमका कथन है। उसके चार भेद हैं—प्रकृति संक्रम, स्थिति संक्रम, अनुभाग संक्रम और प्रदेश संक्रम। एक प्रकृति-का अन्य प्रकृतिरूपमें संक्रमण होनेको प्रकृतिसंक्रमण कहते हैं। यह संक्रम मूल-प्रकृतियोंमें नहीं होता। तथा बन्धके होने पर संक्रम होता है। बन्धके अभावमें संक्रम नहीं होता। इत्यादि रूपसे संक्रमका कथन विस्तारसे किया है क्योंकि कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रोंमें संक्रमका विस्तृत वर्णन मिलता है।

१३. लेश्या—इस अनियोगद्वारमें लेश्याका कथन है। लेश्याके मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। चक्षुके द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल-स्कन्धोंके रूपको द्रव्यलेश्या कहते है। उसके छै भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। भ्रमर आदिके कृष्ण लेश्या है, नीम, केला, आदिके पत्तोंके नीललेश्या है। कबूतर आदिके कापोत लेश्या है। जपाकुसुम आदिकी पीतलेश्या है। कमल आदिके पद्म लेश्या है और हंस वगैरहके शुक्ल लेश्या है क्योंकि इनका रंग इसी प्रकारका होता है।

मिथ्यात्व, असंयम, और कषायसे अनुरक्त मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको भावलेश्या कहते हैं। इसी लेश्याके कारण जीव कर्मपुद्गलोंसे बद्ध होता है। उसके भी द्रव्यलेश्याकी तरह ही छै भेद हैं। इन्हींका संक्षिप्त कथन है।

१४. लेश्या कर्म—इस अनियोगद्वारमें प्रत्येक लेश्यावाले जीवका कर्म-क्रिया

बतलाई है। यथा—कृष्णलेश्या वाला प्राणी निर्दय, झगड़ालु, चोर, व्यभिचारी आदि होता है। नीललेश्या वाला विवेकरहित, बुद्धिहीन घमंडी, मायाचारी आदि होता है। कापोतलेश्यावाला दूसरोंका निन्दक, अपना प्रशंसक तथा कर्तव्य अकर्त्तव्यके ज्ञानसे रहित होता है। तेजोलेश्यावाला अहिंसक, सत्यभाषी, और स्वदारसन्तोषी होता है। पद्मलेश्यावाला तेजोलेश्यावालेसे और शुक्ललेश्यावाला पद्मलेश्यावालेसे भी अधिक सच्चा, अहिंसक और संयमी जीवन वाला होता है। यह भावलेश्याकी अपेक्षा जानना चाहिए।

१५. लेश्यापरिणाम—कौन लेश्या, कितनी वृद्धि अथवा हानिके द्वारा किस लेश्यारूप परिणमन करती है इसका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। जैसे कृष्णलेश्यावाला जीव यदि और भी संक्लेशरूप परिणामोंको करता है तो वह अन्यलेश्यारूप परिणमन न करके कृष्णलेश्यामें ही रहता है। इसी तरह शुक्ल-लेश्या वाला जीव यदि और भी अधिक विशुद्ध परिणामोंको करता है तो वह शुक्ल लेश्यामें ही रहता है, अन्यरूप परिणमन नहीं करता। किन्तु मध्यकी चार-लेश्या वाले जीव हानि या वृद्धिके होनेपर अन्य लेश्यारूप भी परिणमन कर सकते हैं। इन्हीं बातोंका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। यह सब कथन भाव-लेश्याकी अपेक्षासे है।

१६. सातासात—सात और असातका कथन समुत्कीर्तना, अर्थपद, पद-मीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोंसे किया गया है। सात और असातके दो भेद किये हैं—एकान्तसात, अनेकान्त सात, एकान्त असात अने-कान्त असात। सातारूपसे बांधा गया जो कर्म संक्षेप और प्रतिक्षेपसे रहित होकर साता रूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त सात कहते हैं। इससे विपरीत अनेकान्त सात है। इसी तरह जो कर्म असाता स्वरूपसे बांधा जाकर संक्षेप व प्रतिक्षेपसे रहित होकर असातरूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त असात कहते हैं। इससे विपरीत अनेकान्त असात है। आगे इन्हींके स्वामित्व आदिका कथन किया है।

१७. दीर्घह्रस्व—इस अनुयोगद्वारमें दीर्घ और ह्रस्वका कथन करते हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षा प्रत्येकके चार भेद किये हैं। यथा-प्रकृति दीर्घ, स्थिति दीर्घ, अनुभाग दीर्घ, प्रदेश दीर्घ। आठों प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमका बन्ध होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। सत्त्वकी अपेक्षा, आठ प्रकृतियोंका सत्त्व होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमका सत्त्व होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। उदयकी अपेक्षा आठ प्रकृतियोंकी उदीर्णा होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमकी उदीर्णा होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। इसी तरह जिस-जिस कर्मकी जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उसका बन्ध होनेपर स्थितिदीर्घ और उससे कम स्थितिका बन्ध होनेपर नोस्थितिदीर्घ है। इसी

तरह अनुभाग और प्रदेशमें भी जानना चाहिये। ह्रस्वमें उससे विपरीत समझना चाहिये। अर्थात् एक-एक प्रकृतिका बन्ध करनेवालेके प्रकृतिह्रस्व है और उससे अधिकका बन्ध करनेवालेके नोप्रकृतिह्रस्व है। इस प्रकार दीर्घ और ह्रस्वका कथन किया है।

१८. भवधारणीय—भवके तीन भेद बतलाये हैं—ओघ भव, आदेस भव और भवग्रहण भव। उनमेंसे इस अनुयोगद्वारमें भवग्रहण भवका कथन कुछ पंक्तियोंमें किया है। भुज्यमान आयुको निर्जीर्ण करके जिसके नवीन आयु कर्मका उदय हुआ है उस जीवके प्रथम समयमें होनेवाले परिणामको अथवा पुराने शरीरको त्यागकर नया शरीर धारण करनेको भवग्रहण भव कहते हैं। भवका धारण केवल आयुकर्मके द्वारा होता है। अन्य कर्मोंका यह काम नहीं है।

१९. पोग्गल अत्त–(पुद्गलात्त)—'आत्त' का अर्थ है 'गृहीत'। अतः गृहीत पुद्गलोंको 'पुद्गलात्त' कहा है। वे पुद्गल छै प्रकारसे गृहीत किये जाते हैं—ग्रहणसे, परिणामसे, उपभोगसे आहारसे, ममत्वसे और परिग्रहसे। हाथ अथवा पैरसे जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे ग्रहणसे आत्त पुद्गल हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामोंसे गृहीत पुद्गल परिणामसे आत्त पुद्गल हैं। उपभोग रूपसे अपनाये गये सुगंध, ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोगसे आत्त पुद्गल हैं। खान-पानके द्वारा अपनाये गये पुद्गल आहारसे आत्त पुद्गल हैं। अनुरागसे गृहीत पुद्गल ममत्वसे आत्त पुद्गल हैं। और आत्माधीन जो पुद्गल हैं वे परिग्रहसे आत्त पुद्गल हैं। यही इसमें कथन है।

२०. निधत्त-अनिधत्त—जो प्रदेशाग्र उदय, संक्रमके अयोग्य है किन्तु उत्कर्षण और अपकर्षणके योग्य होता है उसको निधत्त कहते हैं। शेषको अनिधत्त कहते हैं। कहाँ किस कर्मसे प्रदेशाग्र निधत्त और अनिधत्त हैं, इसका कथन कुछ पंक्तियोंके द्वारा किया है।

२१. निकाचित–अनिकाचित—जो प्रदेशाग्र उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रम और उदयके अयोग्य होता है उसे अनिकाचित और शेषको निकाचित कहते हैं। इसीका कथन इस अनुयोगद्वारमें कुछ पंक्तियोंके द्वारा किया है।

२२. कर्मस्थिति—इस अनुयोग द्वारमें कर्मस्थितिके लक्षणमें नागहस्ती और आर्यमंक्षुका[1] मतभेद बतलाया है। नागहस्ती क्षमाश्रमणके मतसे जघन्य

१. कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारम्हि भण्णमाणे बे उवदेसा होंति—जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थिखमासमणा भणंति। अज्जमंखु-खमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिदसंतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवएसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। एवं कम्मट्ठिदि त्ति समत्त—मणिओगद्दारं।'—षट्खं०, पु० १६, पृ० ५१८।

और उत्कृष्ट स्थितियोंके प्रमाणकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं। और आर्यमंक्षु क्षमाश्रमणका कहना है कि कर्मस्थित संचित सत्कर्मकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं। वीरसेनस्वामीने दोनों ही मतोंसे कर्मस्थितिप्ररूपणा करनेकी सम्मति देकर ही अनुयोगद्वार समाप्त कर दिया है।

२३. पश्चिम भवस्कन्ध—इसके सम्बन्धमें वीरसेनस्वामीने इतना ही लिखा है कि जीवका जो अन्तिम भव है, उस अन्तिम भवमें उस जीवके सब कर्मोंकी बन्ध मार्गणा, उदय मार्गणा, उदीरणा मार्गणा, संक्रम मार्गणा और सत्कर्म मार्गणा ये पाँच मार्गणाएँ पश्चिम स्कन्ध अनयोगद्वारमें की जाती हैं। इन पाँच मार्गणाओंकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् उस जीवके अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये।' अतः उन्होंने केवलिसमुद्घातका वर्णन करके पश्चात् मुक्तिप्राप्ति पर्यन्त क्रियाओंका साधारण-सा कथन किया है।

मोक्ष-अनुयोगके पश्चात् एक संक्रमका ही वर्णन विस्तारसे किया गया है। शेष अनुयोगद्वारोंका तो बहुत ही साधारण-सा कथन किया है। सम्भवतया उनके सम्बन्धमें उस समय अधिक जानकारी प्राप्त नहीं थी।

२४. अल्पबहुत्व—इस अन्तिम अनुयोगद्वारका कथन कुछ विस्तारसे किया है, क्योंकि उसके सम्बन्धमें नागहस्ती और आर्यमंक्षु दोनोंके उपदेश प्राप्त थे। अनुयोगद्वारका आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—'नागहस्ती भट्टारक अल्पबहुत्व अनियोगद्वारमे सत्कर्मकी मार्गणा करते हैं। यह उपदेश 'पवाइज्ज' परम्परासे प्राप्त है।

उक्त सब अनुयोगद्वारोंमें अल्पबहुत्वका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने निकाचित-अनिकाचितमें महावाचक[1] क्षमाश्रमणके उपदेशका निर्देश किया है। यह महावाचक क्षमाश्रमण शायद आर्यमंक्षु हों। कर्मस्थिति अनियोगद्वारमें महावाचक[2] आर्यनन्दिके द्वारा सत्कर्मका कथन करनेका निर्देश है, इनके सम्बन्धमें नागहस्तीपर प्रकाश डालते हुए विचार कर आये हैं।

पश्चिम स्कन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्वका कथन करते हुए लोकपूरण समुद्घातके पश्चात् केवली समुद्घातसे होनेवाले कार्यके सम्बन्धमें दो मत[3] दिये हैं। महावाचक

---

१. 'महावाचयाणं खमासमणाणं उवदेसेण।'—पु. १६, पृ. ५७७।

२. 'कम्मट्ठिदित्ति अणियोगद्दारे एत्थ महावाचया अज्जणंदिणो संतकम्मं करेंति। महावाचया ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति।'—पु. १६, पृ. ५७७।

३. 'महावाचयाणमज्जमंखुसमणाणमुवदेसेण लोगे पुण्णे आउअसमं करेदि। महावाचयाणमज्जणंदीणं उवदेसेण अंतोमुहुत्तं ठवेदि संखेज्जगुणमाउआदो।'

—पु. १६, पृ. ५७८।

आर्यमंक्षु क्षमाश्रमणके उपदेशके अनुसार लोकपूरण समुद्घात होनेपर शेष कर्मोंकी स्थितिको आयुकर्मके समान करता है और महावाचक आर्यनन्दीके उपदेशसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है जो आयुकर्मकी स्थितिसे संख्यातगुणी होती है। सर्वत्र आर्यमंक्षुके मतके विरोधके रूपमें नागहस्तीका मत पाया जाता है। किन्तु यहाँ वीरसेन स्वामीने आर्यनन्दीका मत दिया है जो उल्लेखनीय है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके साथ ही छठा सत्कर्म खण्ड तथा धवला टीका समाप्त हो जाती हैं।

वीरसेन स्वामी : परिचय

धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेन स्वामीने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

'अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुवकम्मस्स चंदसेणस्स।
तह णत्तुवेण पंचत्थुहण्णयंभाणुणा मुणिणा ॥४॥
सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥

अर्थात् आर्य आर्यनन्दिके शिष्य और चन्द्रसेनके प्रशिष्य, पञ्चस्तूपान्वयभानु, सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण मुनि वीरसेन भट्टारकने यह टीका लिखी।

इससे स्पष्ट है कि उनके गुरुका नाम आर्यनन्दी था और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन था। सम्भवतया ये उनके दीक्षागुरु थे और वे पंचस्तूप नामके अन्वयमें हुए थे।

वीरसेन अपने समयके महान् आचार्य थे। उन्होंने जो अपनेको सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण लिखा है, उसका समर्थन धवला-जयधवला टीकाओंके अवलोकनसे भी होता है। जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें उनके शिष्य जिनसेनने अपने गुरुका स्मरण करते हुए कहा है— 'भट्टारक[1] श्री वीरसेन विद्याओंके पारगामी थे और वे साक्षात् केवलीके तुल्य

१. 'श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः।
पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥१९॥
प्रीणितप्राणिसंपत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥२०॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥२१॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥२२॥

थे। जैसे भारती—भरत चक्रवर्तीकी-आज्ञा भरत क्षेत्रके षट्खण्डोंमें कभी स्खलित नहीं हुई वैसे ही वीरसेनकी भारती षट्खण्डरूप आगममें कभी स्खलित नहीं हुई। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर मनीषीजन सर्वज्ञके अस्तित्वमें सन्देह रहित हो गये। उन्हें पण्डितजन श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ कहते थे। प्रसिद्ध सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे प्रक्षालित होनेके कारण उनकी बुद्धि निर्मल हो गई थी और इसलिये वह बुद्धि-ऋद्धिसे सम्पन्न प्रत्येकबुद्धोंसे स्पर्धा करते थे। वह प्राचीन पुस्तकोंके तो मानो गुरु थे। उन्होंने प्राचीन पुस्तकोंका अध्ययन करके अपनेसे पहलेके सभी पुस्तकशिष्यकोंको अतिक्रमण किया था।'

केवली, श्रुतकेवली, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येकबुद्ध ये पद जैन परम्परामें ज्ञानकी दृष्टिसे अति उच्च माने गये हैं। वीरसेनको उनके समकक्ष बतलाना उनके महनीय व्यक्तित्व और सर्वोच्च ज्ञानगरिमाको प्रकट करता है।

इन्हीं जिनसेनने अपने महापुराणके प्रारम्भमें उन्हें वादिमुख्य, लोकवित्, कवि और वाग्मी बतलाया है। जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने उन्हें समस्त वादियोंको त्रस्त करनेवाला कहा है तथा पुन्नाटसंघीय जिनसेनने कवियोंका चक्रवर्ती कहा है। इन सब विशेषणोंसे तथा स्वयं वीरसेनकी टीकाओंके अवगाहनसे वीरसेनकी विद्वत्ता और सर्वतोमुखी प्रतिभाका यथोचित आभास मिल जाता है।

वीरसेनके गुरु : एलाचार्य

धवलाकी प्रशस्तिकी पहली गाथामें वीरसेनस्वामीने एलाचार्यका स्मरण करते हुए लिखा[1] है—'जिसके आदेशसे मैंने यह सिद्धान्त लिखा वे एलाचार्य मुझ वीरसेन पर प्रसन्न हों। इसके सिवाय धवला और जयधवलामें वीरसेनने अपनेको एलाचार्यका[2] वत्स (बच्चा) भी लिखा है। जयधवलामें[3] एक स्थान

प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधीः।
सार्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥२३॥
पुस्तकानां चिरन्तानां गुरुत्वमिह कुर्वता।
येनातिशायिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२४॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन्।
व्यद्योतिष्ठ मुनिनेनः पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे ॥२५॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम्।
कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥ —ज० ध० प्र०

१. 'जस्साएसेण मए सिद्धन्तमिदं हि अहिलहुदं। मज्झ सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥१॥'

२. 'दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समंजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ।' —षट्खं., पु. ९, पृ. १२६। कसा. पा., भा. १, पृ. ८१।

३. 'एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्तं जेण जाणाविदं तेण चउण्हं गईणं उच्चारणाबलेन एलाइरिय-पसाएण य सेसकम्माणं परूवणा कीरदे।'—क. पा., भा.४, पृ. १६९।

पर चूर्णिसूत्रका व्याख्यान करते हुए यह भी लिखा है कि चूंकि यह सूत्र देशामर्षक है अतः उच्चारणाके बलसे और एलाचार्यके प्रसादसे चारों गतियोंमें शेष कर्मोंकी प्ररूपणा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वीरसेनने सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्ययन एलाचार्यसे किया था और उन्हींके आदेशसे टीका-ग्रन्थोंकी रचना की थी।

अतः एलाचार्य सिद्धान्तग्रन्थोंके अपने समयके अधिकारी विद्वान थे, यह बात उनके शिष्य वीरसेनके द्वारा रचित दोनों टीकाओंके देखनेसे ही स्पष्ट हो जाती है।

कसायपाहुडका परिचय कराते हुए हम यह लिख आये हैं कि कसायपाहुड के अधिकारोंको लेकर मतभेद था। गाथासंख्या ५ की जयधवला-टीकामें 'के वि आइरिया' कहकर एक मतभेदकी चर्चा है। उन किन्हीं आचार्योंके मत-का निराकरण करके स्वकृत व्याख्यानका समर्थन करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा[1] है—'अतः भट्टारक एलाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त व्याख्यान ही यहां प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये। उपदिष्ट व्याख्यानसे आशय उस व्याख्यानसे है, जिसका उपदेश एलाचार्यने वीरसेनको दिया था। अतः यह स्पष्ट है कि एलाचार्य सिद्धान्तग्रथोंके अधिकारी व्याख्याता थे। चूंकि वीरसेनस्वामीने धवलाकी समाप्ति शक सं० ७३८ (८१६ ई०) में की थी, अतः यह निश्चित है कि एलाचार्य ईसाकी ८ वीं शतीके उत्तरार्धमे विद्यमान थे। परन्तु उनकी गुरु-परम्पराके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नहीं होता।

वीरसेन स्वामीकी बहुज्ञता

जयधवलाकी प्रशस्तिमें जो वीरसेन स्वामीको प्राचीन पुस्तकोंके अध्ययनका अनुपम प्रेमी होनेके कारण चिरन्तन पुस्तकशिष्यकोंका गुरु और उनकी प्रज्ञाको सर्वार्थगमिनी कहा है वह उचित ही है। अपनी धवला और जयधवला टीकामें उन्होंने जो अनेकों ग्रन्थोंके नाम तथा उद्धरण दिये हैं उससे ही उक्त दोनों बातोंकी पुष्टि हो जाती है। उद्धरणोंका बहुभाग ऐसा है, खोजने पर भी जिसके मूल स्थानोंका पता नहीं लग सका। उनमेंसे कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जो हरिभद्रसूरि[2] के अनेकान्तवादप्रवेशमें, बौद्धग्रन्थ तत्त्वोपप्लवमें[3] सिंहगणि[4] क्षमाश्रमणकृत नयचक्रवृत्तिमें तथा भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकामें भी उद्धृत हैं। धवला-जयधवलामें निर्दिष्ट ग्रन्थों तथा जिन उद्धरणोंके स्थलोंका पता लग सका है उनके अनुसार वीरसेनस्वामीने नीचे लिखे ग्रन्थोंका उपयोग अपनी टीकाओंमें किया है ?

---

१. 'तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पहाणभावेण एत्थ घेतव्वं ॥ —क. पा., भा. १, पृ. १६२।

२. क. पा. भा. १, पृ. २५५।

३. क. पा. भा. १ पृ. २५६।

४. क. पा. भा. १ पृ. २२७।

१. संतकम्मपाहुड
२. योनिप्राभृत—धरसेनाचार्य विरचित।
३. गुणधराचार्य विरचित—कसायपाहुड
४. भूतबली विरचित—जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेयणा, वर्गणा और महाबन्ध।
५. कुन्दकुन्दरचित—परिकर्म, प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड।
६. यतिवृषभरचित—चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ति।
७. उच्चारणाचार्यविरचित—उच्चारणावृत्ति।
८. वट्टकेराचार्यरचित—मूलाचार।
९. शिवार्यरचित—भगवती आराधना।
१०. व्याख्याप्रज्ञप्ति
१. गृद्धपिच्छाचार्यरचित—तत्त्वार्थसूत्र
२. पिंडिया (?)
३. समन्तभद्ररचित—आप्तमीमांसा, बृहत्स्वयम्भू०, युक्त्यनुशासन,
४. सिद्धसेनरचित—सन्मतिसूत्र
५. पूज्यपादरचित—सारसंग्रह।
६. प्राकृत-पंचसंग्रह
७. अकलंकदेवरचित—तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय
१७. प्रभाचन्द्ररचित—कोई ग्रन्थ।
१८. धनंजयकविकृत नाममाला कोश।
१९. वाप्पभट्टरचित—उच्चारणा।
२०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अंगपण्णत्ति आदि

उक्त ग्रन्थोंमेंसे पिंडिया तथा पूज्यपादकृत सारसंग्रहका कोई पता नहीं चल सका है। कुछ उद्धृत गाथाएं नीचे लिखे श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यमें पाई गई हैं। अतः संभवतया इन ग्रन्थोंका भी उपयोग वीरसेन स्वामीने अपनी टीकाओंमें किया था। आवश्यकनिर्युक्ति, आचारांगनिर्युक्ति, अनुयोगद्वारसूत्र, दशवैकालिक, स्थानांगसूत्र, नन्दिसूत्र, और ओघनिर्युक्ति।

एक छेदसूत्रका भी उल्लेख है। लिखा है—द्रव्यस्त्री और नपुंसक वस्त्र त्याग नहीं कर सकते, छेदसूत्रसे विरोध आता है।[1]

१. 'ण च दव्वत्थीणं णिग्गंथत्तमत्थि, चेलादिपरिच्चाएण विणा तासिं भावणिग्गंथत्ताभावादो। ण च दव्वथिणवुंसयवेदाण चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो'—षट्खं, पु. ११, ११४–११५।

अन्य दर्शनोंके ग्रन्थोंमेंसे बौद्धकवि अश्वघोषके सौदरानन्दकाव्य, धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका और कुमरिलभट्टके मीमांसाश्लोक-वार्तिकसे भी एक दो उद्धरण दिये गये हैं।

जयधवलामें[1] पाहुडशब्दकी व्युत्पत्तिके प्रसंगसे कई प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं जो प्राकृतव्याकरणके नियमोंसे सम्बद्ध हैं। उसपरसे ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतया प्राकृतभाषाका कोई गाथाबद्ध व्याकरण भी था। धवला और जयधवलाके प्रथम भागमें भगवान महावीरके जीवनसे सम्बद्ध अनेक प्राकृत गाथाएं उद्धृत की हैं जिनपरसे अनुमान होता है कि प्राकृतगाथाओंमें भगवान् महावीरका कोई सुन्दर चरित-ग्रन्थ अवश्य था।

समय-विमर्श

वीरसेनस्वामीने अपनी धवला-टीकाके अन्तमें उसकी समाप्तिका काल दिया है। किन्तु गाथाओंके अशुद्ध होनेसे उनमें दिये हुए कालके सम्बन्धमें विवाद है। अतः उसे छोड़कर जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें दिये गये कालको लेना उचित होगा। उसमें बतलाया है[2] कि कसायपाहुडकी टीका जयधवला श्रीमान् गुर्जरार्यके द्वारा पालित वाटग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यकालमें फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाह्णमें, जबकि नन्दीश्वर महोत्सव मनाया जा रहा था, शक-राजाके सात सौ उनसठ वर्ष (७५९) बीतने पर समाप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि शकसंवत् ७५९, विक्रम संवत् ८९४ और ईस्वी सन् ८३७ के फाल्गुन मासकी सुदी दशमीको जयधवला समाप्त हुई थी।

वीरसेन स्वामीने जयधवलाका केवल पूर्वार्ध ही रचा था, यह बात जय-धवलाकी प्रशस्तिसे[3] प्रकट होती है। उसमें जिनसेनने लिखा है कि गुरुके द्वारा निर्मित पूर्वभागको देखकर मैंने उत्तर भागको रचा। यदि वीरसेन जीवित होते तो ऐसा प्रसंग उपस्थित न होता। इसके सिवाय प्रशस्तिमें वीरसेनके लिए

---

१. क० पा०, भा० १, पृ० ३२६–३२७

२. इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥ ६ ॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदयः।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ ८ ॥
एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥ ११ ॥

३. गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥३९॥

'आसीत्' भूतकालीन क्रियाका प्रयोग किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि वे उस समय जीवित नहीं थे।

पुन्नाटसंघी जिनसेनने शक संवत् ७०५ में अपना हरिवंशपुराण समाप्त किया था। उसके प्रारम्भमें उन्होंने वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन दोनोंको स्मरण किया है। उस समय जिनसेन अपने पार्श्वाभ्युदयकी रचना कर चुके थे। उसीके कर्ताके रूपमें हरिवंशपुराणमें उनका स्मरण किया है। उक्त उल्लेख-से प्रकट है कि शक संवत् ७०५ में गुरु-शिष्य दोनों वर्तमान थे। और वीरसेनका अवसान शक संवत् ७०५ के पश्चात् और जयधवलाके समाप्तिकाल शक संवत् ७५९ से पहले हुआ है। इसी तरह वीरसेनके शिष्य जिनसेनका अवसान शक संवत् ७५९ के पश्चात् और उत्तरपुराणकी रचनाके पहले हुआ है।

अब हम धवलाकी प्रशस्तिकी ओर आते हैं। प्रशस्तिका उपलब्ध पाठ इस रूपमें मुद्रित है—

अट्ठत्तीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु संगरमो।
पासे सुतेरसीए भावविलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मेंढिचदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
वोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते।
सिद्धंतगंधमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

उक्त प्रशस्तिकी पहली पंक्ति, जिसमें धवलाकी समाप्तिका समय दिया हुआ है, बिल्कुल गड़बड़ है। आगेकी पंक्तियोंमें जो समाप्तिकालका सूचक ग्रहयोग दिया गया है वह भी अशुद्ध है। फिर भी प्रो० हीरालालजीने[1] काल-गणनाके आधारपर उसकी शुद्धि करके नीचे लिखे अनुसार शुद्ध पाठ स्थापित किया था—

अठत्तीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सुसगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि तरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

---

१. षट्खं०, भा० १, प्रस्ता० पृ. ३९–४५

और तदनुसार धवलाकी समाप्तिका काल शक सम्वत् ७३८ निर्धारित किया था। इस पर डा० ज्योतिप्रसाद जैनने आपत्ति की। वास्तवमें 'पासे'का 'वासे', 'भाव'का भाणु, 'वरणिवुत्ते'का तरणिपुत्ते और 'मेंढिचंदम्मि'का 'मीणे चंदम्मि' सुधार तो सम्भव प्रतीत होता है किन्तु 'सासिय'का 'सतसए' और 'विक्कमरायम्हि एसु संगरमो'का 'विक्कमरायंकिए सुसगणामे' सुधार कष्टसाध्य ही प्रतीत होता है। गाथा छंके मूल पाठसे इतना तो स्पष्ट है कि संवत् विक्रम-राजाके नामसे सम्बद्ध है और उसके अंकोंमें एक अंक ३८ है। विक्रमराजाके नामसे सम्बद्ध सम्वत् तो विक्रम सम्वत् है ही। किन्तु जैनपरम्परामें शक सम्वत्का उल्लेख भी विक्रमांक शकके नामसे मिलता है। जैसे त्रिलोकसारकी टीकामें टीका-कार माधवचंद त्रैविद्यने लिखा है—'श्रीवीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तर-षट्शतवर्षाणि (६०५)पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते'। अर्थात् वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् विक्रमांक शक राजा हुआ।

यहाँ पर विक्रमांकशकसे तात्पर्य स्पष्ट रूपसे शक सम्वत्के संस्थापकसे है, क्योंकि त्रिलोकसारकी जिस [1]गाथा ८५० की यह टीका है उसमें शकका ही निर्देश है। तथा वीरसेन[2] स्वामीने भी अपनी धवला टीकामें वीर निर्वाण और शक राजाके मध्यमें ६०५ वर्ष पांच मासका अन्तर बतलाया है। यद्यपि उन्होंने इस विषयमें अन्य आचार्योंके मत भी दिये हैं किन्तु उनका अपना मत यही था।

अकलंकचरित्र[3]में अकलंकके बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थका समय विक्रमार्क शक सम्वत् ७०० दिया है। यहां ग्रन्थकारने विक्रमार्क शक नामसे विक्रम सम्वत्का उल्लेख किया है, या शक सम्वत्का, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि इतना निश्चित प्रतीत होता है कि यह शक सम्वत् ७०० नहीं हो सकता, क्योंकि शक सम्वत् ७०५ में रचे गये हरिवंशपुराणमें वीरसेन और जिनसेनको स्मरण किया गया है और वीरसेनने अपनी धवलाके आरम्भमें ही अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकसे बहुतसे उद्धरण दिये हैं। तथा अकलंकका उल्लेख करनेवाले धनंजय कविके कोश[4]से भी धवला[5]में उद्धरण दिया गया है। अस्तु,

---

१. 'पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो सगराजो'

२. 'एसो वीरजिणिंदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदियकालो। कुदो? (६०५/५) एदम्हि काले सगणरिंदकालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिव्वुदकाला-गमणादो।'—षट्खंत० पु. ९, पृ. १३०।

३. 'विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत॥' अक० च०।

४. 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणं।' ध० ना० मा० श्लो० २०३।

५. षट्खं०, पु. ९, पृ. २३७।

ऐसी स्थितिमें यह विचारणीय हो जाता है कि वीरसेन स्वामीने धवलाकी उक्त प्रशस्तिमें यदि विक्रमांक शकका ही उल्लेख किया है तो विक्रम सम्वत्के अर्थमें किया है या शक सम्वत्के अर्थमें ? और ३८ के अंकसे पहले कौन-सा अंक होना संभव है ?

प्रथम विचारणीय विषयके सम्बन्धमें प्रो० हीरालालजीका कहना[1] है कि 'वीरसेनस्वामीने जहाँ-जहाँ वीरनिर्वाणकी कालगणना दी है वहां शककालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्राय: समस्त जैन लेखकोंने शक-कालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नहीं जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शककालसे हो'।

प्रोफेसर साहबका कथन उचित है। किन्तु वीरसेनने जहां कहीं शकका निर्देश किया है, उसके साथ विक्रमांक विशेषणका कहीं भी प्रयोग नहीं किया। यदि वह या उनके शिष्य जिनसेन शकके साथ एकाध जगह भी विक्रमांक विशेषणका प्रयोग करते तो प्रोफेसर साहबकी उक्त युक्तियां बलवती होतीं। ऐसी स्थितिमें प्रशस्तिके छठे श्लोकमें आगत विक्कमराय शब्द विचारणीय हो जाता है।

दूसरे विचारणीय विषयके सम्बन्धमें प्रोफेसर साहबका कथन है कि—'गाथा[2] में 'शत' सूचक शब्द गड़बड़ीमें है। किन्तु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम सम्वत्के कहनेका है। किन्तु विक्रम संवत्के अनुसार जगतुंग का राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अत: उसके अनुसार ३८ के अंक की कुछ सार्थकता नहीं बैठती। × × × यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सात सौ और मिला दें और ७३८ शक सम्वत्को लें तो यह काल जगतुंगके ज्ञातकाल अर्थात् शक सम्वत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है'।

इस तरह जहाँ डा० हीरालालजी धवलामें प्रयुक्त सम्वत्को शक सम्वत् मानकर ३८ से पहले सात अंक रखना उचित समझते हैं, वहां डा० ज्योति-प्रसादजी उसे विक्रम सम्वत् मानकर ३८ से पहले ८ का अंक रखना उचित समझते हैं। अर्थात् उनके मतसे धवलाकी समाप्ति वि० सं० ८३८ में (शक सं. ७०३) में हुई।

ऐसी स्थितिमें इन दोनों कालों पर अब दूसरे प्रकारसे विचार करना उचित होगा। धवलाकी प्रशस्तिकी गाथासंख्या ७ में 'जगतुंगदेवरज्जे' पद है। अर्थात् जगतुंगदेवके राज्यमें जयधवला समाप्त हुई। और गाथासंख्या ९ में कहा है, कि उस समय नरेन्द्रचूड़ामणि वोद्दणरायनरेन्द्र राज्यका उपभोग करते थे।

---

१. षट्खं., भा. १ प्रस्ता०, पृ. ४५।
२ षट्खं., भा. १, प्रस्ता०, पृ. ४०।

प्रथम तो एक ही प्रशस्तिमें दो राजाओंका निर्देश कुछ विचित्र-सा ही प्रतीत होता है। दूसरे, राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगतुंगदेव नामक एक ही राजा नहीं हुआ तथा वोद्दणराय नामक राजा कौन था, इसमें भी विवाद है।

इस उलझनके विषयमें प्रो० हीरालालजीने लिखा[1] है—'शक सं० ७३८में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किन्तु शक सम्वत् ७८८के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यके ५२वें वर्षका उल्लेख है। जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७से प्रारम्भ हो गया था। तब फिर शक ७३८में जगतुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गा० नं. ७में 'जगतुंगदेवरज्जे' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि' शब्द पर जाती है, जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्ते'! संभवत: उसीसे कुछ पूर्व जगतुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ़ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा नं० ९में जो वोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। वोद्दणराय सम्भवत: अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या यह 'वड्डिग'का ही रूप हो और वड्डिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वद्दिग या वड्डिग मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक सम्वत् ७३८में समाप्त की जब जगतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और वोद्दणराय राजगद्दी पर बैठ चुके थे।'

जिस तरह ३८में ७के अंककी कल्पना करके प्रोफेसर साहब ने ७३८ शक सम्वत् निर्धारित किया उसी तरह उक्त कल्पनाके आधार पर ही उन्होंने जगतुंग और वोद्दणरायकी समस्या को सुलझानेकी चेष्टा की है।

अमोघवर्ष प्रथम छै वर्षकी अवस्थामें शक सं. ७३६में राज्यगद्दी पर बैठा था। अतः ८ वर्षके बालकको 'नरेन्द्रचूड़ामणि' जैसे विशेषणसे अभिहित किया जाना खटकता है। हमारा विचार है, कि धवला प्रशस्तिकी अन्तिम गाथा संभवत: पीछेसे किसीने उसमें जोड़ दी है। उसमें आगत शब्द 'विगत्ता' भी अशुद्ध प्रतीत होता है। 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'कृत' धातुसे प्राकृत रूप 'विगत्ता' बनता है, जिसका अर्थ होता है छेदी गई या काटी गई। इस अर्थका यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। अत: 'विअत्ता' पाठ उचित प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है स्पष्ट की गई। अर्थात् 'जब नरेन्द्रचूड़ामणि वोद्दणराय नरेन्द्र पृथ्वीका उपभोग करते थे उस समय सिद्धान्तग्रन्थका मथन करने वाले गुरुके प्रसादसे उस धवलाको व्यक्त किया गया

१. वही, पृ. ४१।

उसकी कोई टीका टिप्पणी लिखी गई। समाप्तिसूचक 'समाणिया' पाठ तो उससे पूर्वकी गाथा ८में ही आ चुका है। अत: यह समस्या उलझी हुई है।

रचनाएं

वीरसेन स्वामीने संपूर्ण धवला और जयधवलाका पूर्वभाग रचा था। ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। षट्खण्डागम सूत्रोंके साथ हिन्दी अनुवाद सहित धवला[1]-टीका १६ भागोंमें छपकर प्रकाशित हो गई है तथा कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रों के साथ हिन्दी अनुवाद सहित जयधवलाका[2] प्रकाशन कार्य चालू है। जयधवलामें एक जगह श्रीवीरसेन स्वामीने स्वलिखित[3] उच्चारणावृत्तिका भी निर्देश किया है। यदि वहाँ लिखितसे उनका आशय रचितसे है तो कहना होगा कि उन्होंने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंपर उच्चारणावृत्ति भी रची थी।

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्यने उनकी एक अन्य रचनाका निर्देश किया है उसका नाम[4] प्रेमीजीने सिद्धभूपद्धति टीका दिया है और लिखा है कि नामपरसे ऐसा अनुमान होता है कि यह क्षेत्रगणित सम्बन्धी ग्रन्थ होगा। किन्तु गुणभद्रके उत्तरपुराणका जो संस्करण ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है उसमें 'सिद्धिभूपद्धति' पाठ है और श्लोकके भावको देखते हुए यही पाठ ठीक प्रतीत होता है। श्लोक इसप्रकार है—

> सिद्धिभूपद्धति यस्य टीकां संविक्ष्य भिक्षुभि: ।
> टीक्यते हेलयाऽन्येषा विषमादि पदे पदे ॥६॥-उ. पु. प्र.

अर्थ—दूसरोंकेलिए पद-पदपर विषम भी सिद्धिभूपद्धति, जिसकी टीकाको देखकर भिक्षुओंके द्वारा सरलतासे प्रवेश योग्य हो गई।

उक्त कथन श्लेषात्मक है। जो सिद्धिभू-मोक्षभूमिकी पद्धति-मार्ग दूसरोंके लिए पद-पदपर विषम है वह भिक्षुओंके लिए सुगम है। इसपरसे ज्ञात होता है कि सिद्धिभूपद्धति नामक ग्रन्थ बड़ा कठिन था, जो वीरसेनकी टीकासे सरल हो गया तथा उसमें मोक्षमार्गका विवेचन था।

इस ग्रन्थके सम्बन्धमें उक्त उल्लेखके सिवाय अन्य कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ तथा उसकी टीका दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण थे।

इस तरह वीरसेनस्वामीने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थोंकी रचना प्राकृत-

१. प्रकाशक श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द, भेलसा (म. प्र.)।
२. भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरासे प्रकाशित।
३. 'अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण ''।'—क. पा., भा.३, पृ. ३९८।
४. जै. सा. इ., २ रा. सं., पृ, १३१।

संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषामें की थी। और वे सिद्धान्तग्रन्थोंके अनुपम व्याख्याता थे। उन्होंने अपनी टीकाओंमें प्रकृत विषयोंका स्पष्टीकरण और सम्बद्ध प्रासंगिक विषयोंका विवेचन इस रीतिसे किया है कि बादके टीकाकारोंके लिखनेके लिए कुछ शेष नहीं रहा और सम्भवतया इस कारण भी धवला और जयधवलाके पश्चात् सिद्धान्तग्रन्थोंपर कोई टीका नहीं लिखी गई। इतना ही नहीं, किन्तु इन टीकाओंके सुविस्तृत परिमाणमें और उनमें चर्चित विषयोंकी प्राञ्जलतामें उनकी मूलाधार कृति ऐसी समा गई कि षट्खण्डागमसूत्र धवल-सिद्धान्तके नामसे और कषायपाहुड जयधवलसिद्धान्त नामसे ही प्रख्यात हो गये।

ईसाकी १०वीं शताब्दीके ग्रन्थकार अपभ्रंशकवि पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें[१] उनका उल्लेख इसी नामसे किया है। वास्तवमें दोनों टीकागन्थ जैन सिद्धान्त-विषयक चर्चाओंके भण्डार हैं।

वीरसेनस्वामीकी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थरचनाका कोई संकेत नहीं मिलता।

●

१. 'णउ बुज्झिउ आयमसद्दधामु, सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम।'—म, पु'।

तृतीय अध्याय

द्वितीय परिच्छेद

जयधवला-टीका

नामकरण

धवला-टीकाके पश्चात् दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका 'जयधवला' है। यह टीका 'कषायपाहुड' पर लिखी गयी है। टीकाकारने इस टीकाकी प्रथम मङ्गल-गाथाके आदिमें ही 'जयइ धवलंगतेए' पद देकर इसके नामकी सूचना दी है। अन्तमें तो इसके नामका स्पष्ट उल्लेख किया है—

एत्थ समप्पइ धवलियतिहुवणभवणा पसिद्धमाहप्पा।
पाहुडसुत्ताणमिमा जयधवलासण्णिया टीका ॥१॥

'तीनों लोकोंको धवलित करनेवाली और प्रसिद्ध माहात्म्यवाली कषाय-पाहुडसूत्रोंकी यह 'जयधवला' नामकी टीका यहाँ समाप्त होती है।'

उपर्युक्त पद्यसे यह तो स्पष्ट है कि इस टीकाका नाम 'जयधवला' है। पर इस नामकरणका क्या कारण है, यह ज्ञात नहीं होता। टीकाकारने टीकाके आरम्भमें चन्द्रप्रभस्वामीकी जयकामना करते हुए उनके धवल वर्ण शरीरका उल्लेख किया है। अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रप्रभ स्वामीके धवलवर्णके आधारपर इस टीकाका नामकरण जयकामनाको मिश्रित कर 'जय-धवला' किया गया हो।

इसके पूर्व छक्खंडागमपर धवला-टीका रची जा चुकी थी। इसीके आधारपर कषायपाहुडकी इस टीकाका नाम 'जयधवला' रखा गया होगा। और दोनोंमें भेद करनेके लिए 'जय' विशेषण नियोजित किया होगा।

'जयधवला' टीका भी 'धवला' टीकाके समान ही विशद, स्पष्ट और गम्भीर है। सम्भव है कि इस कारणसे भी इसे 'जयधवला' नाम दिया गया हो। एक अन्य हेतु यह भी सम्भव है कि इन टीकाओंकी उज्ज्वल ख्यातिने तीनों लोकोंको धवलित कर दिया है। अतएव इनका सार्थक नाम धवला और जयधवला है।

जयधवला टीका : शैली और महत्त्व

इस टीकाकी शैली व्याख्यानात्मक होने पर भी नये तथ्योंसे सम्बद्ध है। टीकाकार जिस किसी आचार्यका मत देते हैं, उसे दृढ़ताके साथ अधिकारपूर्वक

लिखते हैं। उनके किसी भी व्याख्यानसे विषय सम्बन्धी कमजोरी प्रकट नहीं होती। वर्णनकी प्रांजलता और युक्तिवादिताको देखकर पाठक आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहता। टीकाकार प्रत्येक तथ्यकी पुष्टिके लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनके प्रत्येक कथनमें 'कुदो' लगा रहता है। वे इस 'कुदो' द्वारा प्रश्न करते हैं और तत्काल ही हेतुपरक उत्तर उपस्थित कर देते हैं। इस टीकामें टीकाकारने आगमिक परम्पराकी पूरी रक्षा की है और एक ही विषयमें प्राप्त विभिन्न आचार्योंके विभिन्न उपदेशोंका उल्लेख किया है।

इस टीकाग्रन्थकी रचनाशैलीके सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रशस्तिपद्यसे प्रकाश प्राप्त होता है—

> प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
> मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तरः॥ —ज० प्र० प० ३७

इससे स्पष्ट है कि इस विस्तृत टीकाग्रन्थकी रचना प्रायः प्राकृत-भाषामें की गयी है। बीचमें इसमें कहीं-कहीं संस्कृतका भी मिश्रण है। इसी कारण यह टीका भी 'धवला' के समान 'मणिप्रवाल' कहलाती है।

निस्सन्देह 'धवला' की अपेक्षा जयधवला प्राकृतबहुल है। इसमें दार्शनिक चर्चाएँ और व्युत्पत्तियाँ तो संस्कृत-भाषामें निबद्ध हैं, पर सैद्धान्तिक चर्चाओंके लिए प्राकृतका प्रयोग उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें एक साथ दोनों भाषाओंका उपयोग किया गया है। टीकाकी भाषा प्रसादगुणयुक्त और प्रवाहपूर्ण है। अध्ययन करते समय पाठककी जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है।

टीकाकारका भाषाके साथ विषय पर भी असाधारण प्रभुत्व है। जिस विषयका प्रतिपादन करते हैं। उसका शंका-समाधान पूर्वक अत्यन्त स्पष्टीकरण कर देते हैं। चर्चित विषयको अधिक-से-अधिक स्पष्ट करनेकी कला इस टीका-ग्रन्थमें विद्यमान है। जयधवलाके अन्तके निम्न पद्यसे शैलीगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश पड़ता है—

> होइ सुगमं पि दुग्गममणिवुणवक्खाणकारदोसेण।
> जयधवलाकुसलाणं सुगमं वि य दुग्गमा वि अत्थगई॥ —ज०अ०प० ७

अनिपुण व्याख्याताके दोषसे सुगम बात भी दुर्गम हो जाती है, किन्तु जय-धवलामें जो कुशल हैं, उनको दुर्गम अर्थका भी ज्ञान सुगम हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जयधवलाकी व्याख्यान शैली अत्यन्त सुगम है और इस टीकामें दुर्गम विषयको भी सुगम बनाया है।

जयधवला टीकाका महत्त्व विषयकी गम्भीरता और प्रतिपादनशैली-की सुगमताकी दृष्टिसे जितना है, उससे कहीं अधिक प्रमेयोंके अधिक समाविष्ट करनेकी दृष्टिसे भी है। यह टीका अपनी विशालता और प्रमेयाविबंध-के कारण ही स्वतन्त्र ग्रन्थ 'जयधवल सिद्धान्त' कही जाती है'। इसमें केवल चूर्णिसूत्रोंमें आये हुए अनुयोगद्वारोंके अनुसार ही विषयका व्याख्यान नहीं किया है, अपितु 'उच्चारणावत्ति'में आये हुए अनुयोगद्वारोंके आधार पर विषय-का निरूपण किया है। इस प्रकार मूलग्रन्थ 'कसायपाहुड' और चूर्णिसूत्रोंमें निहित विषयका विवेचन 'उच्चारणावृत्ति' के अनुयोगद्वारोंके अनुसार विस्तार-पूर्वक किया है। अतएव इस ग्रन्थमें विषयका कथन दृढ़ता, बहुज्ञता और आत्मविश्वास पूर्वक किया गया है।

चूर्णिसूत्रोंके व्याख्यान प्रसंगमें किसी भी अंशको दृष्टिसे ओझल नहीं होने दिया है। पदोंकी तो बात ही क्या, आचार्यने अंकोंकी भी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ अर्थाधिकार प्रकरणमें प्रत्येक अर्थाधिकारसूत्रके आगे पड़े अंकोंकी सार्थकताको लिया जा सकता है।

इस टीकाका एक अन्य महत्त्व विभिन्न विषयक अनेक दार्शनिक और सैद्धान्तिक मतोंकी जानकारी भी है। टीकाकारने उपदेशोंका कथन आचार्योंके नामोंके उल्लेख पूर्वक करके अपनी प्रामाणिकता सिद्ध की है।

जयधवलाका एक दूसरा महत्त्व ज्ञान, जीव, कर्म और कर्म सम्बन्धको विस्तृत रूपसे प्रस्तुत करना भी है।

रचना स्थान और काल

पहले धवलाका रचना काल निबद्ध किया जा चुका है। अतः इस सम्बन्ध-में विशेष प्रकाश डालनेकी आवश्यकता नहीं। संक्षेपमें जयधवला टीका शक-संवत् ७५९ (वि० सं० ८९४) में पूर्ण हुई।

यह जयधवला टीका वाटकग्रामपुरमें रची गयी है। इसके शासक गुर्जरार्य बताये गये हैं। आचार्य जिनसेनने प्रशस्ति-पद्य १२–१५ में गुर्जरार्य नरेन्द्रकी बड़ी प्रशंसा की है और चन्द्र-तारा पर्यन्त उसकी कीर्तिके स्थिर रहनेकी भावना व्यक्त की है।

यह वाटकग्रामपुर कहाँ अवस्थित था और इसका आधुनिक नाम क्या सम्भव है, यह विचारणीय है। बड़ौदाका पुराना नाम वटपद्र, वटपद्रक या वट-पल्ली है। कोषोंमें पद्रका अर्थ ग्राम मिलता है। अतः वाटकग्राम बड़ौदा ही होना चाहिए। वहाँके कुछ राष्ट्रकूट राजाओंके कुछ ताम्रपत्र भी मिले हैं।

राष्ट्रकूट नरेश कर्कके शक संवत् ७३४ के ताम्रपत्रके अनुसार भानुभट्ट नामक ब्राह्मणको अंकोटक चौरासी ग्राम विषयक वटपद्रक गांव दानमें दिया गया था। कर्क सुवर्णवर्षके दानपत्रमें भी कर्क और गोविन्द दोनों भाईयोंके द्वारा वटपद्रक गांव दानमें देनेका उल्लेख है। इसमें भी वटपद्रकको अंकोटक चौरासी गांवके अन्तर्गत लिखा है।

अंकोटक आज भी बड़ौदासे ५-६ मीलपर दक्षिणकी ओर वर्तमान हैं। कुछ समय पहले वहांसे खुदाईमें कांसेकी प्राचीन जैन मूर्तियाँ मिली हैं।

उक्त वटपद्र या बाटग्रामको गुर्जरार्य अथवा गुर्जरनरेन्द्र द्वारा अनुपालित बतलाया है। यह गुर्जरनरेन्द्र राष्ट्रकूट अमोघवर्ष ही है। अमोघवर्ष जिनसेनका परम भक्त शिष्य था। गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है कि राजा अमोघवर्ष स्वामी जिनसेनके चरणोंमें नमस्कार करके अपनेको पवित्र हुआ मानता था।

राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मान्यखेट थी। अमोघवर्षके पिता गोविन्दराज तृतीयके समयके श० सं० ७३५ के एक ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है कि उसने लाटदेश-गुजरातके मध्य और दक्षिणी भागको जीतकर अपने छोटे भाई इन्द्रराज-को वहांका राज्य दे दिया था। इसी इन्द्रराजने गुजरातमें राष्ट्रकूटोंकी दूसरी शाखा स्थापित की थी। शक सं० ७५७ का एक ताम्रपत्र बड़ौदासे मिला है। यह गुजरातके राजा महा सामन्ताधिपति राष्ट्रकूट ध्रुवराजका है। इससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षके चाचाका नाम इन्द्रराज था और उसके पुत्र कर्कराजने बगावत करने वाले राष्ट्रकूटोंसे युद्ध करके अमोघवर्षको राज्य दिलवाया था। कुछ विद्वानोंका मत है कि लाटके राजा ध्रुवराज प्रथमने अमोघवर्षके विरुद्ध बगावत की थी। अत: अमोघवर्षको उसपर चढ़ाई करनी पड़ी और गुजरात उसके राज्यमें आ गया। यह घटना जयधवलाकी समाप्तिसे कुछ ही समय पहले-की होनी चाहिये, क्योंकि ध्रुवराज प्रथमका ताम्रपत्र श० सं० ७५७ का है और जयधवलाकी समाप्ति श० सं० ७५९ में हुई थी। अत: बाटग्रामके गुजरातमें होने तथा गुजरातका प्रदेश उसी समयके लगभग अमोघवर्षके राज्यमें होनेके कारण अमोघवर्षका गुणगान किया है। अतः जयधवलाकी रचना वाटग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यमें शक सं० ७५९ में पूर्ण हुई थी।

जयधवलागत विषय वस्तु

जयधवला कसायपाहुड और उसपर रचित चूर्णिसूत्रोंकी विवरणात्मक विस्तृत व्याख्या है। अत: उसका प्रतिपाद्य मूल विषय वही है जो उसके मूलभूत ग्रन्थोंका है। किन्तु उसमें व्याख्याका रूप कैसा है और क्या विशेष कथन किया गया है, यही बतलाना यहाँ अभीष्ट है।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कसायपाहुडके अधिकारोंकी संख्या यद्यपि पन्द्रह है तथापि नामोंमें मतभेद है और उसका निर्देश करके वीरसेन स्वामीने जयधवलाके अधिकारोंका निर्देश स्वयं अपनी दृष्टिसे किया है।

सबसे प्रथम जयधवलाकारने मंगलकी चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि आचार्य गुणधरने कसायपाहुडके और यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंके आदिमें मंगल क्यों नहीं किया ? समाधानमें कहा है कि प्रारम्भ किये गये कार्यमें विघ्न विनाशके लिये मंगल किया जाता है। किन्तु परमागममें उपयोग लगानेसे ही वे विघ्न नष्ट हो जाते हैं, इसीसे उक्त दोनों ग्रन्थकारोंने मंगल नहीं किया।

चूर्णिसूत्रकारने प्रथम गाथाकी वृत्तिमें पाँच उपक्रमोंका निर्देश किया है। किन्तु जयधवलाकारने दोनोंकी संगति बतलाते हुए कहा है कि गाथामें केवल एक नामोपक्रमका ही निर्देश है शेषकी सूचना 'दु' शब्द से की है। इसीसे यतिवृषभ ने पाँच उपक्रमोंका निर्देश किया है।

यतः इसका निकास ज्ञानप्रवाद नामक पूर्वसे हुआ है अतः टीकाकारने मंगलके पश्चात् मति आदि पाँच ज्ञानोंका कथन करते हुए पाँच उपक्रमोंका विस्तारसे कथन किया है। तथा केवलज्ञानका अस्तित्व तर्क और युक्तिके आधारसे सिद्ध किया है। इसी प्रसंगसे कर्मबन्धनकी भी चर्चा है। तत्पश्चात् केवलज्ञानी भगवान महावीरके जीवनकालकी चर्चा करते हुए विपुलाचलपर उनकी प्रथम धर्मदेशनाका समय बतलाया है तथा किस प्रकार आचार्यपरम्परासे आता हुआ उपदेश गुणधराचार्य तथा आर्यमंक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुआ, यह बतलाया है। द्वादशांगरूप श्रुत और अंगबाह्यश्रुतके विषयका परिचय करानेके बाद पन्द्रह अधिकारोंकी चर्चा विस्तारसे की हैं और उस विषयक मतभेदको भी स्पष्ट किया है।

चूर्णिसूत्रकारने कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न कहा है। इस प्रसंगसे नयोंके स्वरूपकी चर्चा बहुत विस्तारसे करते हुए नयोंमें निक्षेपोंकी योजना की है। जो नयोंके अध्ययनके लिये उपयोगी है।

चूर्णिसूत्रोंके विषय-परिचयमें कहा है कि आचार्य यतिवृषभने विवेचनके लिये अनुयोगद्वारोंका निर्देश किया है तथा उनमेंसे कुछ अनुयोगद्वारोंका सामान्य कथन भी किया है। जयधवलामें सभी अनुयोगद्वारोंका विवेचन चौदह मार्गणाओंमें किया है। तथा यह विवेचन चूर्णिसूत्रों पर निर्मित उच्चारणावृत्तिका आलम्बन लेकर किया गया है। जयधवलाकारने इस बातका निर्देश, कि हम यह कथन उच्चारणाका आश्रय लेकर कर रहे हैं, स्थान-स्थानपर किया है।

यहाँ प्रथम अधिकारमें आगत सतरह अनुयोगद्वारोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है क्योंकि सब अधिकारोंमें प्रायः इनका कथन आता है।

१. समुत्कीर्तना—इसका अर्थ है कथन करना इसमें गुणस्थान और मार्गणाओंमें मोहनीयकर्मका अस्तित्व और नास्तित्व बतलाया गया है। ग्यारहवें गुणस्थान तक सभी जीवोंके मोहनीय कर्मकी सत्ता पायी जाती है आगेके सभी जीव उससे रहित हैं। इसी तरह जिन मार्गणाओंमें बारहवाँ आदि गुणस्थान संभव नहीं है उन मार्गणाओंमें मोहनीय कर्मका आस्तित्व ही बतलाया है और जिन मार्गणाओंमें सभी गुणस्थान संभव है उनमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनों बतलाये हैं।

सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव—इसमें बतलाया है कि मोहनीय विभक्ति किसके सादि है, किसके अनादि है, किसके ध्रुव (अनन्त) है और किसके अध्रुव (सान्त) है।

स्वामित्व—इसमें बतलाया है कि जिसके मोहनीयकर्मकी सत्ता है वह उसका स्वामी है जो उसे नष्ट कर चुका है वह उसका स्वामी नहीं है।

काल—इसमें बतलाया है कि किस जीवके मोहनीयकर्मकी सत्ता कितने काल तक रहती है और असत्ता कितने काल तक रहती है। किसी जीवके मोहनीयकी सत्ता अनादि-अनन्त है और किसके अनादि-सान्त है।

अन्तर—इसमें बतलाया है कि एक बार मोहनीयकी सत्ता नष्ट होने पर पुनः कितने बाद प्राप्त होती है। किन्तु मोहनीयकर्म एक बार नष्ट हो जाने पर पुनः नहीं बंधता और बन्ध हुए बिना सत्ता नहीं हो सकती अतः मोहनीयका अन्तरकाल नहीं है।

भंगविचयानुगम—इसमें नाना जीवोंकी अपेक्षा मोहनीयकर्मके आस्तित्व और नास्तित्वको लेकर भंगोका विचार किया है।

भागा-भागानुगम—इसमें बतलाया है कि सब जीवोंके कितने भाग जीव मोहनीय कर्मकी सत्तावाले है और कितने भाग जीव मोहनीयकर्मकी असत्ता वाले हैं।

परिमाण—इसमें मोहनीय कर्मकी सत्ता और असत्ता वाले जीवोंका परिमाण कहा है।

क्षेत्र—इसमें बतलाया है कि मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्तावाले जीव लोकके कितने भागमें रहते हैं।

स्पर्शन—इसमें उक्त जीवोंका त्रिकाल विषयक क्षेत्र कहा है।

काल—पहला कालका वर्णन किसी एक जीवकी अपेक्षासे है और यह नाना जीवोंकी अपेक्षासे है। इसमें नाना जीवोंकी अपेक्षा मोहनीयकर्मकी सत्ता और

असत्तावाले जीवोंका काल बतलाया है। दोनों ही प्रकारके जीव सदा रहते हैं इसलिए उनका काल सर्वदा कहा है।

अन्तर—यह अन्तर भी नाना जीवोंकी अपेक्षा है अतः मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्तावाले जीव सदा पाये जाते हैं अतः उनमें सामान्यसे अन्तर नहीं है।

भाव—इसमें बतलाया है मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्ता वाले जीवोंके पाँच भावोंमें से कौन भाव होते हैं। सत्तावालेके पारिणामिकके सिवा शेष चार भाव होते हैं और असत्तावालेके केवल क्षायिकभाव होता है।

अल्पबहुत्व—इसमें बतलाया है कि मोहनीयकर्मकी सत्ता वाले और असत्तावाले जीवोंमें कौन अधिक हैं और कौन अल्प हैं।

इन अनुयोग द्वारोंके साथ मूल प्रकृति विभक्तिका कथन समाप्त होता है।

आगे हम जयधवला टीकामें आगत कुछ विशेष विवेचनोंकी ही चर्चा करेंगे—

१. प्रकृति-विभक्ति—इसमें कहा है कि उच्चारणाचार्यने मूल प्रकृति विभक्तिके सतरह अनुयोगद्वार कहे हैं और आचार्य यतिवृषभने आठ अनुयोगद्वार कहे हैं। किन्तु इसमें कोई विरोध की बात नहीं है क्योंकि एकने पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन लिया है तो दूसरेने द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन लिया है। वीरसेन स्वामीने उच्चारणाचार्यके द्वारा कथित विवरणका आश्रय लेकर सतरह अनुयोगद्वारोंका विवेचन किया है।

इसी तरह एकैक उत्तर-प्रकृति विभक्तिके ग्यारह अनुयोगद्वार यतिवृषभने कहे हैं और उच्चारणार्यने चौबीस कहे हैं। जयधवलाकारने उच्चारणाचार्यके अनुसार चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही कथन किया है। इस तरह जयधवला केवल चूर्णिसूत्रोंका व्याख्या-ग्रन्थ नहीं है किन्तु उसमें विषयगत प्रतिपादन भी विशेष है।

आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रमें कहा है कि मोहनीय कर्मकी बाइस प्रकृतियोंकी सत्ताका स्वामी मनुष्य ही होता है। इसकी टीकामें वीरसेनने कहा है कि आचार्य यतिवृषभके इस विषयमें दो उपदेश हैं। उनमेंसे कृतकृत्यवेदक जीव मरण नहीं करता, इस उपदेशको लेकर उक्त कथन किया है। उच्चारणाचार्यके अनुसार कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी जीव नहीं मरता ऐसा नियम नहीं है क्योंकि उच्चारणाचार्यने चारों ही गतियोंमें बाईस प्रकृतिक विभक्ति स्थानका सत्त्व स्वीकार किया है।

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना सम्यग्दृष्टी जीव ही करता है। अनन्तानुबन्धीके स्कन्धोंको अन्य प्रकृति रूपसे परिणमानेको विसंयोजना कहते हैं।

विसंयोजनासे क्षपणामें यह भेद है कि जिन कर्मोंकी क्षपणा होती है उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करने के बाद सम्यग्दृष्टी यदि मिथ्यात्वको प्राप्त होता है तो प्रथम समयमें ही चारित्र मोहनीयके कर्म-स्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूपसे परिणत हो जाते हैं। इसीसे मिथ्यात्वमें मोहनीयकी २४ प्रकृतियोंकी सत्ता न पायी जाकर अट्ठाईसकी सत्ता पायी जाती है। उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाके होनेमें भी मतभेद है। उच्चारणाके अनुसार तो निषेध है।

इसपरसे यह शङ्का की गयी कि जिन आचार्योंके कथनके अनुसार उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना होती है उनसे उक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आता। इसके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने कहा है कि यदि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनाका कथन करनेवाला वचन सूत्र वचन होता तो यह कथन सत्य होता क्योंकि सूत्रके द्वारा व्याख्यान बाधित होता है परन्तु एक व्याख्यानके द्वारा दूसरा व्याख्यान बाधित नहीं होता इसलिए उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं होती, यह वचन अप्रमाण नहीं है। फिर भी यहाँ दोनों उपदेशोंका कथन करना चाहिये। क्योंकि दोनोंमें अमुक कथन सूत्रानुसारी है इसके ज्ञान कराने का कोई साधन नहीं है।

उपशमसम्यक्त्वके कालकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाका काल अधिक है अथवा वहाँ अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाके कारणभूत परिणाम नहीं होते। इससे प्रतीत होता है कि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानु-बन्धी चतुष्ककी विसंयोजना नहीं होती। फिर भी यहाँ उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना होती है यह पक्ष ही प्रधान रूपसे स्वीकार करना चाहिये क्योंकि परम्परासे यह उपदेश चला आता है।

(क० पा० भाग २, पृ० ४१७-१८)

इससे वीरसेन स्वामीकी या जयधवलाकी प्रामाणिकतापर प्रकाश पड़ता है।

२. स्थितिविभक्ति—

चूर्णिसूत्रमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर कही है। इसकी व्याख्यामें जयधवलामें कहा है कि यह कथन एक समय-प्रबद्धकी अपेक्षा है, नाना समयप्रबद्धकी अपेक्षा नहीं है यह स्थिति एक समय प्रबद्धकी है इसका प्रमाण यह है कि जो कार्मण वर्गणास्कन्ध अकर्म-रूपसे स्थित हैं वे मिथ्यात्व आदि कारणोंसे मिथ्यात्व कर्मरूपसे एक साथ परिणत होकर जब सम्पूर्ण जीव प्रदेशोंसे सम्बद्ध हो जाते हैं तब उनकी एक समय अधिक

सात हजार वर्षसे लेकर क्रमसे सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति देखी जाती है इससे जाना जाता है कि यह स्थिति एक समय प्रबद्धकी है।

क्योंकि महाबन्धमें कहा है कि मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट आबाधा सात हजार वर्ष है और आबाधासे हीन कर्मस्थिति प्रमाण कर्म निषेक हैं।

(क. पा , भाग ३, पृ. १९४-१९५)

इस तरह जयधवलामें चूर्णिसूत्रगत कथनका आशय सप्रमाण उद्घाटित किया है।

जयधवलाका पूर्वार्ध ही वीरसेन स्वामीके द्वारा रचित है। उत्तरभाग जिसमें करीब दस अधिकार आते हैं वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन स्वामीने रचा है। अतः पूर्वभागमें जितना प्रमेय चर्चित है उत्तरभाग विषय बहुल होते हुए भी सैद्धान्तिक गुत्थियोंके रहस्य के उद्घाटन से प्रायः वैसा परिपूर्ण नहीं है। स्वामी जिनसेनने सम्बद्ध विषयका जो कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें चर्चित है, बराबर खुलासा किया है, किन्तु गुरु जैसी बात नहीं है। अतः आगेके विषय-परिचयकी जानकारी कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंके विषय परिचयसे कर लेना चाहिये उसीका व्याख्यान और उपादान उसमें है।

रचयिता : वीरसेन और जिनसेन

धवलाके पश्चात् जयधवलाकी रचना हुई है, यह बात जयधवलाकी प्रशस्तिसे तो प्रमाणित होती है, साथ ही जयधवलासे भी प्रमाणित है। जयधवलाके प्रारम्भमें ही मतिज्ञान और अवधिज्ञानका कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—'इनके लक्षण जिस प्रकार वर्गणा[1] खण्डमें या उनके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहे है, वैसा ही कथन कर लेना चाहिये। वर्गणाखण्ड पाँचवाँ खण्ड हैं। पाँच ही खण्डोंपर वीरसेनने जयधवलाकी रचना की थी। अतः उक्त उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि धवलाकी रचना कर चुकनेके पश्चात् ही वीरसेनने जयधवलाकी रचनामें हाथ लगाया था, किन्तु उसे वह अधूरी ही छोड़ कर स्वर्गवासी हो गये। उसकी पूर्ति उनके अन्यतम सुयोग्य शिष्य जिनसेनने की। जयधवलाकी प्रशस्तिमें अपने गुरु वीरसेनके सम्बन्धमें श्रद्धावनत हृदयसे लिखते हुए जिनसेनने भूतकालकी क्रिया 'आसीत'का प्रयोग किया है, जो इस बातका

---

१. 'खिप्पोग्गहादीणमत्थो जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ वि परूवेदव्वो'

—क. पा., भा. १, पृ. १४

'एदेसिं तिण्हं णाणाणं लक्खणाणि जहा पयडि अणुओगद्दारे परूविदाणि तहा परूवेदव्वाणि।'—पृ. १७।

सूचक है कि उनके गुरुका स्वर्गवास हो चुका था। अपने को उनका शिष्य घोषित हुए जिनसेनने अपने सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला[1] है जिससे ज्ञात होता है कि जिनसेन अविद्धकर्ण थे अर्थात् कानछेदन का संस्कार होनेसे पहले ही उन्होंने गृहवास छोड़ दिया था और गुरुके पास रहकर विद्याध्ययनमें लग गये थे अतः उनके कान ज्ञान शलाकासे बींधे गये थे। वह बाल-ब्रह्मचारी थे। उन्होंने बाल्यावस्था से ही अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया था। वे न तो अति सुन्दर थे और न अति चतुर ही फिर भी सरस्वतीने अनन्य शरण होकर उनका आश्रय ग्रहण किया। बुद्धि, शम और विनय ये तीन उनके नैसर्गिक गुण थे। वे शरीरसे अवश्य कृश थे, किन्तु तपसे कृश (कमजोर) नहीं थे। शारिरिक कृशता कृशता नहीं है। जो गुणों से कृश है वही वास्तवमें कृश है।'

जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणकी[2] प्रशस्तिमें लिखा है कि जैसे हिमालयसे गंगाका, सर्वज्ञसे दिव्यध्वनिका और उदयाचलसे भास्करका उदय होता है, वैसे ही वीरसेनसे जिनसेन का उदय हुआ।

इन्हीं जिनसेनने वीरसेनके द्वारा प्रारब्ध जयधवलाको पूर्ण किया।

जयधवला टीकाके अन्तःपरीक्षण से भी यह निर्णय नहीं किया जा सका, कि गुरु और शिष्यमेंसे किसने कितना भाग रचा था। इसीसे जिनसेनाचार्यके वैदुष्य और रचना चातुर्यका अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने ज० ध०की प्रशस्तिमें लिखा[3] है कि 'गुरुके द्वारा बहुवक्तव्य पूर्वार्धके लिखे जानेपर, उसको

---

१. 'तस्याभूच्छिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥२७॥
यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका।
स्वयंवरीतिकामेव श्रौति मालामयूयुजत् ॥२८॥
येनानुचरिता बाल्याद्ब्रह्मव्रतमखण्डितम्।
स्वयंवर विधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥२९॥
यो नाति सुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः।
तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥३०॥
धीः शमोविनयश्चेति यस्य नैसर्गिकाः गुणाः।
सूरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥३१॥
यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणैः।
न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥३२॥'

२. 'अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो, ध्वनिरिव सकलज्ञात् सर्वशास्त्रैकमूर्तिः।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो, मुनि खु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥'
—उ० पु० प्र०।

१. 'गुरुणाऽर्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥३५॥'

देखकर इस अल्पवक्तव्य उत्तरार्धको उसने [जिनसेनने] पूरा किया।'

इससे केवल इतना ही व्यक्त होता है कि पूर्वार्धकी रचना गुरुने की और उत्तरार्धकी रचना शिष्यने। किन्तु ग्रन्थका पूर्वभाग कहाँ तक माना जाये, यह निर्णीत नहीं होता। जिनसेनने अपनी प्रशस्तिमें जयधवला टीकाको ६० हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है तथा उसे तीन स्कन्धोंमें विभाजित किया[1] है—प्रदेश-विभक्तिपर्यन्त प्रथम स्कन्ध है, संक्रम, उदय और उपयोग दूसरे स्कन्धमें सम्मिलित हैं। और शेष भाग तीसरा स्कन्ध है।

मोटे तौरपर ६० हजार श्लोक प्रमाणको तीन भागोंमें विभाजित किया जाये, तो एक-एक स्कन्ध बीस-बीस हजार प्रमाण होता है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतार[2] में लिखा है कि प्रारम्भकी चार विभक्तियोंकी बीस हजार श्लोक प्रमाण रचना करनेके पश्चात् वीरसेन स्वामीका स्वर्गवास हो गया। अतः शेष भागकी ४० हजार श्लोक प्रमाण टीकाकी रचना जयसेन (जिनसेन)ने की। अतः इन्द्रनन्दिके कथनानुसार संक्रमसे पहलेका विभक्ति पर्यन्त भाग वीरसेन स्वामीने रचा था। यद्यपि गणना करनेपर विभक्तिपर्यन्त ग्रन्थका परिमाण साढे छब्बीस हजार श्लोक प्रमाण बैठता है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रनन्दिने जयधवलाकी प्रशस्तिके उक्त कथनके आधारपर ही मोटे तौरपर स्कन्धोंके प्रमाणकी परिगणना की है।

संक्रमसे पहलेका विभक्तिपर्यन्त भाग बहुवाक्य भी है अतः जिनसेन स्वामीके कथनानुसार उसे पूर्वार्ध भाग माना जा सकता है। उक्त दोनों आचार्योंके उल्लेखोंका समन्वय करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है।

अन्य व्याख्यानाचार्योंका उल्लेख एवं उपसंहार

जयधवलामें कुछ अन्य व्याख्यानाचार्योंके भी व्याख्यान उल्लिखित हैं। एक स्थानपर लिखा है—'यह उच्चारणाचार्य' अभिप्राय है, परन्तु अन्य व्याख्याना-

---

१. 'पष्ठिरेवसहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः।
श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वशः ॥३९॥
विभक्तिः प्रथमस्कन्धो द्वितीयः संक्रमोदयौ।
उपयोगश्च शेषस्तु तृतीयः स्कन्ध इष्यते ॥१०॥'

—जै० ध० प्र०।

२ 'जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम्। १८२।
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनाया संयुतांविरच्य दिवम्।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥१८३॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्।
जयधवलैवं षष्ठिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥१८४॥—श्र ताव०।

चार्य इस प्रकार कहते हैं[1]।

इन व्याख्यानाचार्योंका मत किन्हीं विषयोंमें यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य-से भिन्न था। लिखा है—'यह सच है कि पूर्वोक्त व्याख्यान इस सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अद्धाच्छेदमें तथा जघन्यस्थिति और जघन्य अद्धाच्छेदमें भेद कथन करनेके लिए व्याख्यानाचार्योंने यह व्याख्यान किया है।[2]

आगे लिखा है कि यह उच्चारणाचार्यके द्वारा कहे गये अल्पबहुत्वकी संदृष्टि है। अब चिरन्तन व्याख्यानाचार्यके अल्पबहुत्वको कहते हैं[3]।

उपर्युक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट होता है कि जयधवलाकारके समक्ष अनेक उच्चा-चार्योंके व्याख्यान उपस्थित थे। इनमें कई उच्चारणाचार्योंकी व्याख्याएँ अति-प्राचीन भी थीं। सम्भवतया उनका नाम ज्ञात न होनेसे उनमेंसे कुछको चिरन्तन व्याख्यानाचार्यकी संज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार जयधवला-टीकामें अनेक प्राचीन व्याख्याओंके समाविष्ट होनेसे मूल्य विषयसे भी अधिक विषय अंकित करनेका प्रयास किया गया है।

तृतीय परिच्छेद

छक्खंडागमकी अन्य टीकाएँ

वीरसेन स्वामीकी प्रसिद्ध धवलाटीकाके अतिरिक्त 'छक्खंडागम' पर अन्य टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। आचार्य इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें इन समस्त टीकाओंका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दने परिकर्मटीका, शामकुण्डने पद्धत्तिटीका, तुम्बलूराचार्यने चूडामणिटीका, वप्पदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति और सुप्रसिद्ध तार्किक [4]समन्तभद्रने संस्कृतटीका लिखी हैं। इन्द्रनन्दिने बताया है—

इस प्रकार व्याख्यान क्रमको प्राप्त होता हुआ छक्खंडागम रूप सिद्धान्त

---

१. 'एसो उच्चारणाइरियाणमहिप्पाओ। अण्णे पुणवक्खाणाइरिया एवं भणंति।'—क० पा०, भा० ३, पृ० २१३।

२. भा० ३, पृ० २९१।

३. 'एसा उच्चारणप्पाबहुअस्स संदिट्ठी। संपहि चिरन्तनवक्खाणाइरियाणमप्पाबहुअं वत्तइस्सामो।'—भा० ३, पृ० ५३२।

१. कालान्तरे ततः पुनरासन्ध्यां पलरि (?) तार्किकार्कोऽभूत् ॥१६७॥
श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्थ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधम्।
सिद्धान्तमतः षट्खण्डागमगतखण्डपञ्चकस्य पुनः ॥१६८॥
अष्टौ चत्वारिंशत सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम्।
विरचितवानति सुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम् ॥१६९॥—श्रुतावतार

गुरुपरम्परासे आता हुआ अति तीक्ष्णबुद्धिशाली शुभनन्दि और रविनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ। भीमरथि और कृष्णमेला नामकी नदियोंके मध्यदेशमें सुन्दर उत्कलिका ग्रामके समीप मगणवल्ली नामक विख्यात ग्राममें बप्पदेव गुरुने उन दोनों मुनियोंके समीप उस समस्त सिद्धान्तका विशेष रूपसे श्रवण किया। अनन्तर बप्पदेव गुरुने छः खण्डोंमें-से महाबन्धको छोड़कर शेष पाँच खण्डोंपर व्याख्या-नामक टीका लिखी।

'छक्खंडागम' की व्याख्या पूर्ण होनेके पश्चात् 'कसायपाहुड' पर साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका प्राकृतभाषामें लिखी।

इस प्रकार उक्त दोनों मूलागम ग्रन्थों पर विभिन्न टीकाओंका उल्लेख केवल श्रुतावतारों में प्राप्त होता है। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें तुम्बुलूराचार्य और उनकी टीकाका निर्देश नहीं किया है। तथा इन्द्रनन्दिने महाबन्ध पर रचित जिस सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिकाको तम्बुलूराचार्यकी कृति कहा है, उसे उन्होंने शामकुण्डाचार्यकी ही कृति बतलाया है।

अब इन टीकाओंके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत किया जाता है—

कुन्दकुन्दकृत 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको जान कर कुण्डकुन्दपुरमें श्रीपद्मनन्दि मुनिने छ:खण्डोंमें-से आदिके तीन खण्डोंपर बारह हजार प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। कुण्डकुन्दपुरके यह [1]श्रीपद्मनन्दि मुनि प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द ही ज्ञात होते हैं कुन्दकुन्दपुर ग्रामके निवासी होनेसे वह इसी नामसे विख्यात हुए। इनके द्वारा रचित समयपाहुड, पवयणसार, पंचात्थिकाय, णियमसार, अट्ठपाहुड आदि अनेक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं, किन्तु छक्खंडागम पर उनके किसी व्याख्या ग्रन्थका अन्यत्र संकेत प्राप्त नहीं है।

वीरसेन स्वामीकी धवला टीकामें अनेक स्थानों पर परिकर्म नामक ग्रन्थका उल्लेख बहुतायतसे मिलता है और उससे अनेक उद्धरण भी दिये गये हैं। किन्तु यह परिकर्म नामक ग्रन्थ किसके द्वारा रचा गया था, इसका कोई निर्देश धवलामें नहीं है और न उसे आगम ग्रन्थकी टीकारूप ही बतलाया गया है। धवलाटीका-में उसके उल्लेखोंकी बहुलता देखकर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि शायद वह परिकर्म इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट टीका ग्रन्थ हो तो नहीं है अतः हम धवला

---

१. श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र संजातसुचारणर्द्धिः॥'

—शिलालेख नं० ४२, ४३, ४७, ५०

टीकासे उन सब उद्धरणों को दे देना उचित समझते हैं जिनसे परिकर्म प्रतिपादित विषयका आभास मिलता है।

परिकर्मका सबसे अधिक उल्लेख जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणानुयोग अनुयोगद्वार की धवलाटीकामें मिलता है। इस अनुयोगमें जीवोंकी संख्याका कथन है।

'जम्हि जम्हि अणंताणंतयं मग्गिज्जदि तम्हि तम्हि
अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणंतस्सेव गहणं''
इदि परियम्म वयणादो जाणिज्जदि अजहण्णमणुक्कस्स
अणंताणंतस्सेव गहणं होदित्ति [षट्खं०, पु० ३ पृ०१९]

'जहाँ जहाँ अनन्तानन्त देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तका ही ग्रहण होता है', परिकर्मके इस वचनसे जाना जाता है कि प्रकृतमें अजघन्यानुत्कृष्ट अनन्तानन्तका ही ग्रहण है।'

'जहण्ण अणंताणंतयंणंग्गिज्जमाणे जहण्ण अणंताणंतस्स हेट्ठिमवग्गणट्ठाणेहिंतो उवरि अणंतगुणवग्गट्ठाणाणि गंतूण सव्वजीवरासिवग्गसलागा उप्पज्जदि' त्ति परियम्मे वुत्तं।' [पु० ३, पृ० २४]

' जघन्य अनन्तानन्तका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर जघन्यअनन्तानन्तके नीचेके वर्गस्थानोंसे ऊपर अनन्तगुणे वर्गस्थान जाकर समस्त जीवराशिकी वर्गशालाका उत्पन्न होती है', ऐसा परिकर्ममें कहा है।

अणंताणंतविसये अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणंतेणेव गुणगारेणभागहारेणविहो- दव्वं' इति परियम्म वयणादो। (पु०३ पृ० २५)

अनन्तान्तके विषयमें गुणकार और भागहार अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तरूप ही होना चाहिये, इस प्रकार परिकर्मका वचन है।

ण च एदं वक्खाणं 'जत्ति याणि दीवसायररूवाणि जम्बूदीव छेदणाणि च रूवाहियाणि' त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झदित्ति।—पु० ३, पृ० ३६।

और यह व्याख्यान 'जितने द्वीपों और सागरोंकी संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने 'छेद हैं उतने रज्जुके अर्धच्छेद हैं, परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता।'

'जं तं गणणासं खेज्जयं तं परियम्मे वुत्तं।'—पु०३, पृ० १२४।

वह जो गणनासंख्यात है उसका कथन परिकर्ममें है।

'जम्हि जम्हि असंखेज्जासंखेज्जयं मागीज्जदि तम्हि तम्हि अजहण्ण मणु- क्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जस्सेव गहणं भवदि' इदि परियम्मवयणादो।—पृ० १२७

'जहाँ जहाँ असंख्यात देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट असंख्याता

संख्यात अर्थात् मध्यम असंख्यातासंख्यातका ही ग्रहण होता है ऐसा परिकर्मका वचन है।

'अट्ठरूवं वग्गिज्जमाणे वग्गिज्जमाणे असंखेज्जाणि वग्गट्ठाणाणि गंतूण सोहम्मीसाण विक्खंभ सुई उप्पज्जदि। सा सुई वग्गिदा णरेइय विक्खंभसुई हवदि। सा सुई वग्गिदा भवणवासिय विक्खंभसूई हवदि। सा सुई वग्गिदा घणंगुलो हवदि' त्ति परियम्मवयणादो णव्वदे घणपदरं गुलाणं वग्गमूलस्स गहणं ण हवदि किंतु सूचि अंगुलवग्गमूलस्सेव गहणं होदि त्ति अण्णहा घणंगुलविदिय वग्गमूलस्स अणुप्पत्तीदो' ।—पृ० १३४ 'आठका उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए असंख्यात वर्गस्थान जाकर सौधर्म और ऐशान सम्बन्धी विष्कम्भ सूची उत्पन्न होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर नारकसम्बन्धी विष्कम्भ सूची होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर भवनवासी देवों सम्बन्धी विष्कम्भ सूची प्राप्त होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर घनांगुल होता है' परिकर्मके इस कथनसे जाना जाता है कि प्रकृतमें घनांगुल और प्रतरांगुलके वर्गमूलका ग्रहण नहीं किया है किन्तु सूच्यंगुलके वर्गमूलका ही ग्रहण किया है।'

'रज्जू सत्त गुणिदा जगसेढी, सा वग्गिदा जगपदरं, सेढीए गुणिदजगपदरं घणलोगो होदि' त्ति परियम्म सुत्तेण सव्वाइरियसम्मदेण विरोहप्पसंगादो च।—पु० ४, पृ० १८४। 'राजूको सातसे गुणा करने पर जगश्रेणी होती है, जगश्रेणीको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर जगप्रतर होता है और जगप्रतरको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर घनलोक होता है' इस सर्व आचार्योंसे सम्मत परिकर्म सूत्रसे विरोधका भी प्रसंग प्राप्त होता है।

'सव्वोहि उक्कस्सखेत्तुप्पायणट्ठं परमोहि उक्कस्सखेत्तं तिस्से चेव चरिमअणवट्ठिद गुणगारेण आवलियाए असंखेज्जदि भाग पदुप्पण्णेण गुणिज्जदित्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, परियम्मे वुत्त ओहिणिबद्ध खेत्ताणुप्पत्तीदो।'—पु० ९, पृ० ४८।

सर्वावधि ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रको उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असंख्यातवें भागसे उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असंख्यातवें भागसे उत्पन्न उसके ही अन्तिम अनवस्थित गुणकारसे गुण किया जाता है, ऐसा कोई आचार्य कहते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर परिकर्म में कहे हुए अवधिसे निबद्ध क्षेत्र नहीं बनते।'

'जदि सुवणाणिस्स विसओ अणंतसंखा होदि तो जमुक्कस्स संखेज्जं विसओ चोद्दसपुव्विस्से त्ति परियम्मे वुत्तं तं कधं घडदे ?—पु० ९, पृ० ५६।

यदि श्रुतज्ञानका विषय अनन्त संख्या है तो चौदह पूर्वोका विषय उत्कृष्ट संख्यात है। ऐसा जो परिकर्ममें कहा है, वह कैसे घटित होगा।

'एदे जोगाविभागपडिच्छेदा च परियम्मे वग्गसमुट्ठिदात्ति परूविदा'—पु० १०, पृ० ४८३।

परिकर्ममें इन योगोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंको वर्गसमुत्थित बतलाया है।

'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि णासंकणिज्जं पदेसो णाम परमाणु सो जम्हि परमाणुम्हि समवेद भावेणणत्थि सो परमाणुअपदे सओत्ति परियम्मे वुत्तो। तेण ण णिरवयवत्तं तत्तो गम्मदे।'—पु० १३ पृ०१८।

'परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता' इसप्रकार परमाणुओंका निरवयनपना परिकर्ममें कहा है।' ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रदेशका अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नही है वह परमाणु अप्रदेशी है ऐसा परिकर्ममें कहा है। अत: परमाणु निर्-अवयव है यह बात परिकर्मसे नहीं जानी जाती।'

सव्वजीवरासिदो लद्धिमक्खरमणंतगुणमिदि कुदो णव्वदे ? परियम्मादो। तं जहा—सव्वजीवरासी वग्गिज्जमाणा अणंत लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वपोग्गलदव्वं पावदि। पुणो सव्वपोग्गलदव्वं वग्गिज्जमाणं वग्गिज्जमाणं अणंत लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वकालं पावदि। पुणो सव्वकाला वग्गिज्ज-माणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वागाससेढिं पावदि। पुणो सव्वागाससेढी वग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्त वग्गण-ट्ठाणाणि उवरि गंतूण धम्मात्थिय अधम्मत्थियदव्वाणमगुरुअलहुअगुणं पावदि। पुणो धम्मात्थिय-अधम्मत्थियअगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणो अणंत-लोकामेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणं पावदि। पुणो एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणोअणंत लोगमेत्तवग्गणट्ठा-णाणि उवरि गंतूण सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स लद्धिक्खरं पावदित्ति परियम्मे भणिदां' —पु० १३, पृ० २६२-६३।

'सब जीव राशिसे लब्ध्यक्षर ज्ञान अनन्तगुणा है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है। परिकर्ममें कहा है—'सब जीव राशिका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सर्व पुद्गल-द्रव्योंका प्रमाण प्राप्त होता। पुन: सर्व पुद्गल द्रव्यके प्रमाणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व काल का प्रमाण आता है। पुन: सर्वकालके प्रमाणका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान आगे जाकर समस्त आकाश श्रेणी प्राप्त होती है। पुन: सर्व आकाश श्रेणीका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान जानेपर आगे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

द्रव्यके अगुरुलघुगुण प्राप्त होते हैं। पुनः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके अगुरु-लघुगुणोंका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर एक जीवका अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। पुनः एक जीवके अगुरुलघुगुणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है।'

'संखेज्जावलियाहि एगो उस्सासो, सत्तुस्सासेहि, एगो थोवो होदित्ति परि-यम्मवयणादो।' —पु० १३, पृ० २९९।

'संख्यात आवलियोंका एक उछ्वास होता और सात उछ्वासका एक स्तोक होता है, ऐसा परिकर्मका वचन है।

'असंखेज्जमेत्तं कुदो णव्वदे ? परियम्मादो।' तं जहा........परियम्मे भणिदं।
यहाँ गुणकारका प्रमाण असंख्यात लोक है, यह (पु० १४, पृ० ३७४-७५।)
किस प्रमाणसे जाना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है।

धवलाटीकामें पाये जानेवाले परिकर्मके उक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परिकर्मका प्रधान प्रतिपाद्य विषय जैन गणित है, इसीसे उसके प्रायः सभी उद्धरण गणनासे सम्बद्ध पाये जाते हैं। सम्भवतया गणनाके प्रसंगसे ही उसमें ज्ञानोंकी भी चर्चा आयी है, क्योंकि श्रुतज्ञान और उसके एक भेद लब्ध्यक्षर श्रुत ज्ञानके प्रमाणका भी उसमें वर्णन है। तथा वह प्राकृत गद्य रूपमें रचा गया था किन्तु 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' उद्धरणसे यह भी व्यक्त होता है कि उसमें गाथा भी होनी चाहिये। और द्रव्योंका वर्णन भी होना चाहिए।

जैसा कि हम लिख आये हैं कि परिकर्मके अधिकतर उद्धरण जीवट्ठाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वारकी धवला टीकामें हैं। द्रव्य प्रमाणमें गुण स्थानों और मार्गणास्थानोंमें जीवोंकी संख्या बतलायी गयी है। उद्धरणोंसे प्रकट होता है कि उसमें भी गति आदिकी अपेक्षा जीवोंकी संख्याका प्रतिपादन होना चाहिये।

किन्तु 'परिकर्म' षट्खण्डागमकी व्याख्या है, इसका कोई निर्देश धवलाकारने नहीं किया है। बल्कि एक दो स्थानों पर 'परिकर्मसूत्र' करके उसका निर्देश किया है, जिससे ऐसा आभास आता है कि वह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ था। किन्तु कुछ निर्देश ऐसे भी मिलते हैं जिनसे विपरीत भावना व्यक्त होती हैं।

वेदना खण्डके वेदना भाव विधान नामक अधिकार के सूत्र नम्बर २०८ की व्याख्या दृष्टव्य है। सूत्रमें कहा गया है कि 'एक कम जघन्य असंख्यातकी वृद्धिसे संख्यात भाग वृद्धि होती है।' इसकी धवलामें लिखा है कि एक कम जघन्य असंख्यात कहनेसे उत्कृष्ट संख्यातका ग्रहण करना चाहिये। इसपर शंका की गयी कि सीधेसे उत्कृष्ट संख्यात न कहकर और सूत्रको बड़ा करके 'एक कम जघन्य

असंख्यात' ऐसा क्यों कहा ? तो उत्तर दिया गया—'उत्कृष्ट संख्यातके प्रमाणके साथ संख्यात भाग वृद्धिका प्रमाण बतलानेके लिए वैसा कहा गया है' । इससे आगे धवलाकारने लिखा है—

'परिकम्मादो उक्कस्ससंखेज्जयस्स पमाण मवगदमिदि ण पच्चवट्ठाणं काडुं जुत्तं तस्स सुत्तत्ता भावादो । एदस्स णिस्सेस्स आइरियाणुग्गहणेण पद वि णिग्गयस्स एदम्हादो पुधत्तविरोहादो वा ण तदो उक्कस्ससंखेज्जयस्स पमाण सिद्धी ।' —पु० १२, पृ० ५४ ।

'यदि कहा जाये कि उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण परिकर्मसे ज्ञात है तो ऐसा प्रत्यवस्थान करना उचित नहीं है क्योंकि उसमें सूत्र रूपताका अभाव है । अथवा आचार्यके अनुग्रहसे पदरूपसे निकले हुए इस समस्त परिकर्मके चूंकि इससे पृथक् होनेका विरोध है इसलिए भी इससे उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण सिद्ध नहीं होता ।' इस कथनमें प्रथम तो परिकर्मको सूत्र नही बतलाया है, दूसरे उसे इससे (षट्खण्डागम) भिन्न होनेका विरोध किया है । किन्तु परिकर्म इससे भिन्न क्यों नहीं है उक्त कथनसे स्पष्ट नही हो पाता । 'आचार्यके अनुग्रहसे पदरूप निकले हुए' इस शब्दार्थका भाव स्पष्ट नही होता । वे कौन आचार्य थे जिनके अनुग्रहसे परिकर्म की निष्पत्ति हुई, फिर 'पद विनिर्गत' शब्दसे क्या अभिप्राय धवलाकारको इष्ट है, सो सब अस्पष्ट ही रह जाता है । किन्तु फिर भी इतना तो स्पष्ट होता है कि परिकर्मका षट्खण्डागम सूत्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । अन्यथा सूत्र २०८की व्याख्या में यह क्यों कहा जाता कि उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण तो परिकर्मसे अवगत है तब यहाँ उत्कृष्ट संख्यात न कहकर 'एक कम जघन्य असंख्यात' क्यों कहा । और क्यों उसके इससे भिन्न होनेका विरोध किया । इसी तरहकी चर्चा जीवट्ठाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोग द्वारके सूत्र ५२ की धवलामें भी है । सूत्रमें क्षेत्रकी अपेक्षा लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण जगत श्रेणीके असंख्यातवें भाग बतलाकर यह भी बतला दिया है कि 'जगश्रेणीके असंख्यातवें भागरूप श्रेणी असंख्यात करोड़ योजन प्रमाण होती है ।'

धवलामें इस पर यह शंकाकी गयी है इसके कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर दिया गया कि इस सूत्रसे इस बातका ज्ञान नहीं हो सकता था कि जगश्रेणिके असंख्यातवें भागरूप श्रेणीका प्रमाण असंख्यात करोड़ योजन है । तो फिर शंका की गयी कि परिकर्मसे इस बातका ज्ञान हो जाता है तब फिर सूत्रमें ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता है तो उत्तर दिया गया कि इस सूत्रके बलसे परिकर्मकी प्रवृत्ति हुई है ।'

परिकर्म षट्खण्डागम सूत्रोंका व्याख्यान ग्रन्थ है, उक्त दोनों उद्धरणोंसे बराबर ऐसा लगता है कि परिकर्म अवश्य ही षट्खण्डागम सूत्रों का व्याख्यान ग्रन्थ था ।

खुद्दाबन्धके कालानुगम अनुयोग द्वारमें बादर पृथिवी-कायिक आदि जीवोंकी उत्कृष्ट ? स्थिति बतलानेके लिए एक सूत्र आता है—'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' अर्थात् अधिक से अधिक से अधिक कर्मस्थिति प्रमाण काल तक जीव बादर पृथिवी-कायिक, आदिमें रहता है।

इस सूत्रकी धवलामें लिखा है—'सूत्रमें जो 'कम्मट्ठिदी' शब्द आया है उससे सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम मात्र कालका ग्रहण करना चाहिये। फिर लिखा है—'के वि आइरिया सत्तरि सागरो इस कोडाकोडिमाबलियाए असंखेज्जदि भागेण गुणिदे बादर पुढवि कायादीणं कायट्ठिदी होदित्ति भणंति। तेसिं कम्म-ट्ठिदि ववएसो कज्जे कारणोवयरादो। एदं वक्खाणमत्थित्ति कधं णव्वदे ? कम्म-ट्ठिदिमावालियाए असंखेज्जदि भागेण गुणिदे वादरट्ठिदि होदि त्ति परियम्म वयणण्णहा-णुववत्तीदो। तत्थ सामण्णे बादरट्ठिदी होदि त्ति ज वि उत्तं तो वि पुढविकायदीणं वादराणं पत्तेयकायट्ठिदी घेत्तव्वा, असंखेज्जाखेज्जाओ ओसप्पिणी-उस्सप्पिणीओत्ति सुत्तम्मि बादरट्ठिदि परूवणादो।"—पु० ७, पृ० १४५।

'किन्हीं आचार्योंका ऐसा कहना है कि सत्तर सागरोपम कोड़ा-कोड़ीको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणा करने पर बादर पृथिवीकायिक आदि जीवोंकी कायस्थितिका प्रमाण होता है। किन्तु उनकी कर्मस्थिति यह संज्ञा कार्यमें कारणके उपचारसे ही सिद्ध होती है।

शङ्का—ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना ?

समाधान—'कर्मस्थितिको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित करनेपर बादर स्थिति होती है, परिकर्मके ऐसे वचनकी अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती है। वहाँ पर (परिकर्म में) यद्यपि सामान्यसे 'बादर स्थिति होती है, ऐसा कहा है तो भी प्रत्येक बादर पृथिकायादिकी काय स्थिति ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि सूत्रमें (षट्ख०) बादर स्थितिका कथन असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण किया है।'

इस उद्धरणमें जो खुद्दाबन्धके ७७वें सूत्रके विषयमें यह शंका की गयी है कि ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना और उसके समाधानमें जो यह कहा है कि यदि ऐसा व्याख्यान न होता तो परिकर्मका इस प्रकारका कथन नहीं बन सकता था उससे प्रकृत विषय पर थोड़ा विशेष प्रकाश पड़ता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि परिकर्म सूत्रोंके व्याख्यानसे सम्बन्ध अवश्य था।

उक्त चर्चा जीवट्ठाणके कालानुगमकी धवला टीकामें प्रकारान्तरसे आई है उसमें लिखा है—

'के वि आइरिया कम्मट्ठिदीदो बादरट्ठिदी परियम्मे उप्पण्णा त्ति कज्जे कारणोवयार-मवलंबिय बादरट्ठिदीए चेय कम्मट्ठिदि सण्णमिच्छंति, तण्ण घटदे,

'गौणमुख्ययो मुख्ये संप्रत्यय इति न्यायात् । ण च बादराणं सामण्णेण वुत्तकालो बादरेगदेसाणं बादर पुढविकाइयाणं पि सोचेव होदि त्ति, विरोहा ।'—पु० ४, पृ० ४०३ ।

कोई आचार्य 'कर्मस्थितिसे बादर स्थिति परिकर्ममें उत्पन्न हुई है' इसलिए कार्यमें कारणका उपचार करके बादर स्थिति की ही कर्मस्थिति संज्ञा मानते हैं । किन्तु यह घटित नहीं होता; क्योंकि 'गौण और मुख्यमें से मुख्यका ही ज्ञान होता है' ऐसा न्याय है । तथा बादरोंका सामान्य रूपसे कहा हुआ काल बादरोंके एक देश बादर पृथिवीकायिकों का भी; वही ही नहीं हो सकता; क्योंकि इसमें विरोध आता है ।''

खुद्दाबन्धमें भी उक्त चर्चा 'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ।।७७।।' सूत्रकी व्याख्यामें आयी है । और जीवट्ठाणके कालानुगममें भी 'उक्कस्सेणकम्मट्ठिदी ।।१४४।। सूत्रकी व्याख्यामें उक्त चर्चा निबद्ध है । उक्त चर्चासे प्रकट होता है कि परिकर्ममें वर्णित बादरस्थिति 'कर्मस्थिति' से उत्पन्न हुई है । अर्थात् षट्खण्डागमके सूत्रमें आगत 'कर्मस्थिति' शब्दसे ही परिकर्मगत बादरस्थिति उत्पन्न हुई है । अतः यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि षट्खण्डागम सूत्रोंके आधार पर ही परिकर्म रचा गया किन्तु एक उद्धरणसे षट्खण्डागमसे परिकर्ममें कहीं कुछ मतभेद भी प्रतीत होता है ।

यही चर्चा जीव ट्ठाणके कालानुगममें एक जीवकी अपेक्षा बादर एकेन्द्रियकी उत्कृष्ट स्थिति बतलानेवाले सूत्र ११२ की धवलामें भी आयी है । लिखा है—

कम्मट्ठिदी मावलियाए असंखेज्जदि भागेण गुणिदे बादरट्ठिदी जादा त्ति परियम्म वयणेण सह एदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति णेदस्स ओवक्खत्तं, सुत्ताणुसारि परियम्म-वयणं ण होदि त्ति तस्सेव ओवक्खत्तप्पसंगा ।'—पु० ४, पृ० ३९० ।

'कर्मस्थितिको आवली के असंख्यातवें भागसे गुणा करनेपर बादर स्थिति उत्पन्न हुई है परिकर्मके इस वचनके साथ यह सूत्र विरुद्ध पड़ता है इसलिए इस सूत्रको अवक्षिप्तताका प्रसंग नहीं आता । किन्तु परिकर्मका वचन सूत्रानुसारी नहीं है इसलिए परिकर्मकी ही अवक्षिप्तताका प्रसंग आता है ।'

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि उक्त चर्चामें जो परिकर्मके वचनको सूत्रानुसारी नहीं होनेके कारण अवक्षिप्तताका प्रसंग दिया है । इसीका परिहार खुद्दाबन्धकी धवलाके उक्त उद्धरणके अन्तमें वीरसेनस्वामीने ही स्वयं कर दिया है । उन्होंने लिखा है—

'वहाँ (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे 'बादरस्थिति होती है ऐसा कहा है तथापि पृथिवीकायादि बादरोंमेंसे प्रत्येककी कायस्थिति लेनी चाहिये क्योंकि सूत्र

(षट्खण्ड०) में असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण बादर स्थिति कही है। अर्थात् परिकर्ममें जो बादरस्थिति कही है, वह पृथिवीकायिक, आदि प्रत्येक बादर-कायिक जीवकी है और जीवट्ठाण के कालानुगम अनुयोगद्वारके सूत्र ११२ में जो बादर स्थिति, कही है वह बादर एकेन्द्रिय सामान्यकी उत्कृष्ट स्थिति है अस्तु। किन्तु धवलामें ही परिकर्मको लेकर एक चर्चा और भी है जो इस प्रकार है—

'जत्तियाणि दीवसागर रूवाणि जंबूदीवछेदणाणि च रूवाहियाणि तत्तियाणि रज्जुछेदणाणि' त्ति परियम्मेण एदं वक्खाणं किण्ण विरुज्झदे? एदेण सह विरुज्झदि, किंतु सुत्तेण सह ण विरुज्झदि। तेणेदस्स वक्खाणस्स गहणं कायव्वं ण परियम्मस्स, तस्स सुत्तविरुद्धत्तादो। ण सुत्त विरुद्धं वक्खाणं होदि, अइप्पसंगादो।'—पु० ४, पृ० १५६।

शंका—'जितनी द्वीप और सागरोंकी संख्या है तथा जितने जम्बूद्वीपके अर्धच्छेद होते हैं, एक अधिक उतने ही राजुके अर्धच्छेद होते हैं' इस परिकर्मके साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होता?

समाधान—भले ही परिकर्मके साथ उक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता हो, किन्तु प्रस्तुत सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता। इस कारणसे इस व्याख्यानको स्वीकार करना चाहिए, परिकर्मको नहीं, क्योंकि परिकर्मका व्याख्यान सूत्रविरुद्ध है। और जो व्याख्यान सूत्र विरुद्ध हो उसे व्याख्यान नहीं माना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है।'

उक्त उद्धरणमें परिकर्मको जो सूत्र विरुद्ध व्याख्यान कहा है। इससे भी उसके षट्खण्डागम सूत्रोंके व्याख्यान रूप होनेका ही समर्थन होता है। प्रश्न केवल सूत्र विरुद्धताका रह जाता है। किन्तु जीवट्ठाणके ही द्रव्य प्रमाणानुगमकी धवलामें उक्त सूत्र विरुद्धताका परिहार भी किया है। लिखा है—

'ण च एदं वक्खाणं जत्तियाणि दीवसायररूवाणि जंबूदीवच्छेदणाणि च रूवाहियाणि त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झइ, रूवेण अहियाणि रूवाहियाणि त्ति गहणादो।'—पु० ३, पृ० ३६।

'और यह व्याख्यान 'जितने द्वीपों और सागरोंकी संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने अर्धच्छेद हैं' इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ 'रूपाधिकका' अर्थ रूपसे अधिक रूपाधिक नहीं लिया किन्तु रूपोंसे अधिक रूपाधिक लिया है।'

उक्त उद्धरणोंसे जो तथ्य प्रकाशमें आते हैं उनसे यही प्रमाणित होता है कि परिकर्मकी उत्पत्ति षट्खण्डागमके सूत्रोंसे ही हुई थी और वह बहुत करके उनका व्याख्यात्मक ग्रन्थ होते हुए भी केवल व्याख्यारूप नहीं था। तथा 'सर्वार्थ-

सम्मत' था अनेक व्याख्याकारोंने अपनी व्याख्याओंका उसे आधार बनाया था अथवा उसकी साहायता लेकर अपनी व्याख्याएँ लिखी थीं। धवलाकार वीरसेन स्वामीके सम्मुख वह मौजूद था और उन्होंने भी उसका साहाय्य ग्रहण किया था। अतः इन्द्रनन्दिने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक ग्रन्थकी रचना करनेका निर्देश किया है वह यथार्थ प्रतीत होता है यहाँ एक बात विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन्द्रनन्दिने परिकर्म ग्रन्थको पद्धति, व्याख्या, टीका आदि शब्दोंसे नहीं कहा है जबकि अन्य व्याख्यात्मक ग्रन्थोंको इन शब्दोंसे अभिहित किया है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि परिकर्म ग्रन्थोंका आधार षट्खण्डागम सूत्र थे किन्तु वह केवल एक व्याख्यारूप ग्रन्थ नहीं था। धवलाके उद्धरणोंसे भी इसी बातका समर्थन होता है।

इन्द्रनन्दिने परिकर्मका रचयिता पद्मनन्दि अपर नाम कुन्दकुन्दको बतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द दि० जैन परम्पराके एक ख्यात नाम प्राचीन आचार्य थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी भाषा प्राकृत है और परिकर्म भी प्राकृत भाषामें ही रचा गया था यह बात उसके उद्धरणोंसे प्रमाणित होती है। किन्तु कुन्दकुन्दके सभी उपलब्ध ग्रन्थ गाथाबद्ध हैं, जबकि परिकर्म गद्य प्राकृतमें रचा गया प्रमाणित होता है। इसका कारण परिकर्मका व्याख्यात्मक होना सम्भव है। जैसे आचार्य यतिवृषभने कसायपाहुड़पर चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी थी शायद उसी तरह कुन्दकुन्दने षट्खण्डागमके आधारपर परिकर्मसूत्र नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उससे धवलाकारने एक उद्धरण इसप्रकार दिया है

'अपदेसं णेवइंदिए इंदिए गेज्झं' इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्ता' पु. १३, पृ. १८. अपदेसंणेव इंदिए गेज्झं' यह उद्धरण गाथाका अंश प्रतीत होता है। कुन्दकुन्दके नियमसारकी एक[1] गाथाका जो परमाणुका स्वरूप बतलाती है द्वितीय चरण 'णेव इंदिए गेज्झं' है किन्तु उसके पहले जो 'अपदेसं' शब्द है वह उसमें नहीं है। अतः सम्भव है कि जिस गाथाका उक्त अंश है वह गाथा नियमसार वाली गाथासे भिन्न हो। किन्तु उससे दो बातें प्रमाणित होती हैं, प्रथम परिकर्ममें गाथाओंका अस्तित्व और दूसरे परिकर्मका कुन्दकुन्द रचित होना।

पंचास्तिकायके अंग्रेजी अनुवादकी अपनी प्रस्तावनामें प्रो० चक्रवर्तीने तथा प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें डा० ए० एन० उपाध्यायेने कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शती सुनिश्चित किया और नन्दिसंघकी पट्टावलीके आधार पर

१. 'अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं तं परमाणु विआणाहि ॥२६॥'

कुन्दकुन्दका समय ईसाकी दूसरी शतीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है ऐसी स्थितिमें कुन्द-कुन्दका समय ईसाकी दूसरी शतीके मध्यसे पहिले नहीं होना चाहिए।

शामकुण्डकृत 'पद्धति'—

इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका षट्खण्डागमके पांच खण्डोंपर तथा कसाय-पाहुडपर रची गयी थी। यह टीका पद्धति रूप थी। जयधवलाके अनुसार सूत्र-वृत्ति इन तीनोंके विवरणको 'पद्धति कहते हैं। तदनुसार यह पद्धति नामक टीका कसायपाहुड़के गाथा सूत्रों और वृत्तिका विवरण रूप होनी चाहिये इसी षट्खण्डागमके भी किन्ही सूत्रों और वृत्तिको लेकर यह रची गयो होगी। शायद वह वृत्ति परिकर्म सूत्र ही हों। इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गयी थी। और उसकी भाषा प्राकृत, संस्कृत और कन्नड़ी तीनों मिश्रित थीं।

जयधवलामें वृत्तिसूत्र, टीका, पंजिका, और पद्धतिका लक्षण है तथा जय-धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें एक श्लोक द्वारा कषाय-प्राभृत विषयक साहित्यका विभाग इस प्रकार किया है—'सूत्र[2] तो गाथा सूत्र हैं, चूर्णिसूत्र वार्तिक अथवा वृत्तिरूप हैं टीका श्री वीरसेन रचित जयधवला है और शेष या तो पद्धति रूप हैं या पंजिकारूप हैं।' यहाँ बहुवचनान्त 'शेषा' शब्दसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि कषाय-प्राभृत पर अन्य भी अनेक विवरणात्मक ग्रन्थ थे जिन्हें जयधव-लाकारने पद्धति या पंजिका कहा है। उन्हींमे शामकुण्डाचार्य रचित 'पद्धति' भी हो सकती है। किन्तु धवला या जयधवलामें इस टीकाका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

साथही सामकुण्ड नामक किन्हीं आचार्यका पता भी अभी तक नहीं लग सका है। शामकुण्ड नाम कुन्दकुन्दका ही प्रतिपक्षी ज्ञात होता है। दोनोंके अन्तमें कुण्ड या कुन्द शब्द आता है। और साम (श्याम) कुन्दका विपरीत है—कुन्द सफेद होता है और श्याम कालेको कहते हैं। अतः कुन्दकुन्द नामको सामने रख कर ही 'सामकुण्ड' नामकी उपज होना सम्भव है।

तुम्बुलूराचार्य कृत्त 'चूड़ामणि'—

इन्द्रनन्दिने शामकुण्डाचार्य रचित पद्धतिके पश्चात् तुम्बुलूराचार्य रचित 'चूडामणि' नामकी व्याख्याका उल्लेख किया है और बतलाया है कि यह व्याख्या षट्खण्डागमके प्रथम पांचखण्डोंपर तथा कसाय-पाहुड पर रची गयी थी और उसका प्रमाण चौरासी हजार था। उसकी भाषा कनड़ी थी। इसके अतिरिक्त

---

१. 'सुत्तवित्ति विवरणाए पद्धई ववएसादो।'—क० पा०, भा० २, पृ० १४।

२. 'गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकम्।
टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धति पंजिकाः ॥२९॥'

उन्होंने छठवें महाबन्ध पर सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिका भी लिखी थी। इस प्रकार उनकी कुल रचनाओंका प्रमाण ९१ हजार था। धवला और जय धवलामें इनका कोइ उल्लेख हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

भट्टाकलंक नामक एक विद्वान्ने अपने कर्नाटक 'शब्दानुशासनमें कनड़ी भाषामें रचित चूड़ामणि नामक महाशास्त्रका उल्लेख किया है। किन्तु उसे तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान बतलाया है तथा उसका परिणाम भी ९६ हजार बतलाया है। इससे इतना तो प्रमाणित होता है कि कनड़ी भाषामें एक चूड़ामणि नामक वृहत्काय व्याख्या थी। किन्तु वह व्याख्या इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी या भट्टाकलंकके निर्देशानुसार तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी थी, यह विचार-ग्रस्त है।

तत्त्वार्थ महाशास्त्र[2] तत्त्वार्थ सूत्रको कहा गया है। विद्यानन्दि[3]ने 'तत्त्वार्थ-शास्त्र' नामसे उसका उल्लेख किया है। किन्तु आदरणीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने लिखा[4] है—तत्त्वार्थ सूत्रका अर्थ तत्त्वार्थ विषयक शास्त्र होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थ-सूत्र, तत्त्वार्थ-शास्त्र और तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र कहलाता है किन्तु आपने यह भी लिखा है कि पुष्पदन्त भूतबल्यादि आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त शास्त्रको भी तत्त्वार्थ शास्त्र या तत्त्वार्थ महाशास्त्र कहा जाता है। इन सिद्धान्त शास्त्रों पर तुम्बुलूराचार्यने कनड़ी भाषमें चूड़ामणि नामकी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतारमें ८४ हजार और कर्नाटक शब्दानुशासमें ९६ हजार श्लोकोंका बतलाया है।'

कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको उद्धृत करके मुख्तारसाहबने लिखा है—'इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि चूड़ामणि जिन दोनों (कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोंकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ तत्त्वार्थ महाशास्त्रके नामसे उल्लेखित किया गया है। इससे सिद्धान्तशास्त्र और तत्त्वार्थ दोनोंकी एकार्थताका समर्थन होता है। और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत कषाय प्राभृत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र कहलाते थे। तत्त्वार्थ विषयक होनेसे उन्हें तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थसूत्र कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नही होता।'

---

१. 'न चैषाभाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमित ग्रन्थसन्दर्भरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्य।'

—'इन्सक्रिप्शन्स ऐट श्रवणबेलगोला' से उद्धृत।

२. 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रम्।'—न्या० दी०।

३. ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं'—त० श्लो० वा०, पृ० ४।
'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ'—आ० प० अन्तिम श्लोक।

४. जै० सा० इ० वि० प्र०।

षट्खण्डागम पुस्तक १ की अपनी प्रस्तावनामें प्रोफेसर हीरालालजीने भी लिखा—'इन ग्रन्थोंकी भी तत्वार्थ महाशास्त्र नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुलूराचार्यकृत इन्हीं ग्रन्थोंकी चूड़ामणि टीकाको अकलंकदेवने तत्वार्थ-महाशास्त्र-व्याख्यान कहा है' (पृ. ५१)।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, 'तत्वार्थसूत्र' नाम लाक्षणिक होते हुए भी उस तत्वार्थसूत्रके लिए ही रूढ़ हुआ है जिसको उमास्वामीकी कृति माना जाता है। उसे ही तत्वार्थशास्त्र या तत्वार्थ-महाशास्त्र कहा गया है। एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता जिसमें उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको तत्वार्थसूत्र या तत्वार्थ-महाशास्त्र कहा गया हो। अतएव; चूँकि इन्द्रनन्दिने उक्त सिद्धान्तग्रथों पर तुम्बुलूराचार्यकी चूड़ामणिनामक टीकाका निर्देश किया है जो कनड़ीमें थी। और शब्दानुशासनमें तत्वार्थ महाशास्त्रकी चूड़ामणि नामक कनड़ी टीकाका निर्देश किया गया है, अतः सिद्धान्त-ग्रन्थोंको तत्वार्थ-महाशास्त्र कहते थे, यह निष्कर्ष निकालना हमें उचित प्रतीत नहीं होता।

कर्नाटक शब्दानुशासनकी रचना १६०४ ई० में हुई है। और उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके ऊपर धवला-जयधवलाकी रचना होनेके पश्चात् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा उनके आधार पर श्री गोम्मटसारकी रचना होनेपर हम सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी चर्चाका अवरोध पाते हैं जबकि तत्वार्थ सूत्रकी ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। कर्नाटक शब्दानुशासनकी तरह न्यायदीपिका में भी तत्वार्थसूत्रको महाशास्त्र कहा है। न्यायदीपिका ईसाकी १५ वीं शतीके लगभग रची गयी थी अतः उस कालमें तत्वार्थ-महाशास्त्रके रूपमें तत्वार्थसूत्रको ही ख्याति थी, सिद्धान्त ग्रन्थोंका तो नाम भी उसकाल में सुनायी नहीं देता। अतः कर्नाटक शब्दानुशासनके रचयिताने चूड़ामणिको तत्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान समझा हो, ऐसा भ्रम होना सम्भव है। अस्तु कर्नाटक शब्दानुशासनके उक्त उल्लेखसे यह प्रमाणित होता है; कि कनड़ी भाषामें एक व्याख्या-ग्रन्थ था और उस व्याख्या-ग्रन्थका इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-ग्रन्थ होना सम्भव है।

किन्तु श्रीयुत् गोविन्द¹ 'पै' का मत है कि भट्टाकलंकके द्वारा कर्नाटक शब्दानुशासनमें स्मृत चूड़ामणि तुम्बुलूराचार्य कृत चूड़ामणि नहीं हो सकता, क्योंकि पहलेका परिमाण ९६ हजार बतलाया गया है और दूसरेका ८४ हजार। अतः पै महाशयका कहना है कि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारकी 'कर्णाट भाषया कृत महती चूड़ामणि व्याख्याम्' पंक्ति अशुद्ध प्रतीत होती है। "इसमें आये हुए 'चूड़ामणि.

---

१. 'श्रीमद्द देव एण्ड तुम्बुलूराचार्य'—जैन एण्टि०, जि० ४ नं० ४।

पदको अलग न पढ़कर आगेके 'व्याख्या' पदके साथ मिलाकर 'चूड़ामणि व्याख्या' पढ़ना चाहिए। तब उस पंक्तिका अर्थ होगा—तुम्बलूराचार्यने कनड़ीमें चूड़ामणिकी एक बड़ी टीका बनायी।'

तब प्रश्न होता है कि चूड़ामणि ग्रन्थ किसका था जिसकी व्याख्या तुम्बुलूराचार्यने बनायी[1] ? श्रवणबेलगोलाके पार्श्वनाथ-बसदिके स्तम्भपर अंकित [1]शिलालेखमें चूड़ामणि नामक काव्यके रचयिता श्री वर्द्धदेवका स्मरण किया है और उनकी प्रशंसामें दण्डीकविके द्वारा कहा गया एक श्लोक भी उद्धृत किया है। यथा—

"चूड़ामणि कवीनां चूड़ामणि नाम सेव्य काव्य कविः।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्ति माहर्तुम् ॥

य एवं मुपश्लोकितो दण्डिना—

जह्नो कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः।
श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीं ॥

शिलालेखके इस कथनके साथ कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको मिला कर श्री पैने यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रीवर्द्धदेवने तत्वार्थ-महाशास्त्रपर ९६००० श्लोक प्रमाण चूड़ामणि नामक टीका कन्नड़ भाषामें रची। और तुम्बुलूराचार्यने चूड़ामणिके ऊपर ८४ हजार प्रमाण कन्नड़ टीका और ७००० प्रमाण पंजिका लिखी।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके तुम्बुलूराचार्य विषयक श्लोक कर्णाटक-कविचरिते में उद्धृत हैं और श्री पै ने अपने लेखमें उन्हें वहींसे उद्धृत किया है।

अतः प्रतीत होता है कि श्रीयुत पै ने इन्द्रनन्दिका श्रुतावतार नहीं देखा। अन्यथा वे 'चूणामणि-व्याख्या'को समस्त पद न बनाकर उसका 'चूड़ामणिकी व्याख्या' ऐसा अर्थ न करते। क्योंकि श्रुतावतारमें सिद्धान्त ग्रन्थोंके व्याख्यानोंका कथन किया गया है, जिसमें से एक चूड़ामणि नामक व्याख्या भी है फिर शिलालेखमें श्री वर्द्धदेवको चूड़ामणि नामक काव्यका कर्ता कहा है। चूड़ामणि नामक कन्नड़ टीकाका कर्ता नहीं कहा। तभी तो वर्द्धदेवका शिलालेखमें 'कवीनां' चूड़ामणिः लिखा है और प्रसिद्ध कवि दण्डीके द्वारा उनकी प्रशंसा किये जानेसे यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वर्द्धदेवका चूड़ामणि काव्य संस्कृतका गौरव रूप था। अतः श्री पै महाशयका उक्त कथन भ्रामक है।

तुम्बुलूर ग्रामके वासी होनेके कारण चूड़ामणि व्याख्याकार तुम्बुलूराचार्य कहलाते थे उनका असली नाम क्या था यह अज्ञात है। गंगराजके मंत्री तथा सेनापति चामुण्डरायने अपने चामुण्डपुराणमें, जो ९७८ ई. में कन्नड़ गद्यमें रचा

---

१. जै० शि० सं०, प्र० भा०, पृ० १०१।

गया था, अन्य महान जैनाचार्योंमें तुम्बुलूराचार्यका भी स्मरण किया है अतः यह निश्चित है कि वह ईसाकी दसवीं शतीसे पूर्वमें हुए हैं। इन्द्रनन्दिने उन्हें शामकुण्डाचार्य और समन्तभद्रके मध्यमें रखा है।

समन्तभद्रकृत संस्कृत टीका—

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार तार्किकार्क आचार्य समन्तभद्रने भी षट्खंडागमके प्रथम पाँच खण्डोंपर ४८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची थी यह टीका अति सुन्दर मृदु संस्कृत भाषामे थी। तार्किकार्क विशेषणसे यह स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दिका अभिप्राय आप्तमीमांसा के स्वयम्भूस्तोत्र आदिके रचयिता प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र से ही है लघु-समन्तभद्रने अष्ट सहस्त्रीके टिपण्णमें समन्त भद्रको तार्किकार्क विशेषणसे ही अभिहित किया है। यथा—

'तदेवं महा महभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनो पलालिता मासमीमांसां।' वीरसेन स्वामीने अपनी धवला टीकामें समन्त भद्रके नामोल्लेख पूर्वक उनके आप्तमीमांसा[1] तथा वहृत्स्वयंभूस्तोत्रसे[2] उद्धरण दिये हैं। किन्तु ऐसा एक भी उल्लेख नहीं मिलता, जिससे उक्त टीकाका संकेत मिलता हो।

समन्तभद्र कृत गन्धहस्ति-महाभाष्य[3]के भी उल्लेख मिलते हैं जिनमें उसे तत्वार्थसूत्र अथवा तत्वार्थका व्याख्यान कहा है। उसका परिमाण कहीं ८४ हजार तो कहीं छियानबे हजार बतलाया है। गन्धहस्ति-महाभाष्य विषयक उल्लेख प्रायः विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके और उसके बादके हैं। अतः जैसे तुम्बुलूराचार्यकी टीकाको भ्रमसे तत्वार्थसूत्रकी टीका समझ लिया गया, कहीं इसी तरह समन्तभद्रकी षट्खंडागम सूत्रोंपर रचित टीकाको भी तत्वार्थ सूत्रकी टीका तो नहीं समझ लिया गया। ८४ और ९६ हजार संख्या किसी न किसी रूपमें ४८ हजारसे सम्बद्ध है एक उसके अकोंका व्यतिक्रम रूप है तो दूसरी उसका द्विगुणित रूप है। किन्तु यह सब तो अनुमान मात्र है। यथार्थमें तो उक्त उल्लेखोंके सिवाय ऐसे पुष्ट प्रमाणोंका अभाव है जिनके आधार पर उक्त टीका तथा गन्धहस्ति-महाभाष्यका अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता हो।

---

१. 'तथा समन्तभद्रस्वा मिनाप्युक्तम्—'स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेष व्यञ्जको नयः।'

२. 'तहा समन्तभद्द समाणि वि उत्त'—विधिर्विषक्त प्रतिबोधरूपः। षट्खं; पु० ७, पृ ३९।

३. तत्त्वार्थ सूत्रव्याख्यान गन्धहस्ति प्रवर्तकः। स्वामी समन्तभद्रो ऽभूद्देवागम निदेशकः।' —वि० कौरव 'तत्त्वार्थ व्याख्यान षण्णवति सहस्र गन्धहस्तिमहाभाष्य विधायक देवागम कवीश्वर स्याद्वादविद्यापति समन्तभद्र ·······' जै. सा. इ. वि. प्र.७ पृ. २७७।

वप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्ति—

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके जिन श्लोकोंमें वप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख है उनका अर्थ समझनेमें कुछ भ्रम हुआ है। श्लोक इस प्रकार हैं—

श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं वप्पदेवगुरुः ॥१७३॥
अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेष पञ्चखण्डे तु।
व्याख्या प्रज्ञप्ति च षष्ठं खण्डं च ततः संक्षिप्य ॥१४७॥
षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य—
प्राभृतकस्य च षष्ठि सहस्रग्रन्थ प्रमाण युताम् ॥१७५॥
व्यलिखत् प्राकृत भाषा रूपां सम्यक् पुरातनव्याख्याम्।
अष्टसहस्रग्रन्थां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे ॥१७६॥

पहली पंक्तिका अर्थ स्पष्ट है—'शुभनन्दि और रविनन्दिके समीप में समस्त सिद्धान्तको सुन कर वप्पदेवगुरुने'।

दूसरी पंक्तिका अर्थ—छैखण्डमेंसे महाबन्धको पृथक् करके, शेष पाँच-खण्डोंमें।

तीसरी पंक्तिका अर्थ—व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डोंको मिलाकर

चौथी तथा पाँचवीं पंक्ति—इस प्रकार निष्पन्न हुए छहों खण्डोंकी तथा कषाय-प्राभृतकी साठ हजार ग्रन्थ प्रमाणवाली।

छठी-सातवीं पक्ति—प्राकृत भाषारूप प्राचीन व्याख्याको लिखा और महा-बन्ध पर आठ हजार पाँच ग्रन्थ प्रमाण व्याख्या लिखी।

अतः वप्पदेव टीकाका नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति नहीं था। किन्तु भूतबली-पुष्पदन्त प्रणीत पाँच खण्डोंमें वप्पदेवने जो छठा खण्ड मिलाया उसका नाम व्याख्या-प्रज्ञप्ति था। इसी व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचा था। श्रुतावतारमें लिखा है—

"व्याख्या प्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट् खण्डतस्तत स्तस्मिन्।
उपरितमबन्धनाद्यधिकारै रष्टादश विकल्पैः ॥१८०॥
सत्कर्म नाम ध्येयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थ सहस्रै द्विसप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृत संस्कृत भाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्"

व्याख्या-प्रज्ञप्ति को प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने आगेके निबन्धन आदि अट्ठारह अधिकारोंके भेदसे सत्कर्म नामक छठें खण्डकी रचना की और उसे पहले के षटखण्डमें मिलाया इस तरह छै खण्डोंकी बहात्तर हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत संस्कृत मिश्रित धवला नामक टीका लिखी।'

उक्त दोनों उद्धरणोंकी दो पंक्तियाँ विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य हैं—

"व्याख्या प्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च ततः संक्षिप्य"

और

'सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य'

जैसे बप्पदेव गुरुने पाँच खण्डोंमें व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये और फिर उन पर टीका रची। वैसे ही वीरसेन स्वामीने व्याख्या प्रज्ञप्तिके आधारपर सत्कर्म नामक छठे खण्डका निर्माण करके उसे पाँच खण्डोंमें मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये तब उनपर धवला नामक टीका लिखी।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे और उन्होंने भूतबलि पुष्पदन्तको पढ़ाया था। महाकर्म-प्रकृतिप्राभृतमें चौबीस अनुयोगद्वार थे, उनमेंसे आदिके छै अनुयोगद्वारोंके आधारपर भूतबलीने षट्खण्डागमकी रचनाकी थी। किन्तु वीरसेन स्वामीने षट्खण्डागमके पाँच खण्डोंमें एक सत्कर्म नामक स्वरचित छठा भाग मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये हैं और इस सत्कर्म नामक छठें खण्डमें महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके अठारह अनुयोगद्वारोंका संक्षिप्त कथन है जिन्हें महाकर्मप्रकृति-प्राभृत-ज्ञाता भूतबलीने भी छोड़ दिया था ऐसी स्थितिमें यह जाननेका कौतूहल होना स्वाभाविक है कि वीरसेन स्वामीने उन अट्ठारह अनुयोगोंका परिचय किस आधारसे दिया क्या ? उनके समय तक महाकर्मप्रकृति-प्राभृतका ज्ञान अवशिष्ट था। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे उस जिज्ञासाका समाधान हो जाता है। व्याख्या-प्रज्ञप्तिको पा करके उन्होंने अपने 'सत्कर्म'की रचनाकी थी। अतः व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें अवश्य ही शेष अट्ठारह अनुयोगोंका कथन होना चाहिए।

धवला टीकामें दो स्थानोंपर उद्धरण देते हुए व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख किया है एक[1] स्थानपर यह शंका की गयी है कि तिर्यग्लोकका अन्त कहाँ होता है ? उत्तर दिया गया है कि तीनों वातवलयों के बाह्य भागमें तिर्यग्लोकका अन्त होता है। इसपर पुनः शंकाकी गयी कि यह कैसे जाना ? तो उत्तर दिया गया कि 'लोक वातवलयोंसे प्रतिष्ठित है, इस व्याख्या-प्रज्ञप्तिके वचन से जाना।

दूसरी जगह एक लम्बा उद्धरण इस प्रकार दिया है—

'जीवा णं भंते! कदि भागावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आउगं कम्मं णिबंधंता बंधंति? गोदम! 'जीवा दुविहा पण्णत्ता संखेज्जवस्साउआ चेव असंखेज्जवस्साउआ चेव।

---

१. कम्हि तिरिय लोगस्स पज्जवसाणं ? तिण्हं वादवल याणं बहिर भागे। तं कधं णाणिज्जदि 'लोगो वादपदिट्ठिदो' त्ति वियाह पण्णत्ति वयणादो।—षट्खं०, पु० ३'१।

तत्थ जे ते असंखेज्जवस्साउआ ते छम्मासावसेसयंसि याउगंसि परभवियं आउयं णिबंधंता बंधंति । तत्थ जे ते संखेज्जवस्साउआ ते दुविहा पण्णत्ता सोवक्कमाउआ णिरुवक्कमाउआ चेव । तत्थ जे ते णिरुवक्कमाउआ ते तिभागावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आयुगं कम्मं णिबंधंता बंधति । तत्थ जे ते सोवक्कमाउआ ते सिया-तिभागतिभागावसेसियंसियायुगंसि परभवियं आउगं कम्मं णिबंधंता बंधंति ।' एदेण वियाह-पण्णत्ति सुत्तेण सह कधं ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुध भूदस्स आइरिय भेएण भेदभावण्णस्स एयत्ता भावादो ।'—षट्खं० पु०, १० पृ. २३७-२३८ ।

शंका—'हे भगवन् ! आयुमें कितने भाग शेष रहनेपर जीव पर-भविक आयु कर्मको बांधते हुए बांधते हैं ? हे गौतम: जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—संख्यात् वर्षायुष्क और असंख्यात् वर्षायुष्क । उनमें जो असंख्यात् वर्षायुष्क हैं वे आयुके छै मास शेष रहने पर-भविक आयुको बांधते हुए बांधते हैं । और जो संख्यात् वर्षायुष्क जीव हैं वे दो प्रकारके कहे गये हैं—सोपक्रमायुष्क और निरूपक्रमा-युष्क । उनमें जो निरूपक्रमायुष्क हैं वे आयुमें त्रिभाग शेष रहनेपर परभविक आयुकर्म को बांधते हैं । और जो सोपक्रमायुष्क जीव हैं; वे कथंचित् त्रिभाग कथंचित् त्रिभागका त्रिभाग और कथंचित् त्रिभाग-त्रिभागका शेष रहनेपर परभव सम्बन्धी आयुकर्मको बांधते हैं ।' इस व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं आता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस सूत्रसे व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र भिन्न है, आचार्य भेदसे भेदको प्राप्त है अतः इन दोनोंमें एकत्वका अभाव है । धवलाके उक्त दोनों उद्धरण यद्यपि व्याख्या-प्रज्ञप्ति विषयक हैं तथापि दोनों दो विभिन्न दृष्टिकोणोंको उपस्थित करते हैं । पहले उद्धरणमें वीरसेन स्वामी व्याख्याप्रज्ञप्तिके वचनको अपनी बातके समर्थनमें प्रमाण रूपसे उपस्थित करते हैं । दूसरे विस्तृत उद्धरणके सम्बन्धमें वे व्याख्या-प्रज्ञप्तिको षट्खण्डागम सूत्रसे भिन्न और आचार्य भेदसे भेदको प्राप्त कहते हैं । आचार्य भेदसे मतलब यहाँ आचार्य परम्पराका भेद ज्ञात होता है क्योंकि यों तो भिन्न आचार्यों के द्वारा रचित सभी शास्त्रोंमें आचार्य भेद पाया जाता है । अतः उनका यह कथन सम्भवतया श्वेताम्बरीय पंचम अंग व्याख्या-प्रज्ञप्तिके विषयमें जान पड़ता है क्योंकि उसमें उक्त प्रकारसे भगवान् महावीर और गौतमके मध्य हुए प्रश्नोत्तरोंके रूपमें विवेचन मिलता है । साथ ही उक्त उद्धरणकी शैली और भाषा भी श्वेताम्बरीय आगमोंके अनुरूप अर्धमागधी है । अर्धमागधीमें सप्तमीका एकवचन 'स्सि' होता है यथा—'छम्मा-सावसेसयंसि आउगंसि ।' किन्तु महाराष्ट्रीमें जो दिगम्बर ग्रन्थोंकी भाषा है 'म्मि' होता है ।

किन्तु उक्त उद्धरण उपलब्ध व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें नहीं पाया जाता। हाँ इससे मिलता जुलता उद्धरण श्वेताम्बरीय [1]प्रज्ञापना सूत्रमें अवश्य मिलता है।

अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें भी दो स्थानोंपर व्याख्या-प्रज्ञप्ति दण्डकका निर्देश किया है। श्वेताम्बरीय व्याख्या-प्रज्ञप्ति[2]में उन दोनों निर्देशो जैसा कथन तो नहीं मिलता किन्तु अन्य रूपमें इस प्रकारके कथनका आभास मिलता है।

ऐसी स्थितिमें व्याख्या-प्रज्ञप्तिकी स्थिति चिन्तनीय है।

धवलाका दूसरा उद्धरण तो अवश्य ही ऐसे व्याख्या-प्रज्ञप्तिसे सम्बद्ध है, जो भिन्न परम्पराका होना चाहिये। किन्तु वीरसेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया वाक्य उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिका होना चाहिये जिसे वह मान्य करते थे और वह व्याख्या-प्रज्ञप्ति शायद वही हो जिसे पाकर उन्होंने सत्कर्मकी रचना की। और जिसे पाँच खण्डोंमें मिलाकर वप्पदेवगुरुने छै खण्ड निष्पन्न किये। शायद उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिकी रचना वप्पदेवने की हो। किन्तु वह व्याख्या प्रज्ञप्ति षड्खण्डागमकी टीका नहीं थीं।

एक बात और भी चिन्तनीय है। इन्द्रनन्दिने लिखा है—

'व्यलिखत प्राकृत भाषा रूपां सम्यक् पुरातन व्याख्याम्'

इसका सीधा सा अर्थ होता है—'प्राकृत भाषा रूप प्राचीन व्याख्याको सम्बद्ध रूपमें लिखा' लिखानेका अर्थ रचा भी हो सकता है किन्तु व्याख्याके साथ लगा 'पुरातन' विशेषण बतलाता है कि वप्पदेवगुरुने किसी प्राकृत भाषा रूप

---

१. 'पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते! कइ भागावसेसाउया पर भवियाउयं पकरंति? गोयमा! पंचिंदियतिरिक्ख जोणिया दुविहा पन्नत्ता तं जहा—संखेज्जवस्साउया असंखेज्ज वस्साउया। तत्थ णं जे ते असंखेज्जवस्साउया ते नियमाच्छम्मासावसे-साउया पर भवियाउयं पकरंति। तत्थ णं जे ते संखिज्जवस्साउया ते दुविहा पण्णत्ता सोवक्कमाउया य निरुवक्कमाउया य। तत्थ णं जे ते निरुवक्कमा ते नियमा ति भागावसेसाउया पर भवियाउयं पकरंति। तत्थ णं जे ते सोवक्कमाउया ते णं सिय ति भागावसेसा परभवियाउयं पकरंति सिय तिभागा तिभागे परभवियाउयं पकरंति। सिय तिभाग तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरंति। एवं मणुस्सा वि।'
—प्रज्ञा०, पद ६।

२. 'व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु शरीरभंगे वाण्योरौदारिक वैक्रियिक तैजस कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि'—पृ० १५३-१५४ 'एवं हि व्याख्या-प्रज्ञप्ति दण्डकेषूक्तम्—विजयादिषु देवा मनुष्य भवमास्कन्दन्तः कियतीर्गत्यागतिः विजयादिषु कुर्वन्ति इति गौतम प्रश्ने भगवतोक्तं जघन्येनैको भव आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्यां द्वौ भवौ।'
—त. वा., पृ. २४५।

प्राचीन व्याख्याको सम्यक्‌रूपसे लिखा था। इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है।

इंद्रनन्दिने जहाँ अन्य टीकाकारोंके लिये 'रचितानि' रचिता, 'व्याख्यामकृत्' 'विरचितवान्', जैसे रचनापरक शब्दोंका प्रयोग किया है वहाँ अकेले वप्पदेवके लिये 'व्यलिखत्' शब्दका प्रयोग किया है।

यह भी अभिप्राय निकल सकता है कि वप्पदेवने किसी पुरातन व्याख्याको प्राकृत भाषामें लिखा हो और ऐसी स्थितिमें तुम्बुलूराचार्यके द्वारा कर्नाटक भाषामें रची गयी महती चूडामणि व्याख्या की ओर ही दृष्टि जाती है। क्योंकि वही सबसे विशाल टीका थी और पुरातन भी थी।

धवला टीकामें तो वप्पदेव और उनकी किसी टीकाका संकेत तक नहीं है। किन्तु जयधवलामें वप्पदेवके द्वारा लिखित उच्चारण-वृत्तिका निर्देश मिलता है। यह उच्चारण-वृत्ति यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंपर थी। वीरसेन[1] स्वामीने भी वप्पदेवके साथ 'लिहिद' (लिखितं) शब्दका ही प्रयोग किया है, साथ ही उन्होंने अपने द्वारा लिखी हुई उच्चारणाका निर्देश किया है। किन्तु वीरसेन स्वामीने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंपर कोई उच्चारण-वृत्ति रची थी, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता ऐसी स्थितिमें 'रचित'के स्थानमें 'लिखित' शब्दका प्रयोग अवश्य ही कुछ विशेष अर्थ रखता है।

धवला टीकासे इस बातका कोई आभास नहीं मिलता कि वीरसेन स्वामीके सामने धवला टीका लिखते समय षट्खण्डागम सूत्रोंकी कोई टीका उपस्थित थी। परिकर्मका उपयोग तो उन्होंने किया है। किन्तु यह नहीं लिखा कि यह सूत्रोंका व्याख्या-ग्रन्थ है। इस परिकर्मके सिवाय अन्य किसी ऐसे ग्रन्थका या ग्रन्थसम्बन्धी संकेतका विवरण नहीं मिलता जिसे व्याख्या ग्रंथ कहा जा सकता है।

दो स्थलोंपर उन्होंने 'केसु वि सुत्तपोत्थएसु'[2] लिखकर यह सूचित किया है कि उनके सामने षट्खण्डागम सूत्रोंकी अनेक प्रतियाँ थी, जिनमें कुछ पाठ भेद थे। किन्तु व्याख्या पुस्तकोंके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया।

हाँ, अपने कथनकी पुष्टि करते हुए उन्होंने 'आचार्य परम्परासे आगत उपदेशसे ऐसा जाना' या 'सूत्रसे अविरुद्ध आचार्यवचनसे ऐसा जाना' इस प्रकार

---

१. 'चुण्णि सुत्तम्मि वप्पदेवाइरियालिहिदुच्चारणाए च अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हे लिहिदुच्चारणाए पुण—।' क. पा., भा. ३, पृ. ३९८।

२. षट्खं., पु. ८, पृ. ३५। पु. १४, पृ. १२७।

अनेक स्थलोंपर कहा है। एक[1]स्थानपर ऐसा भी लिखा है कि 'आचार्य परम्परा से आगत सूत्रसे अविरुद्ध व्याख्यानसे ऐसा जाना।'

सत्कर्मपंजिका—

धवलागत षट्खण्डागमके अंतिम खंड सत्कर्मपर एक[2] पंजिका है जिसका पूरा नाम सत्कर्म-पंजिका। यह पंजिका मूडबिद्रीके उसी सिद्धान्तवसति मन्दिरके शास्त्र भण्डारसे प्राप्त हुई है, जिससे धवला, जयधवला और महाबंधकी ताड़पत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हो सकीं। वहाँ महाबन्धकी जो ताड़पत्रीय प्रति है उसके प्रारम्भके २७ पत्र इसी सत्कर्म पंजिकाके हैं। यह पंजिका सत्कर्मके अन्तर्गत अट्ठारह, अनुयोग-द्वारोंमें से केवल आदिके चार ही अनुयोगद्वारों पर है। चौथे उदय अनुयोग द्वारके अन्तमें 'समाप्तोयमुद्ग्रन्थः' ऐसा लिखा है। फिर कन्नड़ी पद्योंमें एक छोटी सी प्रशस्ति है।

यह पंजिका किसने कब रची थी इसका कोई संकेत अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। यह भी ज्ञात करनेका कोई साधन नहीं मिला कि रचयिताने इतना ही अंश रचा था या पूरे सत्कर्मपर अपनी पंजिका-वृत्ति रची थी।

पंजिकाके आदिमें जो गाथा है उसका भी केवल उत्तरार्द्ध ही प्राप्त हो सका है—

'वोच्छामि संतकम्मे पंचि (जि) यरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥१॥'

इसमें सत्कर्मपर पंजिका रूपसे 'सुमहत्थं' विवरण लिखनेकी प्रतिज्ञाकी गयी है। यहाँ विवरणका 'समुहत्थं' विशेषण उल्लेखनीय है। सप्ततिका-की प्रथम गाथामें भी सप्ततिकाकारने सिद्धपएहिं महत्थं' लिखकर अपनी कृतिको 'महार्थ' बतलाया है। और चूर्णिकारने महार्थका अर्थ—'निपुणं, गम्भीरं दुरवगाह पयत्थ वित्थार विसयं' किया है। अर्थात् जिसमें दुःखसे अवगाहित करने योग्य पदार्थोंका विस्तार हो उसे महत्थ या महार्थ कहते है।

चन्द्रर्षिने भी अपने पञ्चसंग्रहकी प्रथम गाथाके उत्तरार्धमें उसे 'महत्थ' कहा है और उसका अर्थ किया है—'जिसमें महान् अर्थ हो उसे महार्थ कहते हैं।' उक्त गाथांशसे चन्द्रर्षिकी गाथाका उत्तरार्ध मेल खाता है—

'वोच्छामि पंचसंगहमेय महत्थं जहत्थं च ॥१॥'

अतः पंजिकाकारने जो अपने पंजिकारूप विवरणको 'महार्थ' ही नहीं सुमहार्थ

---

१. 'कुदो णव्वदे ? आइरियपरंपरा गय सुत्ताविरुद्धवक्खाणादो'—पु. १३, पृ. ३१० ।

२. इसका उपलब्ध भाग षट्खण्डागमके १५ के खण्डके साथ उसके अन्तमें मुद्रित हो गया है।

कहा है उससे प्रकट होता है कि उनका यह पंजिका रूप विवरण दुरूह-अवगाहित पदार्थोंके विस्तार को लिये हुए है। और उससे यह भी प्रकट होती है कि पंजिका काम पूरे सत्कर्म पर उसे रचनेके विचारसे ही आरम्भ किया था। वह अपने इस महान कार्यको पूर्ण करनेमें सफल हुए अथवा मध्यमें ही किसी दैवी विघ्नके कारण उनका यह कार्य अधूरा ही रह गया, यह भी निर्णयात्मक रूपसे कह सकना संभव नहीं है। किन्तु इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि यदि यह पंजिका पूर्ण उपलब्ध हो सके तो वह भी एक महत्वकी कृति मानी जाये गी।

वीरसेनस्वामीके अनुसार वृत्तिसूत्रोंके विषम पदोंको खोलनेवाले विवरणको पंजिका कहते हैं।[1] पंजिका रूप विवरणमें पूरे ग्रन्थोंका व्याख्यान नहीं होता किन्तु उसके कठिन और गम्भीर स्थल होते हैं, उनका खुलासा होता है। तदनुसार पंजिकाकारने वीरसेन स्वामी कृत सत्कर्मके वाक्योंको ले कर उनका खुलासा किया है। वह खुलासा केवल शब्दार्थरूपमें अथवा पदच्छेद रूपमें नहीं किया है किन्तु वाक्यसे सम्बद्ध विषयके सम्बन्धमें विवेचन भी किया है और उसके अवलोकनसे प्रकट होता है कि पंजिकाकार अपने विषयके अधिकारी विद्वान थे और उन्हें एतत्सम्बद्ध प्राप्त विषयका अच्छा अनुगम था।

उनकी यह पंजिका धवलाकी तरह ही प्राकृत गद्य में है। और उसीकी शैलीको लिये हुए है यथा स्थान मतान्तरोंका भी निर्देश है और मतान्तर जो मौलिक प्रतीत होते हैं।

पंजिकाको आरम्भ करते हुए लिखा है—

महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके कृति, वेदना, आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें से कृति और वेदना अधिकारका वेदना-खण्डमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोग-

---

१. 'विसिसुत विसम पय भंजियाए पंजिय ववएसादो।'—क० पा० ह० १४।

२. महाकम्म पयडिपाहुडस्स कदि-वेदणाओ (इ) चउव्वीस मणियोगद्दारेसु तत्थ कदि वेदणात्ति जाणि आणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्मि, पुणो प [पस्स-कम्म-पयडि-बंधणत्ति] चत्तारि अणिओगद्दरेसु तत्थबंधाबंधणिज्जणामाणि योगेहिंसह वग्गणाखंडम्मि, पुणो बंधविधाण णामाणियोगद्दारो महाबंधम्मि, पुणो बंधगाणियोगो खुद्दाबंधम्मि च सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहितोसेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तोवि तस्साइगंभारत्तादो अत्थ विसम पदाणमत्थे थोरत्थयेण पंजियसरूवेण भणिस्सामो। तं जहा—
तत्थ पढमाणिओगद्दारस्स णिबंधण [स्स] परूवणा सुगमा। णवरि तस्स णिक्खेओ छव्विह सरूवेण परूविदो। तत्थ तदियस्स दव्वणिक्खेवस्स सरूव परूवणट्ठं आइरियो एवमाह—'—षट्खं०, पु० १५, सं० पं० पृ० १।

द्वारोंमेंसे बन्ध तथा बंधनीय अनुयोगद्वार वर्गणाखण्डमें, बन्ध-विधान नामक अनुयोगद्वार महाबंधमें और बन्धक-अनुयोगका खुद्दाबन्धमें विस्तारसे प्ररूपण किया । इनके सिवाय शेष सब अट्ठारह अनुयोगद्वारोंका कथन सत्कर्ममें किया । फिर भी उसके अत्यन्त गम्भीर होनेसे विषम पदोंका अर्थ पंजिका रूपसे कहेंगे ।'

इस प्रकार पंजिकाकारनेका पूरे षट्खण्डागममें छहों खंडोंमें महाकर्मप्रकृतिके चौबीस अनुयोगद्वारमें से किस खण्डमें किस-किस अनुयोगद्वारका कथन किया गया यह बतलाते हुए, अपनी पंजिकाका आरम्भ किया है जो इस प्रकार है—

उनमेंसे, प्रथम अनुयोगद्वार निबन्धका कथन सुगम है । किन्तु उसका निक्षेप छ प्रकारसे कहा है उनमें से तीसरे द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपका कथन करनेके लिए आचार्यने ऐसा कहा है । उसका अर्थ कहते हैं ।

इस तरह सत्कर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्थानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है ।

इस तरह सत्कर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्थानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है । सत्कर्मके उपक्रम अनुयोगमें वीरसेन स्वामीने लिखा है कि इन चारों ही बन्धनोपक्रमोंका अर्थ जैसा संतकम्म-पाहुडमें कहा है वैसा ही कहना चाहिये । इस वाक्यमें आगत संतकम्म-पाहुडपर प्रकाश डालते हुए पंजिकामें लिखा है—संतकम्म-पाहुड[1] कौन सा है ? महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे दूसरा अधिकार वेदना है । उसके सोलह अनुयोगद्वारोंमें से चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वार द्रव्य-विधान, काल-विधान और भाव-विधान हैं । तथा महाकर्मप्रकृति-प्राभृतका पांचवां अधिकार प्रकृति नामक है । उसमें चार अनुयोग द्वार हैं उसमें आठों कर्मोंके प्रकृति-सत्व, स्थिति-सत्व, अनुभाग सत्व और प्रदेश सत्वका कथन करके उत्तर प्रकृति सत्व, उत्तर स्थिति सत्व, उत्तर अनुभाग-सत्व और उत्तर प्रदेश-सत्वको सूचित किया है । इनको संत कम्मपाहुड कहते हैं । तथा मोहनीयकी सत्ताका कथन करनेवाला कसायपाहुड भी है । इस तरह धवलामें निर्दिष्ट संतकम्म-पाहुडका भी खुलासा पंजिकाकारने किया है ।

---

१. संत कम्मपाहुडं णाम कथ (द) मं ? महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउवीसमणियोगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम । तस्स सोलस अणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम-सत्तमाणियोगद्दाराणि दव्वकाल भावविहाण णामधेयाणि । पुणो तहा महाकम्म पयडी-पाहुडस्स-पंचमो पयडी णामहियारो । तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठ कम्माणं पयडि ट्ठिदि; अणुभागप्पदेस सत्ताणि परूविय सूचिदुत्तर पयडि ट्ठिदि-अणुभागप्पदेस-सत्तत्तादो । एदाणि सत्त (संत) कम्मपाहुडं णाम । मोहनीयं पडुच्च कसाय पाहुडं पि होदि ।'—सं० पं०, पृ० १८ ।

'एत्थ चोदओ भणदि' 'ण एस दोसो' जैसे वाक्यों के द्वारा पंजिकाकारने आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र शंका-समाधान भी किया है। और 'केइ एवं भणंति' तत्थ एक्कुवदेसेण' 'अण्णेक्कुवदेसेण' जैसे पदों और वाक्योंके द्वारा विवक्षित चर्चाओंके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंके मत दिये हैं। तथा उन मतोंमें कौन ठीक है? इसका उत्तर भी धवलाकारकी तरह ही दिया है—'उपदेश[1] प्राप्त करके दोनोंमें से एकका निर्णय कर लेना चाहिए। एक जगह लिखा[2] है—'इन दोनों उपदेशोंमें कैसे वैशिष्ट्य नहीं है? नहीं जानता, उसे श्रुतकेवली जानते हैं। किन्तु मुझे बुद्धिसे ऐसा प्रतिभासित होता है ...'।

एक जगह लिखा[3] है—'ये परस्परमें विरोधी दो प्रकारका स्वामित्व क्यों कहा? अभिप्रायान्तर बतलानेके लिए कहा है और फिर उस अभिप्रायान्तरको स्पष्ट भी किया है।

एक जगह लिखा[4] है कि—'भोगभूमिमें कदलीघात होता है एक मतसे ऐसा है। और भोगभूमिमें आयुका घात नहीं होता ऐसा कहनेवाले आचार्योंके मतसे पूर्वप्रकार है।' यहाँ भोगभूमिमें कदली-घात मरणवाला हमारे देखनेमें अन्यत्र नहीं आया सत्कर्मके उदयानियोगद्वारमें प्रदेशोदयके स्वामित्वका कथन करते हुए धवलाकारने लिखा है—'उत्कृष्ट[5] स्वामित्वमें पाँचों संहननोंका उत्कृष्ट प्रदेशोदय किसके होता है? संयमासंयम-गुणश्रेणि, संयम-गुणश्रेणि और अनन्तानुबन्धी विसंयोजन गुणश्रेणि, इन तीनोंको एकत्र करके स्थित संयतके जब पूर्वोक्त तीनों गुणश्रेणि शीर्ष उदयको प्राप्त होते हैं तब पाँचों संहननोंका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।'

---

१. 'तदो उवदेसं लद्धूण दोण्हमेक्कदर णिण्णवो कायव्वो,'—सं॰ पं, पृ० ४। २. एदेसिं दोण्ह मुवदेसेसु कथं मविसिट्ठमिदि चेण्णेवं जाणिज्जदे, तं सुदकेवली जाणिज्जदि। किंतु पढमंतर परूवणाए विदियंतर परूवणं अत्थविवरणमिदि मम मइणा पडिभासदि।'—पृ० २४।

३. 'किमट्ठं दुप्पयार सामित्तमण्णोण विरोधं परूविदं? अभिप्पायंतरपयासणट्ठं परूविदत्तादो'—पृ० ८०।

४. 'भोगभूमीए कदली घातमत्थि त्ति अभिप्पायेण। तं चेदं। पुणो भोग भूमीए आउगस्स घादं णत्थि त्ति भणंताइरियाणं अभिप्पाएण पुव्वं।'—पृ० ७८।

५. 'पंचण्हं संहडणाणं उक्कस्स पदेसोदयो कस्स? संजमासंजम-संजम-अणंताणुबंधि विसंयोजण गुणसेढीओ तिण्णि वि एगट्ठं कादूण ट्ठिदसंजदस्स जाहे पुव्वुत्त गुणसेढि सीसयाणि तिण्णि वि उदयमागदाणि ताहे पंचण्हं संहडणाणं उक्कस्सो पदेसोदओ।'—पृ० १०१।

इसकी पंजिकामें लिखा[1] है—'इससे पाँचों संहननों के उदयवाले जीवोंके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा कथित होता है। तथा वज्रनाराच और नाराच संहननके उदयवाले जीवोंको भी उपशमश्रेणि चढ़ना संभव नहीं है यह भी इससे ज्ञापित कर दिया। यदि ऐसा है तो पूर्वापर विरोध क्यों नहीं आता ? नहीं आता, यह आचार्यों के अभिप्रायोंका सूचक होनेसे ग्रन्थान्तर (मतान्तर) है। वह अभिप्राय: कहते हैं—इनका उदय पुद्गल-विपाकी है। वे पुद्गल जीवोंके रागद्वेषोंके उत्पादनमें निमित्तभूत शक्तिको उत्पन्न करते हैं। जैसे बाह्य पुद्गलोंके........वैसे उपशम श्रेणीमें रागद्वेषको उत्पन्न करानेमें समर्थ नहीं है। अत: उनके फलके अभावकी अपेक्षासे उपशमश्रेणिमें उनका उदय नहीं हैं, यह सूचित किया। अन्य ग्रन्थोंमें प्रदेश-निर्जरा मात्रकी विवक्षा करके उदय कहा है। अथवा वज्रनाराच और नाराच संहननवालोंके उपशमश्रेणि चढ़नेकी शक्ति नही है, ऐसा अभिप्राय कहना चाहिये।'

आगे एक जगह पुन: इसी बातको दूसरे प्रसंगसे इस प्रकार लिखा है—'अन्तिम पाँच संहनन असंख्यात गुने हैं। दो प्रकारके संयम गुणश्रेणि शीर्ष और उनसे गुणित अनन्तानुबन्धी विसंयोजन गुणश्रेणिशीर्ष, इन तीनोंको एकत्र करके नामकर्म सम्बन्धी अट्ठाईस अथवा तीस प्रकृतिक स्थानसे भाग देनेपर होता है। दर्शनमोहक्षपक-गुणश्रेणिका ग्रहण क्यों नही किया ? इन संहननोंके उदयसहित जीवोंके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नहीं है। इस अभिप्रायसे उसका ग्रहण नही किया। दूसरे और तीसरे संहननवालोंकी उपशान्त-कषाय गुण श्रेणिका ग्रहण क्यों नही किया ? जिनके दर्शन मोहको क्षपण करनेकी शक्तिका अभाव है उनके उपशम श्रेणिपर चढ़नेकी शक्तिके होनेका विरोध है इस अभिप्रायसे नहीं किया। यदि ऐसा है तो अनन्तर ही बीती उदीरणास्थान प्ररूपणामें विरोध····क्यों नहीं आता ? विरोध तो आता है किन्तु ग्रन्थान्तरका अभिप्राय

---

१. 'एदेण पञ्चण्हं संहडणाणमुदइल्लाणं पि उवसमसेढिचडण संभवं णत्थि त्ति जाणाविदं। जदि एवं [तो] पुव्वावरविरोही (हो) किं ण भवे ? ण वा भवे, गंथांतर माइरियाणमभिप्पायाणं सूचयत्तादो । तं कथं ? अभिप्पायं उच्चदे—एदेसि मुदयो पोग्गल विवागं करेदि। ते पोग्गला जीवाणं रागदोसाणमुप्पयाणणिमित्त सत्तिमुप्पादयंति। जहा बाहिर पोग्गलाणं सत्ते वियप्पो (?) तहा उवसमसेढ़ ए राग-दोसमुप्पाएदु ण सक्कि-ज्जदि त्ति। तदो तप्फलाभ (भा) वावेक्खाए उदओ उवसम सेदिए णत्थि त्ति सूचिदं। इदरगंथेसु पदेसणिज्जरामेत्त विवक्खिय भणिदं। अहवा उवसमसेढि चडणसत्ती एदेसिं णत्थि त्ति एदमभिप्पायमिद म (भा) विदव्वं ॥'

—सं० पं०, पृ० ७६।

होनेसे दोनोंका ग्रहण करना चाहिये, ऐसा परिहार पहले ही कर दिया है।"[1]

गोम्मटसार[2] कर्मकाण्डके उदय प्रकरणमें नेमिचन्द्राचार्यने भूतबलि तथा यतिवृषभ दोनों आचार्योंके मतसे जो प्रत्येक गुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ बतलायी हैं दोनों ही मतोंके अनुसार उनमें वज्रनाराच संहनन और नाराच संहननका उदय ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान तक बतलाया है। अतः षट्खण्डागम और कसायपाहुड दोनोंके मतोंसे उक्त दोनों संहनन वाले जीव उपशम-श्रेणी चढ़ सकते हैं और जब उपशम-श्रेणी चढ़ सकते हैं तो दर्शनमोहनीयका क्षपण भी कर सकते हैं। अतः पंजिकाकारके द्वारा निर्दिष्ट उक्त मत इन दोनों ग्रन्थोंका तो नहीं जान पड़ता। यह ग्रन्थान्तर कोई दूसरा ही होना चाहिये। श्वेताम्बर[3] सम्प्रदायमें यद्यपि उक्त दोनों मत मिलते हैं। किन्तु बहुमान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे संहननवाले उपशमश्रेणि नहीं चढ़ सकते, दिगम्बर परम्पराको जो मत मान्य है उसका उल्लेख वहाँ मतान्तरके रूपमें किया गया है। किन्तु चन्द्रर्षिने पञ्चसंग्रहकी[4] स्वोपज्ञ टीकामें केवल इसी मतको मान्य किया है कि दूसरे तीसरे संहननवाला उपशमश्रेणि चढ़ सकता है। उसीके दूसरे टीकाकार मलयगिरि ने ग्रन्थकार चन्द्रर्षिको मान्य मतका निर्देश 'अन्ये' कर के किया है और नहीं चढ़नेवालों' के मत को मान्य स्थान दिया है। इसीसे यह प्रकट होता है कि सम्प्रदाय-मान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे संहननवाले उप-

---

१. "पुणोवि अंतिम पंचसंहडणाणि असंखेज्ज गुणाणि। कुदो? दुविह संजमगुणसेढिसीसस-एणब्भहियमणंताणुबंधि विसंयोजयण गुणसेढिसीसयाणित्ति तिण्णिवि एगट्ठं काऊण णाम-कम्मसंबंधीणं अट्ठावीसेण वा तीसेण वा मजिदमेतं होदि त्ति। किमट्ठं दंसणमोहक्खवण गुणसेढीण घेप्पदे? ण, तं खवण(तक्खवण) सत्ती पदेसि संहडणाणं उदयसहिदजीवाणं णत्थि त्ति अभिप्पयादो। विदिय-तदियमिदि दोण्हं संहडणाणं उवसंतकसायगुणसेढि किं ण गहिदा? ण, दंसणमोहक्खवणा सत्तिविरहिदाणं उवसमसेढि चडणसत्तीणं संभव विरोहो होदि त्ति अभिप्पाएण। जदि एवं (तो) अणंतपदिक्कंत उदीरणट्ठाणपरूवणाए ण मिमूणेण (?) च विरोहो किं ण भवे? होदि विरोहो, गंथंतराभिप्पाएण दोण्हं पि गहणं कायव्वं इदि पुव्वं चेव परिहारं दिण्णत्तादो।"—सं० पं०, पृ० ७९।

२. 'संते वज्जं णारायणारायं' ॥२६९॥'—गो० क०

३.—'अण्णे भणंति·········ति संघयणो उवसमसेढिं पडिवज्ज इत्ति'—सि० चू०, पृ० ४९। 'अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणी प्रतिपद्यन्ते।' सप्त० टी० पृ० २११।

४. 'अपूर्वकरण बादर सूक्ष्मोप शान्तेषु प्रत्येकं त्रिशदुदयो भवति, द्वासप्तति भङ्गाः; प्रशस्तेषु संहननत्रस्यैवोदयः। पं०सं० स्वो० टी० पृ० ११८। अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसंहननत्रयान्यतम संहनन युक्ता अपि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः।'—पं० सं० टी०, भा० २, पृ० ३२५।

शम श्रेणि नहीं चढ़ सकते । पंजिकारको भी यही मत मान्य प्रतीत होता है।[1]

रचनाकाल—

जैसा कि प्रारम्भमें लिखा है, पंजिकाके इस अन्तः-निरीक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके रचयिताको षट्खण्डागम सिद्धान्तका तो अच्छा ज्ञान था ही, साथ ही सत्कर्ममें वीरसेनस्वामी के द्वारा संगृहीत किये गये शेष अनुयोगोंका तथा कसायपाहुड़का भी अच्छा ज्ञान था और उनकी लेखन शैली भी वीरसेन स्वामीसे निम्न स्तरकी नहीं थी। फिर भी उसे हम वीरसेनस्वामीकी समकक्षता तो नहीं ही दे सकते। हाँ, जयधवलाको पूर्ण करनेवाले जिनसेन की समकक्षता अवश्य दे सकते हैं। इससे ऐसा लगता है कि यह पंजिका वीरसेनके ही किसी शिष्य या प्रशिष्यके द्वारा रचित हो सकती है।

पंजिकामें उद्धरण भी दो तीनसे अधिक नहीं हैं। उनमें तीन गाथाएँ तो कसायपाहुड़की हैं उनके साथमें 'कसायपाहुडगाथासुत्त' लिखा हुआ है। एक गाथा ऐसी है जो दिगंबर प्राकृत पंचसंग्रह की है। अतः इन उद्धरणोंसे भी हमरे उक्त अनुमानको कोई बाधा नहीं आती है।

प्रक्रम अनुयोगके अंत में अल्प-बहुत्वका प्रतिपादन कर के वीरसेन स्वामीने 'एसो-णिक्खेवाइरिय उवएसो' लिखकर उसे निक्षेपाचार्य उपदेश बतलाया है उसकी पंजिकामें पंजीकारने लिखा है—[2]'स्थिति-अनुभागोंमें प्रक्रमित कर्मद्रव्यका अल्प-बहुत्व तो ग्रन्थ सिद्ध होनेसे सुगम है इसलिए उसका कथन न कर के स्थितिनिषेक प्रति प्रक्रमित अनुभागका अल्पबहुत्व निक्षेपाचार्यने ऐसा कहा है।' और लिख-कर निक्षेपाचार्यका कथन बतलाया है फिर उसकी उपपत्ति भी पंजिकाकारने दी है उनका यह सब प्रतिपादन दो पृष्ठसे भी अधिक है। अन्तमें लिखा है—[3]इसप्रकार स्थितिके अनुसार अनुभाग अनंतगुण हीन रूपसे बंधको प्राप्त होते हैं यह निक्षेपाचार्यके वचन सिद्ध हुए' पश्चात् 'सेसाइरियाणमभिप्पायेण' लिखकर शेष आचार्योंका अभिप्राय बतलाया है।' इससे प्रकट होता है कि वीरसेनस्वामीने जिस निक्षेपाचार्यके उपदेशका उल्लेख किया है, पंजिकाकार उसके उपदेशसे भी अच्छी तरह सांगोपांग परिचित थे। जगह-जगह पंजिकामें अपने कथनके समर्थनमें

---

१. पु. १५, पृ. ४०।

२. 'पुओ ट्ठिदि-अणुभागेसु पक्कमिदकम्मदव्वस्स अप्पाबहुगं गंथसिद्ध' सुगममिदि तमरू-विय पुणो ठिदिणिसेयप्पडि पक्कमिगाणुभागस्सघाबहुगं णिक्खेवाइरियेण एवं परूविदं'-सं. पं., पृ. १४।

३. 'एवं ठिदिअणुसारेण अणुभागा अणंत गुणहीणसरूवेण बज्झंति त्ति णिक्खेवाइरियवयणं सिद्ध'—सं. पं, पृ. १७।

'आर्ष' और 'आर्षवचन'का निर्देश किया गया। वाणीसे भी हमारे उक्त अनुमान-का ही समर्थन होता है। वह व्यक्ति कौन हो सकता है, यद्यपि यह कहना शक्य नहीं है। किन्तु धवलाकी प्रशस्तिके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार है—

> वोद्दणराय णरिंदे णरिंद चूडामणिम्हि भुंजते।
> सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९॥

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि धवला प्रशस्तिकी इससे पूर्वकी गाथाओंमें 'कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिया धवला' लिखकर धवलाकी समाप्तिका काल और जगत्तुंगदेवके राज्यमें धवलाकी समाप्तिका कथन किया जा चुका है। इसीसे उसके पश्चात् ही दूसरे राजाके राज्यका उल्लेख बड़ा अटपटा लगता है और उसकी संगति बैठानेके लिए यह कल्पना की जाती है। कि जगत्तुंग' के राज्यमें धवलाका प्रारम्भ हुआ और नरेन्द्रचूड़ामणि वोद्दणराय (अमोघवर्ष प्र०)के राज्यमें उसकी समाप्ति हुई। किन्तु यह सब उक्त अन्तिम गाथाके आये हुए अंतमें 'विगत्ता' शब्दपर ध्यान न देनेका फल है। 'विगत्ता' शब्द अशुद्ध प्रतीत होता है। 'वि' उपसर्ग पूर्वक कृत् धातुसे कृदंतमें 'विगत्ता' बनता है। उसका अर्थ होता काटा हुआ या छिन्न उससे यहां कोई प्रयोजन नहीं है। अतः 'विगत्ता'के स्थानमें 'विअत्ता' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। उसका अर्थ होता है—व्यक्ता अर्थात् स्पष्ट की गयी। अतः नरेन्द्रचूड़ामणि वोद्दणराय नरेन्द्रके राज्यकालमें धवला या उसके किसी अंशको जिसने व्यक्त किया उसीके द्वारा यह पद्य रचा जान पड़ता है। और पीछेसे वह मूल प्रशस्तिके अन्तमें जोड़ दिया गया है। इस तरहकी यह घटना नई नहीं है। ऐसे और भी उदाहरण मिलते हैं।

वीरसेनके शिष्य गुणभद्रके उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिमें गुणभद्र शिष्य लोकसेनकी प्रशस्ति जुड़ गयी है। जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयका निर्देश हरिवंश-पुराण[3]में है जो शक सं० ७०५ रचा गयाथा और पार्श्वाभ्युदय[4]के अन्तमें अमोघ-वर्षका उल्लेख है जो शक सं० ७३५ के पश्चात् गद्दीपर बैठे। अतः स्पष्ट है, कि अमोघवर्षके उल्लेखवाले पद्य उसमें पीछेसे जोड़े गये। इसी तरह धवलाकी

---

१. जै० सा० इ०, पृ० १४७।

२. जै० सा० इ०, पृ० १४२।

३. 'या मिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्र गुणसंस्तुतिः। स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥' ह० पु० १० प्र०।

४. 'इति विरचित मेतत् काव्यमावेष्ट्य मेघं बहुगुण मपदोषं कालिदासस्य काव्यम्। मलिनित परकाव्यं तिष्ठता दाशशाङ्कं भुवनमवतु देवः सर्वदाऽमोघवर्षः ॥'—पार्श्वा०

प्रशस्तिकी उक्त गाथा भी पीछेसे उसमें जोड़ी गयी जान पड़ती है। यदि बोद्दणराय यथार्थमें अमोघवर्ष प्रथम है तो कहना होगा कि पंजिकाकी रचना वीरसेनके सामने अथवा उनके स्वर्गवासके पश्चात् तत्काल ही हो गयी थी। जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें[१] वीरसेनके शिष्य जिनसेनने श्रीपाल, पद्मसेन, और देवसेन नाम के तीन विद्वानोंका उल्लेख किया है। उनमेंसे श्रीपालको तो उन्होंने अपनी टीका जयधवलाका सम्पालक कहा है ये तीनों उनके गुरुभाई जान पड़ते हैं सम्भवतया उन्हींमें से किसीने पंजिकाका निर्माण किया हो।

●

चतुर्थ अध्याय

अन्य कर्मसाहित्य

छक्खंडागम, कसायपाहुड आदि मूल आगमग्रन्थोंके अतिरिक्त कर्मविषयक अन्य प्राचीन साहित्य भी उपलब्ध हैं। यह साहित्य मूल आगमानुसारी है और इसका रचनाकाल विक्रमकी पाँचवी शताब्दीसे लेकर विक्रमकी नवम शताब्दीतक है। यद्यपि कर्म-विषयक मूल और टीका ग्रन्थों का निर्माण विक्रमकी १५ वीं—१६वीं शताब्दीतक होता रहा है। पर इस अध्यायमें प्राचीन कर्म-साहित्य का ही इति-वृत्त प्रस्तुत है। यहाँ पर कर्म-प्रकृति, बृहत्कर्म-प्रकृति, शतकचूर्णि, सित्तरी, कर्मस्तव और प्राकृत-पंचसंग्रह आदि ग्रन्थोंपर विचार किया जारहा है।

कर्म-प्रकृति ग्रन्थको सर्वाधिक प्राचीन कहा जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस ग्रन्थपर कई चूर्णि और टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कर्म-प्रकृति प्राचीन ग्रन्थ है और इसका उपयोग दोनो ही परम्पराओंमें होता रहा है।

कर्मप्रकृति—

इस ग्रन्थमे ४७५ गाथाएँ हैं। प्राकृत चूर्णिके साथ मलयगिरिकी संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। ग्रन्थपर एक अन्य टीका उपाध्याय यशोविजयजी ने भी लिखी है।

नाम—ग्रन्थाकारने ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें[1] कहा है कि मैंने कर्म-प्रकृतिसे इसका उद्धार किया है। किन्तु स्वयं उन्होंने अपनी इस कृतिको कोई नाम नहीं दिया' उसीपरसे इसग्रंथका नाम कर्मप्रकृति प्रचलित हुआ जान पड़ता है। किंतु चूर्णि-कारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें[2] लिखा है कि विच्छिन्न-कर्मप्रकृति महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान करानेके लिए आचार्यने सार्थक नामवाला 'कर्मप्रकृति-संग्रहणी' नामक प्रकरण रचा है। उससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का नाम कर्मप्रकृति-संग्रहणी था। शतकचूर्णिमें[3] तथा सित्तरीचूर्णि[4] इसी नामसे इसका निर्देश मिलता है।

१.—'इय कम्मप्पअडीओ जहा सुयं नीय मप्प मइण्णा वि। सोहियणा भोग कयं कहंतु वर दिट्ठी वायन्नु ॥५६॥—कर्म प्र०, सत्ता०।

२—'विच्छिन्न कम्मपयडिमहागंत्थत्थ संबोहणत्थं आरद्धं आयरिएणं तग्गुणणामगं कम्म-पयडी संगहणी णाम पगरणं। क० प्र० चू०।

३—'जहा कम्मपयडिसंगणिए भणियं तहा भणामि,'—पृ. ४, एयाणि जहा कम्मपयडिसंगहणीय,'—पृ. २६। 'एतासि अत्थो जहा कम्मपयडि संगहणीए'—पृ० ४३।—श० चू०।

४.—'उव्वट्टणोविही जहा कम्मपयडी संगहणीए'—पृ० ६१। 'विसेसपच्चओ जहा कम्म-

देवेन्द्रसूरिने अपने नवीन कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञ टीकामें यद्यपि कर्मप्रकृतिके नामसे ही उसका उल्लेख किया है। तथापि एक स्थल[1] पर कर्मप्रकृति-संग्रहणी नामसे ही उसका निर्देश किया है। अतः ग्रन्थका प्राचीन नाम कर्मप्रकृति-संग्रहणी है। उसीका संक्षिप्त रूप कर्मप्रकृति है।

बृहत्कर्म-प्रकृति—

नव्य कर्म-ग्रन्थाकार श्रीदेवेन्द्रसूरिने स्वोपज्ञ टीकामें एक स्थल पर बृहत्कर्मका निर्देश किया है। कर्म विपाक नामक प्रथम ग्रन्थकी सातवीं गाथामें उन्होंने श्रुत-ज्ञानके यद्यपि पर्याय पर्याय-समास, आदि बीस भेदोंको गिनाया है। शतकचूर्णिमें भी बिल्कुल ऐसी ही एक गाथा उद्धृत है जिसमें श्रुतज्ञानके ये बीस भेद गिनाये गये। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें श्रुतज्ञानके ये बीस भेद केवल कार्मिकोंमें ही मिलते हैं, सैद्धान्तिक पक्ष इनसे भिन्न श्रुतज्ञानके चौदह भेद मानता है और वे ही भेद श्वेताम्बर साहित्यमें बहुतायतसे मिलते हैं। अस्तु, उक्त गाथा ७ की स्वोपज्ञ[2] टीकामें श्रुतज्ञानके बीस भेदोंको संक्षेपसे बतला कर लिखा है कि विस्तारसे जाननेके इच्छुक को 'बृहत्कर्मप्रकृति' अन्वेषण करना चाहिये।

वर्तमान कर्मप्रकृतिमें श्रुतज्ञानके बीस भेदोंकी गन्ध भी नहीं है तथा इस कर्मप्रकृतिका तो देवेन्द्रसूरिने कर्मप्रकृति नामसे ही उल्लेख किया है। अतः यह 'बृहत्कर्मप्रकृति' इस कर्मप्रकृतिसे भिन्न होनी चाहिये। उसकी भिन्नता और महत्ताकी सूचना करनेके लिए ही देवेन्द्रसूरिने उसके नामके साथ 'बृहत्' शब्द जोड़ा जान पड़ता है।

किन्तु विक्रमकी १३-१४वीं शतीके ग्रन्थकारके द्वारा बृहत्कर्म-प्रकृतिका उल्लेख देखकर उसका आधार खोजते हुए हमें 'शतक' ग्रन्थकी मलधारी हेमचंद्र विरचित टीकामें इस तरहका उल्लेख मिला। उन्होंने श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका सामान्य कथन करके विस्तारार्थीको 'बृहत्कर्म चूर्णिका अन्वेषण[3] करनेकी प्रेरणा की है।

पयडीसंगहणीए—पृ० ६१। 'अन्तर करणविट्टी जहा कम्मपयडीसंग्रहणीए'—पृ० ६४।—सित० चू०।

१.—यदुक्तं कर्मप्रकृति संग्रहण्याम्—आहारतित्थगहा भज्जंति।—शतक टीका० पृ० ११

२.—'विस्तारार्थिना बृहत्कर्म प्रकृतिरन्वेषणीया'—स० च० क०, पृ० १९।

३.—'एवमेते संक्षेपतः श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिताः विस्तारार्थिना तु बृहत्कर्म-प्रकृति चूर्णिरन्वेषणीया।—शतक टी० गा० ३८।

मिलान करनेसे यह तो हमें स्पष्ट हो गया कि देवेन्द्रसूरिका उक्त कथन मलधारी जीकी टीकाका ऋणी है। किन्तु चूँकि वर्तमान कर्मप्रकृतिकी तरह उसकी चूर्णिमें भी श्रुतज्ञानके बीस भेदोंकी चर्चा नहीं है अतः या तो उन्होंने उसमें संशोधन करके 'बृहत्कर्म-प्रकृति' कर दिया या 'चूर्णि' शब्द लेखक वगैरहके प्रमादसे छूट गया। अतः हम नहीं कह सकते कि श्री हेमचन्द्रके उक्त उल्लेखका क्या आधार है और उसमें कहाँ तक तथ्य है।

यदि बृहत्कर्म-प्रकृतिसे मतलब अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत कर्मप्रकृति प्राभृतसे है तो उसमें उक्त बीस भेदोंका वर्णन अवश्य था, यह बात षट्खण्डागमसे[1] स्पष्ट है क्योंकि उसके वेदनाखण्डमें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी बीस प्रकृतियोंको बतलाते हुए श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका कथन किया है।

कर्मप्रकृति

विषय परिचय—

कर्मप्रकृति[2] की पहली पहली गाथामें सिद्धोंको नमस्कार करते हुए ग्रन्थकारने आठों कर्मोंके आठ करणों तथा उदय और सत्त्वके कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। अतः इस ग्रन्थमें क्रमसे बन्धनकरण, संक्रमकरण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणाकरण, उपशमनाकरण, निधत्ति, निकाचना, उदय और सत्त्व इन दस करणोंका कथन है।

कर्मोंके आत्माके साथ बंधनेकी क्रियाका नाम बंधन-करण है। बन्धके दो कारण हैं योग और कषाय। अतः प्रथम योगका कथन किया है। वीर्यान्तराय कर्मके क्षय अथवा क्षयोपशमसे वीर्यलब्धि होती है उस वीर्यलब्धिसे वीर्य होता। उसे ही योग कहते हैं। उसके द्वारा जीव औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीर रूप परिणमाता है। तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है। योगका कथन दस अधिकारोंके द्वारा किया गया है—अविभागप्रतिच्छेद-प्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, वृद्धिप्ररूपणा, समयप्ररूपणा और अल्पबहुत्व-प्ररूपणा षट्खण्डागमके वेदना खण्डमें बारह अनुयोगद्वारोंसे अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थानका कथन करते हुए उक्त कथन कर आये हैं उक्त दसों अधिकार उसीमें गर्भित हैं अतः उनका यहाँ पुनः कथन करने से पिष्टपेषण ही होगा। कसायपाहुडके अनुभागविभक्ति और

१.—षट्खं०, पु० १३, पृ० २६०।

२. कर्मप्रकृति, चूर्णि तथा दोनों टीकाओंके साथ है। सन् १९१७ में जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से तथा सन् १९३७ में मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोइ (गुजरात)से प्रकाशित।

विशेषतया प्रदेशविभक्ति नामक अधिकारोंके चूर्णिसूत्रोंमें भी उक्त विषयोंकी चर्चा है।

गाथा १८-२० के द्वारा जीवके द्वारा ग्रहण योग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं-का निरूपण किया है षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत बन्धन अनुयोगद्वारमें इन वर्गणाओं का कथन आया है।

बन्ध योग्य वर्गणाओंका कथन करनेके बाद बद्ध समयप्रबद्धका विभाग आठों मूलकर्मोंकी उत्तर-प्रकृतियोंमें किस प्रकारसे होता है इसका विवेचन किया है। चूर्णिकारने अपनी चूर्णिमें प्रत्येक उत्तर-प्रकृतिके विभागका कथन विस्तारसे किया है।

प्रदेशबन्ध के बाद अनुभागबन्धका कथन है। चूर्णिकारने चूर्णिमें वे सब अपने[1] अनुयोगद्वार कुछ व्यतिक्रमसे गिनाये हैं जो षट्खण्डागमके वेदनाखण्ड[2] के अन्तर्गत वेदना-भाव-विधानका कथन करते हुए बतलाये हैं। कर्मप्रकृति में चूर्णि निर्दिष्ट क्रमानुसार कथन किया है। तत्पश्चात् षट्खण्डागम के वेदनाभाव-विधानके अन्तर्गत जीव समुदाहारके अनुसार ही आठ अनुयोगोंके द्वारा जीव समुदाहारका कथन है।

गाथा ६७ का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने प्रत्येक प्रकृतिकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिमें उत्कृष्ट और जघन्य अनुभागके अल्पबहुत्वका विचार विस्तारसे किया है। अन्तमें लिखा है—'आदि[3] अनादि प्ररूपणा, स्वामित्व, घातिसंज्ञा, स्थानसंज्ञा, शुभाशुभ-प्ररूपणा, बन्धप्ररूपणा, विपाकप्ररूपणाका कथन जैसा शतकमें कहा है वैसा कह लेना चाहिए।' तत्पश्चात् स्थितिबन्धका कथन किया है। जो जीव स्थान चूलिकाके ही अनुरूप है।

---

१. 'अनुभाग बन्धज्झवसाणस्स परूवणा कीरति। तस्स इमे अणुतोगद्दारा। तं जहा-अविभागपलिच्छेद परूवणा, वग्गणपरूवणा, (फड्डगपरूवणा), अंतरपरूवणा, ठाणपरूवणा, कंडगपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेट्ठाट्ठाण-परूवणा, समयपरूवणा, जवमज्झपरूवणा उयजुम्णपरूवणा, पज्जवसाणपरूवणा, अप्पाबहुगपरूवणत्ति।'

क० प्र० चू०, पृ० ८५।

२. एत्तो अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणदाए परूवणदाए तत्थ इमाणि बारस अणियोगद्दाराणि ॥१९७॥ अविभागपडिच्छेद परूवणा, ट्ठाणपरूवणा, अंतरपरूवणा कंदयपरूवणा, ओजजुम्मपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेट्ठाट्ठाणपरूवणा, समयपरूवणा, वड्ढिपरूवणा जवमज्भपरूवणा पज्जवसाणपरूवणा अप्पाबहुए त्ति ॥१९८॥—षट्खं, पु० १२ पृ० ८८॥

३. इदाणिं सादि अणादि परूवणा, सामित्तं घातिसन्ना ट्ठाणसन्ना सुभासुभपरूवणा बंधतो विवागो य जहा सयगे तहा भाणियव्वा —क० प्र० चू पृ० २४६।

बन्धनकरणमें १०२ गाथाएँ हैं।

एक कर्मप्रकृतिके दलिकोंका सजातीय अन्य प्रकृतिरूप संक्रान्त होनेकी क्रियाको संक्रमण कहते हैं। किन्तु जैसे मूल प्रकृतियोंमें परस्परमें संक्रमण नहीं होता वैसे ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयमें परस्परमें संक्रमण नहीं होता और न आयु कर्मकी चार उत्तर प्रकृतियोंमें परस्पर संक्रमण होता है। इस संक्रमणके भी बन्धके चार भेदोंकी तरह चार भेद हैं—प्रकृतिसंक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम और प्रदेशसंक्रम। प्रकृतिसंक्रमके भी दो मूल भेद हैं एकैक प्रकृतिसंक्रम और प्रकृति-स्थान संक्रम। जब एक प्रकृति एक प्रकृतिमें संक्रान्त होती है तो उसे एकैक प्रकृति संक्रम कहते हैं। और जब बहुत-सी प्रकृतियों में परस्परमें संक्रमण होता है तो उसे प्रकृतिस्थान संक्रम कहते हैं। कसायपाहुड़में केवल मोहनीय कर्मका ही कथन है, जब कि कर्मप्रकृतिमें आठों कर्मोंके सम्बन्धमें कथन है। अतः कसायपाहुड़के बन्धक महाधिकारके अन्तर्गत संक्रम नामक अधिकारकी २७ से ३९ नम्बर तककी तेरह गाथाएँ अनुक्रमसे कर्मप्रकृतिके संक्रम करण नामक अधिकारमें पायी जाती हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये गाथाएँ मोहनीय कर्मके प्रकृति स्थानसंक्रम से सम्बद्ध हैं। यहाँ हम तुलना के लिए दोनों ग्रन्थोंसे उक्त गाथाओंको उद्धृत कर देना उचित समझते हैं इससे दोनोंमें जो पाठ भेद है वह भी स्पष्ट हो जायेगा।

अट्ठावीस चउवीस सत्तरस सोलसेव पण्णरसा।
एदे खलु मोत्तूणं सेसाणं संकमो होइ।।२७।। क० पा०
अट्ठ चउरहियवीसं सत्तरसं सोलसं च पन्नरसं।
वज्जिय संकमट्ठाणाई होंति तेवीसइं मोहे।।१०।। क० प्र०

दोनों गाथाओंमें कहा है कि अट्ठाईस, चौबीस, सतरह, सोलह और पन्द्रह प्रकृतिक स्थानोंको छोड़कर मोहनीय कर्मके शेष स्थानोंमें जिनकी संख्या २३ है, संक्रमण होता है। दोनों गाथाओंकी चूर्णियोंमें कोई ऐसी उल्लेखनीय समानता नहीं है जिसपरसे कोई कल्पना की जा सके।

सोलसग बारसट्ठग वीसं वीसं तिगादि गधिगा य।
एदे खलु मोत्तूणं सेसाणि पडिग्गहा होंति।।२८।। क. पा०
सोलस बारसगट्ठग वीसग तेवीस गाइगे छच्च।
वज्जिय मोहस्स पडिग्गहा उ अट्ठारस हवंति।।११।। क० प्र०।

दोनों गाथाओंके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है। रेखांकित पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है कर्मप्रकृतिका पाठ ठीक है। दोनोंमें कहा है कि सोलह, बारह, आठ, बीस और तेईस आदि छै स्थानोंको छोड़ कर शेष मोहनीयके पतद्ग्रह होते हैं। जिन

प्रकृति स्थानोंमें कोई प्रकृति स्थान संक्रान्त होता है उन्हें पतद्ग्रह कहते हैं। कसायपाहुड गाथा नं. २९-३०-३१ में कर्म-प्रकृति गा० नं० १२-१३-१४ में कोई अन्तर नहीं है, क्वचित् शब्दोंका अन्तर है।

> चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे च णियम बावीसा ।
> णियमा मणुस गईए विरदे मिस्से अविरदे य ॥ ३२॥ क० पा०
> चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे य होइ बावीसा ।
> णियमा मणुय गईए णियमा दिट्ठीकए दुविहे ॥१५॥ क० प्र०

दोनों गाथाओंके चतुर्थ चरणमें अन्तर होनेपर भी दोनोंके अभिप्रायमें अन्तर नहीं है। ऊपर की गाथामें बतलाया है कि चौदह, दस, सात और अट्ठारहमें बाईस प्रकृतियों का संक्रमण होता है। वह संक्रमण नियमसे मनुष्य गतिमें, और संयतासंयत और असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें होता है। कर्म प्रकृतिकी गाथामें गुणस्थानोंका निर्देश न करके यह निर्देश किया है कि यह बाईस प्रकृतिक स्थान नियमसे दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व रूप प्रकृतियोंका ही अस्तित्व होने पर होता है। किंतु कषायपाहुड़ निर्दिष्ट गुणस्थानोंका कथन सभीको मान्य है। उसमें कोई मतभेद नहीं है।

> तेरसय णवय सत्तय सत्तारस पणय एगवीसाए ।
> एगाधिगाए वीसाए संकमो छप्पि सम्मते ॥१३॥ क० पा०
> तेरसग णवग सत्तग सत्तरसग पणग एक्कवीसासु ।
> एक्कावीसा संकमइ सुद्ध सासाण मीसेसु ॥ १६ ॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंके चतुर्थ चरणमें अन्तर है तथा अभिप्रायमें भी थोड़ा अंतर है। दोनों में कहा है कि तेरह, नौ, सात, सतरह, पाँच और इक्कीस इन छै स्थानों में इक्कीस का संक्रमण होता है। कसायपाहुड़में कहा है कि यह संक्रमण सम्यक्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोंमें ही होता है। कर्मप्रकृतिमें कहा है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिमें तथा सासादन और मिश्र गुणस्थानमें होता है। उक्त गाथाकी व्याख्या करते हुए जयधवलामें सम्यक्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोंमें सासादनका तो ग्रहण किया है किन्तु मिश्र गुणस्थान का ग्रहण नहीं किया। इन गाथाओंपर दोनों ग्रन्थोंमें चूर्णियाँ नहीं है अतः कुछ विशेष कह सकना शक्य नहीं हैं।

> एत्तो अवसेसा संजमम्हि उवसामगे च खवगे च ।
> वीसाय संकमदुगे छक्के पणए च बोद्धव्वा ॥३४॥ क० पा०
> एत्तो।अविसेसा संकमंति उवसामगे व खवगे वा ।
> उवसामगेसु वीसा य सत्तगे छक्क पणगे वा ॥१७॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंके उत्तरार्द्धमें अन्तर है और थोड़ा-सा मतभेद भी है। दोनोंमें कहा है कि उससे अवशिष्ट प्रकृतिस्थान-संक्रम उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिमें संक्रान्त होते हैं। किन्तु कसायपाहुडमें आगे कहा है कि बीसका संक्रम केवल छै और पाँच इन दो ही स्थानोंमें होता है और कर्मप्रकृतिमें कहा है कि सात, छै और पाँचमें बीसका संक्रमण होता है। यह अन्तर है।

> पंचसु च ऊणवीसा अट्ठारस चदुसु होंति बोद्धव्वा।
> चोद्दस छसु पयडीसु य तेरसयं छक्क पणगम्हि ॥३५॥ क० पा०
> पंचसु एगुण वीसा अट्ठारस पंचगे चउक्के य।
> चोद्दस छसु पगडीसु तेरसगं छक्कपणगम्मि ॥१८॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंमें थोड़ा अन्तर है। कसायपाहुडके अनुसार १८ का संक्रमण चार प्रकृतियोंमें होता है और कर्मप्रकृतिके अनुसार चार और पाँचमें होता है।

शेष चार गाथाओंमें कोई अन्तर नहीं है। इस तरह संक्रमण प्रकरणमें १३ गाथाएँ ऐसी पायी जाती हैं जो कसायपाहुडकी हैं। इस प्रकरणकी गाथासंख्याका प्रमाण एक सौ ग्यारह है।

संक्रम-करणके पश्चात् उद्वर्तना-अपवर्तनाकरणका कथन है। ये दोनों करण स्थिति और अनुभागसे सम्बन्ध रखते हैं। स्थिति और अनुभागके बढ़ानेको उद्वर्तना और घटानेको अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना तो बन्धकाल पर्यन्त ही होती है किन्तु अपवर्तना बन्धकालमें भी होती है और अबन्धकालमें भी होती है। दस गाथाओंके द्वारा इन दोनों करणोंका कथन है।

पश्चात् उदीरणा-करण का कथन है। विशुद्ध अथवा संक्लेश परिणामोंके द्वारा उदयावलि-बाह्य निषेकोंको अपवर्तनाके द्वारा बलात् उदयावलीमें ला कर उनका वेदन करनेको उदीरणा कहते है। जैसे आमोंको तोड़कर भूसे आदिमें दबा कर जल्दी पका कर खाते हैं। उसी तरह जो कर्मको अपने समयसे पहले भोग किया जाता है उसे उदीरणा कहते हैं। उसके भी चार भेद हैं—प्रकृति-उदीरणा, स्थिति-उदीरणा, अनुभाग-उदीरणा और प्रदेश-उदीरणा। प्रकृति-उदीरणा और प्रकृतिस्थान-उदीरणाका कथन करते हुए उनके स्वामियोंका कथन किया है कि अमुक-प्रकृतिकी उदीरणा कौन करता है। इसी प्रकार स्थिति-उदीरणा आदिका भी कथन किया है। इस प्रकरण की गाथा संख्या ८९ है।

उपशमना-करण का कथन करते हुए इन अधिकारोंके द्वारा उसका कथन किया है—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पादना, देश विरति की प्राप्ति, अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन, दर्शनमोहकी क्षपणा, दर्शनमोहकी उपशामना, चारित्रमोहकी उपशमना।

पहली गाथाके द्वारा उपशामनाके दो भेद बतलाये हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाका दूसरा नाम अनुदीर्णोपशमना भी है। (यथा प्रवृत्त, अधः प्रवृत्त), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंके द्वारा जो कर्मोंका उपशम किया जाता है उसे तो करणोपशमना कहते हैं। और इन करणोंके बिना जो उपशामना होती है उसे अकरणोपशमना कहते हैं। वैसे उपशामनाके दो भेद हैं—देशोपशमना और सर्वोपशमना। उक्त दो भेद देशोपशमनाके ही हैं। (सर्वोपशमना तो उक्त करणों के द्वारा ही होती है)। उपशमनाके उक्त दो भेद करके कर्म-प्रकृतिकारने अकरणोपशमनाके अनुयोगधरोंको नमस्कार किया है।[1] चूर्णिकारने उसका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि अकरणोपशमनाका अनुयोग विच्छिन्न हो गया। अतः उसको नहीं जानने वाले कर्म-प्रकृतिकारने उसके जानने वाले आचार्यको नमस्कार किया है।

दूसरी गाथामें कहा है कि सर्वोपाशमनाके दो नाम हैं—गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना। देशापशमनाके भी दो नाम हैं अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना। सर्वोपशमना केवल मोहनीय कर्मकी ही होती है। इस प्रकरणमें भी चार गाथाएं ऐसी हैं जो कसायपाहुडमें भी पायी जाती हैं। कर्मप्रकृतिमें उनका नम्बर-२३, २४, २५, २६ है। और ये गाथाएं कसायपाहुडके दर्शन मोहोपशमना नामक अधिकारके अन्तमें आती हैं। चारमें से अन्तकी दो में तो कोई अंतर नहीं है। प्रारम्भकी दो में अन्तर है उसमेंसे भी भी दूसरीमें केवल शब्दोंका व्यतिक्रम है। हां, पहलीमें उल्लेखनीय अन्तर है। कर्म-प्रकृति (उपशमना) की गाथा इस प्रकार है—

सम्मत्त पढम लम्भो सव्वोवसमा तहा विगिट्ठो य।
छालिगसेसा परं आसाणं कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥

इसमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्व की प्रथम प्राप्ति मोहनीय कर्मके सर्वोपशमसे होती है तथा प्रथम स्थितिकी अपेक्षा उसके अन्तर्मुहुर्त कालका प्रमाण बड़ा होता है। अब उस सम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छै आवली काल शेष रहता है तो कोई कोई जीव गिर कर सासादन गुणस्थानके चले जाते हैं और वहांसे पुनः मिथ्यात्वमें आ जाते हैं।

यह गाथा कसायपाहुडमें इस प्रकार पायी जाती है—

सम्मत्त पढम लंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण।
भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥१००॥

---

१. 'सा अकरणोपसामणा ताले अणुओगो वोछिन्नो, तो तं अजाणंतो आयरिओ जाणंतस्स नमोक्कारं करेति' कर्म प्र. उप., गा. १ च.

इस गाथाके भी पूर्वार्द्धमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्वका प्रथम लाभ मोहनीयके सर्वोपशमसे होता है। किन्तु आगे 'वियट्ठुंप' का अर्थ भिन्न किया है, यद्यपि पिपट्ठ और 'विविट्ठ' शब्दोंमें वैसा भेद प्रतीत नहीं होता। जयधवला-कारने उसका अर्थ किया है—'जो मिथ्यात्वमें जा कर बहुत काल बीतने पर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशमसे ही प्राप्त करता है।' और जो सम्यक्त्वसे च्युत होकर जल्दी पुनः सम्यक्त्वके अभिमुख होता है वह सर्वोपशमसे अथवा देशोपशमसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

कर्म-प्रकृतिके उपशमना-करणकी २६ वीं गाथा और कसायपाहुड़की १०५वीं गाथामें कोई अन्तर नहीं है किन्तु दोनोंके टीकाकारोंके अर्थमें अन्तर है गाथा इस प्रकार है—

सम्मामिच्छद्दिट्ठी सागारे वा तहा अणागारे।
अह वंजणोग्गहम्मि य सागारे होई नायव्वो ॥२६॥

कषायपाहुड़में सागारे और 'अणागारे'के स्थानमें 'सागारो' और 'अणागारो' पाठ है। कर्म प्रकृतिकी चूर्णिमें पूर्वार्धका अर्थ किया है—'सम्यग्मिथ्यादृष्टि या तो साकार उपयोगमें वर्तमान होता है अथवा अनाकार उपयोगमें वर्तमान होता है।' जयधवलाके अनुसार अर्थ है—सम्यग्मिथ्यादृष्टि साकारोपयोगी होता है अथवा अनाकारोपयोगी होता है। दोनों अर्थोंमें कोई अन्तर नहीं है। किन्तु उतरार्धके अर्थ में अन्तर है—

कर्म प्रकृति चूर्णिमें अर्थ किया है—

'यदि साकार उपयोगमें वर्तमान होता है' तो व्यंजनावग्रहमें होता है अर्थावग्रहमें नहीं। क्योंकि संशयज्ञानी अव्यक्त-ज्ञानी होता है।' और जयधवलामें अर्थ किया है—'वजंणोग्गहम्मि दु' यदि विचार पूर्वक अर्थ ग्रहण करनेकी अवस्थामें होता है तो सकारोपयोगी होता है।

इन गाथाओं पर कसायपाहुड़में चूर्णि सूत्र नहीं है। कसायपाहुड़ और कर्मप्रकृति दोनोंको दर्शन-मोहोपशमना नामक प्रकरण उक्त गाथाके साथ समाप्त हो जाता है और उसके पश्चात् कर्मप्रकृतिमें चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है। इसमें ७४ गाथाएँ हैं अन्तमें २-३ गाथाओं द्वारा निधत्ति और निकाचनाका कथन है।

आठों करणों का कथन समाप्त होने के पश्चात् कर्मों के उदय का प्रकरण प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट प्रदेशोदयके स्वामी का कथन करने से पूर्व दो गाथाओं

---

१. "सम्मतुप्पत्ति सावयविरएसंजोयणा विणासे य।
दंसणमोह क्खवगे कसाय उवसामगुवसंते ॥८॥

के द्वारा ग्यारह[1] गुण-श्रेणियां गिनायी हैं। ये गुण-श्रेणियां जैन सिद्धान्तमें दोनों परम्पराओं में अति प्रसिद्ध हैं। षटखण्डागमके वेदना-खण्डमें भी दो गाथाओंके द्वारा ग्यारह गुणश्रेणियां गिनायी हैं। दोनों ग्रन्थों की गाथाओंमें तो शब्दभेद है ही, आशय में भी किञ्चित अन्तर है। कर्मप्रकृतिमें 'जिणे दुविहे' पाठ है। चूर्णिमें उसका अर्थ सयोग-केवली और अयोग-केवली किया है। किन्तु षट्-खण्डागम में केवल 'जिणेय' पाठ है। और गाथाओं का विवरण करने वाले षट्खण्डागम के सूत्रों में जिनसे केवल अधःप्रवृत्त-केवली और योग निरोध करने वाला सयोग-केवली लिया है। अयोग-केवलीको नहीं लिया।

तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्यायमें भी ये गुण श्रेणियां गिनायी हैं। और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके टीकाकारोंने जिनसे सामान्य जिन ही लिया है और इस तरह वहां उनकी संख्या दस ही, है ग्यारह नहीं।

उदय-प्रकरणमें कर्मोंके उदय का वर्णन है। कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं। उदय के पश्चात् सत्ता का कथन है। किन स्थानोंमें किन-किन कर्म प्रकृतियों का सत्त्व रहता है इसका विस्तारसे कथन है। उदय और सत्व दोनोंके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा चार,चार भेद कर के उनके जघन्य और उत्कृष्ट भेदों के स्वामियों का कथन किया है। प्रदेश सत्कर्ममें योग-स्थान और स्पर्धकों का निर्देश करके भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य भेदों का कथन है।

कर्म प्रकृति के इन प्रकरणोंमें क्रमसे १०२ + १११ + १० + ८९ + ७१ + ३- + ३२ + ५७ = ४७५ गाथाएं हैं।

कर्ता—

इसमें तो सन्देह नहीं कि कर्म-प्रकृति एक प्राचीन ग्रन्थ है और उसकी प्राकृति चूर्णि भी प्राचीन प्रतीत होती है। किन्तु इन दोनों के रचयिताओं का नाम ज्ञात नहीं है और इसीलिए उनके रचनाकाल का भी कोई निश्चित समय

---

[1] खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी ।
उदओ तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुण सेढी ॥९॥ कर्मप्र०, उदय
सम्मत्तुप्पत्ती विय सावय विरदे अणंत कम्मं सें ।
दंसणमोह क्खवए कसाय उवसामए य उवसंते ॥७॥
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा ।
तीव्विवरीदो कालो संखेज्ज गुण य सेढीओ ॥८॥' षट्खं० पु० १२, पृ०, ७८।
'सम्यग्दृष्टि श्रावक विरता नन्त वियोजक दर्शन मोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपक क्षीणमोह जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः ॥४५॥' तत्त्वा० सू०।

निर्धारित नहीं है। परम्पराके आधार पर कर्म-प्रकृति को शिवशर्म सूरि की कृति माना जाता है।

मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित कर्म-प्रकृति की संस्कृत प्रस्तावना में लिखा है कि पूर्वधर भगवान श्री शिवशर्म सूरिने कर्म-प्रकृति नामक मूलग्रन्थ को रचा था। इतिहास का अभाव होनेसे इनका समय अभी तक निश्चित नहीं हो सका। इनके गुरु कौन थे और ये कितने पूर्वोंके धारी थे यह भी निश्चित नहीं है। तथापि नन्दी-सूत्रके आदि पाठ को देखनेसे यह निश्चय किया जाता है कि ये आगमोद्धारक देवर्धिगणिके पूर्ववर्ती थे। ऐसी संभावना है कि ये दशपूर्वधर थे।"

जैन साहित्य का इतिहास (पृ० १३९)में लिखा है कि शिव शर्म सूरि नामके एक महान आचार्य हो गये हैं। उनका समय अनिश्चित है। उन्होंने ४७५ गाथाओं में कर्म-प्रकृति नामक ग्रन्थ दृष्टिवादके अन्तर्गत दूसरे पूर्व में से उद्धार कर रचा है। अतः उनका समय वि सं० ५००के आस पास रखा जा सकता है।'

कल्पसूत्रस्थस्थविरावली, नन्दीसूत्रस्थस्थविरावली आदि किसी प्राचीन पट्टावली में हमें शिवशर्म सूरि नाम देखने को नही मिला। चूर्णिकार को भी यह ज्ञात नहीं था कि इस कर्म-प्रकृति के रचयिता कौन हैं क्योंकि उन्होंने भी ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया। चूर्णिकारकी तरह १२-१३ वी शताब्दीके टीकाकर मलयगिरिने भी यह नहीं लिखा कि कर्म-प्रकृति के कर्ता अमुक नामके आचार्य हैं। हाँ, १८ वी शताब्दीके दूसरे टीकाकार यशोविजय ने कर्म-प्रकृति की प्रथम गाथा की उत्थानिकामें शिवशर्म सूरि का नाम दिया है। अतः उनके सामने कोई आधार अवश्य होना चाहिये जिसके आधार पर उन्होंने कर्मप्रकृतिको शिवशर्म सूरि की कृति बतलाया। खोजने पर देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कर्म-ग्रन्थों की स्वोपज्ञ[1] टीका में कर्म-प्रकृति का उद्धरण देते हुए उसे शिवशर्म सूरि रचित लिखा है। तथा उसी में एक स्थान[2] पर शिवशर्म सूरि रचित शतक का उद्धरण दिया है।

कर्म-प्रकृतिकार ने कर्मप्रकृति की रचना करनेसे पहले शतक नामका भी एक ग्रन्थ रचा था वह कर्म-प्रकृतिसे ही ज्ञात होता है। अतः देवेन्द्रसूरिके उल्लेखके अनुसार इन दोनोंके रचयिता शिवशर्म सूरि थे। देवेन्द्र सूरि का समय १३-१४ वी शताब्दी है और मलयगिरि का समय १२-१३ वीं शताब्दी है। दोनोंमें एक शताब्दी का अन्तराल है फिर भी मलयगिरि जैसे बहुश्रुत टीकाकार ने कर्म-प्रकृति की अपनी टीकामें उसके रचयिता शिवशर्म सूरिके

१. 'यदाह शिवशर्मसूरिवरः कर्मप्रकृतौ'—स. च. क., पृ. १३७। २. 'यदुक्तं शिवशर्मसूरिपादैः शतके'—स. च. क., पृ. ७९।

नामका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इस विचारवश खोज करने पर देवेन्द्रसूरिके इस उल्लेखका आधार शतकचूर्णिमें मिला । शतकचूर्णिमें लिखा[1] है कि इस शतक नामके ग्रन्थको शब्द, तर्क, न्याय और कर्मप्रकृति सिद्धान्तके ज्ञाता, अनेक वादोंमें विजय प्राप्त करनेवाले शिवशर्मा नामक आचार्यने रचा । अतः चूर्णिसे यह प्रकट होता है कि शतक और कर्मप्रकृतिके रचयिता शिवशर्म सूरि थे । किन्तु शतकचूर्णिके इस उल्लेखका आधार क्या है, यह हम नहीं जान सके । कर्मप्रकृति-चूर्णिकी तरह ही शतक-चूर्णिके कर्ताका तथा उसका रचनाकाल भी अनिर्णीत है । किन्तु दोनों चूर्णियोंकी शैली आदिकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि दोनोंके कर्ता भिन्न-भिन्न है तथा कर्म-प्रकृतिकी चूर्णिसे शतक चूर्णिबादमें रची गयी है।

समय—

यह शिवशर्मसूरि कब हुए इसके जाननेका कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । जो कुछ है वह उनके दोनों ग्रन्थ ही हैं । कर्मप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामें उन्होंने कहा कि—'इस[2] प्रकार मुझ अल्पबुद्धिने भी जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृतिसे उद्धृत किया । जो कुछ स्खलित कथन किया हो, उसे दृष्टिवादके ज्ञाता शुद्ध कर के कहें ।'

चूंकि कर्मप्रकृति-प्राभृत दृष्टिवादके अन्तर्गत द्वितीय पूर्वका अंश था और श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार भगवान् महावीरके निर्वाणसे एक हजार वर्ष तक दृष्टिवाद रहा । अतः कर्म-प्रकृतिके रचयिता शिवशर्म सूरिका समय वि० सं० ५०० के लगभग अनुमान किया जाता है ।

पं० हीरालालजी शास्त्रीने कसायपाहुड सूत्रकी अपनी प्रस्तावनामें लिखा है कि वर्तमान कर्मप्रकृति वही कर्मप्रकृति है जिसका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें किया है । कसायपाहुडके चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें 'उवसामणा कदि विधा' इस गाथांशका व्याख्यान करते हुए कहा है कि 'उपशामनाके[3]

१. 'केण कयं ? ति शब्दतर्क न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विजाणएण अणेगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं ।'—शत० चू० पृ० १ ।

२. 'इय कम्मपगडीओ जहा सुयं नीयमप्पमइणावि । सोहियणा भोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नू ॥५६॥

—कर्म प्र० सता० ।

३. 'उवसामणा कदि विधा त्ति उवसामणा दुविहा करणोवसामणा च अकरणोव सामणा च । जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे नामधेयाणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा साकरणोवसामणा सा दुविहा त्ति वि देसकरणोवसामणा त्ति वि । सव्वकरणोवसामणाए देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणाए त्ति वि अप्पसत्थ उवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपयडीसु ।

—क० पा० सु०, द० ।

दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। अकरणोपशामनाका कथन कर्म-प्रवाद में है। करणोपशामनाके भी दो भेद हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। देशकरणोपशामनाके दो नाम हैं—देशकरणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। इसका कथन कर्म-प्रकृतिमें है।'

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए जयधवलाकारने लिखा[1] है कि द्वितीय पूर्वके पञ्चम वस्तु अधिकारसे प्रतिबद्ध चतुर्थ प्राभृतका नाम कम्मपयडी है। उसमें इस देशकरणोपशामनाका विस्तारसे कथन है। शायद यह शंका की जाये कि कर्मप्रकृति प्राभृत तो एक है उसका यहाँ 'कम्मपयडीसु' इस बहुवचन रूपसे निर्देश क्यों किया ?' तो उसका समाधान है कि 'यद्यपि कर्मप्रकृति-प्राभृत एक है किन्तु उसके अन्तर्गत कृति, वेदना, आदि अनेक अवान्तर अधिकार हैं, उनकी विवक्षासे बहुवचनका निर्देश करनेमें कोई विरोध नहीं है।'

जयधवलाकारके इस स्पष्ट निर्देशके सामने शास्त्रीजीके उक्त कथनको कैसे मान्य किया जा सकता है। फिर जिस देसकरणोपशामनाके लिए कर्मप्रकृतिका निर्देश यतिवृषभने किया है, प्रस्तुत कर्मप्रकृतिमें उसका केवल ६ (६६-७१) गाथाओंमें उल्लेख मात्र है। उनसे पहली गाथामें तो देशकरणोपशामनाके भेद बतलाये हैं। दो में उसके स्वामियोंका निर्देश है तथा एक गाथामें प्रकृति उपशामनाका, एकमें स्थिति-उपशामनाका और एकमें अनुभाग और प्रदेश-उपशामनाका उल्लेख है। अतः अकरणोपशामनाके लिए कर्मप्रवाद नामक अष्टम पूर्वका निर्देश करनेवाले यतिवृषभ जैसे कसायपाहुडके वेत्ता विद्वान् देशकरणोपशामनाके लिए इस कर्मप्रकृतिका निर्देश नहीं कर सकते। प्रस्तुत कर्मप्रकृति अवश्य ही उनके उत्तरकालकी रचना होनी चाहिए। फिर जैसा प्रारम्भमें लिख आये हैं इस कर्मप्रकृतिके सिवाय एक बृहत्कर्म-प्रकृति भी थी। चूर्णिकारने शायद उसी कम्मपयडी महाग्रन्थके विच्छेदकी सूचना दी है। वह बृहत्कर्म-प्रकृति अथवा कम्मपयडी महाग्रंथ सम्भवतया अग्रायणी पूर्वके चतुर्थ वस्तु अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृति-प्राभृत ही हो सकता है। जैसा कि जयधवलाकारका मत है। अतः उसीका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें किया हो सकता है।

---

१. 'कम्मपयडीओ णाम विदिय पुव्व पंचम वत्थुपडिबद्धो चउत्थो पाहुड सण्णिदो अहियार अत्थि। तत्थेसा देसकरणोवसामणा दट्ठव्वा, सवित्थरमेदिस्से तत्थ पबंधेण परूविदत्तादो। कथमेत्थ एगस्स कम्मपयडिपाहुडस्स 'कम्मपयडीसु' त्ति बहुवयणणिद्देसो त्ति णासंकणिज्जं; एक्कस्सवि तस्स कदि, वेदणा अवांतराहियार भेदावेक्खाए बहुवयणणिद्देसाविरोहादो।'—ज० ध० प्रे० का; पृ० ६५६७-६८।

नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें नागहस्तीको कर्मप्रकृति प्रधान बतलाया है उसको लेकर शास्त्रीजीने लिखा है, जब यतिवृषभके गुरु कम्मपयडीके प्रधान व्याख्याताओंमें थे तो यतिवृषभके सामने तो उसका होना स्वतः सिद्ध है ? बात ठीक है, किन्तु जब यतिवृषभके सामने वर्तमान कर्म-प्रकृति थी तो नागहस्ती भी संभवतः उसीके प्रधान व्याख्याता होंगे। और ऐसी दशामें वर्तमान कर्मप्रकृति नागहस्तीसे भी पूर्वरचित होनी चाहिये ? किन्तु यह सब निराधार कल्पना है। शास्त्रीजीने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रों और कर्मप्रकृतिकी कतिपय गाथाओंको उद्धृत करके यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है कि वर्तमान कर्मप्रकृतिके आधारपर ही चूर्णिसूत्र रचे गये हैं। किन्तु शास्त्रीजीने जितने तुलनात्मक उद्धरण दोनों ग्रन्थोंसे दिये हैं, वे सब निष्प्राण हैं, बल्कि उनके देखनेसे तो यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि चूर्णिसूत्रकारने कर्मप्रकृतिका अनुसरण नहीं किया बल्कि कर्मप्रकृतिके रचयिताने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंका अनुसरण किया है। यह सत्य शास्त्रीजीकी लेखनीसे भी प्रकट हुए बिना नहीं रहा है। दर्शनमोह उपशामकके परिणाम, योग, उपयोग और लेश्यादिका वर्णन करनेवाले चूर्णिसूत्रोंको उद्धृत करके शास्त्रीजीने लिखा है—'इन सब सूत्रोंकी तुलना कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिये और देखिये कि किस खूबीके साथ सर्व सूत्रोंके अर्थका एक ही गाथामें समावेश किया गया है ? (पृ० ३५)

चूर्णिसूत्र और कर्मप्रकृति-चूर्णि—

कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंमें और कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें यत्र तत्र कुछ साम्य प्रतीत होता है किंतु गहराईसे अवलोकन करनेपर चूर्णिसूत्रोंकी शैलीका कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें आभास नहीं मिलता। चूर्णिसूत्रोंमें कसायपाहुडकी गाथाओंके व्याख्यानके लिए विभाषा और पदच्छेदकी जो शैली अपनायी गयी है वहाँ उसका अभाव है। कर्मप्रकृतिकी चूर्णि तो एक टीका प्रकारकी व्याख्या है जिसमें गाथाके अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। और उस परसे यह भ्रम होता है कि दोनों चूर्णियाँ एक ही की कृति हैं, किन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। दोनोंमें शैलीभेद और भाषाभेद तो है ही, सैद्धान्तिक-भेद भी परिलक्षित होता है।

---

१. नीचे हम तुलनाके लिए शास्त्रीजीके उद्धरणोंमेंसे एक उद्धरण देते हैं—'जं पदेसग्गमण्णपयडि णिज्जदे, जत्तो पयडीदो तं पदेसग्गं णिज्जदि तिस्से पयडीए सो पदेससंकमो। एदेण अट्ठपदेण तत्थ पंचविहो संकमो, तं जहा, उव्वेलणसंकमो, विज्झादसंकमो, अधापवत्तसंकमो, गुणसंकमो, सव्वसंकमो च।' (क. पा. सू., पृ० ३१७।
इन चूर्णिसूत्रोंका मिलान कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिए—

जं दलियमण्णपगइं णिज्जइ सो संकमो पएसस्स।
उव्वलणो विज्झाओ, अहापवत्तो गुणो सव्वो ॥६०॥—कर्मप्र.

—क० पा० सु० प्रस्तावना पृ० ३३।

उदीरणा[1] प्रकरणमें कर्मप्रकृति-चूर्णिमें उत्तरप्रकृतिके १५८ भेद बतलाये हैं। उदीरणा प्रकृतियोंकी संख्या अभेद विवक्षा से १२२ मानी गयी है। और भेद विवक्षासे १४८। औदारिकि, आदि शरीरोंके संयोगी भंग पन्द्रह होते हैं और उनको शामिल कर लेनेसे १५८ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। गोमट्टसार कर्मकाण्ड में उक्त संयोगी भंग गिनाये अवश्य हैं और नामकर्मकी सत्त्व-प्रकृतियोंको गिनाते हुए ९३ या १०३ लिखकर उन्हें सम्मिलित भी किया है किन्तु सत्त्व-प्रकृतियोंकी संख्या १४८ ही बतलायी है।

कर्मप्रकृतिके टीकाकार उपाध्याय यशोविजय[2]ने अपनी टीकामें इसपर लिखा है कि यद्यपि उदय प्रकृतियोंकी संख्याके तुल्य ही उदीरणा प्रकृतियोंकी संख्या होती है और इसलिए कर्मस्तव-टीका आदिमें उनकी संख्या १२२ बतलायी है और यहाँ १५८ बतलायी है। तथापि एकसौ बाईस में बन्धनादिकी पृथक् विवक्षा नहीं की है और १५८ में पृथक् विवक्षा की है इसलिए कोई दोष नहीं है। फिर भी १५८ संख्यामें भी मान्यता-भेद तो रहा ही है। मलयगिरि[3]ने गर्गर्षि आदिके मतमें १५८ प्रकृति संख्या होनेका निर्देश किया है।

२. कर्मप्रकृति[4]में क्षपक-श्रेणीमें क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नहीं माना है। तदनुसार चूर्णिमें भी लिखा है। इस बातको लेकर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मतभेद पाया जाता है। किन्तु दिगम्बर धर्मके भूतबलि और यतिवृषभ दोनों ही उक्त गुणस्थानोंमें निद्रा और प्रचलाका उदय मानते हैं। गो०[5] कर्मकाण्डमें उदय व्युच्छित्तिमें जो दोनों आचार्योंके मत दिये हैं, उससे यह स्पष्ट है। किन्तु इतना सुनिश्चित जान पड़ता है कि कर्मप्रकृतिकी चूर्णि बनानेवालेके सामने यतिवृषभके चूर्णिसूत्र अवश्य थे और उसने कहीं-कहींपर तो उनका शब्दशः अनुकरण किया है। उदाहरणके लिए हम उपशामनाका भाग उद्धृत करते हैं—

'उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा

---

१. 'उत्तरपगतिउदीरणा अट्ठावण्णुत्तरसतभेदा'—क. प्र. चू.।

२. 'यद्यप्युदीरणायामुदयसमकक्षतया प्रकृतीनां द्वाविंशं शतं कर्मस्तवटीकाद्युक्तम्, इह तु अष्टपञ्चाशं शतं, तथापि तत्र बन्धनादीनां पृथग् न विवक्षा, इह तु पृथग् विवक्षेति न दोषः।—कर्म प्र., उदी., पृ०

३. गर्गर्षि प्रभृतिमते च बन्धन पञ्चदशकग्रहणादष्टपञ्चाशं शतम्।'—क. प्र. टी, पृ० ८।

४. 'निद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चज्ज॥१८॥' 'खीणकसाय खवगखीणकसायखवगे मोत्तूण तेसु उदओ णत्थि त्ति।—कर्म प्र., चू., उदी.।

५. कर्मका०, गा०।

त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा-देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि-देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु। जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि—सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि। एदाए एत्थ पयदं।'—क० पा० सु०, पृ० ७०७-७०८।

'करणकयाऽकरणा वि य दुविहा उवसामणत्थ वि इयाए।
अकरण अणुइन्नाए अणुओगधरे पणिवयामि ॥१॥

(चू०) 'करणकय' त्ति—करणोवसणा, 'अकरणकय' त्ति अकरणोवसामणा दुविहा उवसामणत्थ। 'बितियाए अकरणअणु इन्नाए' त्ति—बितिया अकरणोपसमणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि—अकरणोपसमणा अणुदिन्नोपसमणा य, ताते अकरणोपसमणाते 'अणुओगधरे पणिवयामि' त्ति किं भणियं होति ? करणं क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा, गिरिनदीपाषाणवट्टसंसारत्थस्स जीवस्स वेदनादिभिः कारणैरुपशांतता भवति, सो अकरणोवसामणा, ताते अणुओगो वोच्छिन्नो, तो तं अजाणंतो आयारिओ जाणंतस्स नमोक्कारं करेति। करणुपसमणाते अहिगारोत्थ ॥१॥' क० प्र०।

चूर्णिसूत्रमें उपशामनाके दो भेद किये है। करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। इसका कथन कर्मप्रवादमें बतलाया है।

कर्मप्रकृतिमें भी उक्त भेद करके अकरण-उपशामनाके ज्ञाताओंको नमस्कार किया है। उसकी चूर्णिमें लिखा है कि अकरणोपशामनाका अनुयोग नष्ट हो गया, इसलिए उसको न जाननेवाले कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओंको नमस्कार करते हैं।

आचार्य यतिवृषभ उसके विच्छेदकी घोषणा न करके कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्वमें उसका कथन होनेका निर्देश करते हैं। किन्तु कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताको नमस्कार करते हैं। और उनके चूर्णिकार कहते हैं कि कर्मप्रकृतिकारको उसका ज्ञान नहीं था क्योंकि वह विच्छिन्न हो चुका था। इन दो प्रकारके कथनोंसे दोनों चूर्णियोंके कर्ता एक नहीं हो सकते।

इसके सिवाय दोनों चूर्णियोंमें जो भाषा-भेद पाया जाता है वह भी दोनोंकी भिन्नकर्तृकताको ही प्रकट करता है। दिगम्बर धर्मकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा शौरसेनी है। किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको लिये हुए होनेसे उसे जैन-शौरसेनी कहते हैं। श्वेताम्बर आगम सूत्रों के भाष्य चूर्णि आदिकी

भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। किन्तु उसमें भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिसके कारण उसे जैन-महाराष्ट्री कहा जाता है। दोनोंका अन्तर दोनों चूर्णियोंमें परिलक्षित होता है। पं० हीरालालजीका कहना है कि कर्मप्रकृति चूर्णिकी भाषा परिवर्तित की गयी है। इसके लिए उन्होंने मुद्रित कर्मप्रकृति चूर्णिसे तथा कर्मप्रकृतिके टीकाकार मलयगिरि एवं यशोविजय उपाध्यायकी टीकाओंमें उद्धृत चूर्णि-वाक्योंको तुलनाके लिए दिया है। यथा—नाम पगडीतो = णाम पयडीओ। इस तरहके परिवर्तन अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्रीके ही अनुरूप हैं, शौरसेनीके नहीं। यतिवृषभके चूर्णि सूत्रोंमें सर्वत्र 'पयडी' शब्द ही मिलता है। अर्धमागधीके अनेक लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं और जैन-महाराष्ट्रीमें भी परिवर्तन हुए हैं 'क' के स्थानमें ग, तथा शब्द के आदि और मध्यमें भी 'ण' की तरह 'न', ये अर्धमागधीके लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं। अनेक स्थलों में महाराष्ट्रीकी अपेक्षा शौरसेनीका संस्कृतके साथ पार्थक्य कम और सादृश्य अधिक है, यह बात कर्मप्रकृति-चूर्णि और कसायपाहुड-चूर्णिसूत्रोंको देखनेसे स्पष्ट हो जाती है। अतः टीकाकारोंकी टीकाओंमें उद्धृत चूर्णिवाक्योंमें मूलचूर्णिसे जो कुछ अन्तर पाया जाता है वह इस बात का सूचक है कि टीकाकारोंके द्वारा उद्धृत वाक्यों पर तत्कालीन प्रभाव है।

अतः कर्मप्रकृति चूर्णि यतिवृषभकी कृति नहीं है। प्रत्युत यदि कर्म प्रकृतिके रचयिताने ही उसकी चूर्णि भी रची हो तो कोई असंभाव्य बात नहीं है क्योंकि चूर्णिकारने कई स्थानोंपर बन्धशतकका निर्देश इस रूपमें किया है कि उससे उक्त सन्देहकी पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए, उदीरणा प्रकरणकी गाथा[1] ४७ के 'मणनाणं सेससमं' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिमें कहा है। 'ये सब बन्धशतकमें कहा है फिर भी असंमोहके लिए यहाँ उसका कथन किया है।' यह बात चूर्णिकार ने चूर्णिमें किये गये कथनके सम्बन्धमें कही है।

चूर्णिके मूलकार रचित होनेमें यह आपत्ति की जा सकती है कि चूर्णिकारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें 'आयरियेण' पदके द्वारा 'आचार्यने रची' ऐसा लिखा है। किन्तु हम देखते हैं कि पंचसंग्रहकारने अपनी स्वोपज्ञ पंचसंग्रहटीकामें[2] अपना उल्लेख अन्यपुरुषके रूपमें अथवा सूत्रकारके रूपमें किया है। हम इस सम्बन्धमें विशेष जोर डालनेकी स्थितिमें नही हैं फिर भी हम अपने सन्देहको विद्वान् अन्वेषकोंके सामने रखना उचित समझते हैं। हमारा विश्वास है कि कसायपाहुड और

---

१ 'एए बंधसतगे भणिया तहा वि असंमोहत्थं उल्लोइया—क० प्र० चू०।

२. 'अलोत्यमपि न हि न शिष्टः अत इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रवृत्तवान्'—पञ्च०, सं०गा १ की उत्थानिका 'भावनां सूत्रकार एव करिष्यति'—'एतदेव स्वस्वामित्वं भावयति', 'एतदेव वृत्तिकारो भावयति',-पंचसं०।

यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिके रचयिताके सामने थे।

चूर्णिका समय—

चूर्णिके कर्ताकी तरह चूर्णिका समय भी अनिश्चित है। जिस तरह जिनभद्र गणिके द्वारा कर्मप्रकृतिका उल्लेख मिलता है उसी तरह उसकी चूर्णिका उल्लेख नहीं मिलता अतः जिनभद्रके सामने कर्मप्रकृतिकी चूर्णि उपस्थित थी या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिनभद्रगणिके विशेषावश्यक-भाष्यका उद्धरण अपनी पंचसंग्रह टीकामें देनेवाले चन्द्रर्षि महत्तरके सम्मुख पंच-संग्रहका कर्मप्रकृति विभाग रचते समय कर्मप्रकृति की ही तरह उसकी चूर्णि भी उपस्थित थी, यह निश्चित है। चूर्णिमें एक गाथा[1] उद्धृत है जिसमें योग के नामान्तर दिये हैं। यह गाथा पंचसंग्रह[2] के मूलमें सम्मिलित कर ली गयी है। यह गाथा आवश्यक[3] चूर्णिमें भी है किन्तु उसके मूलस्थानका पता नहीं लग सका। गाथा अवश्य ही प्राचीन होनी चाहिये। एक और गाथा क० चूर्णिमें उद्धृत है जो कुन्दकुन्दके समयसार की ८०वीं गाथा है, यह समयसार से ही उद्धृत की गयी होनी चाहिये; क्योंकि समयसारमें कोई गाथा ऐसी नहीं है जिसे संग्रह गाथा कहा जा सके। अतः कर्मप्रकृति चूर्णिकी रचना समयसारके पश्चात् हुई है। कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी है। कर्मप्रकृति ही जब उसके शताब्दियों पश्चात् रची गयी है तब चूर्णिका तो कहना ही क्या है।

चूर्णिमें एक गद्यांश और भी उद्धृत है—'सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ' यहाँ 'चंदसूराणं' (क० प्र० उदी० गा० ४८) यह अंश नन्दीसूत्र ४३ में पाया जाता है। यद्यपि वाक्य नन्दीसूत्रमें भी कहींसे लिया गया प्रतीत होता है। तथापि अनेक बातों का ध्यान रखते हुए यही सम्भव प्रतीत होता है कि चूर्णिकारने उसे नन्दी-सूत्रसे लिया है। नन्दीसूत्र[4] वलभी-वाचनाके समय (वि० सं० ५१३)की रचना माना जाता है। अतः चूर्णिको उसके पश्चात्‌की रचना मानना चाहिए। इसे भी चूर्णिकी पूर्वावधि ही समझना चाहिए।

शतक-लघुचूर्णिके अवलोकनसे प्रकट होता है कि उसके कर्ताके सामने कर्म-चूर्णि थी। उसका कर्ता भी पंचसंग्रहकार चन्द्रर्षि महत्तरको माना जाता है और

---

१. 'जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा। सत्ती सामत्थं त्ति य जोगस्स भवंति पज्जाया ॥१॥'—क० प्र०, चू० (बंध०) गा० ३।

२. पञ्चसं०, कर्म प्र०, गा० ४।

३. 'जीवपरिणामहेतो(उ) कम्मत्ता पोग्गला परिणमन्ति। पोग्गलकम्मणिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमति ॥'—कर्म प्र०, चू०, संक्र० गा० १।

४. जै० सा० इ० (गु०), पृ. १४१।

पंचसंग्रहके दूसरे भाग कर्मप्रकृतिमें चूर्णिका पर्याप्त उपयोग किया गया है अतः कर्म चूर्णि उससे पूर्व रची जा चुकी थी। यद्यपि महत्तर का समय भी निश्चित नहीं है। किन्तु उन्होंने पंचसंग्रहकी अपनी टीकामें[1] विशे० भाष्य से उद्धरण किया है। अतः वे विक्रमकी सातवीं शती से पहले नहीं हुए यह निश्चित है। उनकी उत्तरावधि अभी अनिश्चित है। फिर भी इतना निश्चित है कि वे बारहवीं शतीसे पहले हुए हैं क्योंकि मलयगिरि की वृत्तिके अनुसार तो चूर्णिकी रचनाका समय वि० सं० ५५०-७५० के मध्यमें जानना चाहिए।

शतक कर्मग्रन्थ (श्वे०)—

कर्मप्रकृतिमें तथा उसकी चूर्णिमें शतक नामक ग्रन्थका उल्लेख पाया जाता है। जिससे प्रकट होता है कि कर्मप्रकृतिकारने कर्म-प्रकृतिकी रचना करनेसे पूर्व एक शतक नामक ग्रन्थ भी रचा था। कर्म प्रकृतिके बन्धन करण[2]की अन्तिम गाथामें कहा है कि—"इस प्रकार 'बन्धशतक'के साथ बन्धन-करणका कथन करने पर बन्ध-विधानका ज्ञान सुखपूर्वक शीघ्र होता है।' चूर्णिकारने चूर्णिमें कहा है कि शतकको बन्ध-शतक कहा है। मलयगिरिने अपनी टीकामें लिखा है कि इससे शतक और कर्म-प्रकृतिकी एककर्तृकताका आवेदन किया है।

चूर्णिकारने तो अपनी चूर्णिमें अनेक स्थलों पर शतकका निर्देश किया है। उदाहरणके लिए कर्मप्रकृतिके उदीरणाकरण[3]में अनुभागोदीरणाका कथन करते हुए कर्मप्रकृतिकारने कहा है कि 'अनुभाग-उदीरणामें संज्ञा, शुभ, अशुभ तथा विपाकका कथन अनुभागबंधमें जैसा कहा है वैसा जानना, जो विशेष है वह कहते हैं।' उसको चूर्णिमें गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने कहा है कि 'बन्ध-शतकके अनुभागबन्धमें जैसा कहा है वैसा ही कहना चाहिए।' अतः यह बात निर्विवाद है कि कर्मप्रकृतिका बड़ा भाई शतक नामक ग्रन्थ है।

विषय परिचय—

दूसरी और तीसरी गाथामें वर्णनीय विषयोंका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने

---

१. 'सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो नत्थि उवओगा। (वि. भा. गा. ३०९६)।
—पं० सं० टी० गा० ८।

२. 'एवं बंधणकरणे परूविए सह हि बंधसयगेण। बंधविहाणाहिगमो सुहमभिगंतु लहुं होइ ॥१०२॥ चू०—'एतंमि बंधकरणेसयगेणा सह परूविते 'बन्धसतगं'ति सतगमेव भण्णति। टी०—'एतेन किल शतक कर्मप्रकृत्योरेककर्तृकता आवेदिता द्रष्टव्या।'—क० प्र० बन्ध०, पृ० २०३।

३. 'अणुभागुदीरणाए सन्ना य सुभा-सुभा विवागो य। अणुभागबन्ध भणिया नाणत्तं पच्चया चेमे ॥४३॥ चू०—'अणुभागबन्ध भणिया' त्ति—बंधसयगस्स अणुभागबन्धे भणिया तहेव, भाणियव्वा।'—क० प्र० उदी० पृ० ६३।

कहा है—'जिन जीवस्थानों और गुणस्थानोंमें जितने उपयोग और योग होते हैं उन्हें कहे बन्धके चार प्रत्यय हैं—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग। इनमेंसे किस गुणस्थानमें कितने प्रत्यय होते हैं यह कहेंगे। ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंके बन्धके विशेष कारणोंका कथन करेंगे। जिनगुणस्थानोंमें जितने बंधस्थान उदयस्थान और उदीरणा स्थान होते हैं उनका तथा उनके संयोगका कथन करेंगे। अन्तमें संक्षेपसे बन्धविधानका कथन करेंगे।'

उक्त विषयसूचीके अनुसार कथन करते हुए ग्रन्थकारने सबसे प्रथम गाथा ४-५ में चौदह जीवस्थानोंको कहा है। गाथा ६ में चौदह जीव समासोंमें उपयोग (ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग) का कथन किया है। गाथा ७ में योगका कथन है। गाथा ९ में चौदह गुणस्थानोंके नाम गिनाये है। चूर्णिकारने अपनी चूर्णिमें अनेक गाथाएं उद्धृत करके गुणस्थानोंका स्वरूप समझाया है।

गाथा १०में केवल गतिमार्गणामें गुणस्थानोंका निर्देश किया है। किन्तु चूर्णिमें चौदहों मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका कथन संक्षेपसे किया है। गाथा ११ में गुणस्थानोंमें उपयोगका कथन किया है। गाथा १२-१३ में गुणस्थानोंमें योगका कथन है। यद्यपि गाथा १२ में ही योगका कथन हो जाता है। किन्तु १३ वीं गाथा मतान्तरकी सूचक है। उसके संबन्धमें चूर्णिकारने लिखा है कि किन्हीं आचार्योंके मतसे देशविरत और प्रमत्त-संयत गुणस्थानमे वैक्रियिक काययोग होता है उनके मतसे ऐसा पाठ है। शतककी ये दोनों गाथाएं चन्द्रर्षिकृत पंचसंग्रहकी गाथा (अ०-१-१८)की स्वोपज्ञ वृत्तिमें इसी क्रमसे उद्धृत हैं। गाथा १४-१५में गुणस्थानोंमें बन्धके प्रत्ययोंका कथन है। गाथा १६-२६तक आठों कर्मोंके बन्धके विशेष कारण बतलाये हैं, जो तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके अन्तमें भी बतलाये गये हैं। किन्तु दर्शन-मोहनीय कर्मके बन्ध-कारणोंमें मौलिक अन्तर है। तत्त्वार्थसूत्र[1]में 'केवली श्रुत,संघ, धर्म और देवोंके अवर्णवादको दर्शन मोहनीयके बन्धका कारण बतलाया है। और शतक[2]में अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, साधु और संघकी प्रत्यनीकताको बंधका कारण बतलाया है। गाथा २७ से ३७ तक आठों कर्मोंके बन्धस्थानों, उदयस्थानों और उदीरणास्थानों तथा उनके संयोगका कथन है। तत्पश्चात् प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्धका कथन है।

शतक नामक एक ग्रन्थ, जिसे प्राचीन कर्मग्रन्थ कहा जाता है, चूर्णि,भाष्य और

१· केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ त सू. अ. ६।

२. अरहंतसिद्ध चेइय तवसुय गुरु साधु संघ पडणीओ। बंधइ दंसणमोहं अणतं सारिओजेत ॥१८॥-५। तक

टीकाके साथ छपकर प्रकाशित हो चुका है। उसके दो संस्करण[1] हमारे सामने हैं। एकमें शतकके साथ चूर्णि भी मुद्रित है। इसपर श्रीशतक प्रकरण नाम मुद्रित है। दूसरे संस्करणमें शतकके साथ मलधारी हेमचन्द्र रचित टीका तथा चक्रेश्वराचार्य विरचित भाष्य मुद्रित है। चूर्णि[2] टीका[3]में उसे कर्म-प्रकृतिकार शिव-शर्म सूरिकी रचना बतलाया है। अतः यह मानना होगा कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमें जिस शतक अथवा बन्ध-शतकका निर्देश है वह यही है। उनमें जिन विषयोंके लिए शतकका निर्देश किया है वे विषय भी प्रस्तुत शतकमें मिलते हैं।

चूर्णिकारने 'गाहापरिमाणेण सयमेत्तं' तथा टीकाकारने 'गाथाशतपरिमाण-निष्पन्नं यथार्थनामकं शतकाख्यं प्रकरणम्' लिखकर यह सूचन किया कि प्रस्तुत प्रकरणकी गाथा संख्या सौ है इसीसे इसका शतक नाम सार्थक है। किन्तु वास्तवमें दोनों ही संस्करणोंमें गाथा परिमाण १०६ है। उन १०६ गाथाओंपर चूर्णि और टीका दोनों हैं। फिर भी शतक नाम रखनेका और तदनुसार सौ गाथा संख्या बतलानेका कारण यह जान पड़ता है कि आदिकी तीन तथा अन्तकी तीन गाथाएं आरम्भ-परक और उपसंहार-परक हैं। प्रतिपाद्य विषय मध्यकी सौ गाथाओंमें ही पाया जाता है। अतः 'शतक' नाम उचित ही है। इसका दूसरा नाम बन्धशतक भी है। कर्मप्रकृतिमें इसका उल्लेख बन्धशतक के नामसे है। चूर्णिकारने इसका खुलासा कर दिया कि शतकको ही बन्धशतक कहा है। अतः चूर्णिकारके समयमें शतक नामसे ही इसकी ख्याति थी ऐसा प्रतीत होता है। शतकके उत्तरार्धमें बन्धका वर्णन होनेसे उसे बन्ध-शतक नाम दिया गया है। किन्तु शतककी एक सौ सात गाथाओंमें उसका कोई नाम नहीं दिया। प्रथम गाथा[4] में कहा है—'इस प्रकरणमें जीवस्थान और गुणस्थानोंके विषयमें दृष्टिवादसे सार-युक्त गाथाएं कहूंगा, उन्हें सुनो,।' आगे गाथा[5] २-३में वर्णित विषयकी सूची दी है। उसमें कहा है—'जिन जीवस्थानों और गुणस्थानोंके जितने उपयोग और योग होते

---

१. दोनों संस्करण राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित हुए हैं।

२. 'केण कयं ? ति शब्दतर्क न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विजाणएण अणेगवाय समालद्धविएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं।—चु०।

३. ···'अनेकवादसमरविजयिभिः श्रीशिवशर्मसूरिभिः संक्षिप्ततरं सुखबोधं च गाथाशत-परिमाणनिष्पन्नं यथार्थनामकं प्रकरणमभ्यधायीति।' श० टी०।

४. 'सुणह इह जीवगुणसंनिएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ। वोच्छं कइवइयाओ गाहाओ दिट्ठिवा-याओ ॥१॥—शतक।

५. 'उवयोग जोग विही जेसु य ठाणेसु जत्तिया अत्थि। जप्पच्चइओ बंधो होइ जहा जेसु ठाणेसु ॥२॥ बंधं उदयमुदीरणविहिं च तिण्हं पि तेसि संजोगं। बंधविहाणे य तहा किंचि समासं पवक्खामि ॥३॥—शतक।

हैं उन्हें कहूँगा। जिन गुणस्थानोंमें जिन-जिन कारणोंसे कर्मबंध होता है, उन्हें कहूंगा। बन्ध उदय और उदीरणाकी विधिको तथा उनके संयोगको कहूँगा। तथा संक्षेपमें बंधके भेदोंका कथन करूंगा'॥ अन्तमें गाथा[1] १०४में कहा है कि—"बिन्दुक्षेप रूप से इस बन्ध-समासका कथन किया। यह कर्मप्रवाद रूपी श्रुत-समुद्रका निस्यन्द मात्र है॥' गाथा[2] १०५में कहा है—'मुक्त अल्पज्ञानी मन्द-मतिने बन्धविधान समासको रचा, बन्ध-मोक्षके ज्ञाता कुशल पुरुष उसे पूरा करके कहें॥' इस अन्तिम गाथाके अनुसार तो यदि ग्रन्थको कोई नाम दिया जा सकता है तो वह बन्धविधान समास अथवा बन्धसमास है। उसी परसे ग्रन्थकारने उसे अपनी दूसरी कृति कर्मप्रकृतिमें बन्धशतक नाम दिया जान पड़ता है। उसके सम्बन्धमें और कुछ लिखनेसे पूर्व ग्रन्थका विषय-परिचय संक्षेपमें दिया जाता है।

इस विषय परिचयसे प्रकट होता है प्रस्तुत शतक ग्रन्थ एक संग्रह-ग्रन्थ जैसा है। उसकी प्रथम गाथाके अनुसार भी उसके रचयिताने दृष्टिवादसे कुछ गाथाओंका सम्भवतया संकलन किया है। इसीसे इसमें विविध विषयों का कथन पाया जाता है। इसका क्रमबद्ध प्रकरण बन्धसमास है, वही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। किन्तु उसमें भी परिपूर्णता नहीं है। गाथा ५२-५३ में कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतला कर जघन्य स्थितिको करनेकी प्रतिज्ञा की है किन्तु जघन्य स्थिति नहीं बत-लाई। शतकचूर्णिमें एक गाथा दी है जिसमें जघन्य स्थितिका कथन है और चूर्णिकार ने उसकी व्याख्या भी की है किंतु उस गाथाको मूलमें सम्मिलित नहीं किया। हेमचंद्र की टीकामें चूर्णिकी उस टीककी चर्चा तक नहीं है। प्रतिज्ञा करके भी कथन न करना कर्मप्रकृतिकार जैसे आचार्यके लिए उपयुक्त नहीं है। अतः बन्धशतककी गाथाएं संगृहीत जान पड़ती हैं। इसका समर्थन ग्रन्थके प्रारम्भकी एक गाथासे होता है जो दोनों संस्करणोंमें यथास्थान मुद्रित है किन्तु उसपर चूर्णि नहीं है और इसी लिए टीकाकारने भी उसे मूलमें सम्मिलित नहीं किया किन्तु अपनी टीकामें उसे उद्धृत करते हुए लिखा है—' यह[3] गाथा ग्रन्थके आदिमें पायी जाती है किंतु

१. 'एसो बंधसमासो बिंदुक्खेवेण वन्निओ कोइ। कम्मपवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥—'। श.।

२,—'बंधविहाणसमासो रइओ अप्प सुयमंद मइणा उ। तं बंधमोक्ख णिउणा पूरेऊणं परिकहेंतु ॥१०५॥'—श०।

३. 'अरहंते भगवंते, अणुत्तर परक्कमे पणमिऊणं। बंधसमये निबद्ध' संग्रहणियमो पवक्खामि ॥१॥—(इतीयं) गाथा आदौ दृश्यते, सा च पूर्वचूर्णिकारैरव्याख्यातत्वात् प्रक्षेप-गाथेति लक्ष्यते, सुगमा च। नवरं कर्मप्रकृतिप्राभृतादुद्धृत्यसंग्रहमेनमन्तस्तत्त्वगृहीतं प्रवक्ष्यामि। कथंभूतम्? इत्याह—'निबद्धम्' आरोपितम्, क्व? इत्याह 'बन्धशतके' प्रस्तुतप्रकरणे। इदं हि शतगाथानिष्पन्नत्वाच्छतकोऽभिधीयते। बन्ध एव चात्र

पूर्व चूर्णिकारोंने भी उसका व्याख्यान नहीं किया है इसीलिए वह प्रक्षेप-गाथा प्रतीत होती है और सुगम भी है।' फिर भी टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका शब्दार्थ कर दिया है। गाथामें कहा है—'अनुत्तर पराक्रमी अरहन्त भगवान्‌को नमस्कार करके बन्धशतकमें निबद्ध इस संग्रहको कहूंगा।'

टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका अर्थ इस प्रकार किया है—'कर्मप्रकृति प्राभृतसे उद्धृत करके इस बन्धशतक नामके प्रकरणमें आरोपित इस संग्रहको कहूंगा।' सौ गाथाएं होनेके कारण इसे शतक कहा जाता है और चूंकि इसमें बन्धका ही विस्तारसे कथन किया जायेगा इसीलिए इसे बन्धप्रधान शतक बन्ध-शतक कहा है।'

इस गाथामें मंगलाचरणके साथ बन्धशतक नाम भी आ जाता है। इसे मूल ग्रन्थसे अलग कर देनेपर ग्रन्थ बिना मंगलका और बिना नामका रह जाता है। बन्धशतकके रचयिताकी दूसरी अमरकृति कर्मप्रकृति[1]के आरम्भमें भी इसी प्रकार गाथाके पूर्वार्द्धसे मंगल करके उत्तरार्धसे उसके प्रतिपाद्य विषयका सूचन किया गया है। अतः उक्त गाथाकी स्थिति विचारणीय है। उससे शतककी स्थितिपर प्रकाश पड़ता है। बन्धशतक संग्रहात्मक होनेसे तथा प्रथम कृति होनेसे कर्मप्रकृति जैसी प्रौढ़ कृतिकी समकक्षता नहीं कर सकता और इसीसे उसके सम्बन्धमें ऐसा सन्देह होना संभव है कि कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट बन्धशतक प्रस्तुत बन्धशतक नहीं है। किन्तु उसकी पुष्टिमें प्रबल प्रमाणोंका अभाव है।

शतक चूर्णि—

प्रस्तुत शतक पर एक चूर्णि उपलब्ध है जो मुद्रित हो चुकी है। यह लघु चूर्णि है इसके सिवाय एक बृहत्-चूर्णि भी थी। उसका उल्लेख हेमचंद्रने तो अपनी शतक[2] टीकामें किया ही है, किन्तु मलयगिरि[3], देवेन्द्रसूरि[4] आदिने भी अपनी टीकाओंमें किया है। इसीसे टीकाकार हेमचन्द्रने प्रस्तुत मुद्रित चूर्णिको लघुचूर्णि कहा है। बृहच्चूर्णि अभी तक अनुपलब्ध है। लघुचूर्णिमें बृहच्चूर्णिका कोई उल्लेख देखनेमें नही आया। इससे निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि दोनोंमेंसे

विस्तरेणाभिधास्यते अतो बन्धप्रधानः शतको बन्धशतकस्तस्मिन्नित्यर्थः ॥१॥—शतक टी०।

१. 'सिद्धं सिद्धत्थसुयं वंदिय णिद्धोय सव्वकम्ममलं। कम्मट्ठगस्स करणट्ठुदय संताणि वोच्छामि ॥ १ ॥—क० प्र०।

२. 'उक्तं च बृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे' (पृ ११)। 'एतच्च बृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति व स्वमनीषिका भावनीयेति'—(पृ २८) श० टि०

३. 'उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ (पृ० १९, ३८,, ७८,—पञ्चसं० टी०, पृ० १४७,१७३।

४. 'शतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्— शतक टी० पृ० १२०।

कौन पहले रची गयी थी। मलयगिरिने पञ्चसंग्रहकी टीकामें दोनोंका निर्देश किया है।

हेमचन्द्रकृत शतक टीकासे प्रकट होता है कि दोनों चूर्णियोंमें सैद्धान्तिक मत-भेद था।[1] गाथा ३५ की टीकामें श्री हेमचंद्रने लिखा है—'लघुचूर्णिके अभिप्रायके अनुसार श्रेणिमें स्थित जीवके धर्मध्यान और शुक्लध्यान होनेमें कोई विरोध नहीं इसलिए गाथामें जो दसवें गुणस्थान सूक्ष्मसाम्परायमें शुक्लध्यान कहा है उसमें कोई विरोध नहीं है।....किंतु बृहच्चूर्णिका अभिप्राय है कि सूक्ष्म-सरागके भी धर्मध्यान ही होता है। गाथामें जो सूक्ष्म-सरागके शुक्ल ध्यान कहा है वह उपचारसे कहा है।' टीकाकारने दोनों ही मतोंके समर्थक प्रमाण अपनी टीकामें दिये हैं।

चूँकि बृहच्चूर्णि अनुपलब्ध है अतः लघुचूर्णिके सम्बन्धमें ही थोड़ा-सा प्रकाश डाला जाता है।

चूर्णिकारने कर्मप्रकृति चूर्णिको खूब अपनाया है किन्तु उसका उल्लेख कम्म-पयडिसंगहणी नामसे ही किया है, कहीं चूर्णिरूपसे उसका स्वतन्त्र निर्देश नहीं किया।

लघुचूर्णिमें ग्रन्थान्तरोंसे काफी पद्य उद्धृत किये गये है किन्तु हम उनमेंसे कुछ ही पद्योंके मूल स्थानोंको खोज सके। चौदह गुणस्थानोंके नामोंको बतलाने वाली गाथा ९ की चूर्णिमें चूर्णिकारने चौदहों गुणस्थानोंका स्वरूप बतलाते हुए 'उक्तं च' करके अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनमेसे तीन गाथाएँ भगवती आरा-धना की हैं। क्वचित् शब्द-भेद अवश्य है।

> 'पयमक्खरं च एक्कं पि जो णरो चेई सुत्तणिद्दिट्ठं।
> सेसं रोएंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥'

यह गाथा भ० आ० की ३९वीं गाथा है। इसमें केवल भाषा भेद सम्बन्धी अन्तर है। यथा 'पय' की जगह पद, 'रोचेई' की जगह 'रोचेदि' और 'रोएंतो' की जगह 'रोचंतो'।

दूसरी गाथा है—

> सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
> सुयकेवलिणा रइयं अभिन्नदसपुव्विणा कहियं ॥'

---

१. श्रेणिव्यवस्थितस्य हि अन्तोद्र्मे शुक्लध्यानद्वयमपि लघुचूर्ण्यभिप्रायेणाविरुद्धमिति शुक्ल-ध्यानस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यते।...बृहच्चूर्ण्यभिप्रायस्तु सरागस्य सूक्ष्मसरागस्यापि-धर्मध्यानमेव। यत्पुनरिह शुक्लध्यानाभिधानं तदासन्नवीतरागभावमपेक्ष्योपचारतो द्रष्टव्यम्। —श. टी. पृ. ३७।

भ० आ० की यह ३४वीं गाथा है। इसमें थोड़ा शब्दभेद है। यथा—'गणधर गथिदं, और 'सुयकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकथिदं च'।
तीसरी गाथा—

'तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण जाण अत्थाणं।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं॥'

यह भ० आ० की गाथा ५६ है। इसमें केवल 'जाण'के स्थानमें 'होइ' पाठ है। शेष ज्यों-की-त्यों है। ये तीनों गाथाएँ एक साथ उद्धृत हैं। तथा श्वेताम्बर साहित्यमें हमें यह उपलब्ध नहीं हो सकीं। अतः चूर्णिकारने इन्हें भगवती आराधनासे ही लिया जान पड़ता है।

सासादन गुणस्थानका वर्णन करते हुए चूर्णिकारने दो गाथाएँ उद्धृत की हैं उनमेंसे एक गाथा कसायपाहुड़की ९७वीं गाथा इस प्रकार है—

'उवसामगो य सव्वो णिव्वाघाएण तह णिरासाणो।
उवसन्ते सासाणो णिरसाणो होइ खीणम्मि॥'

तीसरे गुणस्थानका स्वरूप कथन करते हुए पाँच गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनमेंसे एक गाथा दिगम्बरीय प्राकृत पंच-संग्रह की है। गाथा इस प्रकार है—

'सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो॥'

दर्शनके स्वरूपको बतलानेवाली नीचे लिखी गाथा दिगम्बर परम्पराके प्राकृत पंच-संग्रह (१-१३८) गोमट्टसार (गा० ४८१) तथा द्रव्यसंग्रह (गा० ४३) में पाई जाती है—

'जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥'

यह गाथा भी शब्दभेदके साथ चूर्णिमें उद्धृत है। अन्य भी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं किन्तु उनका स्थल मिल सके तो चूर्णिका समय निश्चित करनेमें उससे बहुत सहायता मिलने की आशा है। एक गाथा विशेषावश्यक भाष्यकी भी उद्धृत होने से इतना निश्चित है कि चूर्णिकी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे पहले नहीं हुई।

चूर्णि में कतिपय मतभेदोंका भी निर्देश है—

---

१. भ० आराधनाके सम्बन्धमें जाननेके लिये देखो—'यापनीयोंका साहित्य' और भगवती आराधना और उनकी टीकाएँ' शीर्षक लेख। जै. सा. इ. में।

शतक गाथा ११ में पहले और दूसरे गुणस्थानमें पाँच उपयोग बतलाये हैं—मति अज्ञान, श्रुताज्ञान, विभङ्ग, चक्षु दर्शन और अचक्षु दर्शन[1]। चूर्णिमें कहा है कि अन्य छै उपयोग मानते हैं अर्थात् विभङ्ग ज्ञानसे पहले अवधि-दर्शन भी मानते हैं। दिगम्बर परम्परामें प्रतिपादित पाँच उपयोगकी ही मान्यता है, उसमें कोई मतभेद नहीं है। श्वेताम्बर परम्परामें कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंमें अनेक मत-भेद पाये जाते हैं। कार्मिक अर्थात् कर्मशास्त्रके वेत्ता सैद्धान्तिक अर्थात् आगमा-नुयायी। प्रज्ञापना सूत्रमें अज्ञानियोंके भी अवधि-दर्शन माना है। किन्तु शतक, पञ्चसंग्रह, आदिमें नहीं माना है।

सित्तरी—

सित्तरी अथवा सप्ततिका नामक एक कर्मविषयक प्राचीन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें बहुमान्य है। इसके भी कर्ताका पता नहीं चल सका है। श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित ग्रन्थ संख्या ८६ में यह ग्रन्थ मलयगिरिकी टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है। उसमें इसे चन्द्रर्षि महत्तरकृत बतलाया है। किन्तु प्रस्तावनामें मुनिश्री पुण्यविजयजीने इसे भ्रामक बतलाते हुए इस प्रकार-का भ्रम होने का कारण भी बतलाया है।

सप्ततिका प्रकरण मूलकी प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियोंके अन्तमें चन्द्रर्षि महत्तर-के नामको लिये हुए एक गाथा इस प्रकार मिलती है—

गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ नियमियाणं एगूणां होइ नउई उ॥

टीकाकारने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'चन्द्रमहत्तर आचार्यके मतका अनुसरण करनेवाली ७० गाथाओंमें यह ग्रंथ रचा गया है। उसमें टीकाकारोंके द्वारा रचित नई गाथाओंके मिलनेसे गाथा संख्या नवासी हो गई है। इसके विवेचनमें लिखा है कि इस सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रमहत्तर आचार्यने तो पहले सत्तर ही गाथाएँ रची थी, आदि।

उक्त गाथाके इस भ्रमपूर्ण अर्थके कारण ही सप्ततिकाको चन्द्रर्षि-महत्तरकृत मान लिया गया जान पड़ता है। किन्तु गाथाका अर्थ है—'चन्द्रर्षि महत्तरके मतका अनुसरण करनेवाली टीकाके आधारसे सत्तरिकी गाथा ८९ हो गई।' इसमें

---

१. 'अन्ने भणंति-ओहिदंसणसहिया छ उवओगा—श० चू० पृ० ११। यत्तु अवधिदर्शनं तस्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टश्रुतविदो नेच्छन्ति तन्न सम्यगवगच्छामः। अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते। यत उक्तं प्रज्ञप्तौ—।–पञ्चसं० मलयटीका भा०२, पृ०१९।

सित्तरी प्रकरणकी गाथाओंमें वृद्धि होनेका कारण बतलाया है। उसके कर्ताके विषयमें कुछ भी नहीं कहा। आचार्य मलयगिरिने भी अपनी टीकामें इस विषयमें कुछ भी नहीं लिखा। सित्तरीकी चूर्णिमें[1] भी उसके कर्ताका कोई निर्देश नहीं है। अतः सित्तरीके कर्ताका प्रश्न अभी अनिर्णीत ही है। जैसे गाथा संख्याके आधारपर शतक नाम पड़ा वैसे ही गाथा संख्याके आधारपर इस ग्रन्थका नाम प्राकृतमें सित्तरी है। संस्कृतमें उसे सप्ततिका कहते हैं। मलयगिरि टीकाके अनुसार ग्रन्थकी गाथा संख्या ७२ है। किन्तु चूर्णि सहित प्रकाशित सित्तरीमें गाथा संख्या ७१ है। इस अन्तरका कारण यह है कि मलयगिरि टीकाके अनुसार जिस गाथाकी संख्या २५ है उस गाथाको उक्त चूर्णि सहित सित्तरीमें मूलमें सम्मिलित नहीं किया है। यद्यपि उस पर भी चूर्णि है। किन्तु गाथाके आगे 'पाठंतरं' छपा हुआ है और पादटिप्पणमें छपा है—'अन्यकर्तृका चेयं गाथा' अर्थात् यह गाथा किसी अन्यके द्वारा रचित है। यदि उसे मूलमें सम्मिलित कर लिया जाये तो सित्तरीकी गाथा संख्या ७२ समझनी चाहिये। श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगराकी ओरसे प्रकाशित हिन्दी अनुवाद सहित सप्ततिका प्रकरणमें भी गाथा ७२ ही है।

इन ७२ गाथाओंके सिवाय दस अन्य भाष्य गाथाएँ हैं जिन पर चूर्णि भी है और टीका भी है। तथा पाँच गाथाएँ और हैं उनपर भी चूर्णि और टीका है। ये गाथाएँ विवरणात्मक हैं। इनके सिवाय एक गाथा और भी है जो आवश्यक[2] निर्युक्ति की है। इससे प्रतीत होता है कि मूल सप्ततिकाके व्याख्यानके लिए चूर्णिकारके द्वारा ग्रन्थान्तरोंसे कुछ अन्य गाथाएँ भी सम्मिलित की गयी थीं और मूल सप्ततिकामें अन्तर्भाष्य गाथाओं तथा उन अन्य गाथाओंके मिल जानेसे उनकी संख्या ८९ हो गयी। तथा पश्चात् उन सम्मिलित की गयी गाथाओंको भी मूलकर्ताकी ही समझ लिया गया। यह बात मलयगिरिकी टीकासे प्रकट होती है। उसमें सम्मिलित की गई किन्हीं किन्हीं गाथाओं का निर्देश 'तथा चाह सूत्रकृत्' कहकर किया गया है, जो बतलाता है कि मलयगिरि उन्हें मूलकर्ताकी मानते हैं। किन्तु चूर्णिके अनुसार गाथा नं० ६२ और ६३ तथा टीकाके अनुसार गाथा नं ६३-६४ की व्याख्याके अन्तर्गत आयी तीन गाथाएँ दिगम्बरीय सप्ततिकाकी हैं। इस तरहसे सप्ततिकाकी गाथा संख्यामें अन्तर पड़ गया है।

---

१. मूल तथा अन्तर्भाष्यके साथ यह चूर्णि मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

२. "संभिन्नं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओसव्वं। तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च ॥१२७॥ आ० नि०।

रचयिता तथा रचनाकाल—

इस सप्ततिकाकी रचना किसने की यह भी अज्ञात है। चूर्णि वगैरहमें भी उसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु सित्तरी और शतक दोनोंके आरम्भ और अन्तमें एकरूपता की झलक पायी जाती है। शतक की तरह सप्ततिकाके आदिमें भी मंगल नहीं किया गया है। शतककी गाथा १०४ में उसे कर्मप्रवाद श्रुत-सागरका निष्यन्द कहा है। सप्ततिकाकी प्रथम गाथामें उसे दृष्टिवादका निष्यन्द कहा है।

सप्ततिकाकी पहली और अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

सिद्धपए हि महत्थं बंधोदयसन्तपगइठाणाणं।
वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥
जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धोत्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरे ऊणं परिकहंतु ॥७२॥

शतककी आदि तथा अन्तिम गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सुणह इह जीवगुण सन्निएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ।
वोच्छं कइवइयाओ गाहाओ दिट्ठीवायाओ ॥१॥
ऐसो बंधसमासो बिन्दुक्खेवेण वन्निओ कोइ।
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥
बंधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमंद मइणा उ।
तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊणं परिकहेंति ॥१०५॥

यद्यपि भावगत तथा शब्दगत उक्त सादृश्य उल्लेखनीय है किन्तु उसके आधारपर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। फिर भी इतना तो स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि शतककी तरह ही सप्ततिकाका रचनाकाल प्राचीन है। क्योंकि जैसे जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृतिका निर्देश मिलता है वैसे ही सित्तरी[1] का भी निर्देश मिलता है। अतः यह निश्चित है कि कर्मप्रकृति और उसमें निर्दिष्ट शतककी तरह ही सप्ततिकाकी भी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीके पश्चात्की नहीं है।

विषयपरिचय—

सप्ततिकाकी प्रथम गाथामें बन्धप्रकृति-स्थान, उदयप्रकृति-स्थान और सत्त्व-प्रकृति स्थानका संक्षेपसे कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। कर्मप्रकृतिका विषय-

१. 'सयरीए मोहबंधट्ठाणा—॥९०॥ 'सयरीए दो विगप्पा'''॥९१ ,सयरीय पंचविहबंधगस्स ...॥९२॥ विशेषणवती।

परिचय कराते हुए दस करणोंका अथवा कर्मोंमें होनेवाली दस अवस्थाओंका स्वरूप बतला आये हैं। उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्ता। उन्हीं-का विशेषरूपसे कथन इस ग्रन्थमें है। जिसका निर्देश दूसरी गाथामें किया गया है। उसमें कहा गया है—कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोंका वेदन (उदय) होता है तथा कितनी प्रकृतियोंका बन्ध और वेदन करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोंका सत्व होता है। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृ-तियोंके विषयमें अनेक भंग जानने चाहिये।' इन्हीं भंगोंका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है। यथा, गाथा तीनमें कहा है—आठों कर्मोंका अथवा सात कर्मोंका अथवा छह कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके आठों कर्मोंका उदय और सत्त्व होता है। (पाँच, चार, तीन या दो कर्मोंका बन्ध किसीके नहीं होता)। और एक कर्मका बन्ध करनेवाले जीवके तीन विकल्प होते हैं—एकका बन्ध, सातका उदय और आठकी सत्ता १, एकका बन्ध, सातका उदय और सातकी सत्ता २, एकका बन्ध, चारका उदय और चार की सत्ता ३। पहला विकल्प ग्यारहवें गुणस्थान-वर्ती जीवके होता है क्योंकि उसके मोहनीय कर्मका उदय नहीं होता। दूसरा विकल्प बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योंकि उसका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है। और तीसरा विकल्प तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योंकि उसके चार घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं। और इन तीनों गुणस्थानोंमें केवल एक सातवेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। गाथा चारमें उक्त भंगोंका कथन जीव-समासोंमें और गाथा पांचमें गुणस्थानोंमें किया है। आगे इसी प्रकारका कथन आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंको आधार बनाकर किया गया है।

कर्म प्रकृति और सप्ततिकामें मतभेद—

कर्मप्रकृति और सप्ततिकामें कुछ मतभेद पाया जाता है। सप्ततिका गाथा २८ में नामकर्मके सत्त्व स्थान ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५, ९, ८ ये बारह बतलाये हैं। और कर्मप्रकृतिमें (सत्ता० गा० ९) १०३, १०२, ९६, ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२, ९-८ ये बारह सत्त्व स्थान नाम कर्मके कहे हैं। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकार पाँच बन्धन और पाँच संघात नाम कर्मोंको अलग गिनते हैं। किन्तु सप्ततिकामें उनकी पृथक् गणना नहीं की। उनका अन्तर्भाव शरीरमें ही कर लिया है। सप्ततिका[1] चूर्णिमें 'अण्णे'[1] करके कर्मप्रकृतिके मतको आगम और युक्तिसे विरुद्ध कहा है।

सप्ततिका गाथा ६१ में अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया

---

१. 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि संतट्ठाणाणि विगप्पयंति, ताणि आगमे जुत्तीहिय न घडंति।'—सि० चू०, पृ० २७।

है किन्तु कर्मप्रकृति (उपश० गा० ३१) में उसका निषेध किया है । सप्ततिका [1]चूर्णिमें 'अण्णेसि' करके उसका निर्देश किया है ।

इससे यह निश्चित है कि सप्ततिका कर्मप्रकृतिकार की कृति नहीं है । अतः शतक और सप्ततिकाकी आद्य तथा अन्तिम गाथाओंमें पाये जानेवाले सादृश्यके आधारपर उन दोनोंका कर्ता तब तक एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता जबतक शतक को कर्मप्रकृतिकारकी कृति न माना जाये ।

कर्मस्तव

इस मूल ग्रन्थकी संख्या ५५ है । प्रारम्भिक[2] गाथामें जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके बन्ध, उदय और सत्त्वसे युक्त 'स्तव' को कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है । इसी परसे इसका कर्मस्तव नाम प्रवर्तित हुआ प्रतीत होता है । क्योंकि कर्मविषयक बन्ध उदय सत्त्वका ही इसमें विवेचन है । दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रहके अन्तर्गत तीसरा अधिकार कर्मस्तव नामक है । इस अधिकारमें प्रकृत कर्मस्तवकी प्रायः सभी गाथाएँ पाई जाती हैं अतः इसके कर्मस्तव नाम के आधार पर ही उक्त पंचसंग्रह के तीसरे अधिकारको कर्मस्तव नाम दिया गया है । चन्द्रर्षिकृत पंचसंग्रहकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें कर्मस्तवका उल्लेख मिलता है । अतः प्रकृत ग्रन्थका कर्मस्तव नाम सुसिद्ध एवं प्रसिद्ध है ।

स्तवका प्रचलित अर्थ तो स्तुतिपरक ही है किन्तु स्तव और स्तुतिमें अन्तर है । अंगबाह्यके चौदह भेदोंमेंसे एक भेद चतुर्विंशति स्तव है और एक भेद वन्दना है । चौबीस तीर्थङ्करोंके स्तवनको चतुर्विंशति स्तव[3] कहते हैं और एक तीर्थङ्कर विषयक स्तुतिको वन्दना कहते हैं । अतःस्तुतिसे स्तव व्यापक होता है ।

षट्खण्डागमके वेदना खण्डके कृति अनुयोग द्वारमें आगममें उपयोगके प्रकार वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना अनुप्रेक्षा तथा स्तव स्तुति आदि

---

१. 'अण्णेसिं आयरियाणं अणंताणुबंधीणं उवसामणा नाम नत्थि, विसंयोजणाणाम अणंताणुबंधीणं भवति ।' सि० चु० पृ० ६१ ।

२. 'नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे । बंधुदयसत्तजुत्तं वोच्छामि थयं निसामेह ।' गोविन्दगणि की संस्कृत टीकाके साथ कर्मस्तव श्रीजैन आत्मानन्दसभा भावनगरसे(वि० सं० १०७२) 'सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः' के अन्दर प्रकाशित हो चुका है ।

३. 'चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराणं वंदणविहाणं...।बंदणा एकजिणजिणालयविषय...।' —षट्खं. पु. १, पृ. ९६-९७ ।
'एगदुगेतिंसलोका थुतीसु, अन्तेसि होइ जा सत्त । देविदत्थयमादी तेणं तु परं थया होइ ।।'—व्यव० सू० ७ उ० ।

बतलाये हैं । इनका लक्षण बतलाते हुए[1] धवलाकारने 'सब अंगोंके विषयोंकी प्रधानतासे बारह अंगोंके उपसंहारको स्तव और बारह अंगोंमेंसे एक अंगके उपसंहारको स्तुति कहा है । इससे भी यही व्यक्त होता है कि स्तव सकलांगी होता है और स्तुति एकांगी होती है । अतः उक्त कर्मस्तवमें अपने विषयका पूर्ण वर्णन है ऐसा ध्वनित होता है ।

यह पहले बतलाया है कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं उनमें तीन मुख्य हैं–बन्ध, उदय और सत्ता । कर्मोंके बंधनेको बन्ध, समयपर फल देनेको उदय और बन्ध के पश्चात् तथा उदय से पूर्व स्थिति रहनेको सत्ता कहते हैं ।

कर्म आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय । इनके अवान्तर भेद क्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच कहे हैं । नाम कर्म के बयालीस भेदों के भी अवान्तर भेद मिलाने से नामकर्मके ९३ भेद होते हैं इस तरह आठों कर्मोंके कुल भेद १४८ होते हैं । उनमें भी अभेद विवक्षासे बन्धप्रकृतियोंकी संख्या १२० और उदय प्रकृतियोंकी संख्या १२२ ली गयी है किन्तु सत्त्व प्रकृतियों की संख्या १४८ ही ली गयी है ।

मोक्षके लिये प्रयत्नशील जीवकी आन्तरिक अभ्युन्नति के सूचक चौदह दर्जे हैं जिन्हे गुणस्थान कहते हैं । ज्यों-ज्यों जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता जाता है उसके कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्तामें ह्रास होता जाता है । पहले दूसरे तीसरे आदि गुणस्थानोंमें कर्मोंके उक्त १२०, १२२ और १४८ भेदोंमेंसे किन किन कर्मोंका बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता है यही कथन इस कर्मस्तवमें किया गया है ।

गा० २-३ में बतलाया है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें सोलहका, दूसरे सासादनमें पच्चीसका और चौथे अविरत गुणस्थानमें दस प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है । इसी तरह आगे पाँचवें गुणस्थानमें चारका, छठेंमें छैका, सातवें में एकका, आठवेंमें छत्तीसका, नौवेंमें पांचका, दसवेंमें सोलहका और तेरहवें सयोग गुणस्थानमें एक सातावेदनीयका बन्धविच्छेद होता है ।

गाथा चारमें बतलाया है कि चौदह गुणस्थानोंमें क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३०, १२ कर्मप्रकृतियोंका उदय रुकता चला जाता है । पाँचवीं गाथामें कहा है कि पहलेसे तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ८, ४, ६, ६, १, २, १६, और ३९ कर्मोंकी उदीरणाका विच्छेद होता है । इसी तरह आगे गा० ५, ६, ७ में सत्तासे विच्छिन्न होनेवाले कर्मोंकी संख्याका निर्देश है । आगे उन्हींका विस्तारसे कथन करते हुए बतलाया है कि किस-किस

---

१. 'बारसंगसंघारो सयलंगविसयप्पणादो , थवो णाम । ...बारसंगेसु एक्कंगोवसंघारो थुदी णाम ।'—षट्खं०, पु. ९, पृ. २६३ ।

गुणस्थानमें कौन-कौन कर्मप्रकृतियोंको बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता है।

कर्मस्तवके संबंधमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें क्षीणकषाय गुण-स्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला की उदयव्युच्छित्ति बतलाई है। दिगम्बर परम्परामें यही मत सर्वमान्य है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें सत्कर्मका मत विशेष मान्य है जिसके अनुसार क्षपकश्रेणीमें और क्षीणकषायमें निद्रा प्रचला-का उदय नहीं होता। सप्ततिका-उसकी चूर्णि, कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिका यही मत है। नव्यकर्मग्रन्थके कर्ताने भी इसी मत को मान्य किया है। अकेले चन्द्रर्षि महत्तरने कर्मस्तवका मत मान्य किया है।

रचनाकाल

इस ग्रन्थके कर्ताका पता न लग सकनेसे इसका रचनाकाल भी अनिश्चित है। फिर भी इसके अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले उल्लेख आदिसे इसकी प्राचीनता व्यक्त होती है। इसकी वृत्ति गोविन्दाचार्यने रची है। यह गोविन्दाचार्य नाग-देवके शिष्य थे। किन्तु उनके समयादिका भी पता नहीं चलता। इस वृत्तिकी ताड़पत्रीय प्राचीन प्रति सं. १२८८ की लिखी हुई मिलती है। अतः यह सुनिश्चित है कि गोविन्दाचार्य सं० १२८८ से पहले हो गये हैं। और इसलिए कर्मस्तव उससे भी पहले रचा जा चुका था।

बन्धस्वामित्व नामक तीसरे प्राचीन कर्मग्रन्थके भी कर्ताका पता नहीं है उसमें कर्मस्तवका[1] का निर्देश किया गया गया है। अतः इससे कर्मस्तव पहले रचा गया था। बन्धस्वामित्वकी टीका वृद्धगच्छीय देव सूरिके शिष्य हरिभद्रसूरिने रची थी। यह वृत्ति अणहिल्ल[2] पाटकपुरमें जयसिंहदेवके राज्यमें सं० ११७२ में रची गयी थी। इसमें [3]कर्मस्तवटीका का निर्देश है। यह टीका गोविन्दाचार्यकृत ही जान पड़ती है। अतः कर्मस्तवकी उक्त टीका सं० ११७२ से भी पहले की है, इसलिये कर्मस्तव उससे भी पूर्वका है। दि० प्राकृत पंचसंग्रहके तीसरे अधिकार का नाम भी कर्मस्तव अथवा बन्धोदय सत्त्वाधिकार है। और उसमें उक्त कर्मस्तवकी गाथाएँ वर्तमान हैं। तथा चन्द्रर्षिकृत पंचसंग्रहकी स्वोपज्ञ[4] टीकामें कर्मस्तवका

---

१. 'इय पुव्वसूरिकयपगरणेसु जडबुद्धिणा मय रइयं। बन्धस्सामित्तमिणं नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥५४॥'— ब० सा०।

२. 'अणहिल्लपाटक पुरे श्रीमज्जयसिंह देवनृपराज्ये,' बं. सा. टी. प्रशस्ति।

३. 'आसां दशानामपि गाथानां पुनर्व्याख्यानं कर्मस्तवटीकातो वोद्धव्यं'—बंस्सा. टी.।

४. 'एवमेकादश भङ्गा. सप्ततिकाकार मतेन। कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति'— —पं. सं. स्वो. भा. २, पृ. २२७।

निर्देश है। अतः उक्त कर्मस्तव इन दोनों पंचसंग्रहोंसे प्राचीन है। वीरसेनकी धवला टीकामें उद्धृत अनेक गाथाएँ दि० पंचसंग्रह में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। अतः दि० पंचसंग्रह विक्रमकी नौवीं शताब्दीसे पहले रचा गया था और इसलिए कर्मस्तव उससे भी पूर्वका है। चन्द्रर्षि के प्राकृत पंचसंग्रह की स्वोपज्ञ टीकामें विशेषावश्यक भाष्य का उद्धरण है और वि० भा० वि० सं० ६८६ में रचा गया था। अतः चन्द्रर्षि विक्रमकी सातवीं शतीसे पूर्व नहीं हुए यह निश्चित है।

विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृति और सितरीका तो निर्देश है किन्तु कर्मस्तवका नहीं है।

किन्तु उसके आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इसलिए कर्मस्तव उसके बाद होना चाहिए। क्योंकि कर्मस्तवका क्षीण कषायके उपान्त्यसमयमें निद्राद्विककी व्युच्छितिवाली बात श्वेताम्बर कार्मिकोंके विरुद्ध हैं। और इसलिए कर्मस्तवकी ओर कट्टर पन्थियोंकी अनास्था होना स्वाभाविक है जैसा कि आचार्य मलयगिरिके वचनोंसे प्रकट होता है—

'केचित् पुनः क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छन्ति तत्सत्कर्मकर्मप्रकृत्यादिग्रन्थैः सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते,—(सप्तति० टी०, पृ० १५८)

'अर्थात् कोई आचार्य क्षपक और क्षीणमोहोंमें भी निद्रा-प्रचलाका उदय मानते हैं, वह सत्कर्म और कर्मकृति आदि ग्रन्थों से विरोधको प्राप्त होता है; इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं।

विशेषावश्यक भाष्यकारने भी शायद इसीलिए उसकी उपेक्षा की हो। कर्मस्तवमें कर्मोंके नाम तथा भेदसंख्यावाली गा० ८-९, शतक में ३८, ३९ नं० पर है। इसी तरह गा० ४८ सप्ततिचूर्णिमें पृ० ६६ पर है। मलयगिरिने उसका उल्लेख 'तथाचाह सूत्रकृत्' करके किया है। जिससे प्रकट होता है कि वह उसे सप्ततिकारकी मानते हैं।

इस सादृश्यसे भी कोई निष्कर्ष निकालना तो सम्भव नहीं है। किन्तु सित्तरी और शतककी प्राचीनता की दृष्टिसे यही सम्भावना की जा सकती है कि सम्भवतया वह उन दोनों के पश्चात् और दि० पं० सं के पहले रचा गया है।

दि० प्राकृत पञ्च संग्रह

पंच संग्रह नामके चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं दो प्राकृत में और दो संस्कृतमें। प्राकृत पंचसंग्रह एक दिगम्बर परम्परा का है और एक श्वेताम्बर परम्पराका। यहाँ प्रथमकी चर्चा पहले की जाती है।

इस पंच संग्रहको प्रकाशमें लानेका श्रेय वीर सेवा मन्दिर देहलीके पं०

परमानन्दको है। उन्होंने 'अनेकान्त' वर्ष ३, कि. ३ में 'अति प्राचीन प्राकृत पंच संग्रह' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया था। उसीसे इसकी जानकारी प्राप्त हुई थी। अब तो यह प्रकाशित हो चुका है।

इस पंचसंग्रहमें न तो उसके रचयिताका ही कोई निर्देश है और न ग्रन्थका ही नाम है। अन्तमें एक वाक्य लिखा है 'इदि पंचसंगहो समत्तो।' उसीसे यह प्रकट होता है कि इसका नाम पंच संग्रह है। इसमें पाँच प्रकरण हैं—जीव समास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका। अतः पंच संग्रह नाम तो उचित ही है। किन्तु यह नाम पीछेसे दिया गया है या पहलेसे रहा है यह चिन्त्य है।

जो दो संस्कृत पंच संग्रह हैं वे प्रायः इसीको लेकर रूपान्तरित किये गये हैं, अतः उनके नामसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचना के समय यह इसी नामसे प्रसिद्ध था। अमितगति (वि. सं. १०७३) ने अपने पंचसंग्रहमें एक स्थानपर (पृ० १३१) लिखा है—पंचसंग्रहके अभिप्रायसे यह कथन है। अतः पंचसंग्रह नाम ही प्रचलित था।

विक्रमकी तेरहवीं शतीके ग्रन्थकार पं० आशाधरजीने भगवती आराधनाकी गाथा २१२४ पर रचित मूलाराधना दर्पण नामक टीकामें 'तदुक्तं पञ्चसंग्रहे' करके छै गाथाएँ उद्धृतकी हैं। ये छहों गाथाएँ प्रकृत प्राकृत पंचसंग्रहके तीसरे अधिकारमें इसी क्रमसे पाई जाती हैं। हमारे जाननेमें आशाधरजी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने प्राकृत पंचसंग्रहका इस प्रकार स्पष्टरूपसे निर्देश किया है। इससे यह निर्विवाद रूपसे निर्णीत हो जाता है कि विक्रमकी तेरहवीं शतीमें प्रकृत ग्रन्थ पंचसंग्रहके नामसे ख्यात था तथा उससे पहले भी अर्थात् संस्कृत पंचसंग्रहके रचनाकालमें भी उसे पंचसंग्रह कहते थे।

विक्रमकी नौवी शतीके प्रसिद्ध जैनाचार्य वीरसेनने अपनी धवलाटीकामें 'उक्तं च' करके बहुत सी गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनमें बहुत-सी गाथाएँ इस प्राकृत पंचसंग्रहमें वर्तमान हैं। षट्खण्डागमके 'सत्प्ररूपणा' नामक प्रथम पुस्तककी धवलाटीकामें उद्धृत जिन गाथाओंको पादटिप्पणमें गोमट्टसार जीवकाण्डमें पाई

---

१. प्राकृत पञ्च संग्रह सुमति कीर्ति की टीका तथा पं० हीरालाल जी की भाषा टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९६० में प्रथमबार प्रकाशित हुआ है। इसी में उसकी प्राकृत चूर्णि तथा श्रीपाल सुत डड्ढा विरचित संस्कृत पंचसंग्रह भी प्रथमबार प्रकाशित हुआ है। दूसरा प्राकृत पंचसंग्रह स्वोपज्ञ और मलय गिरि की वृत्ति के साथ मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोई (गुजरात) से सन् ३७-३८ में प्रकाशित हुआ है। अमितगतिकृत पंचसंग्रह मूल माणिक चन्द ग्रन्थ माला बम्बई से प्रथमबार प्रकाशित हुआ था।

जानेवाली बतलाया है और जिनकी संख्या सौ से भी ऊपर है, वे सब गाथाएँ पंचसंग्रहके प्रथम अधिकारमें जिसका नाम जीव समास है, पाई जाती हैं।

उसपरसे पं० परमानन्दजीने अपने लेख में यह निष्कर्ष निकाला था कि धवलाकारके सामने पंचसंग्रह अवश्य था। इसपर आपत्ति करते हुए मुख्तार श्री-जुगलकिशोरजीने लिखा था—'कम-से-कम जबतक धवलामें एक जगह भी किसी गाथाके उद्धरणके साथ पंचसंग्रहका स्पष्ट नामोल्लेख न बतला दिया जाये तबतक मात्र गाथाओंकी समानता परसे यह नहीं कहा जा सकता कि धवला में वे गाथाएँ इसी पंचसंग्रह परसे उद्धृत की गई हैं जो खुद भी एक संग्रह ग्रन्थ है।' (पु० वाक्य सू० प्रस्ता०, पृ० ९५)।

मुख्तार साहबकी आपत्ति बहुत ही उचित थी। किन्तु धवला[1] में ही एक स्थान पर 'जीवसमासए वि उत्तं' करके नीचेकी गाथा उद्धृत है—

छप्पंच णव विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥

यह गाथा पंचसंग्रहके अन्तर्गत जीव समास नामक प्रथम अधिकारमें मौजूद है और सत्प्ररूपणाको धवलामें उद्धृत लगभग १२५ गाथाएँ भी जीव समास नामक अधिकारकी ही हैं। अतः इस उद्धरण से यह बात तो निर्विवाद हो जाती है कि पंचसंग्रहका कम-से-कम जीव समास नामक अधिकार तो वीरसेन स्वामी के सामने वर्तमान था। किन्तु जहाँ उक्त उद्धरणसे यह बात सिद्ध होती है वहाँ एक शंका भी होती है कि वीरसेन स्वामीने पंचसंग्रहका नामोल्लेख न करके उसके अन्तर्गत अधिकारका नाम निर्देश क्यों किया ?

यदि धवलामें केवल जीव समाससे ही उद्धरण लिये होते तो कहा जा सकता था कि पंचसंग्रहके अन्य अधिकार वीरसेन स्वामीके सामने नहीं थे। किन्तु 'उक्तं च' करके उद्धृत कुछ गाथाएँ पंचसंग्रहके अन्य अधिकारों में पाई जाती हैं। इसीसे हमें यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि पचसंग्रह नाम क्या पीछे से दिया गया है। इस सन्देहके अन्य भी कारण हैं और उन्हे बतलाने के लिये ग्रन्थकी आन्तरिक स्थिति आदि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। उससे पहले एक आवश्यक जानकारी करा देना उचित होगा।

पंचसंग्रह नामकी सार्थकता—

चन्द्रर्षि महत्तरकृत पंचसंग्रहके आरम्भमें पंचसंग्रह नामकी सार्थकता बतलाते

१—षट्खं पु० ४, पृ० ३१५।

हुए कहा है कि इस ग्रन्थमें [1]शतक आदि पाँच ग्रन्थोंको संक्षिप्त किया गया है अथवा इसमें पाँच द्वार हैं इसलिए इसका पंचसंग्रह नाम सार्थक हैं। शतक आदि पाँच ग्रन्थोंका नाम ग्रन्थकार ने नहीं बताया। किन्तु उनकी स्वोपज्ञ[2] टीकामें कर्मस्तव और सप्ततिका ग्रन्थोंका नाम आया है। तथा दूसरे भागका नाम कर्मप्रकृति है जो शिवशर्मरचित कर्मप्रकृतिके आधार पर रचा गया है। अतः तदनुसार शतक, सप्ततिका, कर्मप्रकृति और कर्मस्तव इन चार ग्रन्थोंका इस पंचसंग्रहमें संक्षेप किया गया है ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु टीकाकार[3] मलयगिरिने लिखा है कि इस पंचसंग्रहमें शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभृत, सत्कर्म, और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह है अथवा योगोपयोग विषय मार्गणा, बंधक, बंधव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पाँच अर्थाधिकारोंका संग्रह है इसलिए इसका नाम पंचसंग्रह है। पंचसंग्रह नामके इस अर्थके प्रकाशमें एक अर्थ तो दि० पं० सं० में स्पष्टरूपसे घटित होता है कि उसमें भी जीवसमास, कर्मप्रकृतिस्तव, बन्धोदयोदीरणास्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच अधिकार हैं, इसलिए इसका पंचसंग्रह नामका सार्थक है। किन्तु क्या श्वे० पं० सं० की तरह दि० पं० सं० में भी पाँच ग्रन्थोंका संग्रह किया गया है, यह प्रश्न विचारणीय है इसके समाधान के लिए हमें प्रत्येक अधिकार का तुलनात्मक परिशीलन करना होगा।

१ जीव समास और सत्प्ररूपणा

इस दि० पं० सं० के प्रथम अधिकार का नाम जीवसमास है। इसमें २०६ गाथाएँ हैं। प्रथम गाथा में अरहन्तदेवको नमस्कार करके जीवका प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की है। इस गाथापर प्राकृतमें चूर्णि भी है। दूसरी गाथामें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन २० प्ररूपणाओंको कहा है। इन्हीं बीस प्ररूपणाओंका कथन इस जीव समास नामक अधिकारमें है। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक सत्प्ररूपणा सूत्रों में भी गुणस्थान और मार्गणाओंका कथन है। किन्तु इस प्रकारसे बीस प्ररूपणाओं का कथन उसमें नहीं है। सत्प्ररूपणा सूत्रोंकी धवला टीकामें गुण स्थान और मार्गणाओंका कथन वीर-

---

१. सयगाइ पंच गंथा जहारिहं जेण येत्थ संखिता। दाराणि पंच अहवा तेन जहत्थाभिहाणमिदं ॥२॥ —श्वे० पं० सं०।

२. 'एवमेकादश भङ्गा: सप्तति काकारमतेन। कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति ततश्च त्रयोदशभङ्गा' —पं० सं० स्वो टी० भा० ३ गा० १४।

३. 'पंचानां शतक-सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृति लक्षणानां ग्रन्थानां अथवा पंचानामर्थाधिकाराणां योगोपयोगविषयमार्गणा :—बन्धक-बंधव्य-बंन्धहेतु-बंधविधि लक्षणानां संग्रह: पंच संग्रहः।'—श्वे० पं० सं०, टी० पृ० ३।

सेन स्वामीने जीव समास नामक अधिकारके आधार पर ही किया है और उससे लगभग सवा सौ गाथाएं भी प्रमाणरूपसे उद्धृत की हैं।

सत्प्ररूपणामें पहले मार्गणाओंका निर्देश है पश्चात् गुणस्थानोंका और पंच-संग्रह गत जीवसमासमें पहले गुणस्थानोंका कथन है पीछे मार्गणाओंका। सत्प्ररूपणा सूत्र ४ की धवलामें चौदह मार्गणाओंका सामान्य कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने चौदह मार्गणाओंसे सम्बद्ध १६ गाथाएं प्रमाणरूपसे उद्धृत की हैं जो पं० सं० के जीवसमास अधिकारमें ज्यों-की-त्यों वर्तमान हैं। आगे गुण-स्थानोंके वर्णनमें तेईस गाथाएँ प्रमाणरूपसे उद्धृत की हैं। ये सब भी इसी प्रमाण में वर्तमान हैं। और जीवसमासाधिकारमें उनकी क्रम संख्या क्रमशः ३, ६, ७, ९, १०, १२, ११, १३ ×, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २७, २९, ३०, ३१ है। इनमेंसे क्वचित् ही साधारण-सा पाठ भेद पाया जाता है और केवल एक जगह गाथाका व्यतिक्रम है। सत्प्ररूपणा में गुण-स्थानोंके पश्चात् मार्गणाओंका विशेष कथन है उसकी धवलामें भी प्रत्येक मार्गणा-के प्रकरणमें जीव समासकी गाथाएं उद्धृत हैं।

गति[1] मार्गणा में पांच गाथाएँ पांचों गति सम्बन्धी उद्धृत हैं और उनकी क्रम सं० जी० स० में क्रमसे ६० से ६४ तक है। इन्द्रिय मार्गणामें जी० स० की गा० नं० ६६, ६७ और ६९ क्रमसे उद्धृत है। आगे क्रमसे चार गाथाएँ और उद्धृत हैं जिनमें दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको उदा-हरण के रूप में गिनाया है। जी० स० में भी गा० ६९ से आगे (७०-७३) चार गाथाओं से दो इन्द्रिय आदि जीवोंको गिनाया है किन्तु दोनों ग्रन्थों की केवल इन्हीं गाथाओंमें मेल नहीं है, भिन्नता है। नीचे उन चारों गाथाओंको दिया जाता है।

पञ्चसंग्रह गत जीव समासमें ये चारों गाथायें इस प्रकार पाई जाती हैं—

खुल्ला वराड संखा अक्खुणह अरिट्ठगा य गंडोला।
कुक्खि किमि सिप्पिआई णेया बेइंदिया जीवा ॥७०॥
कुंथु-पिपीलिय-मक्कुण-विच्छिय-जू विंद-गोव गुंभीया।
उत्तिग मट्टियाई (?) णेया तेइंदिया जीवा ॥७१॥
दंस-मसगो य-मक्खिय-गोमच्छिय-भमर-कीड-मक्कडया।
सलह-पयंगाईया णेया चउरिंदिया जीवा ॥७२॥
अंडज पोदज-जरजा-रसजा संसेदिया य सम्मुच्छा।
उब्भिंदिमोववादिय णेया पंचिंदिया जीवा ॥७३॥

---

१. षट्खं० पु० १, पृ० २०२-२०४।

और धवला में उद्धृत गाथाएँ इस प्रकार हैं—

'कुक्खि-किमि-सिप्पि संखा गंडोलारिट्ठ अक्ख-खुल्ला य ।
तह य वराडय जीवा णेया वीइंदिया एदे ॥१३६॥
कुंथु-पिपीलिक-मक्कुड-विच्छिय-जूं-इंदगोव गोम्ही य ।
उत्तिरंगणट्टियादी णेया तेइंदिया जीवा ॥१३७॥
मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पयंगा-य सलह गोमच्छी ।
मच्छी सदंस कीडा णेया चउरिंदिया जीवा ॥१३८॥
सस्सेदिम-संम्मुच्छिम-उब्भेदिम-ओववादिया जीवा ।
रस-पोदंड जरायुज णेया पंचिंदिया जीवा ॥१३९॥'

—षट् खं० पु० १, पृ० २४१-२५६ ।

इनमेंसे तेइन्द्रिय जीव सम्बन्धी गाथा में तो कोई अन्तर नहीं हैं, किन्तु शेष तीनों गाथाएँ भिन्न हैं और साथ में ही यह भी उल्लेखनीय है कि आगे १४० में जो गाथा उद्धृत है वह भी जी० स० में गाथा ७३ से आगे यथा क्रम पाई जाती है। मध्यकी केवल इन तीन गाथाओंमें ही भेद होनेका कारण समझमें नहीं आता ।

काय मार्गणामें ग्यारह गाथाएं उद्धृत हैं ये गाथाएं भी जीव समासमें हैं केवल उनके क्रममें अन्तर है। धवलामें उद्धृत गाथा १४४ का नम्बर जी० स० में ८७ है। १४५ से १४८ तक एक साथ उद्धृत गाथाओं की क्रमसंख्या जी० स० में ८२ से ८५ तक है। और १४९ से १५३ नम्बर तक उद्धृत गाथाओंकी संख्या जी० स० मे ७७ से ७८ तक यथाक्रम है। योग मार्गणामें १२ गाथाएं उद्धृत हैं। उनमें अन्तिम गाथाको छोड़कर, जो धवलामें प्रथम उद्धृत हैं, शेष गाथाएँ जी०स० में यथाक्रम पाई जाती हैं। उनमेंसे केवल तीन गाथाओंके प्रथम चरणमें पाठभेद है—ओरालिय मुत्तत्थं, । 'वेउव्विय मुत्तत्थं' और 'आहारय मुत्तत्थं' इन तीन प्रथम चरणोंके स्थानमें जीवसमास में 'अंतोमुहुत्त मज्झं' पाठ पाया जाता है। इस मार्गणामें दो गाथा और भी उद्धृत है जो जी० स० में पाई जाती है ।

वेद मार्गणामें चार गाथायें उद्धृत हैं चारों यथाक्रमसे जी० स० में वर्तमान हैं।किन्तु कसाय मार्गणामें उद्धृत गाथाओंकी स्थिति इन्द्रिय मार्गणाके तुल्य है। दोनों की चार गाथाओंमें अन्तर पाया जाता है ।

धवला में उद्धृत वे चार गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सिल पुढवीभेद धूली जलराईसमाणओ हवे कोहो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥१७४॥

सेलट्ठि कट्ठिवेत्ते णियभेएणणु हरंतओ माणो ।
णारय तिरय णरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥१७५॥
वेलुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तेएण खोरप्पे ।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरेसु जणइ जिअं ॥१७६॥
किमिराय चक्क तणु मल हरिदराएण सरिसओ लोहो ।
णारय तिरिक्ख-माणुस देवसुप्पायओ कमसो ॥१७७॥

—(पृ० ३५०)

जी० स० (पं० सं०) में ये गाथाएं इस प्रकार हैं—

सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा ।
णिर तिरि णर देवत्तं उविंति जीवा हु कोहवसा ॥११२॥
सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाण वेत्तसमो ।
णिर-तिरि-णर देवत्तं उविंति जीवा हु माणवसा ॥११३॥
वंसीमूलं मेसस्स सिंगं गोमुत्तियं च (खोरप्पं) ।
णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु मायवसा ॥११४॥
किमिराय चक्क मल कद्दमो य तह चेय जाण हारिद्दं ।
णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु लोहवसा ॥११५॥

यहाँ भी आगे की गाथा दोनोंमें समान है ।

ज्ञानमार्गणामें ८ गाथाएँ उद्धृत हैं जो जी० स० में यथाक्रम हैं। संयम मार्गणामें उद्धृत ८ गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम हैं। मध्यकी केवल एक गाथा संयमासंयमवाली ऐसी है जो धवलामें छोड़ दी गई है । दर्शन मार्गणा में उद्धृत तीन गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम हैं। लेश्या मार्गणामें उद्धृत दस गाथायें भी जी० स० में यथाक्रम हैं। किन्तु सम्यक्त्व मार्गणामें उद्धृत पांच गाथाओंमें से जी० स० में शुरु की तीन गाथायें तो यथाक्रम हैं अन्तकी दो गाथाओंमें से उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाने वाली गाथा भी जी० स० में है किन्तु वेदकसम्यक्त्ववाली गाथा नहीं है उसके स्थान में अन्य गाथा है। इस तरह सत्प्ररूपणा सूत्रों की धवला टीका में उद्धृत बहुत-सी गाथायें पंचसंग्रह के प्रथम अधिकारमें वर्तमान हैं केवल उक्त गाथाओं की स्थिति चिन्त्य है ।जीव समास अधिकारमें गाथा १८२ तक बीस प्ररूपणाओंका कथन समाप्त हो जाता है । यहाँ तकका कथन क्रमबद्ध और व्यवस्थित है। किन्तु आगेका कथन वैसा व्यवस्थित नहीं है । १८२ वीं गाथामें बीस प्ररूपणाओंके कथन का उपसंहार करनेके पश्चात् पुनः लेश्याओंका वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। यह कथन दस गाथाओंमें है । इसमें जीवोंके गतिके अनुसार द्रव्यलेश्या और भावलेश्याका कथन

किया है। यह कथन लेश्या मार्गणामें ही होना चाहिए था संस्कृत पं० सं० में ऐसा ही किया गया है।

लेश्याओं का कथन समाप्त होने के बाद सिद्धान्त की फुटकर विशेष बातोंका संग्रह है—जिनमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि कहां-कहां उत्पन्न नहीं होता। कौन संयम किस किस गुणस्थानमें होता है? फिर सात समुद्‌घातों का कथन है। केवलिसमुद्‌घात का कथन करते हुए एक गाथामें कहा है कि छै मास आयु शेष रहने पर जिन्हें केवलज्ञान होता है वे केवली नियमसे समुद्‌घात करते हैं। शेषके लिये कोई नियम नहीं है। यह गाथा इस प्रकार है—

छम्मासाउगसेसे उप्पन्नं जेसि केवलं णाणं।
ते णियमा समुग्घायं सेसेसु हवंति भयणिज्जा ॥ २०० ॥

यह गाथा धवलामें इस रूपमें उद्धृत है—

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥
(षट्‌ पु० १, पु० ३०३)

भगवती आराधनामें यह गाथा इस रूपमें पाई जाती है—

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चंति समुग्घायं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९ ॥

गाथा के इन रूपों को देखते हुए यह कहना तो शक्य नहीं है कि धवलाकारने उक्त गाथा उसी जीव समास से उद्धृत की है या भ० आराधना से। किन्तु इसी सम्बन्ध में उन्होंने एक गाथा और उद्धृत की है जो भ० आराधनाकी २११० वीं गाथा[1] है यद्यपि उसमें भी पाठ भेद है। अतः संभव है उन्होंने उक्त दोनों गाथा भ० आराधना से ही ली हों। किन्तु वीरसेन[2] स्वामी ने इन दोनों गाथाओं को आगम नहीं माना है। जब कि जीव समास से उद्धृत गाथा का आर्ष कहकर उल्लेख किया है और तत्वार्थ सूत्र से भी उसे प्रथम स्थान दिया है।

वह उद्धरण इस प्रकार है—

'के ते एकेन्द्रियाः? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः। एतेषां स्पर्शनमेकमेवे-

---

१. 'जेसिं आउ समाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च। ते अकय समुग्घाया वज्जंतिपरे समुग्घाए॥' 'जेसिं आउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च। ते अकद समुग्घादा जिणा उवणमसति सलेमिं ॥२११०॥

२. एतयोर्गाथयोरागमत्वेन निर्णयाभावात्। भावेवाऽस्तु गाथयोरेवोपादानम्।—षट० सं०, पु० १, पृ० ३०४

न्द्रियमस्ति न शेषाणीति कथमवगम्यते ? इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एते इति प्रतिपादककार्योपलम्भात् । क्व तत्सूत्रमिति चेत् कथ्यते—

'जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिंदिएण एक्केण ।
कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एइंदिओ तेण ।। १३५ ।।

'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इति तत्वार्थसूत्राद्वा— (षट्खं, पु० १, पृ० २३९) ।

शंका— वे एकेन्द्रिय जीव कौन से हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति ।

शंका—इन पांचों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रियां नहीं होतीं यह कैसे जाना ?

समाधान—पृथिवी आदि जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले ही होते हैं, इस प्रकार का कथन करनेवाला आर्षवचन पाया जाता है ?

शंका—वह सूत्र रूप आर्ष वचन कहाँ है ?

समाधान—उसे कहते है—'क्योंकि स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है इसलिये उसे स्थावर एकेन्द्रिय कहते हैं ।,

अथवा 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' तत्वार्थ सूत्र के इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।'

उक्त आर्ष रूपसे उद्धृत गाथा जीव समासकी ६९वीं गाथा है । अतः जीव समासका वीरसेन स्वामीके चित्तमें बहुत आदर था, यह स्पष्ट है । चूंकि जीव-समास नामका अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और न उसके अस्तित्वका ही कोई संकेत मिलता है, अतः यही मानना पड़ता है, कि वीर सेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत जीव समास पञ्च संग्रह के अन्तर्गत जीव समास नामक अधिकार ही होना चाहिये ।

श्वेताम्बर साहित्य मे जीव[1] समास प्रकरण नामका एक गाथाबद्ध प्राचीन ग्रन्थ है जिसका संकलन इसके एक[2] उल्लेख के अनुसार दृष्टि वाद अंग से किया गया है । चूंकि पञ्चसंग्रह एक संग्रहात्मक ग्रन्थ है अतः हमें सन्देह हुआ कि जीव समास नामक अधिकार कहीं उसका तो ऋणी नहीं है किन्तु दोनों-का मिलान करने पर हमारा सन्देह ठीक नहीं निकला । यद्यपि यत्र तत्र कुछ

---

१. श्री जीवसमास प्रकरण मलधारी हेमचन्द्र रचित वृत्ति के साथ आगमोदय समितिसे प्रकाशित हो चुका है ।

२. बहुभंग दिट्ठीवाए दिट्ठत्थाणं जिणोवइट्ठाणं । धारण पत्तट्ठो पुण जीवसमासत्थ उव उत्तो ॥२८५॥—जी० स० ।

गाथाएँ ऐसी हैं जो दोनों में पायी जाती हैं—चौदह गुण स्थानों की नाम सूचक दो गाथाएँ, जिनकी संख्या श्वे० जी० स० में ८–९ और दि० जी० स० में ४–५ है, पर्याप्ति के नामादि बतलानेवाली गाथा, जिसकी क्रमसंख्या श्वे० जी० स० में २५ और दि० जी० स० में ४४ है, 'मुलग्ग पोरवीया' इत्यादि गाथा। दो एक गाथाओंका केवल पूर्वार्ध दोनों में समान है। इसके सिवाय और कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिसके आधार पर कहा जा सके कि एक का दूसरे पर प्रभाव है। दोनोंका विषय वर्णन आदि स्वतंत्र है। हां, नामसाम्य अवश्य है।

फिर भी यह बात नहीं भुलाई जा सकती कि पंच संग्रह एक संग्रहात्मक ग्रंथ है। और जीव समास अधिकार भी उससे अछूता नहीं है।

ऊपर जो एक गाथा 'छम्मासाउग सेसे' उद्‌धृत की गयी है, जो कि भगवती आराधना में भी है और जिसके वीरसेन स्वामीने आगमरूप होनेमें सन्देह किया है, उसकी स्थिति सन्देह कारक है क्योंकि जिसके वचनोंको वह आर्ष रूपमें उपस्थित करें उसमें ही एक ऐसी गाथा पाया जाना, जिसके आगमरूप होनेमें सन्देह है, इस जीव समास की स्थिति में सन्देह उत्पन्न करता है। सम्भव है उसका संग्रह भगवती आ० से ही संग्रहकार ने किया हो क्योंकि उससे आगेकी एक गाथाको छोड़कर तीन गाथाएँ कसायपाहुडकी हैं जो इस प्रकार हैं—

'दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो य।
णियमा मणुसगईए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥२०२॥
खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियमदो तदो अन्ते।
णादिक्कदि तिण्णि भवं दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥२०३॥
दंसणमोहस्सुवसामगो दु चउसुवि गईसु बोहव्वो।
पंचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥२०४॥

इसी तरह और भी कुछ गाथाएँ संगृहीत हो सकती हैं।

पंच संग्रहके दूसरे अधिकार का नाम प्रकृति समुत्कीर्तन है। इसकी पहली गाथा में भी जीव समासकी तरह ही मंगलपूर्वक प्रकृति समुत्कीर्तनको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। इसमें १२ गाथाएँ और कुछ प्राकृत गद्य है। जैसा इसके नाम से व्यक्त होता है इस अधिकार में आठों कर्मों के नाम और उनकी प्रकृतियोंका कथन है।

आठों कर्मोंके नामोंको बतलानेवाली गाथा उनकी प्रकृतियोंकी संख्या सूचक गाथा कर्मस्तवमें वर्तमान है। तीसरे अधिकारमें कर्मस्तवकी बहुत-सी गाथाएँ हैं, अतः मानना पड़ता है कि ये दोनों गाथाएँ भी उसीकी हो सकती हैं। कर्मोंकी

प्रकृतियोंकी गणना गद्यमें है वह गद्य षट्खण्डागम प्रथम खण्ड जीवट्ठाणकी चूलिका-के अन्तर्गत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके सूत्रोंसे बिल्कुल मिलती है। मेल और अन्तरको स्पष्ट करनेके लिए थोड़ा-सा नमूना दे देना पर्याप्त होगा।

'णाणावरणीयस्स कम्मस्स पंच पयडीओ ॥१३॥ आभिणिबोहियणाणावर-णीयं सुदणाणावरणीयं ओहिणाणावरणीयं मणपज्जवणाणावरणीयं केवलणाणा-वरणीयं चेदि ॥१४॥—(षट्खं० पु०, ६ पृ० १४-१५)

'जं णाणावरणीयं कम्मं तं पंचविहं'। आगे ऊपर की तरह ही है, इसी प्रकार आठों कर्मों में समझना चाहिये। इस अधिकारका नाम भी चूलिकाके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामका ही ऋणी है। अतः यह दूसरा अधिकार चूलिका के प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार के आधार पर ही रचा गया प्रतीत होता है।

गद्यात्मक सूत्रोंमें आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंको बतलानेके बाद कुछ गाथाएँ आती है, उनमें बंध प्रकृतियोंकी और उदय प्रकृतियोंकी संख्या बतलाते हुए उद्वेलन प्रकृतियोंको और ध्रुवबन्धी तथा अध्रुवबन्धी प्रकृतियों को गिनाया है।

तीसरे अधिकारका नाम बन्धोदय सत्ताधिकार है। पहली गाथा में जिनेन्द्र-देवको नमस्कार करके 'बन्धोदय सत्त्व' को कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। संस्कृत पंच संग्रहमें इस अधिकारका नाम 'कर्मबन्धस्तव' है। यथा—'कर्मबन्धस्तवाख्यः तृतीयः परिच्छेदः।' पहले 'कर्मस्तव' नामक जिस प्रकरण ग्रन्थका परिचय करा आये हैं उसकी ५५ गाथाओंमें से ५३ गाथाएँ इस अधिकारमें प्रायः ज्योंकी त्यों उपलब्ध होती है। इस अधिकारकी गाथा संख्या ७७ है उनमेंसे ५३ गाथाएँ कर्मस्तवकी है। उन्हें मुद्रित प्रतिमें मूल गाथा कहा है। पंचसंग्रहके इस अधिकार-की तथा कर्मस्तवकी पहली गाथा एक ही है। अतः कर्मस्तवका भी मूल नाम 'बन्धोदय सत्त्वयुक्त स्तव' ही है। किन्तु यह कर्मस्तवके नामसे ही प्रसिद्ध है। मूल कर्मस्तवमें ५५ गाथाएँ है। उसमेंसे ५३ गाथाएँ कुछ व्यतिक्रमसे इस पंच संग्रहके तीसरे अधिकारमें है। इस तीसरे अधिकारकी गाथा संख्या ६४ है। उसके बाद चूलिका अधिकार है उसमें १३ गाथाएँ है। इस तरह सब ७७ गाथएँ हैं। मूल कर्मस्तवकी ५३ गाथाएँ ६४ में गर्भित है, चूलिकामें नहीं।

पंच संग्रहके इस अधिकार की जो गाथाएँ कर्मस्तव में नहीं हैं या व्यतिक्रमसे हैं उन पर प्रकाश डालना उचित होगा।

इस अधिकारका नाम बन्धोदय सत्त्व युक्त स्तव होनेका कारण यह है कि इसमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्वका कथन किया गया है। अतः पंच संग्रहमें पहले तो बन्ध उदय, उदीरणा और सत्ताका लक्षण वा स्वरूप कहा है। फिर गुणस्थानोंमें आठों मूल कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका कथन किया है। यह कथन २ से ८ तक ७ गाथाओं में है। कर्म स्तवमें यह कथन नहीं है अतः

उसमें उक्त गाथाएँ नहीं है। कर्मस्तव की २, ३ गाथाका नम्बर इसी से इस अधिकारमें ९-१० है। इन दोनों गाथाओंमें प्रत्येक गुण स्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली कर्मप्रकृतियोंकी संख्या बतलाई है।

गाथा ११-१२ कर्मस्तवमें नहीं हैं। इन गाथाओंमें कहा है कि तीर्थङ्कर और आहारकाद्विक को छोड़कर शेष कर्मप्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यादृष्टिके होता है।

कर्मस्तवमें गुणस्थानों में कर्मों की बन्धव्युच्छित्ति, उदयव्युच्छित्ति, उदीरणा-व्युच्छित्ति और सत्त्वव्युच्छित्तिको बतलाने वाली गाथाओंको, जिनकी क्रमसंख्या २ से ८ तक है, एक साथ कहकर पीछे क्रमवार बन्धादिका कथन किया है और पं. सं. के इस अधिकार में बन्धव्युच्छित्ति दर्शक गाथाओं को बन्ध प्रकरणके आदि में, उदय-उदीरणा व्युच्छित्ति दर्शक गाथाओं को उदय-उदीरणा प्रकरण के आदि में और सत्वव्युच्छित्ति दर्शक गाथाओं को सत्व प्रकरण के आदिमें दिया है। इसी से इस अधिकारमे कर्मस्तवकी गा० २, ३ की क्रम संख्या ९-१०, ४ की क्रम सं० २७, ५ की ४८ और ६-७, ८ की क्रम संख्या ४९, ५०, ५१ हो गई है जो बतलाती है कि इस अधिकारमें १३ से २६ गाथा तक बन्धका, २७ से ४३ गाथा तक उदयका, ४४ से ४८ तक उदीरणाका और ४९ से ६३ तक सत्ता का कथन है। ६४वीं गाथा जो कि कर्मस्तवकी अन्तिम गाथा है, मंगला-त्मक है। इस गाथाके पश्चात् इस अधिकार में १३ गाथाएँ और हैं। उनमें यह बतलाया है कि उदय व्युच्छित्तिसे पहले जिनकी बन्ध व्युच्छित्ति होती है, उदय व्युच्छित्तिके पश्चात् जिनकी बन्ध व्युच्छित्ति होती है और उदय व्युच्छित्तिके साथ जिनकी बन्धव्युच्छित्ति होती है, ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं। इसी तरह स्वोदयबन्धी, परोदयबन्धी, उभयबन्धी, निरन्तरबन्धी, सान्तर बन्धी और उभयबन्धी प्रकृतियाँ कौनसी हैं, इन नौ प्रश्नों का समाधान किया गया है।

चौथे अधिकारका नाम शतक है जबकि इस अधिकारकी गाथा संख्या ४२२ है। इस नाम का कारण यह प्रतीत होता है कि इस अधिकारमें बन्ध शतक नामक ग्रंथ समाविष्ट है। उसकी प्रथम गाथा इसकी तीसरी गाथा है। उससे पहले दो गाथाएँ और हैं जिनमें से प्रथम गाथामें वीर भगवानको नमस्कार करके श्रुतज्ञान से 'पद' कहने की प्रतिज्ञा की गयी है। बन्ध शतकका विषय परिचय पहले करा आये हैं अतः उससे इसमें जो विशेष कथन है उसे ही बत-लाया जाता है।

बन्ध शतककी गाथा २ से ५ तक इसमें यथाक्रम दी गयी हैं। ५ वीं गाथा में कहा है कि तिर्यञ्च गतिमें चौदहों जीव समास होते हैं और शेष गतियों में दो दो जीव समास होते हैं। इस प्रकार मार्गणाओं में जीव समास जान लेने चाहिए।' पञ्चसंग्रहके कर्ताने १२ गाथाओंके द्वारा चौदह मार्गणाओं में जीव समासोंका

विवेचन किया है। तत्पश्चात् बं० श० की छठी गाथा दी गयी है। उसमें जीव-समासोंमें उपयोगोंका कथन है। पंचसंग्रहकारने उसके पश्चात् १९ गाथाओं के द्वारा मार्गणाओंमें उपयोगोंका कथन किया है और समाप्ति पर लिखा है—'एवं मग्गणासु उवओगा समत्ता।'

पश्चात् बं० श० की ७ वीं गाथा आती है उसमें जीवसमासमें योगका कथन किया है। इस गाथा में थोड़ा-सा अन्तर है। बं० श० में 'पन्नरस' पाठ है और पं० सं० में 'चउद्दस'। बन्धशतकके अनुसार पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके पन्द्रह योग होते हैं और पं०[1] सं० के अनुसार चौदह अर्थात् वैक्रियिक मिश्रकाय योग संज्ञी पर्याप्तक के नहीं होता। किन्तु दोनों सं० पं० सं० में संज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग बतलाये हैं।

इस विषयमें जो बात ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय है उसका कथन पंचसंग्रहके कालका विवेचन करते समय करेंगे।

पंचसंग्रहकारने बं० श० की ७वीं गाथाके अर्थका स्पष्टीकरण दो गाथाओंसे करके आगे ग्यारह गाथाओंसे (गा० ४४–५४) मार्गणाओंमें योगका कथन किया है।

पंच संग्रहमें बन्धशतक की ८–९वीं गाथाका नम्बर ५५-५६ है। इनके द्वारा मार्गणाओंमें योगोंके वर्णनकी समाप्तिकी सूचना है। किन्तु इससे स्पष्ट है कि बन्धशतककी गाथा ८ के पूर्वार्ध को पञ्चसंग्रहकारने अपने अनुसार परिवर्तित किया है। बं० श० में पाठ है—उवजोगा जोगविही जीवसमासेसु वन्निया एवं'। और पं० सं० में है—'उवओगो जोगविही मग्गणजीवेसु वाण्णिया एवं'। इस परिवर्तनका कारण यह है कि बं० श० में उपयोग और योगका कथन केवल जीवसमासमें किया है किन्तु पंचसंग्रहमें जीवसमास और मार्गणाओंमें कथन किया है। अतः तदनुकूल परिवर्तन किया गया है। आगे पं० सं० में गाथा ५७ से ७० तक मार्गणाओंमें गुणस्थान का कथन है।

पुनः बं० श० की ग्यारहवीं गाथा आती है। इसमें गुणस्थानोंमें उपयोगका कथन है। पं० सं० में दो गाथाओंके द्वारा इसका व्याख्यान किया गया है। इसके पश्चात् बं० श० की बारहवीं गाथा है इसमें गुणस्थानोंमें योगोंका कथन है। इसका व्याख्यान भी पं० सं० में दो गाथाओंके द्वारा किया गया है।

१—'सण्णि अपज्जत्तेसु वेउव्वियमिस्सकायजोगो दु। सण्णीसु पुण्णेसु चउदस जोया मुणेयव्वा ॥४२॥ पं० सं० पृ० ४।

२—'द्वौ चतुर्षु नवस्वेकः समस्ताः सन्ति संज्ञिनि। नवस्वथ चतुर्ष्वेकस्मिन्नेको द्वौ तिथिप्रमाः। सं० पं० सं०, पृ ८।

बन्धशतक की १३ वीं गाथामें भी गुणस्थानोंमें योगोंका कथन किया है जो मतान्तर से सम्बन्ध रखता है। यह गाथा पंचसंग्रह में नहीं है। और उसमें जो मत प्रदर्शित है वह भी दिगम्बर साहित्यमें नहीं मिलता।

तत्पश्चात् बं० श० की गा० १४ व १५ आती हैं उनमें गुणस्थानोंमें बन्ध के कारणों का निर्देश किया गया है। बन्ध के चार कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति कषाय योग और उनके भेद हैं क्रमसे ५ + १२ + २५ + १५ = ५७। गुणस्थान, और मार्गणाओंमें इन सत्तावन उत्तरकारणोंका पञ्चसंग्रहमें बहुत विस्तार से तथा कई प्रकारसे कथन किया है। इस कथन पर्यन्त शतकाधिकार की गाथा संख्या २०३ हो जाती है। गाथा संख्या २०४ से बं०श० की १६ वीं आदि गाथा आती हैं इनमें ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंके आस्रव के विशेष कारण बतलाये हैं। यह कारण प्राय: वे ही हैं जो तत्वार्थसूत्रके छठे अध्याय में बतलाये हैं। बन्धशतककी दस गाथाओं में इनका कथन है और वे दसों गाथाएँ पंचसंग्रह में यथाक्रम दी गयी हैं। उनके पश्चात् दो गाथा और हैं उनमें बतलाया है यह कथन अनुभाग बन्धकी अपेक्षा से है।

इसके पश्चात् बन्धशतककी २७ वीं गाथा आती है। यहांसे बन्धशतकमें गुणस्थानोंमें आठों मूलकर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का कथन है। यह कथन पंचसंग्रहके तीसरे अधिकार के प्रारम्भ में भी आता है और यहां भी है इस लिये पुनरुक्त जैसा हो जाता है।

बन्धशतक की २८वीं गाथा इस प्रकार है—

सत्तट्ठविहछ (-विह) बन्धगावि वेयन्ति अट्ठगं णियमा।
एगविह बन्धगा पुण चत्तारि य सत्त वेयन्ति ॥२८॥

पंचसंग्रह में इसके स्थान पर जो गाथा है वह इस प्रकार है—

अट्ठविह सत्त छब्बन्धगा वि वेयन्ति अट्ठयं णियमा।
उवसंत खीणमोहा मोहूणाणि य जिणा अघाईणि ॥२१६॥

दोनों के अभिप्रायमें कोइ अन्तर नहीं है।

इसी तरह बंधशतककी २९ वीं गाथाका अन्तिम चरण है—'तहेव सत्तेवुदीरित्ति'। और पंचसंग्रहमें इसके स्थानमें 'मिस्सूणा सत्त आऊण पाठ हैं।

बं० श० की ३० से ३६ तककी गाथाएँ पञ्चसंग्रहमें यथाक्रम हैं। ३७ वीं गाथामें पाठान्तर[1] है। बं० श० गा० ३८ में आठों कर्मों के नाम और भेद

---

१. 'अवसेसट्ठ विहकरा वेयंति उदीरयावि-अट्ठण्हं। सत्तविहगावि वेइंति अट्ठगमुईरणे भज्जा ॥३७। बं० श०

'बंधंतिय वेयंति य उदीरयंति यअट्ठ अट्ठ अवसेसा। सत्तविहबंधगा पुणा अट्ठण्हमुदीरणे भज्जा' ॥२२६॥—पं० सं०।

गिनाये हैं ये दोनों गाथाएँ पञ्चसंग्रहके प्रकृति समुत्कीर्तन नामक दूसरे अधिकारमें आ गई हैं। इसमे इस अधिकारमें नही दी हैं। इसके पश्चात् बंधके आदि, अनादि ध्रुव और अध्रुव भेदों का तथा अल्पतर, भुजकार, अवस्थित और अवक्तव्य भेदों का कथन है। ये कथन बन्ध शतकमें ४० से ४३ तक चार गाथाओंमें है।

४३ वीं गाथामें कहा है कि दर्शनावरण कर्मके तीन बन्ध स्थान हैं, मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थान हैं, और नामकर्मके आठ बन्धस्थान है। इन तीन कर्मोंमें ही भुजकारादिबन्ध होते हैं। शेष कर्मोंका तो एक ही बन्ध स्थान है। इस सामान्य कथनका पञ्चसंग्रहमें बहुत विस्तारसे कथन ६५ गाथाओं द्वारा दिया गया है।

पश्चात् ब० श० में बन्धक का कथन गा० ४४ से ५० तक किया है। उसीका विस्तृत कथन पंचसंग्रहमें है। ब० शं० गा० २१ में कहा है कि गत्यादि मार्गणाओंमें भी स्वामित्वका कथन कर लेना चाहिये। तदनुसार पंचसंग्रहमें गा० ३२५ से ३८९ तक उसका कथन किया है। उसके साथ ही प्रकृतिबन्धका कथन समाप्त हो जाता है। ब० श० में गा० ५२ से ६४ तक स्थितिबन्धका कथन है। पं० सं० में यही कथन गा० ३९० से ४४० तक है। बं० श० की गा० ५२-५३ में आठों मूलकर्मोंकी स्थिति बतलाई है। ये दोनों गाथाएँ पञ्चसंग्रहमें नहीं हैं। उनके स्थानमें दो भिन्न गाथाओंके द्वारा आठों कर्मोंकी स्थिति बतलाई है। शेष गाथाएँ पञ्चसंग्रहमें सम्मिलित हैं। ब० श० में गाथा ६५ से ८६ तक अनुभाग बन्धका कथन है। पं० सं० गा० ४४१ से ४९३ तक अनुभागबन्धका कथन है जिसमें बं० श० की उक्त गाथाएँ सम्मिलित हैं। केवल ७२ वीं गाथा भिन्न है और ७३ वीं गाथा के प्रथम चरणमें अन्तर हैं। मिलान से ऐसा प्रतीत होता कि इन गाथाओंमें कुछ हेरफेर किया गया है किन्तु अभिप्रायमें भेद नहीं है। बं० श० की गाथा ८४ इस प्रकार हैं—

चदुपच्चएग मिच्छत्त सोलस दु पच्चया य पणतीसं।
सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जाओ ॥८४॥

पं० सं० में यह गाथा इस प्रकार है—

सायं चउपच्चइओ मिच्छो सोलह दु पच्चया पणवीसं।
सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जा दो ॥४८॥

बन्ध शतकमें दूसरे गुणस्थान तक बंधने वाली पच्चीस और चौथे गुणस्थान तक बंधनेवाली दस इन पैंतीस प्रकृतियोंके बन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको बतलाया है और शेष प्रकृतियोंके बन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, और कषाय को कहा है। किन्तु पंचसंग्रहमें केवल पच्चीसके ही बन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको बतलाया है और शेषके बन्धका कारण तीनोंको बतलाया है।

किन्तु इसमें कोई सैद्धान्तिक भेद दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि चौथे गुणस्थान तक अविरतिकी ही प्रधानता है आगे कषायकी प्रधानता है। इसी विवक्षासे बंधशतकमें पैंतीसको दुप्रत्यय कहा है।

बं० श० गा० ८४-८५ में पुग्गल विपाकी प्रकृतियोंको गिनाया है और ८६ में भवविपाकी आदिको। पं० सं० में ये तीनों गाथाएँ हैं।

आगे प्रदेश बन्धका वर्णन है। इसमें बन्धशतककी ८७ से लेकर १०७ तक सब गाथाएँ यथाक्रम हैं। ८७ गाथाका नम्बर पं० सं० में ४९४ है और १०७ अन्तिम गाथा का नं० ५१२ है। इस तरह केवल आठ गाथाएँ इस प्रकरणमें अतिरिक्त हैं जिनमें कथनको स्पष्ट किया गया है। गाथा ९४ में अन्तर है।

बं० श० में 'आउक्कस्स पदेसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि' पाठ है और पं० सं० में 'आउक्कस्स पदेसस्स छच्चं मोहस्स णव दु ठाणाणि, पाठ है। बन्धशतकके अनुसार आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि और चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त पाँच गुणस्थानवाले जीव करते हैं। तथा मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यगमिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले जीवोंको छोड़कर शेष सात गुणस्थानवाले जीव करते हैं। किन्तु पञ्चसंग्रह के अनुसार आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दूसरे गुण स्थानमें होता है। अतः छह गुणस्थानवाले जीव आयुका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करते हैं। और मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहलेसे लेकर नौ गुणस्थान पर्यन्त होता है।

बन्धशतक[1] चूर्णिमें 'अन्ने पठंति' कहकर पंचसंग्रहवाले पाठका निर्देश किया है और उसे ठीक नहीं बतलाया। यह चतुर्थ प्रकरणकी स्थितिका चित्रण है। पंचसंग्रहमें इसका शतक नाम नहीं पाया जाता। किन्तु दोनों सं० पञ्च संग्रहोंके अन्तमें 'शतकंसमाप्तम्' आता है।

सप्ततिका और पंचसंग्रह—

पंचसंग्रहके पांचवे अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति है। इस अधिकारके आदिकी गाथामें[2] पंचसंग्रहकारने स्वयं उसका निर्देश किया है। तथा अमितगतिने भी अपने संस्कृत पंच[3] संग्रहमें पांचवें अधिकारका नाम सप्तति दिया है। अतः इस अधिकारका उक्त नाम निर्बाध है।

---

१. 'अन्ने पठंति—'आउक्कोसस्स पदेसस्स छत्ति'। सासणोवि उक्कोसं बंतित्ति, तं ण,... मोहस्स सत्त ठाणाणि...। अन्ने पठंति–मोहस्स णव उ ठाणाणित्ति सासणसम्ममिच्छेहिं सह। तं ण सम्भवति।'—ब. श. चू.।

२. 'णमिऊण णिदाण वरकेवललनिसुक्खपत्ताणं। वोच्छा सत्तरिभंगं उवइट्ठं वीरनाहेण ॥१॥

३. नत्वाहमर्हतो भक्त्या घातिकल्मषघातिनः। स्वशक्त्या सप्ततिवक्ष्ये बंधभेदावबुद्धये ॥३७६॥ सं० पं० सं०।

जैसे चौथे अधिकार में पंचसंग्रहकारने शतक ग्रन्थका संग्रह किया है और उसीके कारण अधिकारका नाम शतक रखा है। वैसे ही पाँचवें अधिकारमें सित्तरी अथवा सप्ततिका नामक प्रकरणका संग्रह है और उसीसे इस अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति रखा गया है। सित्तरी ग्रन्थका परिचयादि पहले लिख आये हैं। जो विषय सित्तरीका है वही इस पाचवें अधिकारका है। इस पाँचवे-अधिकारमें मंगलाचरणके पश्चात् सित्तरीके आदिकी पाँच गाथाएँ यथाक्रमसे दी हुई हैं। उनके पश्चात् एक गाथा इस प्रकार आती है।

मूलपयडीसु एवं अत्थोगाढेण जिह विही भणिया ।
उत्तर पयडीसु एवं जहाविहिं जाण वोच्छामि ॥७॥

इसमें कहा है कि मूलप्रकृतियोंमें कथनकर दिया अब उत्तर प्रकृतियोंमें कहते है। इसके पश्चात् सि० की छठी गाथा आती है। उसमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके बन्ध स्थान, उदय स्थान और सत्वस्थान पंचप्रकृति रूप कहे हैं। आगे दर्शनावरणीय कर्मके बन्धादिका कथन है। किन्तु सितरीकी दर्शनावरण कर्मके कथन सम्बन्धी गाथाएँ पञ्चसंग्रहमें नही है : उनके स्थानमें पंचसंग्रहकारने अपनी स्वतंत्र गाथाएँ रची हैं। इसका कारण शायद यह प्रतीत होता है कि सप्ततिकामें क्षीण कषायमें निद्रा प्रचलाका उदय नहीं माना है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें माना गया है।

श्वे० पंचसंग्रहमें दोनों मतोंको स्थान दिया गया है। सितरीमें वेदनीय गोत्र और आयुकर्मके भंगोंका कथन नहीं है किन्तु पंचसंग्रहकारने उनका कथन किया है। आगे मोहनीय कर्मका कथन है और उसका आरम्भ सित्तरीकी दसवीं गाथासे होता है। उसकी संख्या पं० सं० में २५ है। दस से लेकर १६ तक सित्तरीकी गाथाएँ पंचसंग्रहमें मिलती हैं। प्रत्येक गाथा का स्पष्टीकरण दो एक गाथाओंसे आवश्यकताके अनुसार किया गया है।

सित्तरीकी गाथा १७, १८, २०, २१, २२ पञ्चसंग्रहमें नहीं हैं। मोहनीय कर्म सम्बन्धी कथनके उपसंहार परक २३ वीं गाथा है। २४वीं गाथासे नामकर्मके के बन्ध स्थानोंका कथन आरम्भ होता है। पं० सं० में इसकी संख्या ५२ है। सितरीकी उक्त गाथामें केवल नामकर्मके बन्धस्थानोंको गिनाया है। पंचसंग्रहमें उसका विवेचन ४५ गाथाओंके द्वारा किया है। यही कथन शतक नामा चौथे अधिकारमें भी है। अतः यह कथन पुनरुक्त है। दोनों प्रकरणोंकी गाथाएँ भी एक ही हैं।

इसके पश्चात् सित्तरीकी २५ वीं गाथा आती है। इसमें नामकर्मके उदय-स्थानोंका कथन है। मलयगिरिकी टीकामें इस गाथाका नं० २६ है अतः गणनामें एकका व्यतिक्रम हो गया है। २७-२८ वीं गाथा जिनमें नामकर्मके उदय स्थानोंके

भंग बतलाये हैं पंचसंग्रहमें नहीं है। गा० २९ है इसमें नामकर्मके सत्वस्थानोंको बतलाया है। यह गाथा शाब्दिक भेदको लिए हुए है। इसी तरह आगे ३० आदि संख्या वाली गाथाएँ पंचसंग्रहमें यथास्थान हैं।

इस प्रकार नामकर्मके बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानके भेद तथा उनके संवेधका कथन करके जीव समास और गुणस्थानोंके आश्रयसे कर्मोंके उक्त स्थानोंके स्वामियोंका कथन किया है।

उसमें सि० गा० ३५ में और पंच संग्रहमें आगत इसी गाथामें कुछ अन्तर है जो मतभेदका सूचक है। सप्ततिकामें दर्शनावरण के भेद पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय के ग्यारह बतलाये हैं और पं० सं० में १३ बतलाये हैं। इस अन्तरका कारण यह है कि सप्ततिकामें क्षीण कषायमें निद्रा प्रचला का उदय नहीं माना गया किन्तु पंचसंग्रहमें माना गया है।

गा० ३७-३८ पं० सं० में व्यतिक्रमसे हैं पहले ३८ वीं है फिर ३७ वीं है। तथा सित्तरीमें संज्ञीके नामकर्मके दस सत्त्वस्थान कहे हैं किन्तु पं० सं० में ११ कहे हैं। इसलिए सितरी में अट्ठ दसगं पाठ है। पं० सं० में अट्ठट्ठमेयारं' पाठ है।

ऊपर यह लिखना हम भूल गये कि नामकर्मके सत्वस्थानको लेकर दोनों ग्रन्थोंमें मतभेद है—सित्तरीके अनुसार उनकी संख्या १२ है—९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६ ७५,'९, और ८ प्रकृतिक। और पं० सं० में ९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक।[1]

जीव समासोंमें स्थानोंका कथन करनेके पश्चात् गुणस्थानमें बन्धादिस्थानोंका कथन है। किन्तु दर्शनावरण कर्मकी प्रकृतियोंके उदयको लेकर मतभेद होनेके कारण उस सम्बन्धी गाथाएँ पंचसंग्रहमें नहीं हैं।

आगे सितरीकी ४२ से ४५ तक गाथाएँ लगातार हैं। सित्तरीमें कुछ अन्तर्भाष्यगाथाएँ हैं उसमें से भी एक दो गाथा पं० सं० में मिलती है। उक्त गाथाओंके व्याख्यानरूप मोहनीयके उदय स्थानोंका वर्णन पंचसं०में बहुत विस्तारसे किया गया है।

---

१. कर्म प्रकृतिमें नाम कर्मके सत्त्व स्थान इस प्रकार बताये हैं—
'तिदुगसयं छप्पंचगतिगनउइ नउइ इगुण नउइ य। चउ तिगदुगाही गासी नव अठ्य-नामठाणाइं ।।१४।।१०३, १०२, ९६. ९५, ९३, ९०, ८९, ८४. ८३, ८२. ९, और ८। बन्धन संघातकी अलग गणना करनेसे १० की सख्या बढ़ गई है। सि० चू० में अण्णे करके इस मतको अमान्य किया है।

फिर गुणस्थानोंमें मोहनीयके सत्त्व स्थानोंका कथन है, और उसके लिए सित्तरीकी गाथा ४८ पाई जाती है। इसमें भी मतभेद है। सित्तरीमें 'तियमिस्से' लिखकर मिश्रगुण स्थानमें मोहनीय कर्मके तीन सत्त्वस्थान बतलाये हैं, २८, २७ और २४ प्रकृतिक। किन्तु पंचसंग्रहमें 'दुगमिस्से' पाठ रखकर मिश्रमें ही दो सत्त्वस्थान बतलाये हैं २८ और २४ प्रकृतिक। यह सैद्धान्तिक मतभेद को सूचन करता है।

आगे गुणस्थानोंमें नाम कर्मके बन्धादि स्थानोंका कथन करनेके लिये सि० की गा० ४९-५० आती हैं। उनका विवेचन किया गया है।

आगे गति आदिमें नाम कर्मके बन्धादि स्थानोंका कथन करनेके लिए पं० सं० में सित०की गा० ५१ आती है। फिर इन्द्रिय मार्गणामें कथन करनेके लिये सि० की ५२ वीं गा० पं० सं० में आती है। सितरीमें आगेकी मार्गणाओंमें कथन नहीं किया है किन्तु पंचसंग्रहमें किया है। उसके पश्चात् सि० की ५३ वीं गाथा आती है जो उपसंहार रूप है। आगे उदय और उदीरणाके स्वामियों में अन्तर बतलाने-के लिये सित्तरीकी ५४, ५५, आई है। फिर गुणस्थानको आधार बनाकर कौन किन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करता है, इसका कथन सि० की गा० ५६, ५७, ५८, ५९, ६० के द्वारा पं० सं० में किया गया है।

आगे सि०की ६१ वीं आदि गाथाओंसे गतियोंमें कर्मप्रकृतियोंकी सत्ता-असत्ता का विशेष कथन किया गया है। ६१से आगे ७२ पर्यन्त सब गाथाएँ पं०सं० में वर्तमान हैं और उनके साथ ही वह सम्पूर्ण होता है।

इस तरह इस अधिकारमें सित्तरीकी कतिपय गाथाओंके सिवाय शेष सभी गाथाएँ अन्तर्निहित हैं जिनमेंसे कुछमें पाठभेद भी पाया जाता है।

पंचसंग्रहके उक्त परिशीलनसे तो यही प्रकट होता है कि उसमें ग्रन्थकारने षट्खण्डागम, कसायपाहुड़, कर्मस्तव, शतक और सितरी इन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह किया है। उनमेंसे अन्तके तीन ग्रन्थोंको एक तरह से पूरी तरह आत्मसात्कर लिया है, शेष दोका आवश्यकतानुसार साहाय्य लिया है।

किन्तु पं० परमानन्दजीने अपने 'श्वेताम्बर कर्म साहित्य और दि० पंचसंग्रह' नामक दूसरे लेखमें उक्त कथनसे बिलकुल विपरीत विचार व्यक्त किया था। उनका कहना है कि कर्मस्तव, शतक और सित्तरी नाम के जो प्रकरण पाये जाते हैं वे उक्त पंचसंग्रहसे संकलित किये हैं। इन तीनों ग्रन्थोंमें संकलित गाथाएँ पंचसंग्रहकी मूलभूत गाथाएँ और शेष व्याख्या रूप गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हैं। किसीने मूलभूत गाथाओंको शतकादि नामोंसे पृथक् संकलित कर लिया है।

जो कुछ स्थिति है उसमें पंडितजीके उक्त कथनको सहसा भ्रान्त तो नहीं

कहा जा सकता; क्योंकि न तो पंचसंग्रहके ही कर्ताके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात है और न कर्मस्तव, और सित्तरी के ही कर्ताका पता है। हाँ, शतकको चूर्णिकारने। शतक अथवा बन्धशतकका निर्देश मिलता है और वह शतक या बन्ध कृति, अवश्य बतलाया है और कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिमें भीशिवशर्मसूरिकी शतक वही माना जाता है जिसकी ९४ गाथाएँ पंचसंग्रहके शतक नामक चतुर्थ अधिकारमें संगृहीत हैं साथ ही कर्मप्रकृतिके साथ शतक की तुलना करने पर वे दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं प्रतीत होते और शतक एक संग्रह ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। दोनों पक्षोंके अनुकूल और प्रतिकूल बातोंके होते हुए भी एक बातको नहीं भुलाया जा सकता कि पंचसंग्रहके चतुर्थ और पंचम अधिकारका नाम शतक और सप्ततिका है। जिस प्रकरणमें सौ या उसके-आसपास गाथा संख्या हो उसे शतक और जिसमें सत्तर या उसके आस पास गाथा संख्या हो उसे सित्तरी कहा जाता है। किन्तु पं. सं०के चतुर्थ और पंचम अधिकारोंकी गाथा संख्या पाँच-पाँच सौ से भी कुछ अधिक है। ऐसी स्थितिमें समान संख्या होते हुए भी एक अधिकार का नाम शतक और दूसरेका नाम सित्तरी रखनेका कारण समझमें नहीं आता। उसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि चतुर्थ अधिकारकी मूल गाथाओंका प्रमाण सौ के लगभग और पांचवें अधिकारकी मूल गाथाओंका परिमाण सत्तरके लगभग होनेसे उन अधिकारोंको शतक और सित्तरी नाम दिया गया। किन्तु इससे तो यही प्रमाणित होता है कि उक्त दोनों अधिकारोंके मूल शतक और सित्तरी नामक प्रकरण हैं अतः मूल विवाद इस बात पर रह जाता है कि वे दोनों प्रकरण भी उन पर भाष्य रचने वाले पंचसंग्रहकारकी ही कृति हैं या किसी दूसरे की कृति हैं? इस विवादके समाधानके लिये हमें उक्त प्रकरणोंको ही देखना होगा।

पं० सं० के प्रथम द्वितीय और तृतीय अधिकारके आदिमें ग्रन्थकारने केवल एक गाथाके द्वारा मंगलपूर्वक विषयवर्णनकी प्रतिज्ञा करके प्रकृत विषयका प्रतिपादन प्रारंभ कर दिया है और उन अधिकारोंके अन्तमें कोई उपसंहार तक नहीं किया। किन्तु चौथे अधिकारके आदिमें तीन गाथाएँ मंगलरूपमें हैं। प्रथम गाथामें श्रुतज्ञानसे पद कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है और तीसरी गाथामें जो शतककी प्रथम गाथा है दृष्टिवादसे कुछ गाथाओंको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। पहले अधिकारोंका कथन दृष्टिवादके आधार पर नहीं किया गया और चौथेका कथन दृष्टिवादके आधार पर किया गया ऐसा भेद क्यों? इस अधिकारके अन्तकी तीन गाथाओंमें ग्रन्थकारने अपने कथनको कर्मप्रवादरूपी श्रुतसमुद्रका निस्यन्द कहा है और लिखा हैं मुझ अल्पमतिने यह बन्ध विधान संक्षेपसे रचा, विशेष निपुण उसे पूरा करके कथन करें।' अपनी कृतिके एक अवान्तर अधिकारके अन्तमें कोई ग्रन्थकार ऐसी बात नहीं कहता। यही बात पंचम अधिकारमें भी पाई जाती है। किन्तु उसके

अन्तिम अधिकार होनेसे इस प्रकारका उपसंहार उचित भी हो सकता है किन्तु बीचके केवल एक चतुर्थ अधिकारके अन्तमें इस प्रकारकी बात कहना, जो ग्रन्थकी समाप्ति के लिये ही उपयुक्त हो सकती है, इस बातको सूचित करती है कि शतक नामके किसी स्वतंत्र प्रकरणका संग्रह इस अधिकारमें किया गया है उसीके कारण अधिकारका नाम 'शतक' रखा गया है। और यही बात सित्तरीके संबंधमें समझनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें ये दोनों प्रकरण उस पंचसंग्रहकारके नहीं जान पड़ते जिसने पंचसंग्रहके आदिके तीन अध्याय रचे थे, क्योंकि उनमें न कहीं दृष्टि-वादका उल्लेख है और न अपनेको मन्दमति बतलाकर उसके संशोधनादिकी बात कही गई है।

पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्रीने श्वे० सितरीके अपने अनुवादकी भूमिकामें[1] एक बात कही है कि शतक और सित्तरी की अन्तिम गाथाओंमें कुछ साम्य प्रतीत होता है। यथा—

> वोच्छं पुण संखेवं णीसंदं दिट्ठीवादस्स ॥१॥ सित्त०
> कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक
>
> × × ×
>
> जो जत्थ अपडिपुण्णो अत्थो अप्पागमेण बद्धोत्ति।
> त खमिऊण बहुसुया पूरेऊणं परिकहंतु ॥७२॥–सप्त०
>
> बंधविहाण समासो रइओ अप्पसुयमंदमइणावि।
> तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊणं परिकहेंति ॥१०५॥—शतक

पं०जी का कहना है कि 'इनमें 'णीसंदं' अप्पणम, अप्पसुयमंदमइ, 'पूरेऊणं परिकहंतुं' ये पद ध्यान देने योग्य हैं। ऐसा साम्य उन्हीं ग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है जो या तो एककर्तृक हों या एक दूसरेके आधारसे लिखे गये हों। बहुत संभव है कि शतक और सप्ततिकाके कर्ता एक हों'।

उक्त साम्यके आधार पर पण्डितजीकी उक्त संभावना अनुचित तो नहीं कही जा सकती। किंतु शतकको कर्मप्रकृतिकारकी कृति माना जाता है और कर्म-प्रकृति तथा सित्तरीके कथनोंमें मतभेद है। अतः कर्मप्रकृतिकारकी कृति तो सित्तरी नहीं हो सकती। यदि शतक कर्मप्रकृतिकारकी कृति नहीं है जैसा कि संदेह प्रकट किया गया है तो शतक और सित्तरी एक व्यक्ति की भी कृति हो सकते हैं, क्योंकि दोनोंमें कोई मतभेद दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किंतु इस सम्बन्धमें विशेष प्रमाणोंके अभावमें कोई निर्णय कर सकना शक्य नहीं है।

---

१. पृ० १०।

पंचसंग्रहकी स्थिति पर विचार करनेके लिए एक बात और भी उल्लेखनीय है। और वह है उसमें पुनरुक्त गाथाओंका होना और उनकी संख्या भी कम नहीं है। इस दृष्टिसे शतक नामक चौथा अधिकार उल्लेखनीय है जिसकी गाथाएँ तीसरे और पाँचवे अधिकारमें पाई जाती हैं। इस पुनरुक्तिका कारण है कि जो कथन चौथे में आया है वह तीसरे और पाँचवेंमें भी आया है। और उसके आनेका कारण यह है कि कर्मस्तव और बन्धशतकमें तथा शतक और सित्तरीमें कुछ कथन समान है।

कर्मस्तवकी गा० १३ आदिमें बन्धव्युच्छित्तिका कथन है और उधर शतककी गाथा ४६में बन्धव्युच्छित्तिका कथन है, उसको आधार बनाकर पंचसंग्रहकारने तीसरे अधिकारकी बन्धव्युच्छित्तिवाली गाथाएँ चौथे अधिकारमें भी लाकर रख दी हैं।

इधर शतककी गा० ४२-४३ में कर्मोंके बन्धस्थानोंका कथन है। उसके भाष्यरूप में पंचसंग्रहकारने बहुत सा कथन किया है। उधर सप्ततिका २४में भी यही कथन होनेसे पंचसंग्रहकारने उनके व्याख्या रूपसे चौथे अधिकारकी गाथा पाँचवे अधिकारमें लाकर रख दी है। इसी तरह दर्शनावरण कर्मके बन्धादिका कथन पाँचवे अधिकार प्रारंभमें भी किया है। और आगे भी किया है। इससे उसमें भी 'पुनरुक्तता' आ गई है।

इससे प्रथम तो इस बातका समर्थन होता है कि कर्मस्तव, शतक और सित्तरी पंचसंग्रहकारकी कृति नहीं हैं किन्तु उन्हें उन्होंने अपनाकर उनपर अपने भाष्यकी रचना की है। यदि वे एक ही व्यक्तिकी कृति होते तो उनमें पिष्ट-पेषण न होता। दूसरे, उन्होंने उन्हे पृथक्-पृथक् प्रकरणके रूपमें रचा होना चाहिए। इसीसे एक प्रकरणकी गाथाओंको दूसरे प्रकरणमें रखते हुए उन्हें संकोच नहीं हुआ और इसीसे समग्र ग्रन्थमें न ग्रन्थका नाम मिलता है और न एक अखण्ड ग्रन्थके रूपमें ही उसकी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने स्वयं अथवा पीछेसे किसीने उनको सम्बद्ध करके पंचसंग्रह नाम दे दिया है। जैसे सिद्धांत ग्रन्थ षट्खण्डागमको भूतबलिने कोई सामूहिक नाम नहीं दिया और धवला-कार वीरसेनस्वामीने उसके खण्डोंके नामसे ही उसका निर्देश किया और पीछेसे छै खण्ड होनेके कारण षट्खण्डागम नाम दे दिया गया। वैसे ही उक्त पाँचों प्रकरण प्रारंभमें भिन्न २ थे। पीछे उन्हें पंचसंग्रह नाम दे दिया गया जान पड़ता है। इसीसे वीरसेनस्वामीने 'जीवसमास' प्रकरणका ही निर्देश किया है, सामूहिक नाम पंचसंग्रहका निर्देश पूरा नहीं किया। उसपर से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनस्वामीके पश्चात् ही किसीने उसे पंचसंग्रह नाम दिया होगा।

रचनाकाल

१. पं० आशाधरजी ने अपनी मूलाराधना दर्पण नामक टीका में भगवती आराधना की गाथा २१२४ की टीकामें 'तथा चोक्तं पंचसंग्रहे' करके छै गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये छहों गाथाएँ पंचसंग्रह के तीसरे अधिकार के अन्त में इसी क्रमसे अवस्थित हैं और उनकी क्रम संख्या ६०-६५ है। पं० आशाधर जी विक्रमकी तेरहवीं शताब्दी में हुए हैं। अतः यह निश्चित है कि उससे पहले पंच-संग्रहकी रचना हो चुकी थी।

२. आचार्य अमितगति ने वि० सं० १०७२ में अपना संस्कृत पंचसंग्रह रचकर पूर्ण किया था। यह संस्कृत पं० सं० उक्त प्राकृत पंचसंग्रहको ही सामने रखकर रचा गया है। अतः यह निश्चित है कि वि० सं० १०७३से पूर्व उसकी रचना हो चुकी थी।

३. आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें जो बहुत सी गाथाएँ पंचसंग्रह-से उद्धृत की हैं वे गाथाएँ धवलामें जिस क्रमसे उद्धृत हैं प्रायः उसी क्रमसे पं० सं०में पाई जाती हैं। अधिकांश गाथाएँ पं० सं०के अन्तर्गत जीव समास नामक प्रकरण की हैं। यद्यपि वीरसेनने 'पंचसंग्रह'का नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु एक स्थान पर जीवसमासका उल्लेख किया है। अतः यह जीवसमास पंच-संग्रहके अन्तर्गत जीव समास ही होना चाहिए। तथा कुछ गाथाएँ पं० सं०के चौथे शतक नामक अधिकार की हैं। शतक नामक अधिकारमें एक शतक नामक प्रकरण संगृहीत है यह हम पीछे बतला आये हैं। ऐसी स्थितिमें यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि गाथाएँ उस शतक प्रकरण से ही तो सीधे उद्धृत नहीं की गई। यद्यपि वे गाथाएँ उस शतकमें भी हैं किन्तु उनमें से एक गाथा ऐसी भी है जो उस शतकमें नहीं है किन्तु पं० सं०के अन्तर्गत शतकमें है। वे तीन गाथाएँ इस प्रकार हैं—

चदुपच्चइगो बंधो पढमे उवरिमतिए तिपच्चइगो।
मिस्सग विदिओ उवरिमदुगं च सेसेगदेसम्हि ॥
उवरिल्लपंचए पुण दुपच्चओ जोग पच्चओ तिण्णं।
सामण्ण पच्चया खलु अट्ठण्णं होंति कम्माणं ॥
पणवण्णा इरवण्णा तिदाल छादाल सत्तत्तीसा य।
चदुवीसदु वावीसा सोलस एगूण जाव णव सत्तं ॥

—(षट्खं० पु० ८, पृ० २४)

इनमेसे शुरूकी दो गाथाएँ शतक प्रकरणमें भी है। किन्तु पं०सं०में ये तीनों गाथाएँ उसके चौथे अधिकारमें इसी क्रमसे वर्तमान हैं और उनकी क्रमसंख्या ७८, ७९, ८० है। क्वचित् पाठ भेद है। यथा—'उवरिमतिए' के स्थानमें 'अणं-

वरतिए' 'सेसेगदेसम्हि' के स्थान 'देसेक्कदेसम्हि' और 'इरवण्णा' के स्थान में 'पण्णासा'। किन्तु उनमें आशयभेद नहीं है। अतः ये गाथाएँ पंचसंग्रहसे ही उद्धृत की गई होनी चाहिए।

इसी तरह धवलामें एक और गाथा इस प्रकार उद्धृत है—

एयक्खेत्तोगाढंसव्वपदेसेहि कम्मणो जोग्गं।
बंधइ जहुत्तहेदू सादियमहणादिय वा वि ॥

(षट्खं० पु० १२, पृ० २७७)

यद्यपि यह गाथा शतक प्रकरणमें भी है किन्तु उसमें 'एयपदेसोगाढं' पाठ है। और पं० सं० में एयक्खेत्तोगाढ़ पाठ (गाथा सं० ४९४) है। अतः यह भी उसीसे उद्धृत की गयी होनी चाहिए!

उक्त उद्धरणों से प्रकट है कि धवलासे पहले पंचसंग्रहकी रचना हो चुकी थी। चूँकि धवला विक्रमकी नौवीं शताब्दीमें रचकर पूर्ण हुई थी। अतः पंचसंग्रह उससे पहले रचा जा चुका था।

४. शतक गाथा ९३ में पाठ हैं—'आउक्कस्स पदेसस्स पंच मोहस्स सत्त-ठाणाणि'। और पं० सं० के शतकाधिकारमें पाठ है—'आउक्कस्स पदेसस्स छच्चं मोहस्स णव दु ठाणाणि'। शतकचूर्णिमें 'अन्ने पढंति'[1] करके पञ्चसंग्रहोक्त पाठ-भेद को उद्धृत किया है। अतः यह सिद्ध है कि चूर्णिकार पञ्चसंग्रह से परिचित थे। इतना ही नहीं, श० चू०में पञ्चसंग्रह से गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

गुणस्थानों के वर्णन में (श० गा० ९) नीचे लिखी गाथा उद्धृत है—

सद्दहणासद्दहणं जस्स जीवस्स होइ तच्चेसु।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ॥

यह पंचसंग्रह के प्रथम अधिकारकी १६९वीं गाथा है।

यदि ये गाथाएँ अन्यत्रसे संगृहीत की गयी हों तब भी उक्त उद्धरणसे तो यह स्पष्ट ही है कि चूर्णिकार के सम्मुख पंचसंग्रहकारका मत था।

मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित चूर्णिसहित सित्तरीकी प्रस्तावनामें लिखा है—'परन्तु शतक लघुचूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर छे एविषेनो उल्लेख खंभात श्रीशान्तिनाथजी ताड़पत्रीय भंडारनी प्रतिना अन्तमां मलता नीचेना उल्लेखना आधारे जाणी शकाय छे—'कृतिराचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य 'शतकस्य ग्रन्थस्य'। उसमें उस पत्रका फोटु भी दिया है।

---

१. 'अन्ने पढंति 'आउक्कस्स पदेसस्स छ त्ति'।...अन्ने पढंति—'मोहस्स णव उ ठाणाणि'। श० चू० गा० ९३।

अतः जब शतकचूर्णि चन्द्रर्षि महत्तर रचित है तो स्पष्ट है कि उनके द्वारा रचित पञ्चसंग्रहसे प्रकृत पंचसंग्रह प्राचीन है और सम्भवतया उसीसे उन्हें शतकादि ग्रन्थोंके आधारपर पंचसंग्रह रचने की प्रेरणा मिली होगी। यद्यपि चन्द्रर्षि का भी समय सुनिश्चित नहीं है फिर भी उसकी स्थिति चिन्त्य है।

५. अकलंक देवके तत्त्वार्थवार्तिकमें नीचे लिखी दो गाथाएँ उद्धृत हैं—

> सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सगो दु उक्कस्स संकिलेसेण।
> विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्ज सेसाणं ॥–(त० वा०, पृ० ५०७)
> शुभपगदीण विसोधिए तिव्वमसुहाण संकिलेसेण।
> विपरीदे दु जहण्णो अणुभागो सव्वपगदीणं ॥–(त० वा० पृ० ५०८)

ये दोनों गाथाएँ पंचसंग्रहके चतुर्थ शतक नामक अधिकारकी क्रमशः ४१९ और ४४५वीं गाथाएँ हैं। किन्तु ये दोनों गाथाएँ शतक प्रकरणमें भी वर्तमान हैं और उनका नम्बर क्रमशः ५७ और ६८ है। अतः यह कहा जा सकता है कि ये गाथाएँ शतक प्रकरण से न लेकर पञ्चसंग्रहसे ही ली गई हैं इसमें क्या प्रमाण है? इस सन्देहको दूर करनेके लिए पंचसंग्रह और तत्त्वार्थवार्तिक में निर्दिष्ट सैद्धान्तिक चर्चामें उतरना होगा।

शतक प्रकरणकी ७वीं गाथामें संज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग बतलाये हैं। शतक चूर्णिमें उसका खुलासा करते हुए लिखा है कि[1]–'एक अर्थात् संज्ञी पर्याप्तके पन्द्रह योग होते हैं—मनोयोग ४, वचनयोग ४, औदारिक, वैक्रियिक और आहारक काययोग तो प्रसिद्ध ही हैं। औदारिक मिश्रकाय योग और कार्मणकाययोग सयोग केवलीके समुद्घातकालमें होते हैं। वैक्रियिक मिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाय योग विक्रिया करनेवाले तथा अहारक शरीर उत्पन्न करनेवालोंके होता है और वे पर्याप्तक ही होते हैं। इस तरह पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियक मिश्र भी माननेसे संज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग शतकमें बतलाये हैं। किन्तु पंचसंग्रहगत उक्त शतकवाली गाथामें पण्णरसकी जगह 'चउदस' पाठ है जो बतलाता है कि संज्ञी पर्याप्तकके चौदह योग होते हैं, वैक्रियिक मिश्र काययोग नहीं होता। पं० सं० की भाष्य[2]

---

१. एक्कम्मि सन्निपज्जत्तगम्मि पन्नरस वि योगा भवन्ति। मणजोग (गा) वइजोग (गा) '४' ओरालिय वेउव्विय अहारक कायजोगा पसिद्धा, ओरालियमिस्सकायजोगो कम्मइग कायजोगो य सयोगकेवलि पडुच्च समुग्घायकाले लब्भन्ति, वेउव्विय मिस्सकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो य वेउव्विय आहारगे विउव्वन्ते आहारयन्ते त पडुच्च, ते पज्जत्तगा चेव।'—श० चू०, पृ० ६।

२. सन्नि अपज्जत्तेसु वेउव्वियमिस्स काय जोयो दु।
सण्णीसु पुण्णेसु य चउदस जोया मुणेयव्वा ॥४२॥—सं० सं० ४।

गाथामें उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि संज्ञी अपर्याप्तको में वैक्रियिक मिश्र काय योग होता है और संज्ञी पर्याप्तकोंमें चौदह योग होते हैं।

इस तरह दोनोंमें संज्ञी पर्याप्तके वैक्रियिक मिश्रयोगके होने और न होनेको लेकर मतभेद है। किंतु लक्ष्मणसुत डड्डा और अमित गति[1] आचार्यने अपने पं० सं० में संज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह ही योग बतलाये हैं। मुझे इसका कारण लक्ष्मणसुत डड्ढापर [2]तत्त्वार्थवार्तिकका प्रभाव प्रतीत होता है। अमितगतिने तो उन्हींका अनुसरण किया है।

अकलंक देवने स्वामिभेदसे शरीरोंमें भेद करते हुए बतलाया है कि औदारिक तिर्यञ्च मनुष्योंके होता है, वैक्रियिक देव नारकियोंके होता है और किन्हीं तैजस्कायिक, वायुकायिक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यों के होता है। अकलंक देवने अपने इस कथनपर षट्खण्डागम के जीवस्थानका प्रमाण देकर यह आपत्ति शंकाकारके द्वारा उठाई है कि जीवस्थान में तो काययोग के स्वामियोंका कथन करते हुए औदारिक काययोग और औदारिक मिश्र काययोग तिर्यञ्च मनुष्योंके तथा वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाय योग देव नारकियोंके कहा है यहाँ आप तिर्यञ्च मनुष्योंके भी कहते हैं। यह बात तो आगम विरुद्ध है। इसका उत्तर देते हुए अकलंकदेवने कहा कि—'यह कथन अन्यत्र मिलता है व्याख्या प्रज्ञप्तिदण्डकोंमें शरीरके भेदोंका कथन करते हुए वायुके औदारिक वैक्रियिक, तैजस और कार्मण चार शरीर कहे हैं। और मनुष्यों के पाँच।' मनुष्योंके पांचों शरीर माननेसे ही संज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

डड्डाने प्राकृत पंच संग्रहका संस्कृत अनुवाद करते हुए भी पंचसंग्रहगत पाठको छोड़कर मूल शतक प्रकरणका पाठ क्यों रखा, यह अकलंक देवके तत्त्वार्थवार्तिकके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है उन्हें अकलंकदेववाली बात जँची।

---

१. द्वौ चतुर्षु नवस्वेकः समस्ताः संति संज्ञिनि।
जीवस्थानेषु विज्ञेया योगाः योगविशारदैः ॥१०॥
तदित्थम् मंज्ञिनि पर्याप्ते पर्चं दश योगाः।— सं० पं० सं०, पृ० ८२।

२. 'स्वामिभेदादन्यत्वम्—औदारिकं तिर्यङ् मनुष्याणाम्, वैक्रियिकी। देवनारकाणाम्, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याणाणाञ्च केषाञ्चित्। अत्राह चोदकः—जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायां औदारिकमिश्रकाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणां वैक्रियकयोगो वैक्रियिक मिश्रकाययोगश्च देवनाराकाणाम्-उक्तः, इह तिर्यङ् मनुष्याणामपीत्युच्यते। तदिदमार्षविरुद्धमिति। अत्रोच्यते—न अन्यत्रोपदेशात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु शरीरभंगे वायोरौदारिकवैक्रियकतैजस कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि, मनुष्याणां पंच।

—त वा०, पृ. १५३, १५४।

डड्ढा अकलंक देवके भक्त ज्ञात होते हैं उन्होंने अपने पंच संग्रहके अन्तमें अकलंक देवके लघीयस्त्रय से एक कारिका उद्धृत की हैं। उन्हें अलकलंक देवका कथन ही उचित प्रतीत हुआ। डड्ढाका ही अनुसरण अमितगतिने किया। और पञ्चसंग्रहकारके सामने अकलंकदेवका वार्तिक नहीं था क्योंकि पञ्चसंग्रहकी रचना वार्तिक से पहले हो चुकी थी। अतः उन्होंने 'चउदस' पाठ रखना ही उचित समझा क्योंकि जीवट्ठाण के अनुसार वही पाठ उपयुक्त था।

अतः पंचसंग्रहकार अकलंक देवके पूर्ववर्ती होने चाहिए। अकलंकदेव विक्रम की आठवीं शताब्दीसे पश्चात्के विद्वान् नहीं हैं। अतः पञ्चसंग्रहकी रचना विक्रमकी आठवीं शताब्दीसे पूर्व होनी चाहिए।

चन्द्रर्षि महत्तरकृत पंच संग्रह

दिगम्बरीय प्राकृत पञ्चसंग्रहकी तरह श्वेताम्बर परम्परामें भी एक 'पंच-संग्रह नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसपर पञ्चसंग्रहकारकी एक स्वोपज्ञ संस्कृत वृत्ति भी है। तथा आचार्य मलयगिरिकृत संस्कृत टीका है। यह भी कर्म प्रकृति आदि की तरह प्राकृत गाथाबद्ध है।

उसकी प्रथम गाथामें वीर प्रभुको नमस्कार करते हुए पंचसंग्रहको कहनेका प्रतिज्ञा की गई है और उसे महार्थ तथा यथार्थ कहा है। गाथा[2] दोमें पंचसंग्रह नामकी सार्थकता बतलाते हुए कहा है कि चूँकि इस ग्रन्थमें शतक आदि पाँच ग्रन्थोंका यथायोग्य न्यास किया गया है अथवा इसके पाँच द्वार हैं इसलिए पंचसंग्रह नाम सार्थक है।

शतक आदिसे कौनसे पाँच ग्रन्थ ग्रन्थकारको अभीष्ट थे वह उन्होंने स्वयं प्रकट नहीं किया। टीकाकार मलयगिरि ने पंचसंग्रह शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'शतक[2],सप्ततिका, कषाय प्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थोंका अथवा[3] योग उपयोग विषयक मार्गणा, बन्धक, बन्धव्य बन्ध हेतु और बन्धविधि, इन पाँच अर्थाधिकारोंका जिस ग्रन्थमें संग्रह है वह पंचसंग्रह है।

शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभृतका परिचय तो पीछे कराया जा चुका है।

---

१. स्वोपज्ञवृत्ति तथा मलयगिरिकी टीकाके साथ पञ्चसंग्रह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (अहमदाबाद) से प्रकाशित हो चुका है।

२. 'सयगाइ पञ्च गंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता। दाराणि पञ्च अहवा तेण जहत्था-भिहाणमिणं ॥२॥'—पं० सं०।

३. 'पञ्चानां शतक-सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृतिलक्षणानां ग्रन्थानां अथवा पञ्चानामर्थाधिकाराणां योगोपयोगविषयमार्गणा—बंधक-बन्धव्य-बन्धहेतु-बन्धविधि-लक्षणानां संग्रहः पञ्चसंग्रहः।'—पं० सं० टी०, पृ० ११।

किन्तु सत्कर्म ग्रन्थसे हम परिचित नहीं हो सके। मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकामें उससे एक उद्धरण[1] भी दिया है। सम्भवतया मलयगिरिका यह उद्धरण सप्ततिका चूर्णिका ऋणी है क्योंकि उसमें यही उद्धरण[2] 'संतकम्मे भणियं' कहकर दिया गया है। 'संतकम्म'का संस्कृत रूप सत्कर्म होता है।

षट्खण्डागमका परिचय कराते हुए संतकम्मपाहुड या सत्कर्मप्राभृतके विषयमें प्रकाश डाला गया है। सत्कर्म उससे भिन्न होना चाहिए क्योंकि इसके उक्त उद्धरणमें बतलाया है कि क्षपक श्रेणि और क्षीण कषाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नहीं होता। श्वेताम्बर [3]कर्म साहित्यमें इस विषयमें दो मत पाये जाते हैं। कर्मप्रकृति, सप्ततिका और सत्कर्मके अनुसार उक्त गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय नहीं होता। किन्तु प्राचीन कर्मस्तव तथा प्राकृत पंचसंग्रहके अनुसार होता है। दिगम्बर कर्म साहित्य में यह मतभेद नहीं पाया जाता। उसमें क्षीणकषायमें निद्रा प्रचलाका उदय माना है। अतः दिगम्बरीय संतकम्मपाहुडसे श्वेताम्बरी 'सन्तकम्म' भिन्न होना चाहिए।

तीसरी गाथामें ग्रन्थकारने ग्रन्थके योग उपयोग मार्गणा, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पाँच द्वारोंका निर्देश किया है और तदनुसार ही आगे कथन किया है। अर्थात् प्रथम द्वारमें योग और उपयोगका कथन गुणस्थान और मार्गणा स्थानोंमें किया है। जैसा कि संक्षेप रूपमें शतकके प्रारम्भमें पाया जाता है। दूसरे द्वार में कर्मका बन्ध करनेवाले बन्धक जीवोंका कथन है। प्रथम दो गाथाओंके द्वारा प्रश्नोत्तर रूपमें जीवका सामान्य कथन है—जीव किसे कहते हैं? औपशमिक आदि भावोंसे संयुक्त द्रव्यको। जीव किसका स्वामी है? अपने स्वरूपका। किसने उन्हें बनाया है? किसीने भी नहीं बनाया। कहाँ रहते हैं? शरीरमें अथवा लोकमें रहते हैं। कबतक रहते हैं? सर्वदा रहते हैं। कितने भावोंसे युक्त होते हैं? आगे संतपद प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ अनुयोगोंके द्वारा जीवका कथन है।

तीसरे बन्धद्वारमे आठों कर्मों और उनके उत्तर भेदोंका कथन है। आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंको बतलानेके पश्चात् ध्रुवबन्धी, अध्रुवबन्धी, ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, सर्वघाती, देशघाती, शुभ, अशुभ, तथा क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंको बतलाया है। इस तरह कर्मप्रकृतियोंका विविध रूपसे कथन तीसरे द्वारमें है।

---

१. 'तदुक्तं सत्कर्मग्रन्थे—'निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज'।
—सप्त० टी०, पृ० १५८।

२. स० चू०, पृ० ७।

३. इस चर्चाके लिए देखो—सि० चू० पृ० ७की टिप्पणी।

चौथे बन्धहेतु द्वारमें कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग तथा उनके भेदोंका कथन संख्यापूर्वक विस्तारसे किया है। चूँकि परीषह भी कर्मोंके उदयसे होती हैं इसलिए अन्तमें परीषहोंका भी कथन तीन गाथाओंसे किया है। स्वोपज्ञ वृत्तिमें नग्नताका कोई अर्थ सम्प्रदायपरक नहीं किया है जैसा कि मलयगिरि ने अपनी टीका में किया है।

पाँचवें बन्धविधि द्वारमें बन्धविधिके साथ ही उदय, उदीरणा और सत्ताका भी कथन किया है क्योंकि बद्धकर्मका उदय होता है, और उदयप्राप्त कर्ममें अनुदय प्राप्त कर्मका प्रक्षेपण करनेको उदीरणा कहते हैं। और जिस कर्मका उदय अथवा उदीरणा नहीं होते वह सत्तामें रहता है। अतः बन्धके साथ उदय उदीरणा और सत्ताका कथन किया गया है। अतः ये द्वार बड़ा है इसमें बन्धके चारों भेदोंका कथन होनेके साथ ही साथ उदय उदीरणा और सत्ताका भी कथन है। इस तरह पंचसंग्रहके पाँचों द्वार समाप्त हो जाते हैं। और उनके साथ ही ग्रन्थका पूर्वार्ध हो जाता है।

उत्तरार्धमें कर्मप्रकृतिमें कथित आठों करणोंका स्वरूप प्रतिपादित है। इसके प्रारम्भमें पञ्चसंग्रहकारने श्रुतधरोंको नमस्कार किया है। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं कर्मप्रकृतिका कथन करता हूँ। टीकाकार मलयगिरिने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें कहा है—'अब[1] कर्मप्रकृति संग्रहको कहना चाहिए। कर्मप्रकृति महान् शास्त्रान्तर है। उसे हमारे जैसे अल्पबुद्धि केवल अपनी बुद्धिके प्रभावसे संग्रहीत करनेमें असमर्थ हैं किन्तु कर्मप्रकृति प्राभृत आदि शास्त्रोंके पारगामी विशिष्ट श्रुतधरोंके उपदेशकी परम्पराके साहाय्यसे कर सकते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने श्रुतधरोंको नमस्कार किया है।

इसका विषय परिचय करानेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसकी रचना शिवशर्मप्रणीत कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिको सामने रखकर उसीके अनुसार की गयी है। दोनोंका मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। अन्तिम भागमें सप्ततिका का संग्रह किया गया है। अतः सप्ततिकामें जो विषय प्रतिपादित है वही इसमें भी है।

---

१. 'नमिऊण सुयहराणं वोच्छं करणाणि बंधणाईणि।
संकमकरणं बहुसो अइदेसियं उदय संते जं ॥१॥
मलयटी०—सम्प्रति कर्मप्रकृतिसंग्रहोऽभिधातव्यः। कर्मप्रकृतिश्च शास्त्रान्तरं महदि च' ततो न मादृशैरल्पमेधोभिः स्वमतिप्रभावतः संग्रहीतुं शक्यते। किन्तु कर्मप्रकृति प्राभृतादि-शास्त्रार्थ-पारगामि विशिष्टश्रुतधरोदेशपारम्पर्येण: ततोऽवश्यं ते नमस्कर-णीयाः—पं० सं० उत्त०।

ग्रन्थकारके द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ

पंचसंग्रहकारने अपने मूलग्रन्थमें 'सयगाई पंचगंथा' करके शतक आदि जिन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमेंसे शतकके सिवाय शेषोंका नाम नहीं बतलाया, यह हम ऊपर लिख आये हैं। फिर भी पंचसंग्रहके पर्यवेक्षणसे यह निश्चित है कि शेष चार ग्रन्थोंमेंसे दो अवश्य ही कर्मप्रकृति और सप्ततिका हैं। शेष दोका प्रश्न विवादग्रस्त है। मलयगिरिके अनुसार वे कसायपाहुड़ और सत्कर्म हैं। कसायपाहुडके सम्बन्धमें कोई ऐसा उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया जिसके आधारपर उसकी विधि या निषेधपर जोर दिया जा सके। किन्तु सत्कर्मके सम्बन्धमें तो यह कहा जा सकता है कि पंचसंग्रहकारके द्वारा निर्दिष्ट पाँच ग्रन्थोंमें उसकी स्थिति संदिग्ध है क्योंकि पंचसंग्रहकारने उसके मतके सामने [1]कर्मस्तवका मत मान्य किया है। तथा एक स्थानपर [2]स्वोपज्ञवृत्तिमें कर्मस्तवका उल्लेख भी किया है। अत: पंचसंग्रहकारके द्वारा संगृहीत पाँच ग्रन्थोंमें एक कर्मस्तव अवश्य होना चाहिए।

सप्ततिका और कर्मस्तवके सिवाय पंचसंग्रहकारने अपनी वृत्तिमें प्रज्ञापना और जीवसमासका उल्लेख किया है। दोनों ही प्राचीन ग्रन्थ हैं और उनमें प्रकृत ग्रन्थमें चर्चित कुछ विषय भी पाये जाते हैं। फिर भी पाँच ग्रन्थोंमें उनके होने की सम्भावना कम है।

पञ्चसंग्रहकारका अन्य कार्मिकों तथा सैद्धान्तिकोंसे मतभेद

पंचसंग्रहकारने यद्यपि अपने ग्रन्थ पंचसंग्रहमें पाँच ग्रन्थोंका संकलन किया है तथापि उन्होंने एकान्त रूपसे अनुसरण नहीं किया। अनेक विषयोंमें उनका अन्य कार्मिकों तथा सैद्धान्तिकोंसे मतभेद प्रकट है। नीचे उसीको बतलाया जाता है।

१. पंचसंग्रह (गा० १७) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दस योग बतलाये हैं। मलयगिरिने उसकी टीकामें यह शंका उठायी है कि वैक्रिय लब्धि सम्पन्न

---

१. 'कर्मस्तवप्रणेता तु क्षीणमोहेपि द्विचरमसमयं यावन्निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छति। तथा चोक्तं कर्मस्तवे—'निद्दापयलाण तहा खीणदुचरिमंमि उदयवोच्छेओ'। इति। ततस्तन्मतेन निद्राप्रचलयोरपि क्षीणमोहगुणस्थानकद्विचरमसमयं यावदुदओ वेदितव्य:।'—पं० सं०, मलयटी०, भा० १, पृ० १९५। 'एतच्चाचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेणोक्तम् सत्कर्मग्रंथाद्यभिप्रायेण तु क्षपकक्षीणमोहानां चतुर्णामेवोदयो न पञ्चानामपि। तदुक्तं सत्कर्मग्रन्थे—'निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज।' —पं०, सं० मलयटी०, भा० २, पृ० २२७।

२. 'एवमेकादशभङ्गाः सप्ततिकाकारमतेन कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति'—पं० सं०, भा० २, पृ० २२७।

पर्याप्त मनुष्य तिर्यञ्चों के सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें विक्रिया होती है उसके पहले वैक्रियमिश्र होता है वह यहाँ क्यों नहीं कहा[1]। उत्तर दिया गया है कि वहाँ विक्रिया नहीं होती इसलिए अथवा अन्य किसी कारणसे आचार्यने तथा दूसरोंने नहीं माना यह हम नहीं जानते क्योंकि उस प्रकारके सम्प्रदायका अभाव है।'

दिगम्बर परम्परामें भी तीसरे गुणस्थानमें दस योग बतलाये हैं और उक्त शंकित विक्रियाको स्वीकार नहीं किया है।

२. पञ्चसंग्रह (गा० ९) में उपयोगका कथन गुणस्थानोंमें करते हुए पहले और दूसरे गुणस्थानमें पाँच ही उपयोग बतलाये हैं। शतक गा० ४१ में भी पाँच ही उपयोग बतलाये हैं। यही कार्मिकोंका मत है जो दिगम्बर परम्परामें भी मान्य है। किन्तु प्रज्ञापनामें विभङ्गावधिके साथ अवधिदर्शन भी बतलाया है। पंचसंग्रहकारकी कुछ बातोंका विरोध मलयगिरिने स्पष्ट रूपसे अपनी टीकामें किया है। यथा—

३. गाथा ४६ से ५१ तक पंचसंग्रहकारने जीवोंकी कायस्थितिका कथन किया है। यह कायस्थिति प्रज्ञापनामें कथित कायस्थितिसे मेल नहीं खाती। अतः [1]मलयगिरिने उसे आगम विरुद्ध मान कर अपनी टीकामें प्रज्ञापनाके अनुसार ही कथन किया है। किन्तु यह कायस्थिति [2]षट्खण्डागमके अन्तर्गत जीवट्ठाणके कालानुयोगद्वारमें कथित कायस्थितिसे मेल खाती है।

४. चतुर्थद्वारकी गाथा १८ में पंचसंग्रहकारने चौइन्द्रियोंके तीनों वेद माने हैं। [3]मलयगिरिने केवल एक नपुंसक वेद ही लिखा है। दिगम्बर [4]परम्पराके अनुसार भी चौइन्द्रियपर्यन्तजीव नपुंसकवेदी ही होते हैं।

५. चतुर्थद्वारमें ही पञ्चसंग्रहकारने उत्तर प्रकृतियोंकी जो जघन्य स्थिति बतलायी है वह कर्मप्रकृतिसे मेल नहीं खाती। दोनोंमें अन्तर है। यथा—पञ्चसंग्रहकारने तीर्थङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष बतलायी है। तथा आहारकद्विककी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलायी है किन्तु कर्मप्रकृति आदिमें

---

१. 'इह मूलटीकायामन्यत्र च ग्रन्थान्तरे कायस्थितिरन्यथागमविरोधिनी दृश्यते। ततस्तामुपेक्ष्य प्रज्ञापनासूत्रानुसारतः सूत्रगाथा विवृताः। अतएव ग्रन्थगौरवमनादृत्य सर्वत्र प्रज्ञापनासूत्रमुपादर्शि:—पं० सं० मलयटी०, भा० १ पृ० ८५।

२. षट्खं०, पु० ४। ३- पं सं० मलय० टी०, भा० १, पृ० १८३। ४- 'तिरिक्खा सुद्धा णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ॥१०६॥—षट्खं० पु०, पृ० ३४५।

३. 'इदं च किल निद्रापञ्चकादारभ्य सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमाचार्येण मतान्तरमधिकृत्योक्तमवसेयम, कर्मप्रकृत्यादावन्यथा तस्याभिधानात।'—पं० सं० मलयटी०, भा० १, पृ० २२७।

उनकी जघन्य स्थिति कोटी-कोटी सागर बतलायी है। दिगम्बर परम्परामें भी यही बतलायी है।

कार्मिको और सैद्धान्तिकोंमें तो मतभेद है ही। कुछ बातोंको लेकर कार्मिकोंमें भी परस्परमें मतभेद है। जैसे क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय कोई मानता है कोई नहीं मानता। कर्मप्रकृतिकार और सप्ततिकार नहीं मानते। किन्तु प्राचीन कर्मस्तव और तदनुयायी पञ्चसंग्रहकार तथा दिगम्बराचार्य मानते हैं। किन्तु [1]पञ्चसंग्रहकारने अपने सप्ततिका प्रकरण में सप्ततिका-संग्रह करते हुए दोनोंका निर्देश कर दिया है। दूसरा मौलिक मतभेद अनन्तानुबन्धी कषायकी उपशमना और विसंयोजनाको लेकर है कर्मप्रकृतिकारका मत कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना ही होती है, उपशमना नहीं होती। किन्तु सप्ततिका (गा० ६१) और पञ्चसंग्रहके अनुसार उपशमना होती है। तथापि [2]पञ्चसंग्रहमें विसंयोजना भी बतलायी है।

पञ्चसंग्रहकारने अपने सप्ततिका नामक प्रकरणमें गा० ९ में वैक्रियिक द्वयका उदय चौथे गुणस्थान तक ही बतलाया है। उसकी टीकामें [3]मलयगिरिने लिखा है कि वैक्रिय और वैक्रिय अंगोपांगका चौथे गुणस्थानसे आगे उदयका निषेध आचार्यने कर्मस्तवके अभिप्रायानुसार किया है। स्वयं तो वे देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तमें उनका उदय मानते हैं।

उक्त चर्चाओंसे प्रकट होता है कि पञ्चसंग्रहकार कर्मशास्त्रके बहुत विशिष्ट विद्वान थे और अपने समयके कर्मसिद्धान्त विषयक सभी प्रमुख ग्रन्थोंका उन्होंने अवलोकन किया था। और उन सभीके मतोंको उन्होंने अपने ग्रन्थमें स्थान दिया, फिर भी कुछ विषयोंमें उनका अपना भी विशिष्ट मत था।

कर्ता—

इस पञ्चसंग्रहके कर्ता आचार्यका नाम चन्द्रर्षि महत्तर था। पञ्च संग्रहकी अन्तिम [4]गाथा तथा उसकी वृत्तिमें उन्होंने अपना नाम 'चन्द्रर्षि' मात्र दिया है।

---

१. 'खवगे सुहुमंमि चउबन्धमि अबंधगम्मि खीणम्मि।
छस्संतं चउरुदओ पंचण्हवि केइ इच्छंति। १४॥ —श्वे० पं० सं०, भाग, २२७।

२. श्वे. पं० सं० उप०, गा०, ३४-३५।

३. 'वैक्रियवैक्रियांगोपांगनिषेधस्तु अत्राचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेण कृतोभिवेदितव्यः, न स्वमतेन स्वयं देशविरत प्रमत्ताप्रमत्तेषु तदुदयाभ्युपगमात्, स्वकृतमूलटीकायां तथा भंगभावनाकरणात् पं० सं०, भा० २, पृ० २२७।

४. सुयदेवि पसायाओ पगरणमेयं समासओ भणियं।
समयाओ चन्दरिसिणा समइ वि भवानुसारेण ॥१५६॥

और अपने गुरु आदिके सम्बन्धमें कोई निर्देश नहीं किया।

सित्तरीकी प्रतियोंके अन्तमें जो एक गाथा पाई जाती है।

'गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए'

उसमें 'चन्द्रमहत्तर' नाम आता है। खंभातके श्री शान्तिनाथभण्डारमें जो शतकचूर्णिकी प्रति है उसके अन्तिम पत्रके अन्तमें यह वाक्य लिखा है—'कृतिराचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य'।

इन सब उल्लेखोंसे ग्रन्थाकारका पूरा नाम श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रमाणित होता है किन्तु उनके कुलगुरु समय आदिके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

साधारणतया उन्हें एक बहुत प्राचीन आचार्य माना जाता है। 'जैनसाहित्य नो इतिहास, (पृ० १३९) में उन्हें कर्मप्रकृतिकारके पश्चात् रखते हुए लिखा है—'चन्द्रर्षि महत्तर थयाते घणा प्राचीन समयमां थया जणाय छे। ते प्राय: आ समयमां थया हशे ऐम गणी अहीं तेमनो उल्लेख कर्यो छे'।

किन्तु मुनिश्री पुण्यविजयजीने 'पञ्चमकर्मग्रन्थ और षष्ठम कर्मग्रन्थ' की अपनी प्रस्तावना (पृ० १५) में 'चन्द्रर्षि सप्ततिकाके रचयिता नहीं हैं' इस बातको स्पष्ट करते हुए उनके सम्बन्धमें दो बातें मुद्देकी लिखी हैं। एक-यदि सप्ततिकर्ता और पंचसंग्रहकर्ता आचार्य एक ही होते तो भाष्यकार चूर्णिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें जैसे शतक, सप्ततिका, कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंका उल्लेख साक्षी रूपसे मिलता है वैसे पञ्चसंग्रह जैसे प्रासादभूत ग्रन्थके नामका उल्लेख भी जरूर मिलता। परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं भी देखनेमें नहीं आता। दूसरे मुद्देकी बात मुनिजीने यह लिखी है कि 'महत्तर' पद तथा गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि जैसे ऋषि पदान्त नाम सामान्यतया पिछले समय के होने चाहिए। आचार्य चन्द्रर्षिके समयका विचार करते समय दोनों मुद्दे नहीं भुलाये जा सकते।

इनके समयका विचार करनेसे पूर्व यहां शतकचूर्णि और सप्ततिचूर्णिका परिचय कराया जाता है।

एक अन्य शतक[1] चूर्णि

शतक ग्रन्थका परिचय पहले कराया जा चुका है। उसीपर प्राकृत भाषामें यह चूर्णि रची गयी है। चूर्णिको देखनेसे प्रकट होता है कि उसका रचयिता कोई बहुश्रुत विद्वान होना चाहिए; क्योंकि चूर्णिमें उद्धृत गाथाओंका बाहुल्य है।

१—राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित शतक प्रकरणका इसचूर्णिके साथ प्रकाशन हुआ है।

और चर्चित विषयके सम्बन्धमें कार्मिकों औच सैद्धान्तिकोंमें जो मतभेद हैं उनका भी यथा स्थान निर्देश किया गया है।

यद्यपि पूरी चूर्णि प्राकृत भाषाबद्ध है किन्तु कहीं-कहीं संस्कृत वाक्य भी पाये जाते हैं किन्तु उनकी विरलता है। प्रारम्भिक गाथाकी उत्थानिकामें चूर्णिकारने सम्बन्धादिका कथन करनेके लिए एक संस्कृत आर्या उद्धृत की है—

'संज्ञा निमित्तं कर्तारं परिमाणं प्रयोजनं।
प्रागुक्त्वा सर्वतंत्राणां पश्चाद् वक्ता तं वर्णयेत् ॥'

प्रथम गाथा में कहा है कि 'दृष्टिवादसे कुछ गाथाएं कहूंगा'। चूर्णिकारने दृष्टिवादका परिचय कराते हुए उसके पांच भेदोंमें से दूसरे पूर्व अग्रायणीयके अन्तर्गत पंचम वस्तुके बीस पाहुडोंमेंसे चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृतमे इस ग्रन्थकी उत्पत्ति बतलायी है। चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंके नाम गिनाकर उनमें से छठे अनुयोगद्वार बन्धनके चार भेद—बंध, बंधक, बन्धनीय और बन्ध-विधानमें से बन्धविधानसे प्रकृत शतककी उत्पति बतलाई है। इससे सूचित होता है कि चूर्णिकारको इस सब उपपत्तिका परिचय था।

इसी तरह ग्रन्थमें वर्णित योग, उपयोग जीवसमास और गुणस्थानोंका चूर्णिमें अच्छा विवेचन किया गया है जो संक्षिप्त होते हुए भी बहुमूल्य है। गाथा ३८-३९की चूर्णिमें आठों कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोंका विवेचन भी सुन्दर है। आगे चारों बन्धोंके कथन में भी चूर्णिमें बहुत विषय भरा हुआ है और चूर्णिकारने 'गागरमें सागरकी कहावत को चरितार्थ किया है।

इस चूर्णिके कर्ताका भी नाम अज्ञात है। किन्तु खंभातके शान्तिनाथ भण्डारसे प्राप्त शतक चूर्णिके अन्तमें उसे श्वेताम्बराचार्य श्री चन्द्रमहत्तरकी कृति बतलाया है।

किन्तु पंचसंग्रहके साथ चूर्णिकी तुलना करनेसे कोई बात प्रकट नहीं होती जिसके आधारपर यह निस्सन्देह रूपसे कहा जा सके कि यह चन्द्रर्षि महत्तरकी कृति है।

१. प्रथम तो चूर्णिका उपोद्घात और पंच-संग्रहका उपोद्घात ही भिन्न है। जहां चूर्णिमें संज्ञा, निमित्त आदिका कथन ग्रन्थके प्रारम्भ में आवश्यक बतलाया है वहां पंञ्चसं० के प्रारम्भमें मंगल, प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयका कथन करके व्याख्या क्रमके ६ भेद किये है—और उनके सम्बन्धमें 'उक्तं च' रूपमें यह श्लोक उद्धृत किया है।

संहिता च पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः।
चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥१॥'

२. शतक गाथा १४ की चूर्णिमें मिथ्यात्वके अनेक भेद बतलाये हैं—एकान्त, वैनयिक, अज्ञान, संशय, मूढ़ और विपरीत। अथवा क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनयिकवाद और अज्ञानवाद। तथा नीचे लिखी दो गाथाएं उद्धृत की हैं—

'असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण जाण चुलसीई।
अन्नाणि य सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥''
जावइया णयवाया तावइया चेव होंति परसमया।
जावइया परसमया तावइया चेव मिच्छत्ता ॥'

उधर पंच[1]संग्रहमें मिथ्यात्वके पांच भेद गिनाये हैं—अभिगृहीत, अनभिगृहीत, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोग। तथा व्याख्यामें 'च' पद से सूचित मिथ्यात्व के भेदोंका सूचन करनेके लिए 'सेसठ्टा तिन्नीसया' और 'जावइया वयण पहा' गाथांशोंका निर्देश किया है जो बतलाता है कि चूर्णिमें उद्धृत इन गाथाओंसे ये दोनों गाथाएं भिन्न हैं।

३. शतक गा० ५२-५३ की चूर्णिमें उत्तर प्रकृतियोंके स्थितिबन्धका कथन विस्तारसे किया है। उसमें तीर्थङ्कर और आहारकद्वयकी जघन्यस्थिति कर्मप्रकृति के अनुसार, अन्त: कोटी-कोटी सागर ही बतलायी है। किन्तु पंचसंग्रहमें तीर्थङ्कर प्रकृतिकी अन्तर्मुहूर्त बतलायी है।

चूर्णिमें वर्णादिचतुष्ककी उत्कृष्टस्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर बतलायी है और पंचसंग्रह[2] में पृथक् २ बतलायी है। और भी उल्लेखनीय अन्तर स्थिति-बन्धके सम्बन्धमे हैं।

अत: इन बातोंको लक्ष्यमें रखनेसे यह निर्विवाद रूपसे नहीं माना जा सकता कि शतकचूर्णिके कर्त्ता और पंचसंग्रहके कर्ता एक व्यक्ति है।

शायद कहा जाये कि शतक कर्मप्रकृतिकारकी रचना है इसलिए चूर्णि-कारने उसमें कर्मप्रकृतिके अनुसार ही स्थितिका प्रतिपादन किया होगा। किन्तु ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि चूर्णिकारने कर्मप्रकृतिका भी अनुसरण नहीं किया। कर्मप्रकृति[3]के अनुसार प्रत्येक वर्गकी भी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी

---

१. 'आभिग्गहियमणभिग्गहियं च अभिनिवेसियं चेव। संसइयमणाभोगं मिच्छत्तं पंचहा होइ ॥२॥

२. सुक्किलसुरभी महुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाणं। अठ्ठाइज्ज पवुड्ढी अंबिल हालिद्द पुव्वाणं ॥३३॥ श्वे०पं० सं० भा० १; पृ० २२९।

३. 'वग्गु क्कोस ठिईणं मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं'। सेसाणं तु जहन्ना पल्लासंखिज्जभागूणा ॥ "७९।"—क० प्र०; बन्धन-।

उत्कृष्ट स्थितिका भाग देनेसे जो लब्ध आता है उसमें पल्यका असंख्यातवां भाग कम करनेसे उत्तरप्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण आता है। और पंचसंग्रहके[1] अनुसार प्रत्येक उत्तर प्रकृतिकी अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिका भाग देने से जो लब्ध आता है वही उस उत्तर प्रकृतिकी जघन्यस्थितिका प्रमाण होता है। चूर्णिमें पंचसंग्रहवाली बातको स्वीकार किया गया है किन्तु उसमें कर्मप्रकृतिकी तरह पल्यका असंख्यातवां भाग कम भी किया गया है। श्वे० पंच सं० की टीकामें मलयगिरि ने लिखा है[2] कि जीवाभिगम वगैरह में यही स्थिति मान्य है जो चूर्णिमें बतलायी है।

दि० पंच सं० में भी यही स्थिति मान्य है। दि० प० सं० की गाथाओंके साथ स्थिति निर्देशक चूर्णिका मिलान करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त चूर्णि की रचना दि० पं० सं० की गाथाओंको सामने रखकर की गयी है। दोनों में कथनका क्रम भी एक है।

किन्तु शतकचूर्णिमें[3] तथा प० सं० की स्वोपज्ञ[4]वृत्तिमें जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणके विशेषावश्यक भाष्यसे गाथाएं उद्धृत की गयी हैं। अत: दोनोंकी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीके पूर्व ही हुई है यह निश्चित है।

गुजरातके चालुक्यवंशी नरेश कुमारपालके समयमे हुए आचार्य मलयगिरिने पंचसंग्रह पर टीका रची थी। अत: पञ्चसंग्रहकी उत्तरावधि विक्रमकी बारहवीं शती निश्चित होती है। देखना यह है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दीके अन्तसे लेकर बारहवीं शताब्दी पर्यन्त पांचसौ वर्षों के अन्दर पञ्चसंग्रहकी रचना कब हुई।

इस कालके बीचमें हुए ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें भी पञ्चसंग्रहसे उद्धृत पद्य हमारे देखने में नहीं आये।

पञ्चसंग्रहसे भी कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। हां, पञ्चसंग्रहकी

---

१. 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिइए जं लद्धं' ॥४८॥

—श्वे० पं० सं०, भाग १० पृ० २५५।

२ 'जीवाभिगमादौ आचार्योक्त जघन्यस्थितिपरिमाणं पल्योपमासंख्येयभागन्यूनमुक्तम्, श्वे० पं० सं० पृ० २२७।

३. श० चू० गा० ३८-३९ में—'जावन्ती अक्खराइ...'—वि० भा० गा० ४४४। 'इन्द यमणोणिमित्तं—' वि० भा गा० १००।

४. सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो नत्थि उवओगा० 'वि० भा० गा० ३०९६ ।—श्वे० प० सं०, भा० १, पृ० १०।

स्वोपज्ञवृत्तिमें लिखा है कि कुछ 'आचार्य वामन को चौथा संस्थान मानते हैं'[1] किन्तु वह ठीक नहीं है। हमने खोजने पर गर्गर्षिके कर्मविपाकमें वामनको चौथा और कुब्जकको पाँचवा संस्थान पाया। यथा—

> समचउरंसे नग्गोहमंडले साइवामणे खुज्जे।
> हुंडे वि य संठाणे तेसिं सव्वं इमं होइ ॥१११॥

तब क्या पंचसंग्रहकारने 'केचित्' के द्वारा गर्गर्षिके मतका निर्देश किया है? यदि ऐसा हो तो उन्हें गर्गर्षिके पश्चात्का ग्रन्थकार मानना होगा।

सिद्धर्षि[2] आचार्यने अपनी उपमिति भव प्रपञ्चकथा वि० सं० ९६२ में रचकर समाप्त की थी। उसमें उन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि लाट देशके निवृतिकुल में सूर्याचार्य हुए। उनका शिष्य छेल्ल महत्तर था जो ज्योतिर्विद था। उनका शिष्य दुर्गस्वामी था। उसने जैन साधुकी दीक्षा ली थी। उसकाशिष्य मैं सिद्धर्षि हूँ। सिद्धर्षिने लिखा है कि मेरे गुरु दुर्गस्वामीको तथा मुझे गर्गस्वामीने दीक्षा दी थी। इन्हीं गर्गस्वामीको कर्म विपाकका रचयिता माना जाता है। अतः उसका समय विक्रमकी दसवी शतीका पूर्वार्ध समझना चाहिए। और ऐसी स्थितिमें पंचसंग्रहकार चन्द्रर्षिको दसवीं शतीसे पहलेका विद्वान नहीं माना जा सकता। और इस आधार पर उनका समय विक्रमकी १० वीं शताब्दीका उत्तरार्ध माना जा सकता है। यद्यपि इस समयसे पहलेके रचे हुए ग्रन्थोंमें पंचसंग्रहके उद्धरण हमारे देखनेमें नही आये और इसलिए उक्त समयमें कोई असमंजसता प्रतीत नहीं होती। तथापि उक्त आधार इतना पुष्ट नही है जिसके आधार पर उक्त समयको निर्विवाद रूपसे माना जा सके। क्योकि गर्गर्षिने अपने कर्म विपाकमें जो वामनको चौथा संस्थान गिनाया है सम्भव है किसी अन्य आधार पर गिनाया हो और उसीका निर्देश पंचसंग्रह मे किया गया हो।

यद्यपि शतक चूर्णि हमें पंचसंग्रहकार रचित प्रतीत नही होती तथापि उसके आधार पर भी उसके कर्ताके विषयमें, चाहे वह चन्द्रर्षि हों या अन्य, विचार करना आवश्यक है।

शतक चूर्णिमें ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत पद्योंका बाहुल्य है और वही एक ऐसा स्रोत है जिसके द्वारा चूर्णिके रचना कालके सम्बन्धमें किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है।

---

१. 'वामनस्य केचिच्चतुर्थं (थं सं०) स्थानं वदन्ति तन्न भवतीति।'—श्वे० पं०सं०, भा० १, पृ० २२०।

२. जै० सा० इ० (गु), पृ० १८२।

यह तो हम लिख ही आये हैं कि उसमें विशेषावश्यक भाष्यसे उद्धरण दिये गये हैं और उनके आधार पर उसके रचना कालकी पूर्वावधि निश्चित हो जाती है। अन्य उद्धरणोंके स्थानका पता न लग सकनेसे अथवा उनके स्थल में विवाद होनेसे किसी निष्कर्ष पर पहुंचने में जो कठिनाई उपस्थित होती है उसका विवरण दिया जाता है।

दि० पंचसंग्रहका समय निर्णीत करते हुए यह लिख आये हैं कि शतक चूर्णिकार उससे परिचित थे। उसकी पुष्टिमें एक उद्धरण और भी मिलता है। नीचे लिखी गाथा श० चू० में उद्धृत है—

'जं सामण्णं गहणं भावाणं णेवकट्टु आगारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिई वुच्चए समए।'—श० चू० पृ० १८।

यह गाथा दि० पं० सं० के प्रथम अधिकारकी १३८ वीं गाथा है। यह धवलामें भी उद्धृत है और द्रव्य संग्रहमें तो इसे मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है। शतक चूर्णिसे यह गाथा अन्य श्वेताम्बर टीकाओं में भी उद्धृत की गयी है। यथा कर्मविपाक नामक प्रथम नव्य कर्म ग्रन्थकी गाथा १० की टीकामें वह उद्धृत है और सम्पादक ने उसे वृहद्द्रव्यसंग्रहकी बतलाया है। किन्तु मूलमें वह दि० पं० सं० की ही है। अतः शतक चूर्णिकार दि० पं० सं० से अवश्य सुपरिचित थे। अस्तु,

शतक गाथा ९ की चूर्णिमें गुणस्थानोंका कथन करते हुए अनेक गाथाएं उद्धृत की गयी हैं। उनमें से प्रथम गुणस्थानके वर्णनमें नीचे लिखी ५ गाथाएं एक साथ क्रमवार उद्धृत है—

उक्तंच— मिच्छत्त तिमिर पच्छाइयदिट्ठी रागदोससंजुत्ता।
धम्मं जिणपण्णत्तं भव्वावि णरा ण रोचेन्ति ॥१॥
मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥२॥
पदमक्खरं च एक्कंपि जो ण रोएइ सुत्तणिदिट्ठं।
सेसं रोएन्तो वि हु मिच्छाद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥३॥
सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुयकेवलिणा रइयं अभिण्णदसपुव्विणा कहियं ॥४॥
अहवा—तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण जाण अत्थाणं।
सं इयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं ॥५॥'

इनमें से गाथा २ तथा ५, दि० पं० सं० के प्रथम अधिकारकी ८ वीं तथा

१. दि० ग्रन्थोंमें 'भण्णए' पाठ है।

७ वीं गाथा है। तथा ३, ४, ५, भगवती आराधनामें हैं और उनकी संख्या क्रमशः ३१, ३४, और ५६ है। गाथा नं० ४ के पाठमें थोड़ा भेद है जो इसप्रकार है—

> सुत्तं गणधरगथिदं तहेव पत्तेय बुद्धकहियं च ।
> सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगथिदं च ॥३४॥

श्वेताम्बर साहित्यमें बृहत्संग्रहिणीमें गा० ३-४ पाई जाती हैं और उनका नम्बर १५३-१५४ है। तथा उसमें 'कहियं' आदिके स्थानमें सर्वत्र 'रइयं' पाठ है।

इस तरह उक्त पांच गाथाओंमें से फुटकर रूपमें कुछ गाथाएं दोनों परम्पराओंके साहित्य में मिलती हैं। किन्तु लगातार पांचों गाथाएं इसी क्रमसे किसी ग्रन्थमें नहीं मिलतीं और इसलिए यह निर्णय करना अशक्य है कि चूर्णिकारने इन्हें अमुकग्रन्थ से उद्धृत किया है।

खोजते खोजते हमें ये गाथाएं इसी क्रमसे एक अन्य ग्रन्थमें भी उद्धृत मिलीं। सिद्धसेन गणिकृत तत्वार्थ भाष्यकी टीका (अ ८ सूत्र १० में) में ये गाथाएं इसी क्रमसे उद्धृत हैं। केवल पांचवी गाथाकी प्रथम पंक्तिके अन्तिम शब्द 'अत्थाणं' के स्थानमें 'भावाणं' पाठ है।

परन्तु चोथी गाथा उद्धृत नहीं है उसके स्थानमें उसी आशयकी दो संस्कृत आर्याएं इसप्रकार उद्धृत हैं—

'सूत्रं तु प्रतिविशिष्टपुरुषप्रणीतमेव श्रद्धागोचर इति यथोक्तम्—

> अर्हत्प्रोक्तं गणधरदृब्धं प्रत्येकबुद्धदृब्धं वा ।
> स्थविरग्रथितं च तथा प्रमाणभूतंत्रिधा सूत्रम् ॥१॥
> श्रुतकेवली च तस्मादधिगतदशपूर्वकश्च तौ स्थविरौ ।
> आप्ताज्ञकारित्वाच्च सूत्रमितरत् स्थविरदृब्धं ॥२॥

'सुत्तं गणधर कहियं', आदि गाथाके अभिप्रायसे उक्त संस्कृत आर्याओंके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है। गाथामें श्रुतकेवली रचितको तथा दसपूर्वी रचितको सूत्र कहा है। संस्कृत पद्योंमें उन दोनोंको स्थविर बतलाते हुए स्थविर रचितको सूत्र कहा है। हमारा विश्वास है कि शतक चूर्णि तथा सि० टीकाके बीचमें अवश्य ही आदान-प्रदान हुआ है और उन दोनोंमें से एकने दूसरेका अनुकरण किया है। उसके बिना विभिन्न ग्रन्थोंसे संकलित की गयी गाथाएं उसी क्रमसे दोनोंमें नहीं मिल सकतीं।

हमारे उक्त विश्वास का आधार केवल उक्त गाथाएं ही नहीं हैं, किन्तु दोनों ग्रन्थोंमें समान रूपसे पाये जानेवाले उद्धरणोंका तथा वाक्योंका बाहुल्य है।

अन्तर इतना ही है कि चूर्णिमें प्राकृत रूप है तो सि० टीकामें संस्कृत रूप है।

चूर्णिमें तीसरे गुण स्थानका कथन करते हुए पांच गाथाएं उद्धृतकी गयी हैं, उनमें से केवल पांचवीं गाथा दि० पं० सं० में मिली है, शेषके स्थलोंका पता नहीं लग सका। उनमें से तीन गाथाएं इस प्रकार हैं—

उक्तं च-सम्मत्तगुणेन तओ विसोहइ कम्म मेस मिच्छत्तं।
सुज्झन्ति कोद्दवा जह मदणा ते ओसहेणेव ॥१॥
जं सव्वहा विसुद्धं तं चेव य भवई कम्म सम्मत्तं।
मिस्सं अद्धविसुद्धं भवे असुद्धं च मिच्छत्तं ॥२॥
(स) मयणकोद्दव भोजी अणप्पवसय णरो जहा जाइ।
सुद्धाइ उण मुज्झइ मिस्सगुणा वा वि मिस्साई ॥४॥

इन तीनों गाथाओंका संस्कृत रूपान्तर सि० टीकामें (भा० २, पृष्ठ १३७ १३८) इस प्रकार पाया जाता है—

सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तच्च मिथ्यात्वम्।
यद्वच्छकृत्प्रभृतिभिः शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥१॥
यत्सर्वथा तत्र विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम्।
मिश्रं तु दर विशुद्धं भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥२।'
'ननु कोद्रवान् मदनकान् भुक्त्वा नात्मवशतां नरो याति।
शुद्धादी न च मुह्यति मिश्रगुणश्चापि मिश्राद् वा ॥१॥'

इसी तरह अन्य भी अनेक गाथाएं हैं जिनका संस्कृत रूपान्तर सि० टीकामें है। कर्मों के लक्षणोंमें भी आंशिक समानता पाई जाती है। यथा—

१. 'णोकसाया कषायैः सह वर्तन्ते नहि तेषां पृथक् सामर्थ्यमस्ति, जे कसायोदये दोसा ते ऽपि तद्योगात् तद्दोषा एव, अणन्ताणुबन्धिसहचरिताते अणंताणुबन्धि सहावं पडिवज्जंति।' (श० चू० पृ० १९)

'कषाय सहकृता एते स्वकार्यनिवर्तनप्रत्यलाः, न ह्यमीषां पृथक्सामर्थ्यमस्ति यद्दोषश्च यः कषायस्तत्सहचारिण एतेऽपि तत्तद्दोषा एव भवन्ति। तदुक्तं भवति—अनन्तानुबन्धि सहचरितास्तत्स्वभावका एव जायन्ते।' (सि० टी०; पृ० १४१)

२. 'इत्थियम्मि अभिलासो पुरिसवेदोदएण जहा सिंभोदए अम्बाइसु। इत्थिवेओदएण पुरिसाभिलासो पित्तोदए मधुराभिलाषवत्। नपुंसक वेओदयाओ इत्थिपुरिसदुगमहिलसति धातुद्वयोदीर्णे मज्जिकादिद्रव्याभिलाषिपुरुषवत्।' (श० चू०) 'पुरुषवेदमोहोदयात् अनेकाकारासु स्त्रीष्वभिलाषः आम्रफलाभिलाष इवो-

भिन्न इतिकथम्: ।....स्त्रीवेदमोहोदयात् नानाजनेषु पुरुषेष्वभिलाषः....। नपुंसक वेदमोहो बहुरूपः तदुदयात् कस्यचित् स्त्रीपुरुषद्वयविषयोऽप्यभिलाषः किल प्रादुर्भवति धातुद्वयोदये मार्जिताविद्रव्याभिलाषवत् ।' (सि० टी०)

सि० टी०, अ० ६ में तत्तत् कर्मोंके बन्धके विशेष कारण बतलाये हैं । शतक गाथा १६-२६ में भी आठों कर्मोंके बन्धके कारण बतलाये है । चूर्णिमें जो विशेष कारण बतलाये हैं वे क्वचित् सि० टी० से मिलते जुलते है । यथा—'इयाणि सामन्नेण भण्णइ—सीलव्वयसंपन्ने चरणट्ठ धम्मगुणरासिणं सव्वजगवच्छल्ले समणे गरहन्तो 'तवसंजमरयाणं परमधम्मिकाणं धम्माभिमुहाणं च धम्मविग्घं करेन्तो जहासत्तीए सीलव्वयकलियाण' देसविरयाणं विरहविग्घं करेन्तो, महुमज्ज-मंसविरयाणं को एत्थ दोसोत्ति अविरत्ति दरसेन्तो, चरित्त संदूसणाए अचरित्त संदेसणाए य परस्स कसाए णोकसाए य संजणन्तो बन्धइ चरित्तमोट्ट' कम्मं ।' (श० चू०गा. १९)

'परम धार्मिकाणां साधूनां गर्हणया धर्माभिमुखानां च विघ्नकारितया देशविरति जनान्तरायकरणेन मधुमद्यमांसाविरतिगुणदर्शनेन चारित्रगुणसन्दूषणेनाचारित्र-दर्शनेन परस्य कषायनोकषायोदीरणेन चरणगुणोपघातकारिकषायनोकषाय-वेदनीयं चारित्रमोहं बध्नातीति ।' (सि० टी० भा० पृ० २९) ।

इन उद्धरणोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शतकचूर्णि और सिद्धसेनगणी-कृतटीकाके कर्ताओंमेंसे किसी एकने दूसरेकी कृतिका अनुसरण किया है। किन्तु किसने किसका अनुसरण किया है, उक्त उद्धरणोंके आधारपर इसका निर्णय करना कठिन है ।

जैसे शतकचूर्णिमें विशेषावश्यक भाष्यके उद्धरण पाये जाते है वैसे ही सिद्धसेन गणिकी तत्त्वार्थ भाष्यटीकामें भी वि० भा० के उद्धरण पाये जाते है । अतः यह निश्चित है कि दोनोंकी रचना विशेषावश्यक भाष्यके पश्चात् हुई है ।

सिद्धसेन गणिने अपनी टीकाकी प्रशस्तिमें अपनेको दिन्नगणिके शिष्य सिंह-सूरका प्रशिष्य तथा भा स्वामीका शिष्य बतलाया है । पं० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्र विवेचनकी प्रस्तावनामें लिखा है कि यही सिंहसूर नयचक्रके टीकाकार हैं । और सिंहसूर विक्रमकी सातवीं शताब्दीके मध्यमें अवश्य विद्यमान थे । क्योंकि उनकी टीकामें भी विशेषावश्यक भाष्यकी गाथाएँ उद्धृत हैं और उसका रचनाकाल विक्रमकी सातवीं शताब्दीका मध्य है । विक्रमकी नौवीं दसवीं शताब्दी-के नवांगवृत्तिकार शीलांकने गन्धहस्ति नामसे सिद्धसेनका उल्लेख किया है अतः वे उनसे पहले किसी समयमें हुए हैं । अधिक से अधिक विक्रमकी नौवीं शताब्दी को उनकी अवधि माना जा सकता है ।

ऐसी स्थितिमें शतकचूर्णिका अनुसरण सिद्धसेन ने किया हो यह संभव है यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिने सप्ततिका या सित्तरी पर एक भाष्य रचा था। इसके प्रारम्भमें उन्होंने लिखा[1] है कि वह भाष्य मैं सित्तरीकी चूर्णिके अनुसार लिखता हूँ। अतः [2]अभयदेवसूरि (१०८८-११३५ सं०) से पहले सित्तरी चूर्णिकी रचना हो चुकी थी। और सित्तरीचूर्णिसे पहले शतकचूर्णि रची जा चुकी थी। यह उसके देखनेसे प्रकट होता है।

सि० चू० में कई स्थलों पर 'एयासि अत्थनविवरणा जहा सयगे' (पृ० ३), आदि पदोंके द्वारा कर्मोंके भेद-प्रभेदोंका, गुणस्थानोंका, जीवस्थानोंका, विवरण शतक ग्रन्थकी तरह कहा है। मूल शतक ग्रन्थमें तो उनके नाममात्र गिनाये हैं, उनका विवरण तो चूर्णिमें ही पाया जाता है। अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि सि० चू०के कर्ताने 'शतक' नामसे शतकचूर्णिका ही निर्देश किया है। अतः जब सि० चू० वि० सं० ११००से पहले रची जा चुकी थी तो शतकचूर्णि उससे भी पहले रची गयी थी। और इसलिये शतकचूर्णिकी रचना की उत्तरावधि विक्रम की दसवीं शती मान लेना उचित होगा।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शतक चूर्णि वि० सं० ७५०-१००० तकके कालमें किसी समय रची गयी है। और यदि पंचसंग्रहकार श्री चन्द्रर्षि महत्तर उसके रचयिता है तो कहना होगा कि वे इसी कालमें किसी समय हुए हैं।

और यदि पञ्चसंग्रहमें निर्दिष्ट मत गर्गर्षिके कर्मविपाकका है तो उन्हें विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तका विद्वान् मानना होगा।

वृहच्चूर्णि और लघुचूर्णि

शतककी हेमचन्द्राचार्यरचित वृत्तिसे तथा मलयगिरिकी कुछ टीकाओंसे प्रकट होता है कि शतकपर दो चूर्णियाँ थीं—एक वृहच्चूर्णि और एक लघुचूर्णि। प्रकृत शतकचूर्णि लघुचूर्णि है।

हेमचन्द्र नेअपनी शतक वृत्तिके प्रारम्भमें लिखा[3] है कि यद्यपि पूर्व चूर्णिकारों-

---

१. 'नमिउण महावीरं कम्मट्ठपरूवणं करिस्सामि बंधोदयसंतेहिं सत्तरियाचुण्णिअनुसार ॥१॥ —स० भा०।

२. जै० सा० इ० (गु०), पृ० २१७।

३. इदं च यद्यपि पूर्वचूर्णिकारैरपि व्याख्यातम्, तथापि तच्चूर्णीनामतिगम्भीरत्वात्।'
श० वृ०, १।

ने भी शतकका व्याख्यान किया है, तथापि उनकी चूर्णियाँ अति गम्भीर हैं।' यहाँ उन्होंने 'चूर्णिकारैः' और 'चूर्णिनाम्' लिखकर बहुवचनका प्रयोग किया है। जिससे प्रकट होता है कि शतकपर अनेक चूर्णियाँ थीं। किंतु दो चूर्णियोंके ही उल्लेख मिलनेसे यह स्पष्ट है कि शतकपर दो चूर्णियाँ अवश्य थीं और उनमें सैद्धांतिक मतभेद भी था।

उपलब्ध [1]लघुचूर्णिमें वेदक, औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें संज्ञी-पर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक दो जीवसमास बतलाये हैं। किंतु हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें 'अन्ये' करके औपशमिक सम्यग्दृष्टिके संज्ञि अपर्याप्त होनेका निर्देश किया है किंतु इसे मान्य नहीं किया और अपने समर्थनमें वृहच्चूर्णिके मतका उल्लेख किया है। उसमें लिखा है कि—जो 'उपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणिमें मरण करता है वह प्रथम समयमें ही सम्यक्त्वपुञ्जको उदयावलीमें लाकर उसका वेदन करता है। अतः उपशमसम्यग्दृष्टी अपर्याप्त नहीं होता।[2]

शतक गाथा ३५ में दशवें गुणस्थानमें शुक्लध्यान बतलाया है। श्वेताम्बर परम्परामें इस विषयमें मतभेद है। अतः लघुचूर्णिमें[3] लिखा है कि श्रेणिमें धर्म और शुक्ल दोनों हो सकते हैं। उसीको लेकर हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें लिखा[4] है कि लघुचूर्णिके अनुसार श्रेणिमें स्थित जीवके धर्म और शुक्ल ध्यान दोनों ही अविरुद्ध हैं। किन्तु वृहच्चूर्णिका अभिप्राय है कि सरागीके चाहे वह सूक्ष्म सराग भी हो, धर्मध्यान ही होता है।'

---

१. 'समत्ते ति, सम्मद्दिट्ठी खइग-वेयगउवसम-सासण-सम्मामिच्छ-मिच्छद्दिट्ठी य, तत्थ वेयग उवसम-खइयसम्मद्दिट्ठीसु दो दो जीवट्ठाणाणि सन्निपज्जत्त-अपज्जत्तगाणि।'

श० चू०, पृ० ५।

२. 'अन्ये तु संज्ञिपंचेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्याप्यौपशमिकसम्यक्त्वं वर्णयन्ति, तच्च नावगच्छामस्तथाहि······उपशमश्रेणौ मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पन्नस्यापर्याप्तकस्यैतल्लभ्यते इति चेत्? ननु एतदपि न बहुमन्यामहे तस्य प्रथम समये एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात्। उक्तं च वृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे—'जो उवसम्मसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ, सो पढमसमये चेव सम्मत्त पुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जगो लब्भइ।' इत्यादि।'—श० वृ०, पृ० १०-११।

३. 'सुक्कज्झाणग्गहणं किंणिमित्तं' इतिचेत्? भन्नइ, सेढीए धम्मसुक्कज्झाणाइं सविगप्पाइं अविरुद्धाइत्ति 'तद्बोधनार्थं तु सुक्कज्झाणग्गहणं।'—श० चू०, पृ० १७।

४. श्रेणि व्यवस्थितस्य हि जन्तोर्धर्मशुक्लध्यानद्वयमपि लघुचूर्ण्यभिप्रायेणाविरुद्धमिति शुक्लध्यानस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यते-वृहच्चूर्ण्यभिप्रायस्तु सरागस्य सूक्ष्मसरागस्यापि धर्मध्यानमेव'—श० वृ०, पृ० ३७।

आचार्य मलयगिरिने भी [1]पंचसंग्रह तथा [2]कर्मप्रकृतिकी टीकामें 'उक्तंच 'शतकबृहच्चूर्णौ' लिखकर उद्धरण दिये हैं।

उक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि शतककी बृहच्चूर्णि १२वीं शतीमें विद्यमान थी। आज वह अनुपलब्ध है। अतः उसके कर्ता, काल आदिके सम्बन्धमें कुछ भी कहना शक्य नहीं है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि शतककी लघुचूर्णिमें किसी अन्य चूर्णिका निर्देश नहीं है। अतः संभव है उसकी रचना लघुचूर्णिके पश्चात् हुई हो। उसके लिए बृहत् विशेषणका कारण उसका बड़ा होना ही प्रतीत होता है; क्योंकि लघुचूर्णिका परिमाण लघु है तथा बृ. चू. के रचयिता कोई कार्मिक न होकर सैद्धान्तिक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने सिद्धान्त पक्षको ही अपनाया है।

सित्तरी चूर्णि

सित्तरी अथवा सप्ततिकापर भी एक चूर्णि है जो मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुई है। इसके भी कर्ताका नामादि अज्ञात है। इस चूर्णिमें संस्कृतका मिश्रण नहीं है और न उद्धृत पद्योंका बाहुल्य है। चूर्णिकारने परिमित शब्दोंमें गाथाके अभिप्रायको स्पष्ट करनेका ही प्रयत्न किया है और यथास्थान अन्य आचार्योंके मतोंका भी निर्देश किया है। यथा स्थान कुछ ग्रन्थोंके नामोंका भी निर्देश किया है। ये ग्रन्थ हैं—कम्मपगडि संगहणी (कर्मप्रकृति संग्रहणी), कसायपाहुड, सयग (शतक) और संतकम्म।

कर्मप्रकृति संग्रहणी तो शिवशर्म रचित कर्मप्रकृति है : उसको देखनेका निर्देश चूर्णिकारने कई जगह किया है। किन्तु सप्ततिका और कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट नामकर्मके बन्धस्थानोंमें अन्तर है। सप्ततिकामें नामकर्मकी ९३ प्रकृतियाँ मानकर बन्धस्थानोंका कथन किया है और कर्मप्रकृतिमें बन्धन और संघातको शरीरमें सम्मिलित न करके नाम कर्मकी प्रकृतियाँ १०३ मानी हैं। अतः उसमें १०३ को लेकर नामकर्मके बन्धस्थानोंका कथन किया है। यहाँ चूर्णिकारने कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट १०३ आदि बन्ध स्थानोंको युक्तिसंगत[3] नहीं माना।

जहाँ तक हम जान सके हैं, श्वेताम्बर साहित्यमें सित्तरीचूर्णि ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कसायपाहुडका उल्लेख है। यह कसायपाहुड गुणधररचित वही कसाय पाहुड है जिसपर यतिवृषभके चूर्णिसूत्र हैं। चूर्णिकारने उसका निर्देश तीन

---

१. पं० सं० टी०, भा० १, पृ० १७ तथा १८।

२. क० प्र० टी०, पृ० ५१।

३. 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि संतट्ठाणाणि विगप्पयंति। ताणि आगम जुत्तीहिं न घडंति। —सि० चू०, पृ० २७।

स्थानोंपर किया है। एक जगह लिखा[1] है कि कृष्टियोंका लक्षण जैसा कसायपाहुडमें कहा है वैसा जानना। दूसरे जगह लिखा[2] है कि अपूर्व करण और अनिवृत्तिकरणके कालोंके विषयमें अनेक वक्तव्यता हैं सो जैसे कसाय-पाहुड़ या कर्मप्रकृतिसंग्रहणीमें कहा है वैसे कहना चाहिए।' यह सब कथन कसाय-पाहुड़के चारित्र मोह क्षपणा नामक अधिकारमें है। चूर्णिकारने शतकका निर्देश भी अनेक स्थलों पर किया है। किंतु जिन विषयोंके लिये शतकका निर्देश किया गया है वे विषय मूल शतकमें नहीं हैं, किंतु उसकी चूर्णिमें हैं। अतः शतक नामसे चूर्णिकारने उसकी चूर्णिका ही निर्देश किया है। यथा—[3] आठों कर्मोंके अर्थका विवरण जाननेके लिये शतकका निर्देश किया गया है। किंतु शतक गा० ३८ में आठों कर्मोंके नाम मात्र गिनाये हैं। और गाथा ३९ में उन आठों कर्मों की अवान्तर प्रकृतियोंकी संख्या मात्र। बतलाई है किंतु उनकी चूर्णिमें आठों कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंका कथन विस्तारसे किया है। इसी तरह जीवस्थान[4] और [5]गुणस्थानोंका विवरण जाननेके लिए चूर्णिकारने शतकको देखनेका निर्देश किया है किंतु मूल शतकमें उनका विवरण नहीं है, चूर्णिमें है। अतः यह निश्चित है कि शतक नामसे चूर्णिकारने शतकका ही निर्देश किया है।

रचनाकाल

मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकाके आरम्भमें लिखा है—

> चूर्णयो नावगम्यन्ते सप्ततेर्मन्दबुद्धिभिः
> ततः स्पष्टावबोधार्थं तस्याष्टीकां करोम्यहम् ॥

अर्थात् मन्दबुद्धि लोग सप्ततिकी चूर्णियोंको नहीं समझ सकते। इसलिए बोध करानेके लिए मैं उसकी टीका करता हूँ।

बहु वचनान्त चूर्णयः' पदसे तो यही व्यक्त होता है कि सप्ततिकी अनेक चूर्णियाँ थीं। किंतु मलयगिरिने अपनी टीका प्रकृतचूर्णिके आधारपर ही रची है, यह बात टीकामें प्रमाण रूपसे उद्धृत चूर्णिवाक्योंसे प्रमाणित होती है। अतः विक्रमकी बारहवीं शतीसे पहले इस चूर्णिकी रचना हो चुकी थी।

---

१. 'तेसिं लक्खणं जहा कसायपाहुडे।'—सि० चू०, पृ० ६६।

२. एत्थ अपुव्वकरण अणियट्टिअद्धासु अणेगाइं वत्तव्वगाइं जहा कसायपाहुडे कम्मपगडि संगहणीए वा तहा वत्तव्वं। —सि० चू०, पृ० ६२।

३. 'तत्थ मूलपगती अट्ठविहा, तं जहा—णाणावरणिज्जं जावंतरायियमिति। एयासिं अत्थ विवरणा जहा सयगे।'—सि० चू०, पृ० ३।

४. 'जीवट्ठाणाणं विवरण जहा सयगे' —सि० चू०, पृ० ४।

५. 'मिच्छादिट्ठीपभिती जाव अजोगित्ति, एयासिं विवरणं जहा सयगे'—सि. चू. पृ. ४।

सप्ततिका भाष्यके रचयिता नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिने अपने भाष्यके[1] प्रारम्भमें लिखा है कि सप्तति चूर्णिके अनुसार मैं आठों कर्मोंका कथन करूँगा। अभयदेवसूरिका अवसान वि० सं०११३५ में हुआ। अतः सित्तरी चूर्णिकी रचना उससे पहले हुई। इस आधारपर उसके रचनाकालकी उत्तरावधि विक्रमकी ११वीं शती निर्णीत होती है।

तथा चूँकि सित्तरी चूर्णिमें शतक नामसे शतकचूर्णिका निर्देश किया है और शतकचूर्णिका रचनाकाल वि. सं. ७५०-१००० निर्णीत किया गया है अतः चूर्णिकी रचना भी इसी कालके बीचमें शतकचूर्णिके पश्चात् किसी समय होनी चाहिए।

संभव है सित्तरीचूर्णिकारने जयधवलाटीकाको देखा हो और जैसे उन्होंने शतक नामसे शतकचूर्णिका निर्देश किया है वैसे ही कसायपाहुड नामसे उसकी जयधवलाटीकाका निर्देश किया हो क्योंकि उनके द्वारा चर्चित विषय जयधवला में स्पष्टरूपसे मिलते हैं, कसायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें तो उनका संकेत अथवा निर्देशमात्र किया गया है।

●

१. 'नमिऊण महावीरं कम्मट्ठपरूवणं करिस्सामि।
बंधोदयसंतेहि सत्तरिया चुन्निअणुसारा ॥१॥'

जैन साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

पंचम अध्याय

उत्तरकालीन कर्म-साहित्य

पिछले अध्यायमें प्राचीन कर्म-साहित्यका इतिवृत्त निरूपित किया गया है। इस अध्यायमें विक्रमकी नवम शताब्दीसे उत्तरकालमें रचे गये कर्म-साहित्यका विवेचन निबद्ध किया जायगा।

निःसन्देह उत्तरकालमें कई सारगर्भित कर्म-साहित्य सम्बन्धी कृतियाँ रची गयी हैं। लोकप्रियता और उपयोगिताकी दृष्टिसे इन रचनाओंका अध्ययन कई शताब्दियोंसे अनवच्छिन्न रूपसे होता चला आया है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल्लजीने गोम्मटसार जैसे ग्रन्थपर लोकभाषामें विशाल और विशद टीका लिखकर इस ग्रन्थका मर्मोद्घाटन किया है। यही कारण है कि आज भी जिज्ञासुओंके स्वाध्यायका वह विषय बना हुआ है।

धवला और जयधवला जैसी प्रचुर प्रमेययुक्त टीकाओंने मूल ग्रन्थका रूप ग्रहण कर लिया तो इन ग्रन्थोंके आधारपर संक्षेपमें कर्म-सिद्धान्तका बोध करानेके हेतु उत्तरकालीन आचार्योंने स्वतंत्ररूपमें कर्मसाहित्यका प्रणयन किया। उत्तरकालीन कर्मसाहित्यकी शैली, भाषा और वर्ण्य-विषयकी दृष्टिसे निम्न विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं :—

१. संक्षेप किन्तु स्पष्ट रूपमें कर्मसिद्धान्तका निरूपण।
२. संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओंका उपयोग।
३. बन्ध, उदय और सत्त्वका गुणस्थान क्रमसे स्पष्ट निर्देश।
४. गणितका बीजक्रम और अंकक्रम रूपमें आलम्बन।
५. विभिन्न मत मतान्तरोंका संक्षेपमें प्रकटीकरण।
६. शैली प्रसाद गुण युक्त और प्रवाह पूर्ण।
७. सरल और सुबोधताके हेतु काव्योपकरणोंकी योजना।

उत्तरकालीन कर्मसाहित्य

करणानुयोग विषयक प्राचीन कर्मसाहित्यके उक्त विवरणके पश्चात् हम उत्तरकालीन कर्मसाहित्यकी ओर आते हैं। साहित्यके कालक्रमानुसारी पर्य-

वेक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक प्रतिभामें भी ह्रास होता गया है। विक्रमकी प्रथम सहस्राब्दीके मध्यकाल तक तथा उसके पश्चात्की दो तीन शताब्दी पर्यन्त जैसी प्रतिभाओंने जन्म लिया, सहस्राब्दीके पर्यवसानके लगभग वैसी प्रतिभाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती। आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त भूतबली, आचार्य यतिवृषभ आदिमें जो वाग्मिता, पाण्डित्य, बहुश्रुतत्व और रचनाचातुर्य था, आचार्य वीरसेन तक वह मन्द हो चला था। संभवतः कर्मविषयक आगमिक साहित्यके पारगामी वीरसेन स्वामी, अन्तिम साहित्यकार थे जिन्होंने धवला और जयधवला जैसे प्रमेयबहुल विस्तृत टीकाग्रन्थ रचे और उनसे पहले कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह जैसी गाथाबद्ध मौलिक कृतियाँ रची गईं।

इन रचनाओंके पश्चात् जो कर्मविषयक साहित्य उक्तकालमें रचा गया, वह प्रायः इन्हींका ऋणी है। या तो इन्हींके आधार पर उसका संकलन किया गया है या इन्हींको परिवर्तित किया गया है। सबसे प्रथम हम एक परिवर्तित या रूपान्तरित कृति की ओर आते है।

लक्ष्मणसुत डड्ढाकृत पञ्चसंग्रह

लक्ष्मणसुत डड्ढाकृत पञ्चसंग्रह एक दशक पूर्व ही प्राकृत पञ्चसंग्रहके साथ भारतीय ज्ञानपीठमे प्रकाशित हुआ है। इसको प्रकाशमें लानेका श्रेय इसके सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री को है। इससे पहले न इस नामके किसी ग्रन्थकार को सुना गया था और न उनकी इस कृतिका ही कहींसे कोई आभास मिला था। हाँ, प्रख्यात साहित्यकार आचार्य अमितगतिका एक पञ्चसंग्रह कई दशक पहले श्री माणिकचन्द ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुका था और पञ्चसंग्रह नामकी एक वही कृति दृष्ट श्रुत और अनुभूत थी। इसी नामकी किसी अन्य कृतिकी कोई कल्पना भी नहीं थी। ये दोनों ही पञ्चसंग्रह दि० प्राकृत पञ्चसंग्रहके संस्कृत अनुष्टुपोंमें परिवर्तित रूप हैं। यतः अमितगति एक प्रख्यात ग्रन्थकार थे और उनके पंचसंग्रह को प्रकाशमें आये कई दशक हो चुके थे। दूसरी ओर श्रीपालसुत डढ्डा एक नये सर्वथा अपरिचित व्यक्ति थे। उनकी एकमात्र कृति भी नई ही प्रकाशमें आई थी। अतः सम्पादक पं० हीरालालजी शास्त्रीने जब दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन किया तो उन्हें लगा कि एकने दूसरेका अनुकरण किया है। किन्तु यह तो कल्पना करना कठिन था कि अमितगति जैसे प्रख्यात ग्रन्थकार डढ्डा जैसे अज्ञात रचयिताका अनुकरण करेंगे। अतः उन्होंने यही माना कि डड्ढाने अमितगतिकी नकल की है फिर भी डड्ढाकी कृतिने शास्त्रीजीको प्रभावित किया। उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें लिखा है—

१. डड्ढा की रचना मूल गाथाओंकी अधिक समीप है, अमितगतिकी

नहीं। जीव समास प्रकरण की ७४वीं मूल गाथाका पद्यानुवाद जितना डड्ढाका मूलके समीप है उतना अमितगतिका नहीं।

२. कितने ही स्थलों पर डड्ढाकी रचना अमितगतिकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है।

३. अमित गतिने 'जीव समास' की 'साहारणमाहारो' आदि तीन गाथाओं-को स्पर्श भी नहीं किया, किन्तु डड्ढाने उनका सुन्दर पद्यानुवाद किया है। उक्त स्थल पर अमित गतिने गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'उववाद मारणंतिय' इत्यादि गाथाका आशय लेकर उसका अनुवाद किया है। किन्तु जीवसमास प्रकरणमें उक्त गाथाके न होनेसे डड्ढाने उसका पद्यानुवाद नहीं किया।

४. कितने ही स्थलों पर डड्ढाने अमितगतिकी अपेक्षा कुछ विषयोंको बढ़ाया भी है। यथा प्रथम प्रकरणमें धर्मोंका स्वरूप, योगमार्गणाके अन्तमें विक्रिया आदिका स्वरूप।

५. अमित गतिने सप्ततिकामें पृष्ठ २२१ पर श्लोक ४५३ में शेषमार्गणामें बन्धादित्रिकको न कहकर मूलके समान 'पर्यालोच्यो यथागमम्' कहकर समाप्त कर दिया है। किन्तु डड्ढाने श्लोक ३९० में 'बन्धादित्रयं नेयं यथागमम्' कहकर भी उसके आगे समस्त मार्गणाओंमें बन्धादित्रिकको गिनाया है जो प्राकृत पञ्च-संग्रहके अनुसार होना ही चाहिये।

इसतरह शास्त्रीजीने डड्ढाकी रचनासे प्रभावित होनेपर भी उसे अमित-गतिकी अनुकृति बताया। किन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है।

रचनाकाल—

डड्ढाके पञ्चसंग्रहका अन्तःपरीक्षण करनेसे नीचे लिखे तथ्य प्रकाशमें आते हैं—

१. डड्ढाने शतक प्रकरणमें पृ० ६८३ पर जो मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका स्वरूप गद्यमें लिखा है वह पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (८।१) से लिया गया है अतः उनके पञ्चसंग्रहकी रचना पूज्यपाद (वि०की छठी शताब्दी) के पश्चात् हुई है।

२. सप्ततिकाके अन्तमें (पृ० ७३७) 'उक्तंच' करके जो कारिका दी गई है वह अकलंकदेवके लघीयस्त्रयके सातवें परिच्छेदकी चतुर्थ कारिका है। अतः अकलंकदेवके लघीयस्त्रयके (वि०की सातवीं शताब्दी) पश्चात् उक्त पंचसंग्रह रचा गया है।

३. जीव समास प्रकरणमें (पृ० ६६७) 'उक्तञ्च सिद्धान्ते' करके जो वाक्य उद्धृत है वह वीरसेनकी धवला टीकाका है। अतः धवला टीका (नवमी शती) के पश्चात् उक्त पंच संग्रहकी रचना हुई है।

४. दूसरे प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें (पृ० ६७४) 'उक्तञ्च' करके जो श्लोक उद्धृत है वह अमृतचन्द्रके तत्वार्थसारके बन्धाधिकारका ग्यारवां श्लोक है। अतः पञ्चसंग्रहकी रचना तत्वार्थ सार (दसमी शती) के पश्चात् हुई है।

इस तरह डड्ढाके पञ्चसंग्रहके समयकी पूर्वावधि विक्रमकी दसमी शती निश्चित होती है। अब हम उत्तरावधिकी ओर आते हैं।

१. भास्कर नन्दिने तत्वार्थसूत्र पर सुखबोधिनी टीका रची है। इसके चतुर्थ अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीकामें लेश्याके सम्बन्धमें पाँच श्लोक उद्‌धृत हैं। ये पांचों श्लोक डड्ढाके पञ्चसंग्रहके हैं। भास्कर नन्दिका समय १३–१४वीं शती है। अतः पञ्चसंग्रह इसके पश्चात्‌की रचना नहीं है।

२. पञ्चास्तिकाय (गाथा ५६) की टीकामें जयसेनाचार्यने एक श्लोक उद्‌धृत किया है।

'मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिक क्षायिकाभिधाः।
बन्धमौदयिका भावा निष्क्रियाः पारिणामिकाः ॥'

यह डड्ढाके पञ्चसंग्रहका पांचवा श्लोक है। जयसेनाचार्यकी टीका पर ब्रह्मदेवकी वृहदद्रव्यसंग्रहका स्पष्ट प्रभाव है।

३. वृहद्द्रव्य संग्रहकी ४१वीं गाथाकी ब्रह्मदेव रचित टीकामें सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलानेके लिए प्रथम एक गाथा 'हेट्ठिमछप्पुढवीणं' आदि उद्धृत की है जो गोम्मटसार जीवकाण्डकी १२८वीं गाथा है। इसके पश्चात् ही 'उसी अर्थको प्रकारांतरसे कहते हैं' लिखकर तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। ये तीनों श्लोक डड्ढाके पञ्चसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें उसी क्रमसे वर्तमान हैं और उनकी संख्या क्रमसे २२७, २२९, २३० है। अतः ब्रह्मदेवजीकी उक्त टीकासे पूर्व डड्ढाका पञ्चसंग्रह रचा गया था।

इस तरह अमृतचन्द्र और ब्रह्मदेवके अन्तरालमें किसी समय डड्ढाने अपना पञ्चसंग्रह रचा था। आचार्य अमितगति भी इसी अन्तरालमें हुए हैं। उन्होंने अपना पञ्चसंग्रह वि०सं० १०७०में समाप्त किया था। इस तरह डड्ढा-के समयकी पूर्व और उत्तर अवधि निश्चित हो जाने पर भी यह निर्णय शेष रहता है कि दोनों पञ्चसंग्रहोंमें से पहले किसकी रचना हुई थी ?

इसका अन्वेषण करते हुए हमें जयसेनाचार्यके धर्मरत्नाकरमें पंचायती जैन मन्दिर देहलीकी प्रतिके पृ० ६७ पर एक उद्धृत पद्य मिला—

'वचनैर्हेतुभीः रूपैः सर्वेन्द्रियभयावहैः।
जुगुप्साभिश्च बीभत्सैर्नैव क्षायिकदृक् भवेत् ॥

यह डड्ढाके पञ्चसंग्रहके जीवसमास प्रकरणका २२३वां श्लोक है। अतः

यह निश्चित है कि धर्मरत्नाकरसे पूर्व डड्ढाका पञ्चसंग्रह रचा गया है। धर्म-रत्नाकरमें उसका रचनाकाल वि०सं० १०५५ दिया है। और अमित गतिके पञ्चसंग्रहमें उसका रचनाकाल १०७० दिया है। अतः यह सुनिश्चित है कि अमितगतिके पञ्चसंग्रहसे कम-से-कम दो दशक पूर्व डड्ढाका पञ्चसंग्रह रचा गया है। इस विषयमें यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य नेमिचन्द्रके गोम्मटसार-का प्रभाव अमितगतिके पञ्चसंग्रह पर है किन्तु डड्ढाके पञ्चसंग्रह पर नहीं है। अतः गोम्मटसारकी रचना इन दोनों पञ्चसंग्रहोंके रचनाकालके मध्यमें किसी समय हुई है।

डड्ढाके पञ्चसंग्रहके अन्तमें ग्रंथकारने अपना परिचय केवल एक श्लोकके द्वारा दिया है—

> श्री चित्रकूटवास्तव्यप्राग्वाटवणिजा कृते।
> श्रीपालसुतडड्ढेण स्फुटः प्रकृतिसंग्रहः॥

यह श्लोक चतुर्थ शतक प्रकरणके भी अन्तमें आता है। उसमें अन्तिम चरण 'स्फुटार्थः पञ्चसंग्रहे' है। इससे प्रकट है कि ग्रन्थकारका नाम डड्ढा है और उनके पिताका नाम श्रीपाल था। श्लोकके पूर्वार्द्धका 'वणिजाकृते' पद गड़बड़ है। 'वणिजा' पद तृतीयान्त होनेसे डड्ढाका विशेषण प्रतीत होता है जो बत-लाता है कि वे चित्रकूट वासी और पोरवाड़ जातिके वणिक् थे। चित्रकूट चित्तौड़-का पुराना नाम है। आज भी उस ओर पोरवाड़ जातिका निवास है। किन्तु उक्त अर्थसे 'कृते' शब्द व्यर्थ पड़ जाता है। यदि यह अर्थ किया जाता है कि चित्रकूटवासी पोरवाड़ जातिके वणिक्के लिए रचा तो उस वणिक्का नाम ज्ञात नही होता। अस्तु,

विषय परिचय—

यतः यह पञ्चसंग्रह प्राकृत पञ्चसंग्रहका ही संस्कृत श्लोकोंमें अनुवाद-रूप है अतः इसकी विषयवस्तु वही है जो प्राकृत पञ्चसंग्रह की है। उसीके अनुसार इसमें जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच प्रकरण हैं। प्रा० पं.सं. के जीवसमास प्रकरणमें २०६ गाथा हैं और इसकेमें २५७ श्लोक हैं। इस अन्तरके कई कारण हैं। १ डड्ढाने प्रारम्भमें अपना मंगल पृथक् किया है। २ श्लोक ४-५ के द्वारा जीवके पाँच भाव गिनाकर उन्हें बन्ध और मोक्षका कारण कहा है। ३ श्लोक २०-२७ के द्वारा दस धर्मोंके नाम गिना कर उनका स्वरूप कहा है। ४ वेदके कथनमें श्लोक १२८ से १३१ तक द्रव्यवेदके चिन्होंका कथन किया है। सारांश यह है कि प्रा० पं०सं० में वेदमार्गणाका कथन केवल आठ गाथाओंमें है। किन्तु इस सं० पं०सं० में श्लोक

१२४ से १३८ तक विस्तारसे वर्णन हैं। ५ इसी तरह प्रा० पं०सं० में ज्ञान-मार्गणाका वर्णन केवल दस गाथाओंमें है। किन्तु सं० पं०सं० में १५ श्लोकोंके द्वारा कथन है। इसमें अवधिज्ञानके भेदों और उनके स्वामियोंका भी कथन किया है जो मूलमें नहीं है। ६ लेश्याओंका वर्णन गद्य द्वारा विस्तार से है। ७ सम्यक्त्व-मार्गणाके वर्णनमें गद्य द्वारा पाँच लब्धियोंका स्वरूप विस्तारसे समझाया है। इस तरह प्रा० पं०सं० के कथनसे इसमें बहुत विस्तारसे कथन है।

आचार्य अमितगतिके पं०सं० में भी ये सब कथन जो डड्ढाने विशेषरूपसे किये हैं, पाये जाते हैं—

देखें—जीवसमास प्रकरणके प्रसंग अमितगति १९३–२०२ श्लोक। ज्ञान-मार्गणाका कथन, लेश्याका कथन तथा सम्यक्त्वमार्गणाका कथन।

प्रा० पं० सं० में गाथा १।१२८ के द्वारा इतना ही कहा है कि संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव कालादिलब्धिकी प्राप्ति होनेपर सम्यक्त्वग्रहणके योग्य होता है। डड्ढाने गद्य द्वारा पांचो लब्धियोंका स्वरूप विस्तारसे कहा है। अमितगतिने भी तत्वार्थवार्तिकका अनुकरण करते हुए और भी अधिक विस्तारसे उक्त कथन किया है। तथा सम्यक्त्वके तीनों भेदोंका स्वरूप और उनके सम्बन्धमें विशेष बातें भी डड्ढाका अनुकरण करते हुए कही हैं।

फिर भी अमितगतिने इस प्रथम प्रकरणमें दो कथन ऐसे किये हैं जो डड्ढाके पं० सं० में भी नहीं हैं। एक तो उन्होंने ३६३ मतोंका उपपत्तिपूर्वक कथन किया है जो गोम्मटसार कर्मकाण्डका ऋणी प्रतीत होता है। दूसरे, चौदह गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्याका कथन किया है। यह कथन गोम्मटसार जीवकाण्ड (गा० ६२२–६३२) के अनुरूप है।

दूसरे, प्रकृतिसमुत्कीर्तनमें मूलकी तरह ही आठ कर्मोंकी प्रकृतियोंका कथन है। तीसरे कर्मस्तवमें गुणस्थानोंमें कर्मप्रकृतियोंके बन्ध उदय और सत्वका विवेचन मूलकी तरह ही प्रायः है।

प्राकृत पञ्चसंग्रहमें पूर्वमें बन्धव्युच्छिति और पश्चात् उदयव्युच्छिति जिन ८१ प्रकृतियोंकी होती है उनकी केवल संख्याका निर्देश है सं० पं० सं० में उनके नाम भी बताये हैं। इसी तरह आगे परोदयबन्धी प्रकृतियोंको बतलानेके पश्चात् सं० पं० सं० में एक गद्यवाक्यके द्वारा यह भी स्पष्ट किया है कि क्यों ये प्रकृतियां परके उदयमें बंधती हैं। प्रा० पं० सं० में अपने उदय और परके उदयमें बन्धनेवाली प्रकृतियोंकी केवल संख्या दी है। किन्तु सं० पं०सं० में उनके भी नाम गिनाये हैं। अन्तमें गद्य द्वारा सान्तर और निरन्तर बन्धका गद्य द्वारा स्वरूप भी कहा है। इस तरह सं० पं० सं० में मूलसे वैशिष्टय भी है। अमितगतिके पं० सं० में ये सब कथन डड्ढाके अनुसार ही किया गया है।

शतक नामके चतुर्थ प्रकरणमें भी उस वैशिष्टयके दर्शन स्थान-स्थानपर होते हैं। यद्यपि सब मूल कथन प्राकृत पञ्च सं० के अनुसार है किन्तु वर्णनके क्रममें व्यतिक्रम है। प्रा० पं० सं० में मार्गणाओंमें जीवसमास, जीवसमासोंमें उपयोग, मार्गणाओंमें उपयोग, जीवसमासोंमें योग, मार्गणाओंमें योग, मार्गणाओंमें गुण-स्थान, गुणस्थानोंमें उपयोग, योग और प्रत्ययका क्रमसे कथन है। किन्तु इस सं० पं० सं० में मार्गणाओंमें जीवसमास, गुणस्थान, उपयोग योगका कथन करके फिर जीवसमासोंमें उपयोग और योग कथन है। तथा बन्धके कारणोंके भेद प्रभेदोंका कथन गद्य द्वारा स्पष्ट करते हुए बहुत विस्तारसे किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि डड्ढाने विषयको व्यवस्थित और सुस्पष्ट करनेका भी प्रयत्न किया है। मतभेद भी कहीं-कहीं है। जैसे गाथा ४१में जहाँ चौदह योग कहे हैं वहाँ श्लोक १२ में पन्द्रह योग कहे हैं। अमितगतिने भी श्लोक १० में पन्द्रह योग कहे हैं।

प्रा० पं० सं० के शतकमें गाथा ३२५ के द्वारा कहा गया है कि गुणस्थानोंमें कहे गये प्रकृतिबन्धका स्वामित्व मार्गणाओंमें भी लगा लेना। इस कथनका विव-रण आगे भाष्य गाथाओंके द्वारा किया गया है। सं० पं० सं० में गाथा ३२५ का रूपान्तर तो है किन्तु भाष्यगाथाओंका नहीं है। अतः यह सब कथन सं० पं० सं० में नहीं है। यहीं पर प्रकृति बन्धको समाप्त कर दिया है। अमितगतिने भी ऐसा ही किया है। किन्तु नवम गुणस्थानमें जो प्रत्ययके भेद कहे हैं। डड्ढा ने तो प्रा० पं० सं० के अनुसार कहे हैं किन्तु अमितगतिने पृथक् ही कहे हैं।

प्रा० पं० सं० चौथे अध्यायमें नौवे गुणस्थानमें प्रत्ययोंमें भेद इस प्रकार बतलाये हैं—

संजलण तिवेदाणं णव जोगाणं च होइ एयदरं।
संढूण दुवेदाणं एयदरं पुरिसवेदो य ॥१९७॥

अर्थात् नौवे गुणस्थानके सवेद भागमें चार संज्वलनकषायमेंसे एक, तीन वेदोंमें से एक और नौ योगोंमें एक होता है। नपुंसक वेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर दो वेदोंमेंसे एक वेदका उदय होता है और स्त्रीवेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर एक पुरुष वेदका उदय होता है।

अतः ४ × ३ × ९ = १०८, ४ × २ × ९ = ७२ और ४ × १ × ९ = ३६ भंग होते है इस तरह

१०८ + ७२ + ३६ = २१६ कुल भंग होते हैं। ये सवेद भागके भंग हुए।

चदु संजलण णवण्हं जोगाणं होइ एयदरदोते।
कोहूण माणवज्जं मायारहियाण एगदरगं च ॥१९८॥

अर्थात् अवेद भागमें चार संज्वलन कषायोंमेंसे एकका तथा नौ योगोंमेंसे एकका उदय होता है। क्रोधकी उदय व्युच्छित्ति हो जाने पर तीन कषायोंमेंसे एक का उदय होता है, मानकी व्युच्छित्ति हो जाने पर दो कषायोंमेंसे एकका उदय होता है और मायाकी उदय व्युच्छित्ति हो जाने पर केवल एक लोभ कषायका उदय होता है। नौयोगमेंसे एक योगका उदय सर्वत्र रहता है। अतः ४ × ९ = ३६, ३ × ९ = २७, २ × ९ = १८ और १ × ९ = ९ इस प्रकार अवेद भागके ३६ + २७ + १८ + ९ = ९० भंग होते हैं। कुल मिलाकर २१६ + ९० = ३०६ भंग दोनों भागोंके होते हैं।

किन्तु सं० पञ्चसंग्रहमें नौवें गुण स्थानके अवेदभागमें चार कषाय और नौ योगोंमेंसे एक एकके उदयकी अपेक्षा ४ × ९ = ३६ भंग बतलाये हैं।

यथा—जघन्यौ प्रत्ययौ ज्ञेयौ द्वाववेदानिवृत्तिके।
संज्वालेषु चतुर्ष्वेको योगानां नवके परः ॥६६॥

१ × १। भंगाः। ४।९ अन्योन्याभ्यस्तौ।

तथा सवेद भागमें चार कषाय, तीन वेद और नौ योगोंमेंसे एक एकका उदय होनेसे ४ × ३ × ९ = १०८ भंग ही लिये हैं। यथा—

कषायवेद योगानामेकैकग्रहणे सति।
अनिवृत्तेः सवेदस्य प्रकृष्टाः प्रत्ययास्त्रयः ॥६७॥

भंगा ४।३।९ अन्योन्याभ्यस्ताः १०८।

इस तरह अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेद भाग और अवेद भागमें १४४ भंग योगकी अपेक्षा मोहनीयके उदय स्थानोंके बतलाये हैं। आगे प्रा० पंचसंग्रहमें भी इतने ही भंग लिए हैं और गोम्मटसार कर्मकाण्डमें भी इतने ही लिए हैं। शायद इसीसे सं० पं०सं० के कर्ताने उक्त स्थानमें १४४ भेदोंको ही रखकर जो सर्वसम्मत थे, शेषका उल्लेख नहीं किया। उस विषयमें मतभेद भी है।

पाँचवें सप्ततिका कथन प्रा० पं०सं० के ही समान है। मध्यमें कहीं-कहीं किसी कथनको डड्ढाने छोड़ भी दिया है। जैसे प्रा० पं०सं० में गतिमार्गणामें नामकर्मके उदयस्थानोंको कहनेके बाद गा० १९१-२०७ में इन्द्रिय आदि शेष मार्गणाओंमें भी नामकर्मके उदयस्थानोंका कथन है। किन्तु डड्ढाने उसे छोड़ दिया है। अमितगतिने भी डड्ढाका ही अनुसरण किया है। प्रा० पंचसंग्रहके पाँचवें अध्यायमें मनुष्यगतिमें नामकर्मके २६०९ भंग बतलाये हैं। किन्तु सं० पं०सं०में २६६८ बतलाये हैं। उक्त २६०९ भंगोंमें सयोग केवलिके ५९ भंग और जोड़े हैं। ये भंग प्रा० पंचसंग्रहमें नहीं है। अमितगतिके पंचसंग्रहमें भी ऐसा ही है।

दोनों ही सं० पंचसंग्रहमें एक उल्लेखनीय बात और भी है। प्रा०[1] पंच-तथा सं० पंचसंग्रहमें योगकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें मोहनीयकर्मके उदय स्थानोंके भंग १३२०९ बतलाये हैं और कर्मकाण्ड[2]में १२९५३ बतलाये हैं। इस अन्तरका कारण यह है कि [3]कर्मकाण्डमें छठे गुणस्थानमें आहारकका उदय स्त्रीवेद और नपुंसकके उदयमें नहीं माना गया। अतः छठे गुणस्थानमें भंग पंचसंग्रह की अपेक्षा २११२ होते हैं और कर्मकाण्डमें १८५६ होते हैं इस तरह २५६ का अन्तर पड़ता है।

इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों ही सं० पंचसंग्रहमें प्रथम अध्यायमें एक [4]श्लोकके द्वारा इस बातको स्वीकार किया है कि आहारक ऋद्धि, परिहार विशुद्धि, तीर्थंकर प्रकृतिका उदय और मनःपर्ययज्ञान ये स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके उदयमें नहीं होते। फिर भी आगे प्राकृत पञ्चसंग्रहके अनुसार ही मोहनीयके उदय विकल्पोंका कथन किया गया है।

सप्ततिकाके पश्चात् इस सं० पं० सं० में चूलिका भी है और उसमें ८४ श्लोकोंके द्वारा मार्गणाओंमें बन्ध स्वामित्वका विशेष रूपसे कथन है। इसके प्रारम्भ में कहा है कि यद्यपि आठकर्मोंकी सब प्रकृतियाँ १४८ हैं किन्तु उनमेंसे अठाईसको बन्धमें नहीं गिना जाता है। वे हैं—सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, पाँच बन्धन, पाँच संस्थान और रूप रस गन्ध स्पर्शके भेदोंमेंसे केवल चार मूल भेदोंको छोड़कर १६। अतः बन्ध प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। इनके बन्ध अबन्ध और बन्ध-व्युच्छित्तिका कथन चौदह मार्गणाओंमें किया है। कर्मस्तव अधिकारमें गुण-स्थानोंमें तो कथन है कि किन्तु मार्गणा स्थानोंमें नहीं है।

यह चूलिका प्रा० पं० सं० में नहीं है। किन्तु अमितगतिके पंचसंग्रहमें है।

---

१. तेरस चेव सहस्सा बे चेव सया हवंति नव चेव। उदयवियप्पे जाणसु जोगं पडि मोहणीयस्स ॥३३७॥ —प्रा० पंचसंग्रह, अ० ५।
'मोहनोदयभंगा ये योगानाश्रित्य मेलिताः। नवोत्तरशते ते द्वे सहस्राणि त्रयोदश ॥७४२॥ —सं० पं०सं०, पृ० २०७।

२. 'तेवण्ण णव सयाहिय बारससहस्सप्पमाणमुदयस्स। ठाणवियप्पे जाणसु जोगं पडि मोहणीयस्स ॥४९८॥'—गो० कर्मकाण्ड।

३. कर्मका०, गा० ४९६-४९७।

४. 'आहारर्द्धिः परीहारस्तीर्थकृत्तुर्यवेदनम्। नोदये तानि जायन्ते स्त्रीनपुंसक-वेदयोः ॥३४३॥'—अमि०सं० पं०सं०, पृ० ४७।
आहारर्द्धिः परिहारो मनःपर्यय इत्यमी। तीर्थकृच्चोदये न स्युः स्त्रीनपुंसक-वेदयोः ॥ —डड्ढा पृ० १।२५५।

अतः यह स्पष्ट है कि अमितगतिने डड्ढाके पंचसंग्रहके प्रत्येक कथनको अपनाया है। उद्धृत पद्यों तकको भी अपनाया है।

यद्यपि अमितगतिने अपना पञ्चसंग्रह गोम्मटसारके पश्चात् रचा क्योंकि उसमें उन्होंने गो० सा० का उपयोग किया है। तथापि प्रसंगवश उनका परिचय पूर्वमें दिया जाता है। क्योंकि उनके सं० पं० सं० का अलगसे परिचय देना अनावश्यक है।

सं० पं० सं० के रचयिता अमितगति[1]

विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें अमितगति नामके एक आचार्य हो गये हैं। उन्होंने वि० सं० १०७३ में अपना संस्कृत पञ्चसंग्रह रचकर समाप्त किया था। यह माथुर संघके थे। देवसेन सूरिने अपने दर्शनसारमें माथुरसंघ को पाँच जैनाभासोंमें गिनाया है। माथुरसंघ को निःपिच्छिक भी कहते थे; क्योंकि इस संघके मुनि मोरकी या गौकी पिच्छि नहीं रखते थे।

अमितगतिने अपनी धर्म परीक्षाकी प्रशस्तिमें अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिषेण, नेमिषेणके माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति।

तथा अमितगतिकी शिष्य परम्पराका पता अमर कीर्तिके छक्कमोवएससे लगता है जो इस प्रकार है—अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति।

पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊके कथनानुसार अमितगति वाक्पतिराज मुंजकी सभाके एकरत्न थे। अपने ग्रन्थोंमें उन्होंने मुंज और सिन्धुलका उल्लेख किया है। ये दोनों मालवेके परमार राजा थे और उनकी राजधानी धारा थी। अमितगतिने वि० सं० १०५० में पौष शुक्ल पंचमीके दिन अपना [2]सुभाषित रत्न सन्दोह समाप्त किया था, उस समय राजा मुंज पृथ्वीका पालन करते थे।

अमितगति बहुश्रुत थे। उन्होंने विविध धार्मिक विषयों पर ग्रन्थोंका निर्माण किया है। उनके सब उपलब्ध ग्रन्थ संस्कृतमें हैं। वि० सं० १०५० में उन्होंने सुभाषित रत्न सन्दोह नामक ग्रन्थका निर्माण किया। इसमें सांसारिक विषय निराकरण, माया अहंकार निराकरण, इन्द्रिय निग्रह, स्त्री गुणदोष विचार आदि

---

१. देखो—'जै० सा० इ०' में पृ० २७५ पर 'अमितगति' शीर्षक निबन्ध।

२. 'समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके॥ समाप्ते पंचम्यामवति धरणीं मुंजनृपतौ, सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥९२२॥—सुभा० र०।

बत्तीस प्रकरण हैं। अन्तमें श्रावक धर्मका निरूपण है। पूरे ग्रन्थमें ९२२ पद्य हैं। सं० १०७० में धर्म परीक्षाकी रचना की थी। इसमें सुन्दर कथाके रूपमें पुराणोंकी उटपटांग कथाओं और मान्यताओंकी मनोरंजक रूपमें हँसी उड़ाई है। एक उपासकाचार रचा था जो अमितगति श्रावकाचारके नामसे प्रसिद्ध है। आराधना नामसे शिवार्यकी प्राकृतमें निबद्ध भगवती आराधनाका संस्कृत पद्योंमें अनुवाद किया था। इसके सिवाय सामायिक पाठ, भावना द्वात्रिंशति भी रचे थे। इन ग्रन्थोंमें उनका रचनाकाल नहीं दिया। १०७३ सं०में संस्कृत पञ्चसंग्रहकी रचना मसूतिका पुरमें की थी। यह धारके पास उससे सात कोस दूर मसीद विलौदा नामक गाँव बताया जाता है।

गोम्मटसार और उसके कर्ता

विक्रमकी नौवीं शताब्दीमें धवला और जयधवलाकी रचना होनेके पश्चात् इन दोनों टीका ग्रन्थोंने अपने मूल ग्रन्थोंके सिद्धान्त नामको अपना लिया और ये दोनों धवलसिद्धान्त और जयधवल सिद्धान्तके नामसे ख्यात हो गये। वि० सं० १०२२ में रचकर समाप्त हुए पुष्पदन्त कविके महापुराणमें उनका स्मरण इन्हीं नामोंसे कविने किया है। यह हम पहले भी लिख आये है।

षट्खण्डागम और कसायपाहुडपर टीकाओंका निर्माण बराबर होता रहा है यह भी पहले विस्तारसे लिख आये हैं, और उन्हींके द्वारा कालक्रमसे उनके पठन-पाठनकी प्रवृति भी चालू रही है। धवला और जयधवला टीकाके निर्माणके पश्चात् भी वह प्रवृत्ति चालू रही, किन्तु उसका आधार ये दोनों टीकाएँ हो गईं और धवल तथा जयधवल सिद्धान्त ग्रन्थोंका अभ्यास एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मापदण्ड सिद्धान्त विषयक विद्वत्ताका माना जाने लगा।

विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें दक्षिणमें नेमिचन्द्र नामके एक आचार्य हुए। उनकी उपाधि 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' थी। ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके अधिकारी विद्वान थे। इन्होंने धवल सिद्धान्तका मथन करके गोम्मटसार नामक ग्रन्थकी रचना की और जयधवल सिद्धान्तका मथन करके लब्धिसार ग्रन्थकी रचना की। इन्होंने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है—

> जह चक्केण य चक्की छक्खण्डं साहियं अविग्घेण।
> तह मइचक्केण मया छक्खण्डं साहियं सम्मं ॥३९७॥

जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नसे भारतवर्षके छ खण्डोंको बिना किसी विघ्न-बाधाके साधता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह मैंने (नेमिचन्द्रने)

---

१. 'त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः। मसूतिका पुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥६॥—सं० पं० सं०।

अपने बुद्धिरूपी चक्रसे षट्खण्डोंको या षट्खण्डागम सिद्धान्तको सम्यक् रीतिसे साधा।

सिद्धान्त ग्रन्थोंके अभ्यासीको 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' पद देनेकी परम्पराका सूत्र-पात कब किसने कैसे किया, इस विषयमें निश्चित् रूपसे कुछ कहना शक्य नहीं है। किन्तु इस पदकी कल्पना अवश्य ही जयधवला प्रशस्तिके उस श्लोक[1]के आधारपर की गई होनी चाहिये जिसमें वीरसेन स्वामीके लिये कहा गया है कि भरत चक्रवर्तीकी आज्ञाकी तरह जिनकी भारती षट्खण्डागममें स्खलित नहीं हुई। अतः धवला-जयधवलाकी रचनाके पश्चात् विक्रमकी दसवीं शताब्दीसे ही इस पदवीका सूत्रपात होना चाहिये।

नेमिचन्द्रके गुरु--

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिको अपना गुरु बतलाया है। कर्मकाण्डमें दो स्थानोंपर उन्होंने इन तीनोंको नमस्कार किया है। उनमेंसे एक स्थानपर कहा है[2]—जिसके चरणोंके प्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिका वत्स्य अनन्त संसाररूपी समुद्रसे पार हो गया उन अभयनन्दि गुरुको मैं नमस्कार करता हूँ। दूसरे स्थानपर लिखा है[3]—'अभयनन्दिको, श्रुत-समुद्रके पारगामी इन्द्रनन्दि गुरुको और वीरनन्दिनाथको नमस्कार करके प्रकृतियोंके प्रत्यय-कारणको कहूँगा।' लब्धिसारमें उन्होंने लिखा है[4]—वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स्य और अभयनन्दिके शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्दने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धिका कथन किया। किन्तु [5]त्रिलोकसारमें उन्होंने अपनेको अभयनन्दिका वत्स्य मात्र लिखा है। शेष दोनों आचार्योंका कोई निर्देश नहीं किया।

इन तीनोंमेंसे वीरनन्दि तो चन्द्रप्रभ चरितके कर्ता जान पड़ते हैं क्योंकि

---

१. 'प्रीणितप्राणिसंपत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥२०॥'—ज० ध० प्र०।

२. 'जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदि गुरुं ॥४३६॥—कर्म का०

३. णमिऊण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥७८५॥—कर्म का०

४. वीरिंदणंदिवच्छेणप्पसुदेणभयणंदिसिस्सेण।
दंसण चरित्तलद्धी सुसूयिया णेमिचंदेण ॥६४८॥—ल० सा०

५. इदि णेमिचंदमुणिणाणप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइओ तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥—त्रि० सा०

उन्होंने चन्द्रप्रभचरितकी प्रशस्ति[1] में अपनेको अभयनन्दिका शिष्य बतलाया है। और वे अभयनन्दि नेमिचन्द्रके गुरु ही होने चाहिये क्योंकि कालगणनासे उनका वही समय आता है। अत: अभयनन्दि इन सबमें जेठे तथा गुरु होने चाहिये। और वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र उनके शिष्य। नेमिचन्द्र सम्भवतया सबसे छोटे थे और उन्होंने अभयनन्दि गुरुसे अध्ययन करनेसे पूर्व वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिसे भी अध्ययन किया था।

नेमिचन्द्रने वीरनन्दिको चन्द्रमाकी उपमा देकर सिद्धान्तरूपी अमृतके समुद्रसे उनका उद्भव बतलाया है। अत: वीरनन्दि भी सिद्धान्त ग्रन्थोंके पारगामी थे। उसी तरह इन्द्रनन्दिको तो नेमिचन्द्रने स्पष्ट रूपसे श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है। उन्हींके समीप सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करके कनकनन्दि[2]ने सत्वस्थानका कथन किया था। उसी सत्व स्थानका संग्रह नेमिचन्द्रने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें किया है।

इन्द्रनन्दिके सम्बन्धमें मुख्तार[3] साहब ने लिखा है कि इस नामके कई आचार्य हो गये हैं। उनमेंसे ज्वाला मालिनीकल्पके कर्त्ता इन्द्रनन्दिने ग्रन्थका रचनाकाल[4] श० सं० ८६१ (वि०सं० ९९६) दिया है। और यह समय नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दिके साथ बिलकुल संगत बैठता है। किन्तु उन्होंने अपनेको बप्प नन्दिका शिष्य बतलाया है। संभव है यह इन्द्रनन्दि बप्पनन्दिके दीक्षित हों, और अभयनन्दिसे उन्होंने सिद्धान्त शास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की हो।

इस तरह विक्रमकी दसवीं शताब्दीके उत्तरार्धसे लेकर ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्ध तक सिद्धान्त ग्रन्थोंके ज्ञाताओंकी एक अच्छी गोष्ठी थी। उनमेंसे सिद्धान्त विषयक रचनायें दो ही आचार्योंकी उपलब्ध हैं। वे हैं कनक नन्दि तथा नेमिचन्द्र।

---

१. 'मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः।
अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी स्वमहिमजितसिन्धु भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमते र्भास्वत्समानत्विषः
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्री वीरनन्दीत्यभूत्।'—चन्द्र० च० प्रश०।

२. वर इंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ॥३९६॥—कर्म का०।

३. पुरातन वा० सू०, प्रस्ता०, पृ० ७१–७२।

४. 'अष्ट शतस्यै (स्यै) कषष्ठि प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्य खेटकटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम् ॥'   —ज्वा० मा०, प्रश०।

कनकनन्दिकी विस्तर सत्व त्रिभंगी

आचार्य कनकनन्दि रचित विस्तर सत्व त्रिभंगी नामक एक ग्रन्थ जैनसिद्धांत भवन आरामें वर्तमान है। उसकी कागज पर लिखी हुई दो प्रतियां हमें देखनेको प्राप्त हुईं। जो संभवतः एक ही लेखककी लिखी हुई हैं। दोनोंकी गाथा संख्याओं में अन्तर है। एककी संख्या ४८ है और दूसरीमें गाथाओंकी संख्या ५१ है। तथा दूसरी प्रतिमें गाथाओंके साथ संदृष्टियां भी दी हुई हैं। इसीसे पहली प्रतिकी पृष्ठसंख्या केवल ३ है दूसरीकी ७ है।

कर्म काण्डमें इस कनक नन्दि विरचित विस्तर सत्व त्रिभंगीको आदिसे अन्तकी गाथा पर्यन्त सम्मिलित कर लिया गया है। केवल बीचकी ८ या ११ गाथायें यत्र तत्रसे छोड़ दी गई हैं। क्योंकि कर्मकाण्डमें इस प्रकरणकी गाथाओंकी संख्या ३५८ से ३९७ तक ४० है।

इस प्रकरणमें कर्मोंके सत्व स्थानोंका कथन गुणस्थानोंमें भंगोंके साथ किया गया है। इसका विशेष परिचय आगे कर्मकाण्डका परिचय कराते हुए दिया जायेगा। जो गाथायें छोड़ दी गई है उनके छोड़ देनेसे भी प्रकृत कथनमें कोई बाधा नहीं आती। हां, उनके रहनेसे प्रकृत विषयकी चर्चा थोड़ा विशेष स्पष्ट हो जाती है। प्रथम और द्वितीय प्रतिके अनुसार छोड़ी हुई गाथाओंकी क्रमसंख्या इस प्रकार है–४-५। (यह गाथा दूसरी प्रतिमें व्यतिक्रमसे दी गई है इससे इसकी संख्या उसमें ५ है। गा० ९, १०। दूसरी प्रतिमें १५ नम्बर पर स्थित गाथा पहली प्रतिमें नहीं है। अतः दोनोंकी संख्यामें एकका अन्तर पड गया है। फलतः छोड़ी गई गाथाओंकी क्रम संख्या पहली प्रतिके अनुसार २२, २३, २८ ३० है और दूसरीके अनुसार २३, २४, २९ और ३१ है। दूसरी प्रतिकी गाथा ३८–३९ पहली प्रतिमें नहीं है। अतः दोनोंकी संख्यामें तीनका अन्तर है। फलतः पहली प्रतिके अनुसार छोड़ी गई ८वीं गाथाकी संख्या पहली प्रतिमें ४१ और दूसरीमें ४४ है। इस तरह कर्मकाण्डमें उक्त नम्बरकी गाथायें छोड़ दी गई हैं।

साथ ही एक जगह थोड़ा व्यतिक्रम भी पाया जाता है। त्रिभंगीकी गाथा नं० १५, १६ और १७ की क्रम संख्या कर्मकाण्डमें, क्रमसे ३६८, ३६९, ३७० है। तथा गा० १४ की क्रमसंख्या ३७१ है। अर्थात् गाथा १४ को जिसमें प्रथम गुण स्थानके सत्वस्थानोंमें भंगोंकी संख्या बतलाई गई है कर्मकाण्डमें १५, १६, १७ के बाद दिया है। इन तीनों गाथाओंमें प्रथम गुणस्थानके कुछ स्थानोंमें भंगोंका स्पष्टीकरण किया गया है। अतः त्रिभंगीमें पहले भंगोंकी संख्या बतलाकर पीछे उसका स्पष्टीकरण किया गया है। और कर्मकाण्डमें पहले स्पष्टीकरण करके पीछे भंगोंकी संख्या बतलाई है। अस्तु,

विचारणीय बात यह है कि कनक नन्दि आचार्यने ४८ या[1] ५१ गाथा प्रमाण विस्तरसत्त्व त्रिभंगी ग्रन्थ क्या पृथक् रचा था और बादको उसे नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसारमें सम्मिलित कर लिया अथवा कर्मकाण्डके लिये ही उन्होंने इस प्रकरणकी रचना की ? उक्त दोनों बातोंमेंसे दूसरी बात ही विशेष संगत प्रतीत होती है क्योंकि कनकनन्दि भी सिद्धान्त चक्रवर्ती थे, यह बात त्रिभंगीकी अन्तिम गाथासे जो कर्मकाण्डमें भी है, स्पष्ट होती है। ऐसे महान् आचार्यके द्वारा इतना छोटा-सा ग्रन्थ स्वतन्त्र रूपसे रचे जानेकी संभावना ठीक प्रतीत नहीं होती। अतः यही विशेष संभावित प्रतीत होता है कि उन्होंने गोम्मटसारके लिये ही उस प्रकरणको रचा और पीछे उसमें यथास्थान स्पष्टीकरणके लिये कुछ गाथाओंको बढ़ाकर उसे एक स्वतंत्र प्रकरणका रूप भी दे दिया। अतः गोम्मटसारकी रचनामें कनकनन्दि आचार्यका भी योगदान था। त्रिभंगीकी अन्तिम गाथा नेमिचन्द्राचार्यकी बनाई हुई हो सकती है जिसमें कहा है कि इन्द्रनन्दि गुरुके पासमें सम्पूर्ण सिद्धान्तको सुनकर कनकनन्दि गुरुने सत्व स्थानका कथन किया। यहाँ कनकनन्दिके साथ गुरु शब्दका प्रयोग इसी बातका संकेत करता है।

कनक नन्दिके गुरु इन्द्रनन्दि थे। और इन्द्रनन्दिके गुरु अभयनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दी सिद्धान्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे। अतः जैनेन्द्र महावृत्तिको हमने इस दृष्टिसे देखा कि उसमें सिद्धान्त शास्त्र विषयक कोई उदाहरण है या नहीं ? खोजने पर सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' एवं 'सबन्धं सटीकम्' उदाहरण महत्वपूर्ण है। इसके सम्बन्धमें डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवालने अपनी भूमिका (पृ० ९) में लिखा है—'यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्म प्रकृतिप्राभृतसे था, जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतवलि माने जाते हैं। (प्रथम द्वितीय शती)। इसीका दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भाग विशेष बन्ध या महाबन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र) था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है। अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभृत या षट्खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका

---

१. श्रीप्रेमीजीने लिखा है कि 'पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके अनुसार जैनसिद्धान्त भवन आरामें कनकनन्दिका रचा हुआ 'त्रिभंगी' नामका एक ग्रन्थ है। जो १४०० श्लोक प्रमाण है (जै० सा० इ०, पृ० २०१)। और टिप्पणमें जैन हितैषी भाग १४, अंक ६ का निर्देश किया है। हमने उसे देखा उसमें मुख्तार साहबने जै० सि० भवनकी सूचीके आधार पर उक्त निर्देश किया था इसीसे पुरातन जैनवाक्य सूचीकी अपनी प्रस्तावनामें उन्होंने त्रिभंगीके परिमाणके सम्बन्धमें उक्त निर्देश नहीं किया। अतः त्रिभंगीका १४०० श्लोक प्रमाण कथन भ्रामक है।

अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीक मधीते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्म-प्राभृत पर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृतटीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। संभवतः वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी।'

डॉक्टर साहबका उक्त अनुमान हमें भी संगत प्रतीत होता है। पुष्पदन्त और भूतबलिने जिस महाकर्म प्राभृतको षट्खण्डागमके रूपमें उपसंहृत किया था सम्भवतः प्राभृतसे उसीका ग्रहण वृत्तिकारने किया है। 'सबन्धं' और 'सटीकं' पदोंसे इसी बातका समर्थन होता है क्योंकि बन्ध अथवा महाबन्ध उसीके अन्तर्गत अन्तिम खण्ड है और उसीकी टीकायें ग्रन्थकारोंके द्वारा रची गईं थीं। किन्तु प्राभृतसे षट्खण्डागम 'सबन्धं' पदका प्रयोग कुछ विशेष अर्थ रखता है। बन्ध तो षट्खण्डागमका ही एक खण्ड है अतः 'प्राभृत' से षट्खण्डागमका ग्रहण करनेपर बन्धका भी ग्रहण हो ही जाता है पुनः 'सबन्धं' कहना कुछ विशेष अर्थ रखता है। जो बतलाता है कि महावृत्तिकी रचनासे पूर्व अन्तिम खण्ड बन्ध षट्खण्डागम-से जुदा हो चुका था। इसीसे 'सबन्धं' पदसे उसका ग्रहण किया गया है।

इन्द्र नन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि—'वप्पदेव गुरुने षट्खण्डसे महाबन्धको पृथक् किया। और व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको संक्षिप्त करके उसमें मिलाया। उसी व्याख्या प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कर्म नामक छठे खण्डकी रचना की और उसे पाँच खण्डोंमें मिलाकर छै खण्ड पूरे किये।

अतः वप्पभट्ट स्वामीने महाबन्धको षट्खण्डागमसे पृथक् कर दिया था। तथा वीरसेन स्वामीने भी उसे पृथक् ही रखकर सत्कर्म नामक नया खण्ड रचकर उसमें मिलाया था जो धवलाका ही अंगभूत है। अतः 'सबन्धं' पदसे इतना स्पष्ट है कि बप्पदेवके पश्चात् अभयनन्दि हुए हैं। किन्तु वप्पदेवका समय भी ज्ञात नहीं है। परन्तु श्रुतावतारके अनुसार वे वीरसेनके गुरु एलाचार्यसे पूर्व हुए हैं। उनके और 'एलाचार्यके बीचमें श्रुतावतारमें किसी अन्य व्याख्याकारका निर्देश नहीं किया गया है। अतः विक्रमकी सातवीं शताब्दीके लगभग उनका काल माना जा सकता है। अतः अकलंकके पश्चात् होनेवाले अभयनन्दिका 'सबन्धं और सटीकम्' लिखना उचित ही है।

डॉ० अग्रवाल साहबने यद्यपि अभयनन्दिका कोई निश्चित समय नहीं लिखा तथापि वे उन्हें धवलासे पूर्वका विद्वान् मानते हैं इसीसे उन्होंने 'सटीकं' पदसे धवलाटीकाका ग्रहण नहीं किया।

किन्तु यदि प्रभाचन्द्रके द्वारा गुरुरूपसे स्मृत महावृत्तिकार अभयनन्दिका प्रभाचन्द्रके साथ कुछ विद्या सम्बन्ध था तो नेमिचन्द्रके गुरु भी वही हो सकते हैं और उस स्थितिमें उनके द्वारा 'सटीक' शब्दसे धवलाटीकाका उल्लेख होना ही संभव है। किन्तु अभी इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहना संभव नहीं है। एक अभयनन्दी नामक आचार्यने पूज्यपाद देवनन्दिके जैनेन्द्र व्याकरण पर जैनेन्द्र महावृत्ति रची है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे हुआ है उसमें आरम्भिक द्वितीय श्लोकमें वार्तिककारने अपना नाम अभयनन्दि[1] मुनि दिया है। किन्तु अपने गुरु आदिका नाम नहीं दिया और न ग्रन्थ रचनाका समय ही दिया।

अभयनन्दीने सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें माघकविके शिशुपालवधसे एक श्लोक उद्धृत किया है। माघका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। क्योंकि माघके दादा सुप्रभदेव वर्मलातके मंत्री थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है।

तथा उन्होंने सूत्र ३-२-५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थ वार्तिकमधीते' उदाहरण दिया है। इससे प्रकट होता है कि वे तत्वार्थवार्तिकके रचयिता भट्टाकलंकके पश्चात् हुए हैं।

तथा जैनेन्द्र पर एक 'पंचवस्तु' नामकी टीका है उसके रचयिता आर्य श्रुतकीर्ति हैं। कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभ चरित नामक ग्रन्थके कर्ता अग्गल[2] कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है। यह चरित शक सं० १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ था। यदि ये दोनों श्रुतकीर्ति एक हों तो अभयनन्दिको विक्रमकी १२वीं शतीसे पूर्वका विद्वान मानना चाहिये।

श्रुतकीर्तिने अपनी पंचवस्तु[3] प्रक्रियाके अन्तमें एक श्लोकमें जैनेन्द्र शब्दागम अर्थात् जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है। मूल सूत्ररूपी स्तम्भों पर वह खड़ा है, न्यासरूपी उसकी रत्नमय भूमि है, वृत्ति रूप उसके कपाट हैं। भाष्य शय्यातल है। टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और वह पंचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है। उसके द्वारा उस महल पर चढा जा सकता है।

---

१. 'यच्छब्द लक्षण·····व्यक्तिकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥२॥ जै० महावृ०, पृ० १।

२. '·····श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्तिपदपद्म निधानदीपवर्ति श्रीमदग्गलदेव विरचिते चन्द्रप्रभ चरिते—जै० सा० इ०, पृ० ३६।

३. 'सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥'—जै० सा० इ०, पृ० ३३।

इसमें निर्दिष्ट वृत्ति तो अभयनन्दिकृत वृत्ति है। और न्यास शायद पूज्यपादकृत ही हो।

जैनेन्द्र व्याकरण पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत 'शब्दाम्भोज भास्कर' नामक एक न्यास ग्रन्थ बम्बईके सरस्वती भवनमें वर्तमान है जो अपूर्ण है। इसमें तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया है तथा महावृत्तिके शब्द ज्योंके त्यों लिये गये हैं। इसके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र वे ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुद की रचना की थी।

प्रभाचन्द्रका समय न्यायाचार्य पं० महेन्द्र कुमारजीने ९८० ई० से १०६५ तक निर्णीत किया है। अतः अभयनन्दिका उनसे पूर्व होना निश्चित है।

श्री नेमिचन्द्राचार्यका समय भी ९८९ ई० के लगभग है। अतः उनके गुरु अभयनन्दिका समय भी उसीके लगभग उससे कुछ पूर्व होना चाहिये। यदि यह अभयनन्दि ही महावृत्तिके रचयिता हों तो महावृत्तिका रचनाकाल विक्रम सं० १००० और १०५० के मध्यमें होना चाहिये। श्री युधिष्ठिर मीमांसकने अपने 'संस्कृत व्याकरणका इतिहास' में उस एकताकी संभावनापर ही महावृत्ति के रचयिता अभयनन्दीका काल विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका प्रथम चरण मात्र कहा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी' शीर्षक अपना निबन्ध प्रथमबार जै० सा० सं०, भा० १ अंकमें प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने लिखा था—'हमारा अनुमान है कि चन्द्रप्रभ काव्यके कर्ता महाकवि वीरनन्दिने जिन अभयनन्दिको अपना गुरु बनाया है ये वे ही अभयनन्दि होंगे। आचार्य नेमिचन्द्रने भी गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ४३६वीं गाथामें इनका उल्लेख किया है। अतएव इनका समय विक्रमकी ग्यारहवींके पूर्वार्धके लगभग निश्चित होता है।'

किन्तु जै० सा० इ० में उन्होंने अपने उस लेखमेंसे ऊपर वाला अंश निकाल दिया है।

परन्तु प्रभाचन्द्रके न्यासमें जो श्लोक है वह उक्त अनुमानका पोषक प्रतीत होता है। श्लोक इस प्रकार है—

नमः श्री वर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥

इसमें आगत 'तस्मै अभयनन्दिने गुरवे' पद महत्वपूर्ण है, जो इस सन्देहको पुष्ट करता है कि प्रभाचन्द्रने अभयनन्दिसे शायद अध्ययन किया था। यदि ऐसा हो तो वे अभयनन्दि नेमिचन्द्राचार्यके गुरु ही हो सकते हैं।

नाम—

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने षट्खण्डागमकी धवला टीकाका मंथन करके गोम्मटसार नामक महान् ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थराजके दो भाग हैं—प्रथम भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है। ये दोनों नाम टीकाकारोंके द्वारा दिये गये हैं। ग्रन्थकारने प्रथम भागकी पहली गाथामें 'जीवस्स परूवणं वोच्छं' लिखकर जीवकी प्ररूपणा करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरे भागकी पहली गाथामें कर्म प्रकृतियोंका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। अतः जीव और कर्मविषयक कथनोंके कारण प्रथम भागको [1]जीवकाण्ड और दूसरे भागको कर्मकाण्ड संज्ञा दे दी गई है। किन्तु ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थको बनाया दो ही भागोंमें है क्योंकि प्रथम भागके अन्तमें उस गोम्मट राजाकी जय-कामना की गई है जिसके लिए गोम्मटसार रचा गया था। तथा दूसरे भागके अन्तमें चूँकि वह गोम्मटसार ग्रन्थका अन्तिम भाग है इसलिये विशेष रूपसे गोम्मटका गुणगान किया गया है।

टीकाकारोंने गोम्मटसारका एक नाम और भी दिया है [2]पंचसंग्रह। किन्तु क्यों उसे यह नाम दिया, यह उन्होंने नहीं बतलाया। सम्भवतया टीका-कारोंने अमितगतिके पञ्चसंग्रहको देखकर और उसके अनुरूप कथन इसमें देखकर इसे यह नाम दिया है। आचार्य नेमिचन्द्रने तो ग्रन्थके दूसरे भागके अन्तमें उसका नाम गोम्मट[3] संग्रह सुत्त अथवा गोम्मट सुत्त दिया है। गोम्मटसार नाम भी टीकाओंमें ही पाया जाता है।

नामका कारण—

जीवकाण्डके अन्तकी गाथा[4]में ग्रन्थकारने कहा है—'आर्य आर्यसेनके गुण समूहको धारण करनेवाले अजितसेनाचार्य जिसके गुरु हैं वह राजा गोम्मट जय-वन्त हो।' कर्मकांण्डके अन्तमें कुछ गाथाओंके द्वारा गोम्मट राजाका जयकार करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—

'गणधर देव आदि ऋद्धि प्राप्त मुनियोंके गुण जिसमें निवास करते हैं, ऐसे

---

१. 'तद् गोम्मटसार प्रथमावयवभूतं जीवकाण्डं विरचयन्'—मन्द प्र० टी०, पृ० ३।

२. 'गोम्मटसारनामधेयपंचसंग्रहं शास्त्रं प्रारम्भमाण:'—मन्द प्र०टी०, पृ० ३। 'गोम्मटसार पञ्चसंग्रह प्रपंचमारचयन्'—जीव० टी०, पृ० २।

३ 'गोम्मटसंगह सुत्त'—कर्म का०, गा० ९६५ और ९६८।

४. 'अज्जज्जसेनगुणगणसमूहसंधारिअजियसेण गुरू। भुवणगुरू जस्स गुरू सो रायो गोम्मटो जयदु ॥७३५॥—जी०का०।

अजितसेन नाथ जिसके गुरु हैं वह राजा जयवन्त हो ॥९६६॥ सिद्धान्तरूपी उदयाचलके तटसे उदयको प्राप्त निर्मल नेमिचन्द्र रूपी चन्द्रमाकी किरणोंसे वृद्धिगत, गुणरत्न भूषण–चामुण्डराय रूपी समुद्रकी बुद्धिरूपी वेला भुवनतलको पूरित करे ॥९६७॥ गोम्मट संग्रह सूत्र (गोम्मटसार) गोम्मट शिखर पर स्थित गोम्मट जिन और गोम्मटराजके द्वारा निर्मित कुक्कुट जिन जयवन्त हों ॥९६८॥ जिसके द्वारा निर्मित प्रतिमाका मुख सर्वार्थसिद्धिके देवोंके द्वारा तथा सर्वावधि ज्ञानके धारक योगियोंके द्वारा देखा गया वह गोम्मट जयवन्त हो ॥९६९॥

जिसके द्वारा खड़े किये गये स्तम्भके ऊपर स्थित पक्षके मुकुटके किरण रूपी जलसे सिद्धोंके शुद्धपाद धोये गये, वह राजा गोम्मट जयवन्त हो ॥९७१॥ गोम्मट सूत्रके लिखते समय जिस गोम्मट राजाने देशी भाषामें जो टीका लिखी, जिसका नाम वीरमार्तण्डी है, वह राजा चिरकाल तक जयवन्त[1] हो ॥९७२॥

इस तरह श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने गोम्मटसारके अन्तमें ७ गाथाओंके द्वारा गोम्मट राजाका जयकार किया है और उसमें उनके द्वारा किये गये कर्मोंका भी निर्देश किया है।

गाथा ९६८में तीन वस्तुओंका निर्देश है—गोम्मटसंग्रहसूत्र, गोम्मट शिखरके ऊपर स्थित गोम्मट जिन और गोम्मट राजके द्वारा निर्मित दक्षिण कुक्कुट जिन। गोम्मट संग्रह सूत्र तो गोम्मटसार नामक ग्रन्थ है। दूसरेके सम्बन्धमें इस गाथाकी जीवतत्व प्रदीपिका टीकामें लिखा[2] है—'चामुण्डरायके द्वारा निर्मित प्रासादमें

१. 'जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्ढिपत्ताणां सो। अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥९६६॥ सिद्धन्तुदयतडुग्गय णिम्मलवर णेमिचन्दकर-कलिया। गुणरयणभूसणंबुहिमइवेला भरउ भुवणयलं ॥९६७॥ गोम्मट संगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणोय। गोम्मटविणिम्मियदक्खिण कुक्कुडजिणो जयउ ॥९६८॥ जेण विणिम्मिय पडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धि-देवेहिं। सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥९६९॥ वज्जयणं जिणभवणं ईसियभारं सुवण्णकलसं तु। तिहुवणपडिमाणिक्कं जेण कयं जयउ सो राओ ॥९७०॥ जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया। सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥९७१॥ गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी। सो राओ चिरंकालं णामेण य वीरमत्तंडी ॥९७२॥

२. 'गोम्मटसंग्रहसूत्रं च चामुण्डरायविनिर्मितप्रासादस्थितैकहस्तप्रमेन्द्रनीलरत्न-मय।'—कर्म का०। नेमिश्वर प्रतिबिम्बं च चामुण्डराय विनिर्मित दक्षिण कुक्कुड जिनश्च सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्'—क०का०, जी०टी०, गा० ९६८।

स्थित नेमीश्वरको इन्द्रनील मणिकी एक हाथ प्रमाण प्रतिमा।' और तीसरी चामुण्डरायके द्वारा निर्मापित दक्षिण कुक्कुट जिन।

चामुण्डराय गंगवंशी राजा रायमल्लके मंत्री और सेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्ध जीते थे और उसके उपलक्ष्यमें उन्हें अनेक उपाधियाँ मिली थीं। नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसारमें उसी 'सम्मत्त[1]रयण निलय' (सम्यक्त्वरत्न निलय), 'गुणरयण[2]भूसण' (गुणरत्न भूषण), सत्ययुधिष्ठिर[3], देवराज[4] आदि विशेषणोंका प्रयोग प्रकारान्तरसे किया है। इन चामुण्डरायने श्रवण बेलगोला (मैसूर)में स्थित विन्ध्यगिरि पर्वतपर बाहुबली स्वामीकी ५७ फीट ऊँची अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। बाहुबली भगवान ऋषभदेवके पुत्र थे। उन्होंने बड़ी कठोर तपस्या की थी। उनकी स्मृतिमें उनके बड़े भाई चक्रवर्ती भरतने एक प्रतिमा स्थापित कराई थी। वह कुक्कुट सर्पोंसे व्याप्त हो जानेके कारण कुक्कुट जिन नामसे प्रसिद्ध थी। उत्तर भारतकी इस मूर्तिसे भिन्नता बतलानेके लिये चामुण्डरायके द्वारा स्थापित मूर्ति 'दक्षिण कुक्कुट जिन' कहलाई। क०का० गा० ९६९में उसकी ऊँचाई को लक्ष्यमें रखकर ही नेमिचन्द्राचार्यने कहा है कि उसका मुख सर्वार्थसिद्धिके देवोंने देखा। उसके तलमें नागरी लिपिमें मराठी भाषामें 'श्री चामुण्डराजेम करवियलें' अंकित है। उसी विन्ध्यगिरि पर एक स्तम्भ स्थित है जिसे त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ कहते हैं। ऊपर गा० ९७१ में उसीका गुणगान किया गया प्रतीत होता है।

विन्ध्यगिरिके सामने स्थित दूसरे चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय वसतिके नामसे एक सुन्दर जिनालय स्थित है। इस जिनालयमें चामुण्डरायने इन्द्रनीलमणिकी एक हाथ ऊँची नेमिनाथकी प्रतिमा स्थापित की थी, जो अब अनुपलब्ध है।

चामुण्डरायका घरका नाम 'गोम्मट' था। यह बात डा० आ० ने० उपाध्येने अपने एक लेखमें सप्रमाण सिद्ध की है। उनके इस नामके कारण ही उनके द्वारा स्थापित बाहुबलिकी मूर्ति गोम्मटेश्वरके नामसे ख्यात हुई। डा० उपाध्ये[5]ने

१. 'सम्मत्तरयण णिलयं पयडि समुक्कित्तणं वोच्छं' ॥१॥—क०का०।
२. 'गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥१॥—जी०का०। 'णमह गुणरयणभूसण ॥८९६॥—क०का०।
३. 'णमिऊण णेमिणाहं सच्चजुहिट्ठिरणमंसियंघिजुगं ॥४५१॥—क०का०।
४. 'णमिऊण वड्ढमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुज्जं' ॥३५८॥—क०का०।
५. 'यह मूर्ति बतौर गोम्मटेश्वरके (गोम्मटस्य ईश्वरः तत्पुरुष समास) 'गोम्मटके देवता' इस लिये प्रसिद्ध हुई है क्योंकि इसे चामुण्डरायने, जिसका अपर नाम 'गोम्मट' है, बनवा कर स्थापित किया था।—अनेकान्त, वर्ष ४ किरण ३, पृ० २३१।

गोम्मटेश्वरका अर्थ किया है—गोम्मट अर्थात् चामुण्डरायका देवता। उसीके कारण विन्ध्यगिरि, जिसपर गोम्मटेश्वरकी मूर्ति स्थित है, 'गोम्मट' कहा गया। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डरायके लिये नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसार नामक संग्रह ग्रन्थकी रचना की थी। इसीसे इस ग्रन्थको गोम्मटसार संज्ञा दी गई।

जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिनी टीकाकी उत्थानिकामें अभयचन्द्र सूरिने लिखा[1] है—कि गंगवंशके ललामभूत श्रीमद्राजमल्लदेवके महामात्य पद पर विराजमान, और रण रंगमल्ल, असहाय पराक्रम, गुणरत्न भूषण, सम्यक्त्व रत्न निलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डरायके प्रश्नके अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्डके अर्थका संग्रह करनेके लिये गोम्मटसार नाम वाले पञ्चसंग्रह शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती परम मंगल पूर्वक गाथासूत्र कहते हैं।'

अतः श्री नेमिचन्द्राचार्यने चामुण्डरायके लिये, जिनका नाम गोम्मटराय भी था, यह ग्रन्थ रचा था। इसीसे उन्होंने इस ग्रन्थको 'गोम्मट' नाम दिया। जैसे शाकटायनने अपने शाकटायन व्याकरण पर रचित वृत्तिको राजा अमोघ वर्षके नामपर अमोघवृत्ति नाम दिया था।

नेमिचन्द्राचार्य[2]ने गोम्मटसारके सिवाय दो ग्रन्थ और भी रचे हैं—उनमेंसे एक है लब्धिसार और दूसरा है त्रिलोकसार। त्रिलोकसारकी संस्कृत टीका

---

१. ''श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासन-गुहाभ्यन्तर-निवासि-प्रवादि-मदांध-सिंधुर-सिंहायमान-सिंहनन्दिमुनीन्द्राभिनन्दितगंगवंशललामराज-सर्वज्ञाद्यनेकगुणनामधेय-भागधेय-श्रीमद्राजमल्लदेव-महीवल्लभ-महामात्यपदविराजमान रणरंगमल्लसहायापराक्रम-गुणरत्नभूषण-सम्यक्त्व-रत्ननिलयादिविविध गुणनामसमासादितकीर्तिकांत-श्रीचामुण्डराय-भव्य-पुण्डरीक-द्रव्यानुयोगप्रश्नानुरूपं महाकर्मप्रकृतिप्राभतप्रथमसिद्धान्तजीव-स्थानाख्य-प्रथम-खंडार्थ संग्रह-गोम्मटसार-नामधेय-पञ्चसंग्रह शास्त्रंप्रारभमाणः समस्तसैद्धान्तिकचूडामणिः श्रीमन्नेमिचन्द्र-सैद्धान्तिकचक्रवर्ती तद्गोम्मटसारप्रथमावयवभूतं जीवकाण्डं विरचयन्।'
—जी० का० म० प्र० टी०, पृ० ३।

२. सिद्धान्तामृतसागरं स्वमतिमन्थक्ष्माभृदालोड्य मध्ये, लेभेऽभीष्ट फलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसरः। श्रीमद् गोमट-लब्धिसार-विलसत् त्रैलोक्यसाराम
रक्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः ॥६३॥
—बाहु० च०।

माधवचन्द्र त्रैविद्यके द्वारा रची गई है। ये माधवचन्द्र त्रैविद्य नेमिचन्द्रके समकालिक और उनके एक प्रमुख शिष्य थे। उनके द्वारा रचित भी कुछ गाथाएँ[1] त्रिलोकसारमें हैं ऐसा उन्होंने अपनी टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें लिखा है। इन माधवचन्द्रने त्रि० सा० की प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें लिखा[2] है कि चार अनुयोग रूपी समुद्रोंके पारगामी भगवान नेमिचन्द्र सैद्धान्तदेव चामुण्डरायके बहानेसे समस्त विनेय जनोंके प्रतिबोधनके लिये त्रिलोकसारकी रचना करते हैं।

तथा त्रि० सा० की प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए उन्होंने उसे आचार्य नेमिचन्द्रके पक्ष[3]में भी लगाया है और लिखा है कि बल अर्थात् चामुण्डराय और गोविन्द अर्थात् राचमल्लदेव (गंगनरेश) ये दोनों नेमिचन्द्रको नमस्कार करते थे।

त्रिलोकसारकी एक प्राचीन प्रतिमें एक चित्र दिया है। जिसमें नेमिचन्द्राचार्य चामुण्डरायको उपदेश दे रहे हैं।

अतः यह निर्विवाद है कि नेमिचन्द्र चामुण्डरायके समकालीन थे। उन्हींके निमित्तसे उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की थी और अपने एक सबसे महान् ग्रन्थको चामुण्डरायके अपरनाम 'गोम्मट' से अभिहित किया था।

समय

चामुण्डरायने अपना चामुण्डराय पुराण शक सं० ९०० (वि०सं० १०३५) में बनाकर समाप्त किया था। अतः उनके लिए निर्मित गोम्मटसारका सुनिश्चित समय मुख्तार साहबने विक्रमकी ११वीं शताब्दी माना है, और श्री प्रेमीजीने विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध निश्चित किया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें चामुण्डरायके द्वारा निर्मित गोम्मट जिनकी मूर्तिका निर्देश है। अतः यह निश्चित है कि गोम्मटसारकी समाप्ति गोम्मट मूर्तिकी स्थापनाके पश्चात् ही हुई है। किन्तु मूर्तिके स्थापना कालको लेकर इतिहासज्ञोंमें

---

१. 'गुरुणेमिचन्द-सम्मद-कदिवय गाहा तहिं तहिं रइदा। माहवचंदतिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं ॥१॥—त्रि०सा०।

२. '……भगवान्नेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारगश्चामुण्डरायप्रतिबोधनव्याजेनाशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामानं ग्रन्थमारचयन्……।' —त्रि० सा० टी०, पृ० २।

३. 'अथवा, णमंसामि, कं० 'विमलयरणेमिचंदं' ।……विमलतरः स चासौ नेमिचन्द्राचार्यश्च विमलतरनेमिचन्द्रस्तं नमस्यामीति……बलः चामुण्डरायः गां पृथ्वीं विदति पालयतीति गोविन्दो रायमल्लदेवः……।—त्रि० सा० टी०, पृ० ३।

बड़ा मतभेद है। बाहुबलि चरित्रमें गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठाका समय इस प्रकार दिया है—

'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम् ॥'

अर्थात् कल्कि संवत् ६०० में विभव संवत्सरमें चैत्र शुक्ल ५ रविवारको कुम्भलग्न, सौभाग्ययोग, मस्त (मृगशिरा) नक्षत्रमें चामुण्डराजने वेल्गुल नगरमें गोमटेशकी प्रतिष्ठा कराई।

किन्तु उक्त तिथि कब पड़ती है इसमें भी अनेक मत हैं। प्रो० घोषालने अपने वृहद्रव्यसंग्रहके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें उक्त तिथिको २ अप्रैल ९८० ई० माना है। श्री गोविन्द पैने १३ मार्च ९८१ ई० माना है। ज्योतिषाचार्य श्री नेमिचन्द्रजीने [1]लिखा है कि भारतीय ज्योतिषके अनुसार बहुबलि चरित्रमें गोम्मट मूर्तिकी स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं वे १३ मार्च सन् ९८१ में ठीक घटित होते हैं। प्रो० [2]हीरालाल जीने लिखा है कि २३ मार्च १०२८ सन् में उक्ततिथि वगैरह ठीक घटित होती है। किन्तु शामशास्त्रीने ३ मार्च १०२८ सन् बतलाया है। एस० श्री [3]कण्ठशास्त्री 'कल्क्यब्दे'के स्थान पर 'कल्यब्दे' पाठ ठीक मानते हैं और शामशास्त्रीके मतको अमान्य करते हुए लिखते हैं कि १०२८ ई० तक चामुण्डरायके जीवित रहनेके प्रमाणोंका अभाव है। उन्होंने एक नये आधार पर मूर्तिकी स्थापनाका समय ९०७-८ ई० निर्धारित किया है। इस तरहसे मूर्तिकी स्थापनाके समयको लेकर बहुत मतभेद है।

चामुण्डरायने अपने चामुण्डराय पुराणमें मूर्ति स्थापनकी कोई चर्चा नहीं की है। इस परसे साधारणतया विद्वानोंका यही मत है कि उसकी समाप्तिके पश्चात् ही मूर्तिकी स्थापना हुई है। किन्तु श्रीकण्ठशास्त्री इस बातको महत्व नहीं देते। रन्नका अजितनाथ पुराण श० सं० ९१५ में समाप्त हुआ था। उसमें लिखा है कि 'अत्तिमव्वे'ने गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके दर्शन किये। अतः यह निश्चित है कि श०सं० ९१५ (वि०सं० १०५०) से पहले मूर्तिकी प्रतिष्ठा हो

---

१. जै०सि०भा०, भा० ६, पृ० २६१।
२. जै०शि०सं० भा० १, प्रस्ता० पृ० ३१।
३. जै० एण्टी०, जि० ५, नं० ४ में 'दी डेट आफ़ दी कन्सक्रेशन आफ़ दी इमेज, पृ० १०७-११४।

चुकी थी। यदि चामुण्डरायपुराणमें मूर्तिकी स्थापनाकी कोई चर्चा न होनेको महत्व दिया जाये तो कहना होगा कि वि०सं० १०३५ और १०५० के बीचमें किसी समय मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई और इसी १५ वर्षके अन्तरालमें गोम्मटसारकी रचना हुई।

प्रेमीजी ने गंगनरेश राचमल्लका राज्यकाल वि०सं० १०३१ से १०४१ तक लिखा है। और भुजबलि शतक अनुसार उसीके राज्यकालमें मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई थी, अतः मूर्ति स्थापनाका समय ९८१ ई० (वि०सं० १०३८) ही उपयुक्त जान पड़ता है। उसमें बाहुबलि चरितका तिथि क्रम भी घटित हो जाता है और चामुण्डराय पुराणमें उल्लेख न होने वाली बातकी संगति भी बैठ जाती है। यदि यह ठीक है तो उसके बाद सं० १०४० के लगभग गोम्मटसारकी रचना होना संभव है।

इतने विस्तारसे इस पर प्रकाश डालनेका कारण यह है कि अमितगतिने अपना संस्कृत पञ्चसंग्रह वि०सं० १०७३ में बनाकर समाप्त किया था। और उसके देखनेसे प्रकट होता है कि अमितगतिने सम्भवतया गोम्मटसार को देखा था, क्योंकि सं० पञ्चसंग्रहके प्रथम अध्यायमें जो ३६३ मिथ्यामतोंकी उपपत्ति दी है वह कर्मकाण्डसे ली गई प्रतीत होती है। प्रा० पं०सं० में तो वह है ही नहीं और कर्मकाण्डसे बिल्कुल मेल खाती है। कर्मकाण्डमें काल ईश्वर आत्मा नियति और स्वभावका जो लक्षण दिया है उसीका अनुवाद सं० पञ्चसंग्रह में है। केवल क्रममें अन्तर है। उसमें स्वभाव, नियति, काल, ईश्वर और आत्मा यह क्रम रखा गया है। नीचे कर्मकाण्डकी गाथा के साथ सं० पञ्चसंग्रहसे उसका संस्कृत अनुवाद दिया जाता है—

१. कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥८७९॥ क० का०।
सुप्तेषु जागर्ति सदैव कालः कालः प्रजाः संहरते समस्ताः।
भूतानि कालः पचतीति मूढा कालस्य कर्तृत्वमुदाहरन्ति ॥३१२॥

२. अण्णाणि हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥८८०॥
अज्ञः शरीरी नरकेऽथ नाके प्रपेर्यमाणो व्रजतीश्वरेण।
स्वस्याक्षमो दुःखसुखे विधातुमिदं वदन्तीश्वरवादिनोऽन्ये ॥३१३॥

३. एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥
एको देवः सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता।
आत्मा मूर्तः सर्वभूतस्वरूपं साक्षाज्ज्ञाता निर्गुणः शुद्धरूपः ॥३१४॥

४. जत्त् जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्त् तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥
यथा यदा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत् ।
स्फुटं नियत्येह नियंत्र्यमाणं परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥३११॥

५. को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं ।
विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वंपि य सहाओ त्ति ॥८८३॥
कः स्वभावमपहाय वक्रतां कंटकेषु विहगेषु चित्रताम् ।
मत्स्यकेषु कुरुते पयोगतिं पंकजेषु खरदण्डतां परः ॥३१०॥

इसके सिवाय अन्य भी कई बातें हैं जो गोम्मटसार जीवकाण्डसे ली गई जान पड़ती हैं। जीवकाण्डमें कषायमार्गणामें पंचसंग्रहसे कुछ विशेष कथन किया है। इस कथनको करने वाली कोई गाथा धवलामें भी हमारे देखनेमें नहीं आई। उस कथनको करने वाली जीवकाण्डमें यह गाथा विशेष है—

णारय-तिरिक्ख-णर-सुर-गईसु उप्पण-पढम-कालम्मि ।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वा पि ॥२८७॥

इसी बातको सं० पञ्च संग्रहमें इस प्रकार कहा गया है—

क्रुद्धः श्वभ्रेषु तिर्यक्षु मायायाः प्रथमोदयः ।
जातस्य नृषु मानस्य लोभस्य स्वर्गवासिषु ॥२१०॥
आचार्या निगदन्त्यन्ये कोपादि प्रथमोदये ।
भ्रमतो भवकान्तारे नियमो नास्ति जन्मिनाम् ॥२११॥

पहले श्लोकमें उक्त गाथाके तीन चरणोंका अनुवाद है और 'अणियमो वाऽपि' इस चतुर्थ चरणके आशयको दूसरे श्लोकसे स्पष्ट किया गया है।

इसी तरह जीवकाण्ड-योग मार्गणामें आहारक शरीरके आकारादिके सम्बन्धमें जो विशेष कथन किया गया है वह सब सं० पं० सं० में भी यथास्थान वर्तमान है।

जीव काण्डमें कहा है—

सुह संठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥२३७॥
अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।'

सं० पं० सं० में इसका अनुवाद इस प्रकार है—

'यः प्रमत्तस्य मूर्धोत्थो धवलो धातुवर्जितः ।
अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः सर्वव्याघातविच्युतः ॥१७६॥
पवित्रोत्तमसंस्थानः हस्तमात्रोऽजघन्यतिः ।'

यदि श्लोक १७६ के उत्तरार्धके स्थानमें श्लोक १७७ के पूर्वार्धको रख दिया जाये तो गाथानुसार अनुवाद हो जाता है।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि अमितगतिने नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसार-का भी उपयोग अपने सं० पञ्चसंग्रहमें किया है। अतः गोम्मटसार सं० पञ्चसंग्रहसे (वि० सं० १०७३) तीस पैंतीस वर्ष पूर्व रचा गया होना चाहिये। और इसलिये उसका रचनाकाल वि० सं० १०४० के लगभग जानना चाहिये।

विषय-वस्तु

यह पहले लिखा जा चुका है कि गोम्मटसारके दो भाग हैं, पहले भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड। जीवकाण्डके तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं। गाँधी नाथारंगजी बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करणमें मूल गाथाएँ और उनकी संस्कृत छाया मात्र है। रायचन्दशास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित संस्करणमें पं० खूबचन्दजी रचित हिन्दी टीका भी दी गई है। ये दोनों संस्करण पुस्तकाकार हैं। गाँधी हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालासे प्रकाशित शास्त्राकार संस्करणमें मूल और छायाके साथ दो संस्कृत टीकाएँ तथा पं० टोडरमलजी रचित ढुंढारी भाषामें टीका है। पहले दोनों संस्करणोंमें गाथा संख्या ७३३ है। किन्तु प्रथम मूल संस्करणमें दूसरेसे एक गाथा जिसका नम्बर ११४ है, अधिक है, यह गाथा दूसरे संस्करणमें नहीं है। फिर भी गाथा संख्या बराबर होनेका कारण यह है कि प्रथम मूल संस्करणमें दो गाथाओं पर २४७ नम्बर पड़ गया है। अतः पूरे ग्रन्थकी गाथा संख्या ७३४ है। तीसरे संस्करणमें गाथा संख्या ७३५ है। इसमें एक गाथा बढ़ जानेका कारण यह है कि गाथा नं० ७२९ दो बार आई है और उस पर दोनों बार क्रमसे ७२९–७३० नम्बर पड़ गया है। अतः जीवकाण्डकी गाथा संख्या ७३४ है।

जैसा इस भागके नामसे व्यक्त होता है इसमें जीवका कथन है। ग्रन्थकारने प्रथम गाथामें मंगलपूर्वक जीवका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथामें उन बीस प्ररूपणाओंको गिनाया है जिन बीस अधिकारोंके द्वारा जीवका कथन इस ग्रन्थमें किया गया है। वे बीस प्ररूपणाएँ हैं—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग। इन्हीं बीस प्ररूपणाओंका कथन पञ्चसंग्रहके जीव समास नामक अधिकारमें किया गया है। उसीका विस्तारसे प्रतिपादन जीवकाण्डमें है। जीवसमास प्रकरणकी २१६ गाथाओंमेंसे अधिकांश गाथाएँ जीवकाण्डमें ज्योंकी त्यों ले ली गई हैं।

गोमट्टसार एक संग्रह ग्रंथ है, यह बात कर्मकाण्डकी गाथा नं० ९६५में आये हुए 'गोम्मटसंग्रह सुत्त' नामसे स्पष्ट है। जीवकाण्डका संकलन मुख्यरूपसे पञ्चसंग्रहके

जीव समास अधिकार तथा षट्खण्डागमके प्रथम खण्ड जीवट्ठाणके सत्प्ररूपणा और द्रव्यपरिमाणानुगम नामक अधिकारोंकी धवलाटीकाके आधार पर किया गया है।

यह पहले लिख आये हैं कि धवलामें दि० पञ्चसंग्रहकी बहुत-सी गाथाएँ उद्धृत हैं और क्वचित् किन्हीं गाथाओंमें शाब्दिक अन्तर भी है। किन्तु जीवकाण्डमें संकलित इस प्रकारकी गाथाओंका पाठ धवलासे मिलता है, पञ्चसंग्रहसे नहीं। अतः जीवकाण्डके संकलनमें धवलाकी मुख्यता जाननी चाहिये।

पंचसंग्रहसे जीवकाण्डमें जो विशेषता है उसका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

पञ्चसंग्रहमें ३० गाथाओंसे गुणस्थानोंका कथन है किन्तु जी०का०में ६८ गाथाओंमें कथन है। उसमें बीस प्ररूपणाओंका परस्परमें अन्तर्भावका कथन तथा प्रमादोंके भंगोंका कथन पञ्चसंग्रहसे विशेष है। पं०सं०में जीवसमासका कथन केवल ग्यारह गाथाओं में है किन्तु जी०का०में ४८ गाथाओंमें है। उसमें स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना, और कुलोंके द्वारा जीवसमासका कथन विस्तारसे किया है। यह सब कथन पं०सं०में नहीं है। तथा पं०सं०के इस प्रकरणकी केवल एक गाथा जी०का०में है शेष सब कथन स्वतन्त्र है।

पर्याप्तिका कथन पं०सं०में दो गाथाओंमें हैं और जी०का०में ११ गाथाओंमें। पं०सं०की दोनों गाथाएँ जी०का०में है। प्राणोंका कथन पं०सं०में ६ गाथाओंमें है और जी०का०में ५ गाथाओंमें। इसमें पं०सं०की केवल दो गाथाएँ ली गई हैं। संज्ञाओंकी पांचों गाथाएँ जी०का०में ले ली है केवल स्वामियोंका[1] कथन जी०का०में विशेष है।

जी० का० के मार्गणाओंके कथनमें एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें मार्गणाओंमें जीवोंकी संख्याका कथन भी किया गया है। यह कथन दि० पं० सं० में नहीं है।

इन्द्रियमार्गणाके कथनमें पं० सं० में एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवोंको बतलाया है ये जीव एकेन्द्रिय हैं ये द्वीन्द्रिय हैं। जी० का० में इसे छोड़ दिया है और प्रत्येक इन्द्रियके विषयका तथा इन्द्रियोंमें लगे हुए आत्मप्रदेशोंका कथन विस्तारसे किया है, यह कथन पं० सं० में नहीं है।

कायमार्गणाके कथनमें जी० का० में पं० सं० से कई बातें विशिष्ट हैं। जैसे त्रसोंका वासस्थान, निगोदिया जीवोंसे अप्रतिष्ठित शरीर और स्थावर जीवोंके शरीरका आकार। योगमार्गणामें भी इसी तरह कई विशिष्ट कथन हैं।

कषायमार्गणाके कथनमें जी० का० में शक्ति, लेश्या और आयुबन्धाबन्धकी

---

१. गा० १३९–जी० का०।

अपेक्षा कषायके भेदोंका कथन किया गया है जो पं० सं० में नहीं है। और जी० का० में ज्ञानमार्गणाका कथन तो बेजोड़ है। श्रुतज्ञानके बीस भेद जो उसमें बतलाये हैं उनका कथन षट्खण्डागमके वेदनाखण्ड और उसकी धवलासे लिया गया है। यह कथन श्वेताम्बर साहित्यमें भी नहीं मिलता। इसी तरह अवधिज्ञानके भेदोंका कथन भी बहुत विस्तृत है। ज्ञानमार्गणाकी गाथा संख्या १६६ है। पं० सं० में केवल १० गाथाएँ इस प्रकरणमें हैं।

इसी तरह जी० का० में लेश्यामार्गणा भी बहुत विस्तृत है और लेश्याओंका कथन बहुत विस्तारसे किया है। सम्यक्त्वमार्गणामें सम्यक्त्वके भेदोंका तथा उनके सम्बन्धसे छै द्रव्यों और नौ पदार्थोंका कथन बहुत विस्तृत है। इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायका तो सभी आवश्यक कथन संगृहीत कर दिया गया है। उसके अतिरिक्त भी बहुत सा कथन संगृहीत किया गया है।

इस तरह जीवकाण्डमें 'गागरमें सागर' की कहावत चरितार्थ की गई है। उसका संकलन बहुत ही व्यवस्थित, सन्तुलित और परिपूर्ण है। इसीसे दिगम्बर साहित्यमें उसका विशिष्ट स्थान रहा है। उसीके कारण पंचसंग्रह और जीवस्थानके ओझल हो जानेपर भी उनका अभाव नहीं खटका और लोग एक तरहसे उन्हे भूल ही गये।

कर्मकाण्ड

गोम्मटसारके दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है। इसके दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। रायचन्द शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित संस्करणमें मूल तथा हिन्दी टीका है। और हरिभाईदेवकरण शास्त्रमालासे प्रकाशित संस्करणमें मूलके साथ संस्कृत टीका और उस संस्कृत टीकाके आधारपर ढुंढारी भाषामें लिखी हुई टीका दी गई है। उसकी गाथासंख्या ९७२ है। उसमें नौ अधिकार हैं—१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. बन्धोदयसत्त्व, ३. सत्त्वस्थानभंग, ४. त्रिचूलिका, ५. स्थानसमुत्कीर्तन, ६. प्रत्यय, ७. भावचूलिका, ८. त्रिकरणचूलिका और ९. कर्मस्थितिरचना।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन

इसका अर्थ होता है आठों कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोंका कथन जिसमें हो। यतः कर्मकाण्डमें कर्मों और उनकी विविध अवस्थाओंका कथन है अतः पहले अधिकारमें यह बतलाते हुए कि जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है कर्मोके आठ भेदोंके नाम, उनका कार्य, उनका क्रम, उनकी उत्तरप्रकृतियोंमेंसे कुछ विशेष प्रकृतियोंका स्वरूप, बन्धप्रकृतियों, उदयप्रकृतियों और सत्वप्रकृतियोंकी संख्यामें अन्तरका कारण, देशघाती, सर्वघाती, पुण्य और पापप्रकृतियाँ, पुद्गलविपाकी,

क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ, कर्ममें निक्षेपयोजना आदिका कथन ८६ गाथाओंमें किया गया है।

इस अधिकारकी गा० २२ में कर्मोके उत्तरभेदोंकी संख्या दी है किन्तु आगे उन भेदोंको न बतलाकर उनमेंसे कुछ भेदोंके सम्बन्धमें विशेष बातें बतला दी हैं। जैसे दर्शनावरणीयकर्मके नौ भेदोंमेंसे पाँच निद्राओंका स्वरूप गा० २३-२४-२५ द्वारा बतलाया है। फिर गाथा २६ में मोहनीयकर्मके एक भेद मिथ्यात्वके तीन भाग कैसे होते हैं, यह बतलाया है। फिर गाथा २७ में नामकर्मके भेदोंमेंसे शरीरनामकर्मके पाँच भेदोंके संयोगी भेद बतलाये हैं। गा० २८ में अंगोपांग बतलाये हैं। गा० २९, ३०, ३१, ३२ में किस संहननवाला जीव मरकर किस नरक और किस स्वर्ग तक जन्म लेता है, यह कथन किया है। गाथा ३३ में बतलाया है कि उष्णनामकर्म और आतपनामकर्मका उदय किसके होता है। इस प्रकार आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंको बतलाये बिना उनमेंसे किन्हीं प्रकृतियोंके सम्बन्धमें कुछ विशेष कथन करनेसे ग्रन्थ अधूरा सा प्रतीत होता है। कुछ[1] वर्षों पहले इस प्रश्नको पं० परमानन्दजीने उठाया था। और फिर यह भी प्रकट[2] किया था कि कर्मप्रकृति नामक एक ग्रन्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत मिला है। उसपरसे कर्मकाण्डका अधूरापन दूर हो जाता है। इस कर्मप्रकृतिकी १५९ गाथाओंमेंसे ७५ गाथाएँ ऐसी हैं जो उक्त कर्मकाण्डमें नहीं पाई जातीं और जिन्हें यथास्थान जोड़ देनेसे कर्मकाण्डका सारा अधूरापन दूर होकर सबकुछ सुसम्बद्ध हो जाता है। पं० परमानन्दजीने उन छूटी हुई ७५ गाथाओंको भी अपने उस लेखमें दिया था और यथास्थान उनकी योजना भी की थी। किन्तु प्रो० हीरालालजी[3] आदि कतिपय विद्वानोंने पं० परमानन्दजीकी योजना तथा उनके मन्तव्यको स्वीकृत नहीं किया। उनका कहना था कि कर्मकाण्ड अपनेमें पूर्ण है उसमें अधूरापन नहीं है।

पं० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'पुरातन जैन वाक्य सूची' की अपनी प्रस्तावना[4]में उक्त चर्चाका विवरण देते हुए 'पं० परमानन्दजीके इस मन्तव्यसे अपनी असहमति प्रकट की है कि कर्मप्रकृतिकी ७५ गाथाएँ कर्मकाण्डकी अंगभूत हैं।

---

१. देखो—अनेकान्त वर्ष ३, कि० ४, पृ० ३०१।

२. अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ८-९ में 'गोम्मटसारकी त्रुटिपूर्ति' शीर्षक लेख।

३. अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ११ में 'गोमटसार कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति पर विचार' शीर्षक लेख।

४. पृ० ७४ आदि।

और किसी समय लेखकोंकी कृपासे कर्मकाण्डसे छूट गई या उससे जुदा पड़ गई हैं। अतः उन्हें कर्मकाण्डमें शामिल करके त्रुटिकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

उन्होंने लिखा है कि कर्मप्रकृति प्रकरण और प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार इन दोनोंको एक कैसे समझ लिया गया है जिसके आधारपर एकमें जो गाथाएँ अधिक हैं उन्हें दूसरेमें भी शामिल करनेका प्रस्ताव रक्खा है। जबकि कर्मप्रकृतिमें प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारसे ७५ गाथाएँ अधिक ही नहीं, बल्कि उसकी ३५ गाथाएँ (नं० ५२ से ८६ तक) कम भी हैं जिन्हें कर्मप्रकृतिमें शामिल करनेके लिये नहीं कहा गया। और इसी तरह २३ गाथाएँ कर्मकाण्डके द्वितीय अधिकार-की (गा० १२७ से १४५, १६३, १८०, १८१, १८४) तथा ग्यारह गाथाएँ छठे अधिकारकी (८०० से ८१० तक) भी उसमें और अधिक पाई जाती हैं परन्तु प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें उन्हें शामिल करनेका सुझाव नहीं रक्खा गया। दोनोंके एक होनेकी दृष्टिसे यदि एककी कमीको दूसरे से पूरा किया जाये और इस तरह प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारकी उक्त ३५ गाथाओंको कर्मप्रकृतिमें शामिल करानेके साथ कर्मप्रकृतिकी उक्त (२३ + ११) ३४ गाथाओंको भी प्रकृति समुत्कीर्तनमें शामिल करानेके लिये कहा जाये तो × × × यह प्रस्ताव बिल्कुल असंगत होगा क्योंकि वे गाथाएँ प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके साथ किसी तरह ही संगत नहीं हैं।''''वास्तवमें ये गाथाएँ प्रकृति समुत्कीर्तनसे नहीं, किन्तु स्थितिबन्धादिकसे सम्बन्ध रखती हैं।'

अतः कर्मप्रकृति एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही ठहरता है जिसमें प्रकृति समुत्कीर्तनको ही नहीं, किन्तु प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कथनोंको भी अपनी रुचिके अनुसार संकलित किया गया है और उसका संकलन गोम्मटसारके निर्माण-के बाद किसी समय हुआ जान पड़ता है। मुख्तारसाहबका यह निष्कर्ष उचित है। इसीसे उसको यहाँ उद्धृत कर दिया है। किन्तु इस तरह कर्मप्रकृतिके एक स्वतंत्र ग्रन्थ मान लिये जानेपर भी कर्मकाण्डके प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके गा० २२ से ३३ तकमें जो असंबद्धता और अपूर्णता प्रतीत होनेका प्रश्न है वह तो खड़ा ही रहता है। उसके सम्बन्धमें भी हमें मुख्तारसाहबका सुझाव मान्य प्रतीत होता है।

जिन दिनों कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिकी चर्चा चल रही थी तब स्व० पं० लोक-नाथजी शास्त्रीने मूडबिद्रीके सिद्धान्तमन्दिरके शास्त्र भण्डारमें, जहाँ धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंकी मूलप्रतियाँ मौजूद हैं, गोम्मटसारकी खोज की थी और अपने खोजके परिणामसे मुख्तारसाहबको सूचित किया था। उन्होंने सूचित किया था कि उक्त शास्त्र भण्डारमें गोम्मटसारके जीवकाण्डकी मूलप्रति त्रिलोकसार और लब्धिसार क्षपणासार सहित ताड़पत्रोंपर मौजूद है। पत्र संख्या जीवकाण्डकी

३८, कर्मकाण्डकी ५३, त्रिलोकसारकी ५१ और लब्धिसार-क्षपणासारकी ४१ है। ये सब ग्रन्थ पूर्ण है। और उनकी पद्यसंख्या क्रमशः ७३०, ८७३, १०१८ और ८२० है। ताड़पत्रोंकी लम्बाई दो फुट दो इंच और चौड़ाई दो इंच है। लिपि प्राचीन कन्नड़ है।

ये तो हुआ प्रतियोंके सम्बन्धमें। प्रकृत चर्चाके सम्बन्धमें शास्त्रीजीने लिखा था—कि कर्मकाण्डमें विवादस्थ स्थल प्रतिमें सूत्र रूपमें है। और मुख्तारसाहबको उसका विवरण भी भेजा था। मुख्तारसाहबने पुरातन वाक्यसूचीकी अपनी प्रस्तावनामें उस विवरणके आधारपर जो कुछ लिखा है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं—

'कर्मकाण्डकी २२वीं गाथामें ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियोंकी उत्तर कर्मप्रकृतियोंकी संख्याका ही क्रमशः निर्देश है—उत्तरप्रकृतियोंके नामादि नहीं दिये। २३वीं गाथामें क्रम प्राप्त ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतियोंका कोई उल्लेख न करके दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंमेंसे स्त्यानगृद्धि आदि पाँच प्रकृतियोंके कार्यका निर्देश करना प्रारम्भ कर दिया है। इन २२ और २३ गाथाओंके बीचमें निम्न गद्यसूत्र पाये जाते हैं जिनमें ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मोंकी उत्तर-प्रकृतियोंका स्पष्ट उल्लेख हैं और जिनसे दोनों गाथाओंका सम्बन्ध ठीक जुड़ जाता है।—

'णाणावरणीयं दसंणावरणीयं वेदणीयं (मोहणीयं) आउगं णामं गोदं अंतरायं चेइ। तत्थ णाणावरणीयं पंचविहं आभिणिबोहिय-सुद-ओहि-मणपज्जवणाणावरणीयं केवलणाणावरणीयं चेइ। दंसणावरणीयं णवविहं थीणगिद्धि, णिद्दाणिद्दा, पयलापयला, णिद्दा य पयला य चक्खु-अचक्खु-ओहि दंसणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं चेइ।'

२५वीं गाथामें दर्शनावरणीय कर्मकी नौ प्रकृतियोंमेंसे प्रचला प्रकृतिके कार्यका निर्देश है। इसके बाद क्रमप्राप्त वेदनीय तथा मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंका कोई निर्देश न करके २६वीं गाथामें एकदम यह प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्वका द्रव्य तीन भागोंमें बँटकर कैसे तीन प्रकृति रूप हो जाता है। मूड़बिद्रीकी उक्त प्राचीन प्रतिमें दोनों उक्त गाथाओंके मध्यमें निम्न गद्यसूत्र हैं जिनसे उक्त त्रुटि अंशकी पूर्ति हो जाती है—

'वेदनीयं दुविहं सादावेदणीयमसादावेदणीयं चेइ। मोहणीयं दुविहं दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चेइ। दंसणमोहणीयं बंधादो एयविहं मिच्छत्तं, उदयं संतं पडुच्च तिविहं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं सम्मत्तं चेइ।'

२६वीं गाथाके बाद चारित्र मोहनीयकी मूलोत्तर प्रकृतियों, आयुकर्मकी प्रकृ-

तियों और नामकर्मकी प्रकृतियोंका कोई नामनिर्देश न करके २७वीं गाथामें एकदम १५ संयोगी भेदोंको गिनाया है जो नामकर्मकी शरीरबन्धन प्रकृतियोंसे सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु वह कर्म कौन-सा है और उसकी किन-किन प्रकृतियोंके ये संयोगी भेद हैं यह सब ज्ञान नहीं होता। मूड़बिद्रीकी उक्त प्रतिमें निम्न गद्य सूत्र उक्त दोनों गाथाओंके बीचमें पाये जाते हैं। जिनसे कथनकी संगति बैठ जाती है क्योंकि उनमें चारित्र मोहनीयकी २८, आयुकी ४ और नामकर्मकी ४२ पिण्ड प्रकृतियोंका नामोल्लेख करनेके अनन्तर नामकर्मके जाति आदि भेदोंकी उत्तर प्रकृतियोंका उल्लेख करते हुए शरीर बन्धन नामकर्मकी पाँच प्रकृतियों तक ही कथन किया गया है, इससे गाथा नं० २७ के साथ उसकी संगति बिल्कुल ठीक बैठती है—

"चारित्त मोहणीयं दुविहं कसायवेदणीयं णोकसायवेदणीयं चेइ। कसायवेदणीयं सोलसविहं खवणं पडुच्च अणंताणुबंधि कोह-माण-माया-लोहं अपच्चक्खाण पच्चक्खाणावरण कोह-माण-माया-लोहं कोहसंजलणं माणसंजलणं मायासंजलणं लोहसंजलणं चेइ। [1]पक्कमदव्वं पडुच्च अणंताणुबंधि-लोह-कोह-माया-माणं संजलणं लोह-माया-कोह-माणं पच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माणं अपच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माणं चेइ। णोकसाय वेदणीयं णवविहं पुरसित्थिणउंसयवेदं रदि-अरदि-हस्स-सोग-भय-दुगुंच्छा चेदि। आउगं चउविहं णिरयाउगं तिरिक्ख-माणुस्स-देवाउगं चेदि। णामं वादालीसं पिंडापिंडपयडिभेयेण गयि-जायि-सरीर-बंधण-संघाद-संठाण-अंगोवंग-संघडण-वण्ण-गंध-रस-फास-आणुपुव्वी - अगुरुलहुगुवघाद - परघाद-उस्सास-आदाव-उज्जोद - विहायगयि-तस-थावर-वादर-सुहुम—पज्जत्तापज्जत्त-पत्तेय-साहारणसरीर-थिराथिर-सुभासुभ-सुभग-दुब्भग-सुस्सर-दुस्सर-आदेज्जाणादेज्ज-जसाजसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणामं चेदि। तत्थ गयिणामं चउव्विहं णिरयतिरिक्खगयिणामं मणुसदेवगयिणामं चेदि। जायिणामं पंचविहं एइंदिय-विइंदिय-तीइंदिय-चउइंदियजायिणामं पंचिदिय जायिणामं चेदि। सरीरणामं पंचविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइयसरीरणामं चेइ। सरीरबंधणणामं पंचविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइय-सरीरबंधणणामं चेइ।

---

१. गो० कर्मकाण्डकी संस्कृत टीकामें इन सूत्रोंका अक्षरशः संस्कृत रूपान्तर मिलता है। उससे मिलान करनेसे तथा सैद्धान्तिक दृष्टिसे भी सूत्रका पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। टीकाका संस्कृत पाठ इस प्रकार है—'प्रक्रमद्रव्यं विभंजनद्रव्यं प्रतीत्य अनन्तानुबंधि लोभ माया क्रोध मानं संज्वलनलोभ-माया क्रोधमानं प्रत्याख्यानलोभमायाक्रोधमानं अप्रत्याख्यानलोभमाया क्रोध-मानं चेति।'

सूत्रके अन्तमें आगत शरीरबन्धन नामकर्मके पाँच भेदोंके १५ संयोगी भेद गाथा २७में बतलाये हैं। गाथा २८में शरीरके आठ अंग बतलाये हैं। मूडबिद्री-की प्राचीन प्रतिमें गा० २७ और २८के बीचमें नीचे लिखे गद्य सूत्र हैं—

'शरीरसंघादणामं पंचविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइयशरीर-संघाद णामं चेदि। शरीरसंठाणणामकम्मं छव्विहं समचउरसंठाणणामं णग्गोद-परिमंडल-सादिय-कुज्ज-वामण-हुंडशरीरसंठाणणामं चेदि। सरीरअंगोवंगणामं तिविहं ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-सरीरअंगोवंग णामं चेदि।

२८वीं गाथाके बाद नीचे लिखा गद्य सूत्र है—

'संहडणणामं छव्विहं वज्जरिसहणारायसंहडणणामं वज्जणाराय-णाराय-अद्धणाराय-खीलिय-असंपत्तसेवट्ठिशरीरसंहडणणामं चेइ।'

२८वीं गाथाके अनन्तर चार गाथाओंमें छै संहननोंका कथन है। जिनमेंसे प्रथम तीन गाथाओंमें यह बतलाया है कि किस संहनन वाला जीव मरकर किस स्वर्ग तक अथवा किस नरक तक जन्म लेता है। और चौथी गाथामें बतलाया है कि कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहननोंका ही उदय होता है।

उक्त सूत्रके साथ इन गाथाओंकी संगति बैठ जाती है।

गाथा ३२के बाद नीचे लिखे गद्यसूत्र मूडबिद्री की प्रति में हैं—

'वण्णनामं पंचविहं किण्ण-नील-रुहिर-पीद-सुक्किलवण्णणामं चेदि। गंधणामं-दुविहं सुगंध-दुगंध णामं चेदि। रसणामं पंचविहं तिट्ठ-कडु-कसायंविल-महुर-रस-णामं चेइ। फासणामं अट्ठविहं कक्कड-मउगगुरुलहुग-रुक्ख-सणिद्ध-सीदुसुण-फास-णामं चेदि। आणुपुव्वी णामं चउव्विहं णिरय-तिरक्खगाय-पाओग्गाणुपुव्वीणामं मणुस-देवगयि-पाओग्गाणुपुव्वी-णामं चेइ। अगुरुलघुग-उवघाद-परघाद-उस्सास-आदव-उज्जोद-णाम चेदि। विहायगदिणाम कम्मं दुविहं पसत्थविहायगदिणामं अप्पसत्थ-विहायगदिणामं चेदि। तस-वादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्ज-जसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणामं चेदि। थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारणसरीर-अथिर-असुह-दुब्भग-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसकित्ति णामं चेदि।

इसके पश्चात् गाथा ३३ है जिसमें उष्ण नामकर्म और आतप नामकर्ममें अन्तर स्पष्ट किया है। गाथा ३३ के साथ नामकर्मकी प्रकृतियोंकी गणना समाप्त हो जाती है। ३३ गाथाके पश्चात् नीचे लिखे सूत्र हैं। जिनमें गोत्रकर्म और अन्तराय कर्मकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं—

'गोदकम्मं दुविहं उच्चणीचगोदं चेइ। अंतरायं पंचविहं दाण-लाभ-भोगोप-भोग-वीरिय-अंतरायं चेइ।

मूडविद्रीके प्रतिमें पाये जाने वाले इन सूत्रोंको यथास्थान रख देनेसे कर्म-काण्ड गा० २२ से ३३ तकमें जो असम्बद्धता प्रतीत होती है वह दूर हो जाती है और सब गाथाएँ सुसंगत प्रतीत होने लगती हैं।

दि० प्रा० पञ्चसंग्रहके दूसरे अधिकारका नाम भी प्रकृति समुत्कीर्तन है। उसके प्रारम्भमें चार गाथाएँ हैं। पहली मंगल गाथाको छोड़कर शेष तीनों गाथाएँ कर्मकाण्डमें २०, २१, २२ नम्बरको लिये हुए विराजमान हैं। २२वीं गाथामें आचार्य नेमिचन्द्रने थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। नाम कर्मकी ९३ या १०३ प्रकृतियां लिखकर उन्होंने कर्म प्रकृतिमें निर्दिष्ट १५८ कर्म प्रकृतियोंकी मान्यताका भी संग्रह किया है।

पञ्चसंग्रहमें आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंकी संख्या बतलाने वाली गाथाके पश्चात् प्रकृतियोंके नामादिका कथन गद्य सूत्रों द्वारा ही किया गया है। उसी पद्धतिका अनुसरण नेमिचन्द्राचार्यने भी किया था, ऐसा मूडविद्रीकी कर्मकाण्डकी प्रतिसे प्रतीत होता है। पञ्चसंग्रहमें गद्य सूत्रोंके द्वारा क्रमसे सब प्रकृतियोंका निर्देश किया है। कर्मकाण्डमें बीच बीचमें गाथासूत्र देकर प्रकृतियोंके सम्बन्धमें आवश्यक उपयोगी कथनोंका भी संग्रह किया गया है।

जीव स्थानकी चूलिकाके अन्तर्गत भी प्रकृति समुत्कीर्तन नामक अधिकार है। पञ्चसंग्रहका प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार उसीकी उपज है। और इन्हींकी उपज कर्मकाण्डका प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार है। उसमें जो गद्यसूत्र हैं वे उक्त ग्रन्थोंके अन्तर्गत गद्यसूत्रोंका ही संक्षिप्त रूप है। उनमें जो कहीं अन्तर किया गया है वह कर्मकाण्डकी दृष्टिसे ही किया गया है।

उल्लेखनीय अन्तर दर्शनावरणीय कर्मकी प्रकृतियोंके क्रममें है। जी० स्था० चूलिका तथा पञ्चसंग्रहमें निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला यह पाँच निद्राओंका क्रम है और कर्मकाण्डगत गद्य सूत्रमें, जो कि मूडविद्रीकी प्राचीन प्रतिमें उपलब्ध हैं—स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, निद्रा और प्रचला यह क्रम है। उक्त क्रमको बदलनेका कारण यह है कि कर्मकाण्डमें प्रदेश-बन्धके कथनमें समय प्रबद्धका विभाग आठों मूलकर्मोंमें तथा उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें बतलाया है। दर्शनावरणीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंमें जिस क्रमसे बँटवारा होता है वही क्रम कर्मकाण्डके गद्यसूत्रमें अपनाया गया है। यह बात चारित्र मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंको बतलाने वाले गद्यसूत्रोंसे समर्थित होती है। मूडविद्री-वाली प्रतिसे ऊपर चारित्रमोहनीय सम्बन्धी जो गद्यसूत्र दिये गये हैं उनमें कषाय-वेदनीयके सोलह भेदोंको दो अपेक्षाओंसे गिनाया गया है—एक क्षपणकी अपेक्षा से और एक प्रक्रम द्रव्यकी अपेक्षासे। प्रक्रम द्रव्यका अर्थ पं० टोडरमलजी ने

अपनी टीकामें किया है—'बहुरि प्रदेश बन्धविषैं परमाणूनिका बँटवारा है ताकी अपेक्षा कहिये।' क्षपणाकी अपेक्षा तो जो प्रसिद्ध क्रम है वही है किन्तु बँटवारेकी अपेक्षा क्रम भिन्न है जैसा कि सूत्रमें बतलाया है।

अतः मूडविडीकी प्रतिमें वर्तमान गद्यसूत्र अवश्य ही कर्मकाण्डके अंग हैं और वे नेमिचन्द्राचार्यकी कृति हैं। कर्मकाण्डकी मुद्रित संस्कृत टीकामें उन सूत्रोंका संस्कृत रूपान्तर अक्षरशः पाया जाना भी उसकी पुष्टि करता है। उन सूत्रोंको यथा स्थान रखनेसे कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति हो जाती है।

२. बन्धोदय सत्त्वाधिकार

इस अधिकारमें कर्मोंके बन्ध उदय और सत्त्वका कथन है। दि० प्रा० पञ्चसंग्रहमें भी इस नामका तीसरा अधिकार है जो कर्मस्तवका ऋणी है। उसकी प्रथम गाथाका उत्तरार्ध है—'बंधुदयसंतजुयं वोच्छामि थयं णिसामेह।' नेमिचन्द्राचार्यने अपने कथनके अनुरूप उसमें परिवर्तन करके उसे इस प्रकार रखा है—'बंधुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थयं वोच्छं।' कर्मस्तव या पञ्चसंग्रहमें स्तवका अर्थ नहीं किया। किन्तु कर्मकाण्डके इस अधिकारकी दूसरी गाथा[1]में उसका अर्थ कहा है—'जिसमें सकल अंगोंका विस्तार या संक्षेपसे कथन हो उस शास्त्रको स्तव कहते हैं। जिसमें एक अंगका विस्तार वा संक्षेपसे कथन हो उसे स्तुति कहते है और जिसमें एक अंगके अधिकारका कथन विस्तार या संक्षेपसे हो उसे धर्मकथा कहते हैं'। यह लक्षण धवलाके आधार पर रचित है। वेदना खण्डके कृति अनुयोग द्वारके सूत्र ५५में 'थय-थुदि-धम्म कहा' आया है। धवला[2]में उसके लक्षण कहे है। उसीपरसे नेमिचन्द्राचार्यने एक गाथाके द्वारा तीनों लक्षणोंको कहा है।

स्तवके लक्षणके अनुसार कर्मकाण्डके इस दूसरे अधिकारमें कर्मोंके बन्ध, उदय सत्त्वका गुणस्थान और मार्गणाओंमें सर्वांगपूर्ण कथन दिया गया है। ऐसा समझना चाहिये।

सबसे प्रथम बन्धका कथन करते हुए बन्धके चारों भेदोंका-प्रकृतिबन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका, क्रमशः कथन किया गया है। प्रकृति-

---

१. 'सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं। वण्णणसत्थं थयथुइ-धम्मकहा होइ णियमेण ॥८८॥—क० का०।

२. बारसंगसंघारो सयलंगविसयप्पणादो थवो णाम।....बारसंगेसु एक्कंगोवसंघारो थुदोणाम।....एक्कंगस्स एगाहियारोवसंहारो धम्मकहा।'

—षट्खं०, पु० ९, पृ० २६३।

बन्धका कथन करते हुए प्रथम यह बतलाया है कि किन २ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध किस किस गुणस्थान तक होता है, आगे नहीं होता। यह कथन पञ्चसंग्रहमें भी है। गुणस्थानोंमें आठों कर्मोंकी १२० बन्ध प्रकृतियोंके बन्ध, अबन्ध और बन्ध व्युच्छित्तिका कथन करनेके बाद चौदह मार्गणाओंमें वही कथन किया गया है। यह कथन पंचसंग्रहमें नहीं है। इसे नेमिचन्द्राचार्यने षट्खण्डागमके बन्ध स्वामित्व विचय नामक तीसरे खण्डसे लिया है।

प्रकृतिबन्धके पश्चात् स्थितिबन्धका कथन है। उसमें कर्मोंकी मूल तथा उत्तर-प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थितिबन्धका तथा उनके बन्धकोंका कथन किया है। पंचसंग्रहके चतुर्थ अधिकारमें जो स्थितिबन्धका कथन है उससे कर्मकाण्डके कथनमें कई विशेषताएँ हैं। कर्मकाण्ड[1]में एकेन्द्रियादि जीवोंके होनेवाले स्थिति-बन्धका भी कथन किया है, जो जीवस्थानकी जघन्यस्थिति चूलिकाकी धवला-टीका[2]का ऋणी है। अन्तमें कर्मोंकी आबाधाका कथन है।

तत्पश्चात् अनुभागबन्धका और फिर प्रदेशबन्धका कथन है। ये कथन पञ्च-संग्रहके ऋणी हैं। किन्तु कुछ कथन उससे विशेष भी हैं। प्रदेशबन्धका कथन करते हुए पं० सं० में तो समयप्रबद्धका विभाग केवल मूलकर्मोंमें ही बतलाया है किन्तु कर्मकाण्डमें उत्तरप्रकृतियोंमें भी विभागका कथन किया है। तथा कर्मकाण्ड-में प्रदेशबन्धके कारणभूत योगके भेदों और अवयवोंका भी कथन है। यह कथन पंचसंग्रहमें नहीं है, धवला और जयधवलामें है। इस बन्धप्रकरणमें पञ्चसंग्रहकी कई गाथाएँ ज्योंकी त्यों संगृहीत हैं। उदयप्रकरणमें कर्मोंके उदय और उदीरणका कथन गुणस्थान और मार्गणाओंमें हैं अर्थात् प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणामें प्रकृतियोंके उदय, अनुदय और उदय व्युच्छित्तिका कथन है। सत्त्व प्रकरणमें गुणस्थान और मार्गणाओंमें प्रकृतियोंकी सत्ता, असत्ता और सत्त्व व्युच्छितिका कथन है। मार्गणाओंमें बन्ध उदय और सत्त्व का कथन अन्यत्र नहीं मिलता। नेमिचन्द्राचार्यने प्राप्त उल्लेखोंके आधारपर उसे स्वयं फलित करके लिखा है। यह बात उदय और सत्त्वकी अन्तिम [3]गाथाके द्वारा ग्रन्थकार नेमिचन्द्रने स्वयं भी कही है।

३. सत्त्व स्थान भंग

पिछले प्रकरणमें कहे गये सत्त्व स्थानका भंगोंके साथ कथन इस प्रकरणमें

---

१. गा० १४४-१४५। २—षट्खं० पु० ६, पृ० १८४ तथा १९५।

३. 'कम्मेवाणाहारे पयडीणं उदयमेवमादेसे। कहियमिणं बलमाहवचंदच्चियणेमिचंदेण ॥३३२॥ कम्मेवाणाहारे पयडीणं सत्तमेवमादेसे। कहियमिणं बलमाहवचंदच्चियणेमिचंदेण ॥३५६॥—क० का०।

है। प्रत्येक गुणस्थानमें प्रकृतियोंका सत्त्व स्थान कितने प्रकारसे संभव है, और उसके साथ जीव किस आयुको भोगता है और परभवकी किस २ आयुको बांधता है। यह सब कथन इस प्रकरणमें है।

इसी प्रकरणके अन्तमें ग्रन्थकारने यह कहा[1] है कि इन्द्रनन्दि गुरुके पासमें श्रवण करके कनकनन्दिने सत्त्व स्थानका कथन किया। कनकनन्दिके 'विस्तरसत्त्व त्रिभंगी' नामक ग्रन्थका परिचय पीछे करा आये हैं। उसे नेमिचन्द्राचार्यने अपने इस प्रकरणमें प्रायः ज्योंका त्यों अपना लिया है। आराकी प्रतिमें गाथा सं० ४८ हैं और कर्मकाण्डके मुद्रित संस्करणोंमें इस प्रकरणकी गाथा संख्या ३५८ से ३९७ तक ४० है। अतः केवल ८ गाथाएँ छोड़ दी गई हैं और उनमें क्रमभेद भी किया गया है। जिस गाथा ३९७ में चक्रवर्तीकी तरह सिद्धान्तके छः खण्डोंको अपनी बुद्धिसे साधनेकी बात कही गई है वह गाथा भी कनकनन्दिके विस्तार सत्त्व त्रिभंगीकी है। अतः नेमिचन्दकी तरह कनकनन्दि भी सिद्धान्त चक्रवर्ती थे।

४. त्रिचूलिका अधिकार

इस अधिकारमें तीन चूलिकाएँ हैं—नव प्रश्न चूलिका, पंचभागहार चूलिका और दशकरण चूलिका। जैसे जीवस्थानके विषम स्थलोंके विवरणके लिये उसके अन्तमें चूलिका नामक एक भाग आता है वैसे ही कर्मकाण्डमें प्रतिपादित पूर्वाधिकारोंके सम्बन्धमें विशेष कथन करनेके लिये यह अधिकार आया है। पहली नौ प्रश्न चूलिकामें नौ प्रश्नोंका समाधान किया गया हैं। वे नौ प्रश्न इस प्रकार हैं १. उदयव्युच्छित्तिके पहले बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती हैं। २. उदय व्युच्छित्तिके पीछे बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। ३. और उदय व्युच्छित्तिके साथ बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। ४. जिनका अपना उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं। ५. जिनका अन्य प्रकृतिका उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियां कौन सी हैं। ६. और जिनका अपना तथा अन्य प्रकृतिका उदय होनेपर बन्ध हो, वे प्रकृतियों कौनसी है। ७. जिनका निरन्तर बंध होता है ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं। ८. जिनका सान्तरबन्ध होता है अर्थात् कभी बन्ध होता है और कभी नहीं होता, वे प्रकृतियाँ कौनसी है ९. और जिनका निरन्तर बन्ध भी होता है और सान्तरबन्ध भी होता है वे प्रकृतियाँ कौनसी हैं ? इन नौ प्रश्नोंका उत्तर इस चूलिकामें दिया गया है। प्रा० पं० सं० के तीसरे अधिकारके अन्तमें नौ प्रश्न चूलिका आई हैं तथा षट्खण्डागम[2]के अन्तर्गत बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डकी

१. क० का०, गा० ४९६।
२. षट्खं० पु० ८, पृ० ७—१७।

धवलाके प्रारम्भमें ये नौ प्रश्न उठाकर उनका समाधान किया गया है और उसके समर्थनमें कुछ आर्ष गाथाएँ भी उद्धृत की गयी हैं। इन्हींके आधारसे यह नौ प्रश्न चूलिका लिया गया प्रतीत होता है।

पंच भाग हार चूलिकामें उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रम और सर्व-संक्रम इन पाँच भागहारोंका कथन है। इन भागहारोंके द्वारा जीवोंके शुभाशुभ-कर्म अपने परिणामोंके निमित्तसे अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं। जैसे शुभ परिणामोंका निमित्त पाकर बंधा हुआ असातावेदनीयकर्म सातावेदनीय रूप परि-णत हो जाता है। किस-किस कर्मप्रकृतिमें कौन-कौन भागहार सम्भव है और किस-किस भागहारके अन्तर्गत कौन-कौन प्रकृतियाँ हैं यह सब भी कथन किया गया है। साथ ही चूँकि पाँचो भागहार एक भाजक राशिके तुल्य हैं अतः उनका परस्परमें अल्पबहुत्व भी बतलाया गया है। यह सब कथन पञ्चसंग्रहमें नहीं है।

दशकरण चूलिका—इसमें बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपसम, निधत्ति और निकाचना इन दस करणोंका स्वरूप कहा गया गया है और बतलाया गया है कि कौन करण किस गुणस्थान तक होता है। करण नाम क्रिया का है—कर्मोंमें ये दस क्रियाएँ होती हैं। कर्मप्रकृतिमें इन करणों-का स्वरूप बहुत विस्तारसे वर्णित है। [1]जयधवलामें 'दसकरणी संग्रह' नामक एक ग्रन्थका निर्देश है उसमें भी, जैसा कि उसके नामसे प्रकट होता है, दस करणोंके कथनका संग्रह होना चाहिए।

५. बन्धोदय सत्त्व युक्त स्थान समुत्कीर्तन

एक जीवके एक समयमें जितनी प्रकृतियोंका बन्ध, उदय अथवा सत्त्व संभव है उनके समूहका नाम स्थान है। इस अधिकारमें पहले आठो मूलकर्मोंको लेकर और फिर प्रत्येक कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंको लेकर बन्धस्थानों, उदयस्थानों और सत्त्व स्थानोंका कथन किया गया है। जैसे मूलकर्मोंका कथन करते हुए कहा है कि तीसरे मिश्रगुणस्थानके सिवाय अप्रमत्त पर्यन्त छै गुणस्थानोंमें एक जीवके आयुकर्मके विना सातकर्मोंका अथवा आयु सहित आठ कर्मोंका बन्ध होता है, तीसरे, आठवें और नौवें, इन तीन गुणस्थानोंमें आयुके विना सात कर्मोंका ही बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयके सिवाय छै ही कर्मोंका बन्ध होता है। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है, और चौदहवें गुणस्थानमें एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता। अतः आठो कर्मोंके चार बन्धस्थान होते हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छै प्रकृतिक और एक प्रकृतिक।

१. ज०ध० प्रे०का०, पृ० ६६००।

इसी तरह दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मोंका उदय होता है, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयके विना सातकर्मोंका उदय होता है। तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें चार ही कर्मोंका उदय होता है। अतः आठों कर्मोंके तीन उदयस्थान होते हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

ग्यारहवें गुणस्थान तक आठों प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयके विना सात कर्मोंकी ही सत्ता रहती है और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें चार कर्मोंकी ही सत्ता रहती है। अतः आठों कर्मोंके तीन सत्त्वस्थान हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

इसी तरहका कथन प्रत्येक कर्मके विषयमें भी किया गया है। आठों कर्मोंमेंसे वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही प्रकृतिका बन्ध होता है और एकका ही उदय होता है। ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँचों प्रकृतियोंका एकसाथ वन्ध, उदय और सत्त्व होनेसे स्थान एक ही है। अतः इन पाँच कर्मोंको छोड़कर दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके बन्धस्थानों, उदयस्थानों और सत्त्वस्थानोंका कथन बहुत विस्तारसे किया गया है। प्रत्येकका कथन करनेके बाद त्रिसंयोगी भंगोंका कथन है अर्थात् वन्धमें उदय और सत्त्व, उदयमें बन्ध और सत्त्व और सत्त्वमें बन्ध और उदयका कथन किया गया है। फिर बन्धादिमेंसे दोको आधार और एकको आधेय बनाकर कथन किया गया है। प्रा०दि० पञ्चसंग्रहके अन्तर्गत शतक तथा सप्ततिका नामक अधिकारमें भी उक्त कथन है और कर्मकाण्डका उक्त कथन उसका ऋणी जान पड़ता है। कुछ गाथाएँ भी दोनोंमें मिलती हुई हैं।[1] कथनमें कुछ भेद भी है। जिसका कारण विवक्षा भेदके साथ मतभेद भी है, वह मतभेद परम्परामूलक है। इस प्रकरणमें आठों कर्मोंके विषयमें प्रसंगवश आगत कर्मविषयक और भी बहुत-सा ज्ञातव्य विषय है। यह अधिकार बहुत विस्तृत है इसकी गाथा संख्या ३३४ है।

६. प्रत्ययाधिकार

इस अधिकारमें कर्मबन्धके कारणोंका कथन है। मूल कारण चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। तथा इनके भेद क्रमसे ५, १२, २५, और १५ = कुल ५७ होते हैं। गुणस्थानोंमें इन्हीं मूल और उत्तर प्रत्ययोंका कथन इस अधिकार में किया गया है कि किस गुणस्थानमें बन्धके कितने प्रत्यय होते हैं। और उनके भङ्गोंका भी निर्देश किया है। प्रा० पंञ्चसंग्रहके शतका-

---

१. इस भेदको जाननेके लिए सप्ततिका प्रकरणका पं० फूलचन्द्रजी कृत अनुवाद (पृ० १०३) देखना चाहिए।

धिकारके प्रारम्भ में यह कथन बहुत विस्तारसे किया गया है[1]। यहाँ तो उसको बहुत संक्षिप्त कर दिया है।

इन प्रत्ययोंके पश्चात् कर्मकाण्डके इस अधिकारमें प्रत्येक कर्मके विशेष कारण ११ गाथाओं द्वारा बतलाये हैं। ये गाथाएँ वही हैं जो शतक प्रकरणमें वर्तमान हैं और दि० प्रा० पञ्चसंग्रहके शतक प्रकरणसे ली गई जान पड़ती हैं।

७. भावचूलिका

इस अधिकारमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, और पारिणामिक इन पाँच भावोंका तथा इनके भेदोंका कथन करके उनके स्वसंयोगी भंगोंका कथन गुणस्थानोंमें किया गया है।

उसके पश्चात् जैन परम्पराकी वह प्राचीन गाथा[2] दी गई है जिसमें कहा है कि क्रियावादियोंके १८०, अक्रियावादियोंके ८४, अज्ञानवादियोंके ६७ और वैनयिकोंके ३२ इस तरह ३६३ मिथ्यामत हैं।

उस गाथाको देकर आगे उन मतोंकी उपपत्ति दी है कि किस तरह क्रियावादी आदि मत १८० आदि होते है। श्वे-सूत्रकृतांगके प्रथम श्रुत स्कन्ध अध्ययन १२ में भी मतोंकी चर्चा मिलती है। और उसकी टीकामें शीलांकने उनकी उपपत्ति भी दी है किन्तु कर्मकाण्डकी उपपत्तिसे उसमें अन्तर है। तथा अमितगतिके संस्कृत पञ्चसंग्रहमें (पृ० ४१ आदि) भी उपपत्ति मिलती है जो कर्मकाण्डके ही अनुरूप है। अस्तु,

अन्तमें एक गाथाके द्वारा जो सन्मतितर्क (का० ३, गा० ४७) में भी वर्तमान है, कहा गया है कि 'जितने[3] बचनके मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय हैं। अर्थात् सब नयोंके समूहका नाम ही जैनदर्शन है।

८. त्रिकरणचूलिका

इस अधिकारमें अधःकरण और अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोंका स्वरूप कहा गया है। जीवकाण्डके प्रारम्भमें भी गुणस्थानोंके प्रकरणमें इन करणोंका स्वरूप कहा गया है और तीनों करणका स्वरूप बतलाने वाली

१. देखो—कर्मकाण्ड गा० ८००-८१० और शतक गा० १६-२६।

२. असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणां च आहु चुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीणं वेणयियाणं तु बत्तीसं ॥८७६॥

३. 'जावइया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥८९४॥—गो० क० का०।

गाथाएँ भी जीवकाण्डकी ही हैं। इस अधिकारकी विशेषता यह है कि इसमें पहले दोनों करणोंके स्वरूपको अंकसंदृष्टिके द्वारा समझाया गया है।

९. कर्मस्थितिरचना अधिकार

प्रतिसमय बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंका आठों कर्मोंमें विभजन होनेके पश्चात् प्रत्येक कर्मप्रकृतिको प्राप्त कर्मनिषेकोंकी रचना उसकी स्थितिके अनुसार आबाधाकालको छोड़कर हो जाती है अर्थात् बन्धको प्राप्त हुए वे कर्मपरमाणु उदयकाल आने पर खिरने प्रारम्भ हो जाते हैं और अन्तिम स्थिति पर्यन्त खिरते रहते हैं। उनकी रचनाको ही कर्मस्थिति रचना कहते हैं उसीका कथन इस अधिकारमें है। बन्धोदय सत्त्वाधिकार नामक दूसरे अधिकारके अन्तर्गत स्थितिबन्धाधिकारके अन्तमें भी यह कथन आया है। फलतः गाथा नं० ९१४ से ९२१ तक जो गाथाएँ हैं वे सब गाथाएँ उस अधिकारमें आचुकी है और वहाँ उसका नम्बर १५५ से १६२ तक है। किन्तु यहाँ वही कथन विस्तारसे किया है। अन्त में प्रशस्ति है।

संक्षेपमें यह कर्मकाण्डका परिचय है।

लब्धिसार-क्षपणासार

लब्धिसार—गोम्मटसारके अतिरिक्त श्रीनेमिचन्द्राचार्यकी दूसरी कृति लब्धिसार है। यह गाथा बद्ध है। इसके भी दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, एक रायचंद शास्त्र माला बम्बई से। इसमें मूल तथा पं० मनोहरलालजीके द्वारा रचित संक्षिप्त हिन्दी टीका है, जिसमें गाथाका अर्थमात्र दिया गया है। इसमें गाथाओंकी संख्या ६४९ है। दूसरा संस्करण हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालासे प्रकाशित हुआ है, शास्त्राकार है। इसमें लब्धिसार पर नेमिचन्द्र रचित संस्कृत टीका और पं० टोडरमलजी रचित ढुंढारी भाषाकी टीका है। तथा क्षपणासार पर केवल पं० टोडरमलजी रचित भाषा टीका ही है। इसकी गाथा संख्या ६५३ है। इस अन्तरका कारण यह है कि दूसरे संस्करणकी गाथा नं० १५६, १६७, २५४, ५३१ चार गाथाएँ पहले संस्करणमें नहीं है।

यह लब्धिसार क्षपणासार गोम्मटसारका ही उत्तर भाग समझना चाहिये। गोम्मटसारके जीवकाण्डमें जीवका और कर्मकाण्डमें जीवके द्वारा बाँधे जाने वाले कर्मोंका कथन है और इस लब्धिसारमें जीवके कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय तथा प्रक्रिया बतलाई गई है।

मोक्षकी पात्रता जीवमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर ही मानी जाती है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ही मोक्ष प्राप्त करता है। तथा सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् सम्यक् चारित्रका भी होना जरूरी है। अतः सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी

लब्धि अर्थात् प्राप्तिका कथन होनेसे ग्रन्थका नाम लब्धिसार[1] रखा गया है। इसकी प्रथम गाथामें पंच परमेष्ठीको नमस्कार करके सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र लब्धिको कहनेकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कथन है। उसकी प्राप्ति पाँच लब्धियों-के होने पर ही होती है। वे पाँच लब्धियाँ हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि। इनमेंसे आरम्भकी चार लब्धियाँ तो सर्वसाधारणके होती रहती हैं किन्तु करणलब्धिके होने पर ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। इन लब्धियोंका स्वरूप ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया गया है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करणका स्वरूप गोम्मटसारमें भी दिया गया है। इनकी प्राप्तिको ही करणलब्धि कहते हैं। अनिवृत्ति करणके होनेपर अन्तमुहूर्तके लिये प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमें कम से कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवलि काल शेष रहने पर यदि अनन्तानुबन्धी कषायका उदय आ जाता है तो जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर सासादन सम्यक्त्वी हो जाता है और उपशम सम्यक्त्वका काल पूरा होने पर यदि मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस तरह गाथा १०९ पर्यन्त प्रथमोपशम सम्यक्त्वका कथन है। इस प्रकरण-में आगत गाथा ९९ कसायपाहुडसे ली गई है। गाथा १०६, १०८ और १०९ जीवकाण्डके प्रारम्भमें भी आई हैं।

गाथा ११० से क्षायिक सम्यक्त्वका कथन प्रारम्भ होता है। दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होनेसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। किन्तु दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्म भूमिका मनुष्य तीर्थंकरके पादमूलमें अथवा केवलि श्रुतकेवलीके पादमूलमें करता है (गा० ११०)। और उसकी पूर्ति वहीं अथवा सौधर्मादिकल्पोंमें अथवा कल्पातीत देवोंमें अथवा भोगभूमिमें अथवा प्रथम नरक-में करता है क्योंकि बद्धायुष्क कृतकृत्यवेदक मरकर चारों गतियोंमें जन्म ले सकता है (गा० १११)।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहकी तीन, इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ क्षायिक सम्यक्त्व मेरुकी तरह निष्कम्प, अत्यन्त निर्मल और अक्षय होता है (गा० १६४)। क्षायिक सम्यग्दृष्टी उसी भवमें, अथवा तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्त हो जाता है। (गा० १६५)।

---

१. 'सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रयोर्लब्धिः प्राप्तिर्यस्मिन् प्रतिपाद्यते स लब्धिसाराख्यो ग्रन्थः।'—ल० सा०, टी०।

क्षायिक सम्यक्त्वके साथ दर्शनलब्धिका-कथन पूर्ण हो जाता है और चारित्र-लब्धिका कथन प्रारम्भ होता है ।

चारित्र लब्धि एक देश और सम्पूर्णके भेदसे दो प्रकारकी है (गा० १६८)। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वके साथ देश चारित्रको ग्रहण करता है। और सादि मिथ्यादृष्टी जीव उपशम सम्यक्त्व अथवा वेदक सम्यक्त्वके साथ देश-चारित्रको धारण करता है। जिस तरह धारण करता है और उस समय जो जो कार्य होते हैं उन सबका कथन किया गया।

सकल चारित्रके तीन प्रकार हैं—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक।

क्षायोपशमिक चारित्र सातवें और छठे गुणस्थानमें होता है। यह उपशम सम्यक्त्व सहित भी होता है और वेदक सम्यक्त्व सहित भी होता है। (गा० १८९–१९०)। गा० १९५ में म्लेच्छ मनुष्यके भी आर्य मनुष्यकी तरह सकल-संयम बतलाया है। उसकी टीका[1]में यह प्रश्न किया गया है कि म्लेच्छ भूमिके मनुष्य सकल संयमको कैसे धारण कर सकते हैं। उसके समाधानमें कहा गया है कि जो म्लेच्छ मनुष्य चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आते हैं, और उनका चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है वे सकल संयम धारण कर सकते हैं। अथवा चक्रवर्ती आदिसे विवाही गई म्लेच्छ कन्याओंके गर्भसे उत्पन्न संतान, मातृ-पक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कही जाती है, उसके संयम धारण करना संभव है क्योंकि इस प्रकारकी जाति वालोंको दीक्षाके योग्य होनेका निषेध नहीं है।

वीरसेनने जयधवलाटीकामें यह चर्चा उठाई है। उसीसे टीकाकारने उसे लिया जान पड़ता है। अस्तु,

वेदक सम्यग्दृष्टी जीव क्षायोपशमिक चारित्रको धारण करनेके बाद जब औपशमिकचारित्रको धारण करनेके अभिमुख होता है तो पहले या तो क्षायिक-सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है या द्वितीयोपशमसम्यक्त्वको धारण करता है। क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका विधान तो पहले कहा गया है अतः यहाँ द्वितीयो-पशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कथन करके चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन किया गया है। चारित्रमोहका उपशम करनेपर जीव ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान-

---

१. 'म्लेच्छ-भूमिज-मनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्या-दिभिः सह जात वैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्।
अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाजः संयमसम्भवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधा-भावात् ॥१९५॥ —ल० सा० टी०।

में पहुँचता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहता है। उसके बाद उसका वहाँसे पतन हो जाता है। पतनके कारण दो हैं या तो मृत्युकालका उपस्थित होना या उपशमकालका समाप्त होना। यदि मृत्युकाल आ जाता है तो वह मरकर देव-गतिमें जन्म लेता है और उसके चौथा गुणस्थान हो जाता है। यदि उपशमकालके समाप्त हो जानेसे गिरता है तो ग्यारहवेंसे गिरकर दसवेंमें, दसवेंसे नौवेंमें, नौवेंसे आठवेंमें और आठवेंसे सातवेंमें पहुँचता है। पीछे यदि उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं तो फिर आठवें आदि गुणस्थानोंमें चढ़ जाता है, अन्यथा नीचे गिर जाता है (अ० ३१०)।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका काल भी अन्तमुहूर्त है। उसके साथ अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें चढ़नेवाला जीव जितनी देरमें गिरकर पुनः आठवेंमें आ जाता है, उससे संख्यातगुणाकाल द्वितीयोपशमसम्यक्त्वका है। जब उसका काल पूरा होता है तो या तो वह जीव गिरकर चौथे गुणस्थानमें आ जाता है अथवा पांचवें गुणस्थानमें आ जाता है। अथवा द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालमें छह आवलीकाल शेष रहनेपर अनन्तानुबन्धीकषायका उदय होनेसे सासादनगुणस्थान-को प्राप्त हो जाता है। यदि वह मरता है तो यतिवृषभ आचार्यके वचनोंके अनु-सार मरकर नियमसे देव होता है। (३४९ गा०) क्योंकि जिसने परभवकी नरक, तिर्यञ्च या मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है वह मनुष्य चारित्रमोहनीयका उपशम नहीं कर सकता।

यहाँ ग्रन्थकारने कषायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंके रचयिता यतिवृषभ[1]के मतका उल्लेख करके षट्खण्डागम सूत्रोंके रचयिता भूतबलिका भी मत दिया है। उनका मत यतिवृषभके मतके विपरीत है। अर्थात् यतिवृषभके मतमे उपशम श्रेणीसे गिरा हुआ जीव दूसरे सासादनगुणस्थानको प्राप्त हो सकता है किन्तु भूतबली[2]के मतसे प्राप्त नहीं हो सकता। इन्हीं दोनों आचार्योंकी उक्त कृतियों तथा उनकी टीकाओंके आधारपर लब्धिसारकी रचना की गई है।

गाथा ३९१ तक चारित्रमोहनीय कर्मको उपशम करनेका कथन है। उससे आगे चारित्रमोहकी क्षपणाका कथन है।

चारित्रमोहकी क्षपणाके अन्तर्गत जो क्रियाएँ होती हैं उन्हींको आधार बना-कर चारित्रमोहकी क्षपणाके अधिकारोंका नामकरण किया गया है वे अधिकार

---

१. जरि मरदि सासणो सो णिरय तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि।
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण ॥३४९॥—ल०सा०।

२. उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि।
भूदबलिणाह णिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५१॥—ल०सा०।

हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीन करण, बन्धापसरण, सत्त्वापसरण ये दो अपसरण, क्रमकरण, कषायों आदिकी क्षपणा, देशघातिकरण, अन्तरकरण, संक्रमण, अपूर्वस्पर्धककरण, कृष्टिकरण, और कृष्टिअनुभवन (गा० ३९२)। इन्हीं अधिकारोंके द्वारा उस क्रियाका कथन किया गया है।

चारित्रमोहका क्षय करनेपर जीव बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है इसीसे उसका नाम क्षीणमोह है। क्षीणमोह होनेके पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मको नष्ट करके तेरहवें गुणस्थानमें पहुँच जाता है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है। जब अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहती है तो वह तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके तथा उसका उपसंहार करके शेष बचे चारों कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके बराबर करके तीसरे शुक्लध्यानके द्वारा अयोगकेवली हो जाता है। और वहाँ सब कर्मोंको नष्ट करके मुक्त हो जाता है।

जैसे इस ग्रन्थकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने दर्शन लब्धि और चारित्रलब्धिको कहनेकी प्रतिज्ञा की है वैसे ही अन्तिम (६५२ में) भी कहा है कि वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स्य तथा अभयनन्दीके शिष्य नेमिचन्द्रने दर्शन और चारित्रकी लब्धि भले प्रकार कही। यहाँ भाषा टीकाकार पं० टोडरमलजी ने 'लब्धिसार नामक शास्त्र विषैं कहीं' ऐसा लिखा है। अतः इस ग्रन्थका नाम लब्धिसार ही है।

किन्तु टीकाकार नेमिचन्द्रकी टीका गाथा ३९१ तक ही पाई जाती है जहाँ तक चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है। चारित्रमोहकी क्षपणा वाले भाग पर संस्कृत टीका नही है। अतः भाषा टीकाकार पं० टोडरमल जीने उसके प्रारम्भमें लिखा है—

'इहाँ पर्यन्त गाथा सूत्रनिका व्याख्यान संस्कृत टीकाके अनुसार किया जातैं इहाँ पर्यन्त गाथानि ही की टीका करिकैं संस्कृत टीकाकारने ग्रन्थ समाप्त कीना है। बहुरि इहा तैं आगै गाथा सूत्र हैं तिनि विषैं क्षायिकका वर्णन है तिनकी संस्कृत टीका तौ अवलोकन मैं आई नाहीं तातैं तिनका व्याख्यान अपनी बुद्धि अनुसार इहाँ कीजिये है। बहुरि भोज नामा राजा बाहुवलि नामा मंत्रीकैं ज्ञान उपजावनेके अर्थि श्रीमाधव चन्द्रनामा आचार्य करि विरचित क्षपणासार ग्रन्थ है। तिहि विषैं क्षायिक चारित्र ही का विधान वर्णन है सो इहाँ तिस क्षपणासारका अनुसार लिएँ भी व्याख्यान करिए है।'

माधवचन्द्र रचित क्षपणासारके अनुसार व्याख्यानके कारण लब्धिसारके इस भागको क्षपणासार नाम दे दिया गया जान पड़ता है।

इस तरह आचार्य नेमिचन्द्र रचित गोम्मटसार तथा लब्धिसार एक तरहसे

संग्रह ग्रन्थ है उनमें षट्खण्डागम, कषायपाहुड और उनकी धवला टीकाका सार ही संग्रहीत नहीं किया गया है, बल्कि उनसे तथा पञ्चसंग्रहसे बहुत-सी गाथाएँ भी संगृहीत की गई है। किन्तु संगृहीत होने पर भी इसकी अपनी विशेषता है। उसी विशेषताके कारण गोम्मटसार और लब्धिसारकी रचनाके पश्चात् षट्खण्डागम और कसायपाहुडके साथ उनकी टीका धवला और जयधवलाको भी लोग भूल से गये और उत्तरकालमें इन सिद्धान्त ग्रन्थोंको जो स्थान प्राप्त था, धीरे-धीरे वह नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसारको मिल गया।

आचार्य नेमिचन्द्र रचित त्रिलोकसार नामक एक ग्रन्थ और भी है लोकानुयोगके प्रसंगमें उसके सम्बन्धमें लिखा जायेगा।

देवसेनकृत भावसंग्रह

भावसंग्रह नामक एक ग्रन्थ विमलसेन गणधरके शिष्य देवसेनने रचा था। इस ग्रन्थमें ७०० गाथाओंके द्वारा चौदह गुणस्थानोंका स्वरूप बतलाया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें चौदह गुणस्थानोंका कथन तो बहुत साधारण है। किन्तु उनका आलम्बन लेकर ग्रन्थकारने विविध विषयोंका कथन विस्तारसे किया है।

दो गाथाओंके द्वारा चौदह गुणस्थानोंके नाम बतलाकर ग्रन्थकारने मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप बतलाया है। तथा मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान और विपरीत इन पाँच भेदोंको बतलाकर ब्राह्मण मतको विपरीत मिथ्यादृष्टि बतलाते हुए लिखा है—ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—'जलसे शुद्धि होती है, मांससे पितरोंकी तृप्ति होती है, पशु बलिदानसे स्वर्ग मिलता है और गो योनिके स्पर्शसे धर्म होता है।' इन्हीं चारोंका खण्डन आगे किया गया है और स्वपक्षके समर्थनमें गीता आदि ब्राह्मण ग्रन्थोंसे प्रमाण भी उद्धृत किये गये हैं।

एकान्त मिथ्यात्वके कथनमें क्षणिकवादी बौद्धोंका खण्डन किया गया है और वैनयिक मिथ्यात्वके कथनमें यक्ष, नाग, दुर्गा, चण्डिका आदिको पूजनेका निषेध किया गया है। संशय मिथ्यात्वका कथन करते हुए श्वेताम्बर मतका खण्डन किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको निर्वाणकी प्राप्ति मानता है, केवलीको कवलाहारी मानता है और साधुओंके वस्त्र-पात्र रखनेका पक्षपाती है। इन्हींकी आलोचना की गई है। श्वेताम्बर अपने साधुओंको स्थविरकल्पी बतलाते हैं। ग्रन्थकारने लिखा है यह स्थविरकल्प नहीं है यह तो स्पष्ट रूपसे गृहस्थ कल्प है। आगे उन्होंने जिनकल्प और स्थविर कल्पका स्वरूप बतलाया है। (गा० ११९-१३९)। और लिखा है कि परीषहसे पीड़ित और दुर्धर तपसे भीत जनोंने गृहस्थकल्पको स्थविरकल्प बना दिया (गा० १३३)।

आगे ग्रन्थकारने श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिकी कथा दी है और लिखा है कि सौराष्ट्र देशकी बलभी नगरीमें वि०सं० १३६में श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति हुई (गा० १३७)। यह कथा इससे पूर्वके किसी ग्रन्थमें नहीं मिलती। इसके सम्बन्धमें पीठिका भागमें विस्तारसे लिखा जा चुका है।

अज्ञान मिथ्यात्वका कथन करते हुए लिखा है कि पार्श्वनाथ स्वामीके तीर्थमें मस्करिपूरण नामक ऋषि हुआ। वह भगवान महावीरके समवशरणमें गया। किन्तु उसके जानेपर भगवानकी वाणी नहीं खिरी। वह रुष्ट होकर समवसरण-से चला आया और बोला—मैं ग्यारह अंगोंका धारी हूँ फिर भी मेरे जानेपर महावीर की वाणी प्रवाहित नहीं हुई और अपने शिष्य गौतम गणधरके आनेपर प्रवाहित हुई। गौतमने अभी ही दीक्षा ली है वह तो वेदभाषी ब्राह्मण है, वह जिनोक्त श्रुतको क्या जाने।' अतः उसने अज्ञानसे मोक्ष बतलाया। (गा० १६१-१६३)।

भगवान महावीर तथा गौतमबुद्धके समयमें मक्खलि गोशाल और पूरणकश्यप नामके दो शास्ताओंका उल्लेख त्रिपिटक साहित्यमें मिलता है। मक्खलिका संस्कृत रूप मस्करी माना जाता है। अतः मस्करी और पूरण इन दोनों नामोंको मिला-कर एक ही व्यक्ति समझ लिया गया जान पड़ता है। मक्खलि गोशाल नियति-वादी माना जाता है।

इन पाँचों मिथ्यात्वोंका कथन करनेके पश्चात् चार्वाकके द्वारा स्थापित मिथ्यात्वका कथन है। चार्वाक चैतन्यको भूतोंका विकार मात्र मानता है। ग्रन्थ-कारने इसे [1]कौलाचार्यका मत कहा है। किन्तु यशस्तिलकके छठे आश्वासमें कौलिक मतको शैवतंत्रका अंग बतलाया है। लिखा[2] है—'सब पेय अपेयोंमें और भक्ष्य अभक्ष्योंमें निःशब्द चित्तसे प्रवृत्ति करना कुलाचार्यका मत है। इसीको उसमें त्रिक मत भी बतलाया है। त्रिक मतमें आराधक मनुष्य मांस और मदिराका सेवन करके और वामांगमें किसी स्त्रीको लेकर स्वयं शिव और पार्वतीका पार्ट करता हुआ शिवकी आराधना करता है।'

चूँकि चार्वाक भी पुण्य पाप, परलोक आदि नहीं मानता। इसीसे ग्रन्थकारने कौलिक मतको भी चार्वाक समझ लिया जान पड़ता है।

चार्वाकके पश्चात् सांख्य मतकी चर्चा है। उसमें लिखा है कि जीव सदा

---

१. 'कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स तं पावं। पुण्णं वा कस्स भवे को गच्छइ णिरयसग्गंवा ॥१७२॥ भा०सं०।

२. 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्यादिषु निःशंकचित्ताद्वृत्तात् इति कुलाचार्यकाः। तथा च त्रिकमतोक्तिः—।' य०च०, भा० २, पृ० २६९।

अकर्ता है और पुण्य पापका भोक्ता भी नहीं है। ऐसा लोकमें प्रकट करके बहन और पुत्रीको भी अंगीकार किया गया है। (गा० १७९)।

एक पद्य इस प्रकार है—

'धूय मायरिवहिणी अण्णावि पुत्तत्थिणि
आयति य वासवयणुपयडे वि विप्पे।
जह रमियकामाउरेण वेयगव्वे उपण्ण दप्पे
वंभणि-छिपंणि-डोंवि-नडिय-वरुडि-रज्जइ-चम्मारि।
कवले संमइ समागंमइ तह भुत्ति य परणारि ॥१८५॥'

इसमें कहा है कि व्यास का वचन है कि पुत्री माता बहन तथा अन्य भी कोई स्त्री पुत्रोत्पत्तिकी भावनासे आये तो कामातुर वेदज्ञानी ब्राह्मणको उसको भोगना चाहिये। तथा कपिलदर्शनमें आई हुई ब्राह्मणी, डोम्नी, नटी, धोबिन, चमारिन आदि परनारियोंको भोगना लिखा है। स्मृतियोंमें इस प्रकारका कथन है कि जो पुरुष स्वयं आगता नारीको नहीं भोगता उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है। उसी को लक्ष्यमें रखकर तथा पौराणिक उपाख्यानोंके आधार पर उक्त कथन किया गया है। किन्तु इस तरहकी बातोंका कपिलदर्शनसे कहाँ तक सम्बन्ध है यह चिन्त्य है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यद्यपि भावसंग्रहकी रचना प्राकृत गाथाबद्ध है तथापि यत्र तत्र कुछ उक्त प्रकारके छन्द भी पाये जाते हैं उन्हें 'वस्तुच्छन्द' लिखा है।

आगे तीसरे मिश्र गुणस्थानका कथन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी आलोचना की गई है। ब्रह्माकी आलोचना करते हुए तिलोत्तमा आदिके उपाख्यानोंकी चर्चा है और कृष्णकी आलोचनामें शूकर कूर्म तथा रामावतारकी समीक्षाकी गई है। रुद्रकी आलोचनामें उनके स्वरूप और ब्रह्म हत्या आदि कार्योंकी आलोचना है। (गा० २०३-२५५)

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए सात तत्त्वोंका कथन किया गया है। पाँचवे गुणस्थानका स्वरूप २५० गाथाओंके द्वारा बहुत विस्तारसे बतलाया है। चूंकि पाँचवा गुणस्थान श्रावकाचारसे सम्बद्ध है अतः उसमें श्रावकाचारका वर्णन है। उसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतोंके नामोंके साथ अष्टमूल गुण भी बतलाये हैं और वे अष्टमूल गुण हैं—पाँच उदम्बर फलों और मद्य मांस मधुका त्याग। फिर चार प्रकारके ध्यानका कथन है। आगे देव पूजाका कथन है अन्य श्रावकाचारोंमें इस प्रकारका कथन नहीं मिलता। इसमें अभिषेकके समय वरुण, पवन, यक्ष आदि देवताओंको अपने २ प्रियवाहन तथा शस्त्रोंके साथ आवाहन करनेका और उन्हें यज्ञका भाग देनेका विधान है। (गा०

४३९-४४०)। अन्य श्रावकाचारोंमें इस तरहका विधान हमारी दृष्टिसे नहीं गुजरा। इसमें सिद्ध चक्रयंत्रका भी उद्धार है (गा० ४५४)। तथा भगवानके चरणोंमें चन्दनका लेप करनेका भी विधान है (गा० ४७१)। आगे चार दानोंका, और उसके फलका कथन है।

सातवें गुणस्थानके स्वरूप कथनमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत-ध्यानका संक्षिप्त कथन है। आगे शेष गुणस्थानोंका सामान्य कथन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है।

कर्ता और समय

यह पहले लिख आये हैं कि इस ग्रन्थके कर्ता विमल गणधरके शिष्य देवसेन हैं। देवसेन नामके कई आचार्य हो गये हैं। उनमें एक देवसेन वह हैं जिन्होंने वि० सं० ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी। आलाप पद्धति, लघुनय-चक्र, आराधनासार और तत्त्वसार नामक ग्रन्थ भी देवसेनके द्वारा रचित है। ये सब ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुके हैं। इन सबको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी ही कृति माना है।

दर्शनसारके अन्तमें अपना परिचय देवसेनने इस प्रकार दिया है—

'पुव्वाइरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवई।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥'

अर्थात् पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथाओंको एकत्र करके श्रीदेवसेन गणिने धारामें रहते हुए श्रीपार्श्वनाथके जिनालयमें माघ सुदी दसमी वि० सं० ९९० को यह दर्शनसार रचा।

तत्त्वसारके अन्तमें लिखा है—

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाहदेवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोखं ॥७४॥

'मुनिनाथ देवसेनने सुनकर तत्वसार रचा। जो सम्यग्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख को पाता है।'

आराधनासारके अन्तमें लिखा है—

ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छंदलक्खणं किं पि।
णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं ॥११४॥
अमुणिय तच्चेण इमं भणियं जं किं पि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धं ॥११५॥

'न मेरे में कवित्व है और न मैं छन्दका लक्षण ही कुछ जानता हूँ। अपनी भावनाके निमित्त मैंने आराधनासार रचा है ॥११४॥ तत्त्वसे अनजान देवसेनने जो कुछ भी इसमें कहा है, उसमें यदि कुछ आगम विरुद्ध कथन है तो मुनीन्द्र उसे शुद्ध करलें ॥११५॥

इस तरह देवसेनने दर्शनसारमें तो ग्रन्थके रचनास्थान तथा कालका निर्देश किया है किन्तु अन्य रचनाओंमें वैसा नहीं पाया जाता। दर्शनसारमें अपनेको देवसेन गणि कहा है, तत्त्वसारमें मुनिनाथ देवसेन कहा है और आराधना-सारमें केवल देवसेन कहा है। गणि और मुनिनाथ पदको एकार्थवाचक मान लेने-से दोनोंमें एकवाक्यता मानी जा सकती है। किन्तु जो विनम्रता आराधनासारकी अन्तिम गाथासे व्यक्त होती है, भावसंग्रहमें उसका अभाव है। इसके सिवाय इन सबमें उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं कहा, परन्तु भावसंग्रहमें कहा है। परन्तु आराधनासारकी मंगलगाथामें 'विमलयर गुणसमिद्धं', पदके द्वारा, दर्शनसारमें 'विमलणाणं' पदके द्वारा, नयचक्रमें 'विगयमलं' और 'विमलणाण संजुत्तं' पदोंके द्वारा गुरुके नामका उल्लेख किया गया है, ऐसा श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार[1]का मत है। अतः वह भावसंग्रहको उक्त देवसेनकी ही कृति माननेके पक्षमें हैं।

किन्तु पं० परमानन्दजीका कहना है कि भावसंग्रह दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी कृति नहीं है; क्योंकि दर्शनसार मूलसंघका ग्रन्थ है। उसमें काष्ठासंघ, द्रविड़संघ, यापनीयसंघ और माथुरसंघको जैनाभास घोषित किया है। परन्तु भाव-संग्रह केवल मूलसंघका मालूम नहीं होता क्योंकि उसमें त्रिवर्णाचारके समान आचमन, सकलीकरण, यज्ञोपवीत, और पंचामृताभिषेकादिका विधान है। इतना ही नहीं किन्तु इन्द्र, अग्नि, काल, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष और सोमादिको सशस्त्र तथा युवतिवाहनसहित आह्वानन करने, वलि, चरु आदि पूजा द्रव्य तथा यज्ञके भागको बीजाक्षरयुक्त मंत्रोंसे देनेका विधान है।'

उनका मत है कि अपभ्रंश भाषाका 'सुलोचना चरिउ'के कर्ताका भी नाम देवसेन है और उनके गुरुका नाम भी विमलसेनगणि है अतः भावसंग्रह उन्हींका हो सकता है।

श्री प्रेमीजीने भी उनके इस मतको अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकके दूसरे संस्करणमें स्थान देते हुए लिखा है—'एक और प्राकृतग्रन्थ भाव-संग्रह है जो विमलसेन गणिके शिष्य देवसेनका है। यह भी मुद्रित हो चुका है इसमें कई जगह दर्शनसारकी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं इसपरसे हमने अनुमान

---

१. पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ५९। देवसेनके लिये इस प्रस्तावनाके सिवाय 'जै० सा० इ०' (पृ० १६८) देखना चाहिये।

किया था कि दर्शनसारके कर्ता ही इसके कर्ता हैं। परन्तु पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त (वर्ष ७, अंक ११-१२) में इसपर सन्देह किया है और सुलोयणा चरिऊके कर्ता तथा भावसंग्रहके कर्ताको एक बतलाया है जो विमलगणिके शिष्य हैं' (पृ० १७६)।

इस तरह भावसंग्रहके कर्ता देवसेन कौनसे हैं, इसमें विवाद है।

'सुलोचनाचरिउ'[1] में उसका रचनाकाल राक्षस संवत्सरकी श्रावण शुक्ला चतुर्दशी दिया है। ज्योतिषकी गणनाके अनुसार यह संवत्सर वि० सं० ११३२ में तथा १३७२ में पड़ता है ऐसा पं० परमनन्दजीने लिखा है। इन दोनोंमेंसे किस सम्वत्में उक्त रचना हुई यह भी चिन्त्य है।

उक्त विप्रतिपत्तिके निरसनके लिये भावसंग्रहका अन्तः परीक्षण करना उचित प्रतीत होता है। सम्भव है उससे प्रकृत विषयपर कुछ प्रकाश पड़ सके।

यह हम बतला आये है कि भावसंग्रहमें गुणस्थानोंका कथन है और उन्हें ग्रन्थका मुख्य आधार बनाया गया है।

गुणस्थानोंके वर्णनमें देवसेनने पंचसंग्रह प्राकृतका अनुसरण किया है और उससे अनेक गाथाएँ ज्योंकी त्यों वैसे ही ली हैं। जैसे धवलामें और गोम्मटसारमें ली गई हैं। उन गाथाओंको यहाँ दे देना उचित होगा —

मिच्छो सासण मिस्सो अविरय सम्मो य देस विरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥१०॥
उवसंत खीणमोहो सजोइ केवलिजिणो अजोगी य।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥११॥

× × ×

णो इंदिएसु विरओ णो जीवे थावरे तसे वा पि।
जो सद्दहइ जिणुत्तं अविरइ सम्मोत्ति णायव्वो ॥२६१॥
जो तसवहाउविरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥३५१॥

× × ×

वत्तावत्तपमाए जो णिवसइ पमत्तसंजदो होइ।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥६०१॥
विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तह य पणओ य।
चउ चउ पणमेगेगे हुँति पमाया हु पण्णरसा ॥६०२॥

× × ×

१. 'रक्खस संवत्सरे बुहदिवसए। सुक्कचउद्दिसि सावण मासए। चरिउ सुलोयणाहि णिप्पण्णउ, सद्दअत्थं वण्णसंवुण्णओ—सुलो० च०।

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलेहिं मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ॥६१४॥

× × ×

हुँति अणियट्टिणो ते पडियसमयं जस्स एक्कपरिणामं ।
विमलयर झाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥६५१॥

× × ×

जह सुद्धफलियभायणि खित्तं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं ।
तह णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो ॥६६२॥

उक्त गाथाएँ प्राकृत पञ्चसंग्रहमें हैं और उसीसे ली गई जान पड़ती हैं । अन्तिम गाथाको छोड़कर शेष गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डमें तथा कुछ धवलामें भी हैं जो प्रा० पञ्चसंग्रहसे ली गई है । ऐसी स्थितिमें यह शंका हो सकती है कि इन गाथाओंको भावसंग्रहकारने पञ्चसंग्रहसे ही लिया और धवला या जीवकाण्डसे न लिया इसमें क्या प्रमाण है ? इसके सम्बन्धमें पहला प्रमाण तो यह है कि नं० ६६२ वाली गाथा पञ्चसंग्रह की है । यह न तो धवलामें है और न जीवकाण्डमें । इससे यह स्पष्ट है कि भावसंग्रहकारके सामने पञ्चसंग्रह अवश्य था । दूसरे जीवकाण्ड और पञ्चसंग्रहमें पाठभेद भी हैं । भावसंग्रहगत पाठ पंञ्चसंग्रहके अनुरूप है जीवकाण्डके नहीं । यथा—गा० ११में 'ए चउदसा गुण ठाणा' पाठ पञ्चसंग्रहसे अधिक मिलता है । पं०सं०में 'चोद्दस गुण ठाणाणि य' पाठ है और जीवकाण्डमें इसके स्थानमें 'चोद्दस जीवसमासा' है । यह गाथ धवलामें नहीं है ।

किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि भावसंग्रहकारके सामने जीवकाण्ड नहीं था । प्रत्युत कुछ गाथाएँ तथा पाठ ऐसे हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि दोनोंके कर्ताओंमेंसे किसी एकने दूसरेको अवश्य देखा था । इसके लिये प्रथम तो उक्त उद्धृत गाथाओंमें नं० ३५१की गाथा है । पं०सं०में इस गाथाका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहाउ विरदो णोविरओ अक्खथावरवहाओ ।
पडिसमयं सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥१३॥

और [1]धवला तथा जीवकाण्डमें उसका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहादु विरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥३१॥

किन्तु भावसंग्रहमें उक्त गाथाका रूप पञ्चसंग्रह और जीवकाण्डका मिश्रित

---

१. 'धवलामें' 'द' के स्थान 'अ' है केवल इतना ही अन्तर है ।

रूप है। अब हम भावसंग्रहसे कुछ ऐसी गाथाएँ उद्धृत करते हैं जो पंचसंग्रहमें नहीं हैं किन्तु जीवकाण्डमें ज्योंकी त्यों या कुछ अन्तरको लिये हुए मिलती हैं—

एए तिण्णि वि भावा दंसणमोहं पडुच्च भणिआ हु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरयअंतेसु ठाणेसु ॥२६०॥

यह गाथा जीवकाण्डमें इसी रूपमें वर्तमान है इसका नम्बर वहाँ १२ है।

तेसिं यि समयाणं संखारहिआण आवली होई।
संखेज्जावलिगुणिओ उस्सासो होई जिणदिट्ठो ॥३१२॥

सत्तुस्सासे थोओ सत्तथोएहिं होइ लओ इक्को।
अट्ठत्तीसद्धलवा णाली वेणालिया मुहुत्तं तु ॥३१३॥

जीवकाण्डमें इन गाथाओंका रूप इस प्रकार है—

आवलि असंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुसासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥५७३॥

अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वे नालिया मुहुत्तं तु।
एग समएण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥५७४॥

जीवकाण्डमें एक गाथा इस प्रकार है—

एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्चभणिदाहु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरदअन्तेसु ठाणेसु ॥१२॥

पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानमें भावोंका कथन करके यह गाथा कही गयी है। इसमें बतलाया है कि ये भाव दर्शनमोहनीयकी अपेक्षासे कहे गये हैं क्योंकि अविरत गुणस्थान पर्यन्त चारित्र नहीं होता। भावसंग्रहमें चतुर्थ गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए उसमे तीन भाव बतलाये हैं। और आगे उक्त गाथाके प्रथम चरणको 'एदे तिण्णि वि भावा' रूपमें परिवर्तित करके दिया है। ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गाथा मूलमें जीवकाण्डकी होनी चाहिये। अस्तु।

इसमें सन्देह नहीं कि भावसंग्रह एक संग्रहात्मक ग्रन्थ है और ग्रन्थकारने पूर्वाचार्योंके वचनोंको ज्योंका त्यों या परिवर्तित करके उसमें संगृहीत किया है। यह बात सर्वांशमें नहीं लेना चाहिए, आंशिक रूपमें ही लेना चाहिये क्योंकि भावसंग्रहमें उसके कर्ताके विचार ही अधिक हैं। केवल जैनतत्त्व ज्ञानसे संबंधित विवेचनमें ही पूर्वाचार्योंके वचनोंको यत्र तत्र लिया गया है। इसके समर्थनमें एक तो पंचसंग्रह को ही उपस्थित किया जा सकता है। उसके सिवाय कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंको भी रखा जा सकता है।

भाव संग्रहमें दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसंजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोत्ता चेत्तो ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई ॥२८६॥

पाण चउक्क पउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं ।
जीवेइ वट्टमाणं जीवत्त गुणसमावण्णो ॥२८७॥

ये दोनों गाथाएँ पञ्चास्तिकायकी नीचे वाली दो गाथाओंको सामने रखकर रची गई हैं—

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥
पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बल मिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

प्रा० पञ्चसंग्रह और पञ्चास्तिकाय तो देवसेनसे बहुत पहले रचे गये हैं अतः उनमें तो किसी तरहका विवाद संभव नहीं है। किन्तु उनकी ही तरह जीवकाण्ड, द्रव्यसंग्रह और वसुनन्दिश्रावकाचारकी कतिपय गाथाओंके साथ भी भावसंग्रहकी कुछ गाथाओंमें अंशतः अथवा सर्वतः समानता पाई जाती है। और ये सब ग्रन्थ उसी समयके लगभगके हैं जिस समयका भाव संग्रह माना जाता है। अतः उनके साथ जो समानता है, काल निर्णयकी दृष्टिसे वही विचारणीय है। जीवकाण्डकी रचना वि. सं. १०४०के लगभग हुई है, वसुनन्दि[1]का समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दी है। और पहले द्रव्यसंग्रहको भी जीवकाण्डके रचयिताकी ही कृति मान लिया गया था किन्तु अब वह मत मान्य नहीं है। फिर भी उसे ११वीं १२वीं शताब्दीके लगभगकी रचना माना जाता है।

भावसंग्रहमें सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हुए सम्यग्दर्शनमें प्रसिद्ध हुए आठ व्यक्तियोंके नाम गिनाये हैं। भा० सं० की ये २७९ से २८४ तक छहों गाथाएँ ज्यों की त्यो उसी क्रमसे वसु० श्रा० में वर्तमान हैं और वहाँ उनकी क्रम संख्या ५१ से ५६ तक है।

दोनोंका मिलान करनेसे अन्य भी गाथाओंमें शाब्दिक तथा विषयगत समानता पाई जाती है।

इसी तरह द्रव्य संग्रहके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। उसके साथ साम्य दर्शनके लिये नीचे भावसंग्रहसे कुछ गाथाएँ दी जाती हैं।

जीवाण पुग्गलाणं गइप्पवत्ताण कारणं धम्मो ।
जहमच्छाणं तोयं थिरभूया णेव सो णेई ॥३०६॥
ठिदिकारणं अधम्मो विसामठाणं च होइ जह छाया ।
पहियाणं रुक्खस्स य गच्छंतं णेव सो धरई ॥३०७॥

× × ×

१. जै० सा० इ० पृ० ३०२ तथा पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ९२ और ९९।

कालेण उवाएण य पच्चंति जहा वणस्सुई फलाइं ।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कयाइं कम्माइं ॥३४५॥

द्रव्यसंग्रहकी गाथा इस प्रकार हैं—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥
ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

× × ×

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।

इस तरह भावसंग्रहका सादृश्य उक्त ग्रन्थोंके साथ पाया जाता है और उनके अवलोकनसे कोई ऐसा विशिष्ट प्रमाण प्रकट नहीं होता जिसके आधार पर निःसंशय कहा जा सके कि अमुकने अमुकका अनुसरण किया है। अतः उसके निर्धारणके लिये कुछ अन्य सबल प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

पं० आशाधरजीने अपने सागार धर्मामृतकी टीका १२९६ वि० सं० और अनगार धर्मामृतकी टीका वि०सं० १३००में समाप्त की थी। अनगार धर्मामृतकी टीका उद्धरणोंके लिये आकर सदृश है। उसमें बहुतसे ग्रंथोंके उद्धरण दिये गये हैं। उनमें गोम्मटसार, द्रव्यसंग्रह और वसुनन्दि श्रावकाचारके अनेक उद्धरण हैं। देवसेनके आराधना सारके भी कई उद्धरण हैं, एक उद्धरण इस प्रकार है—

'संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उपसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स ॥–अनगा० टी०, पृ० १६४।

चामुण्डरायके चरित्रसार नामक ग्रन्थमें उक्त गाथाका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

संवेगो निर्वेदो निंदा गर्हा तथोपशम भक्ती ।
अनुकंपा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥

चामुण्डरायका समय विक्रमकी ११वी शताब्दीका पूर्वार्ध है। आशाधरजीने उक्त श्लोकको गाथाके रूपमें परिवर्तित करके दिया है यह तो संभव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि गाथाओंको तो संस्कृत रूपान्तर करनेकी परम्परा रही है किन्तु प्राचीन संस्कृत श्लोकोंको गाथाके रूपमें परिवर्तित करनेकी परम्परा नही रही। अतः आशाधरजीके द्वारा उद्धृत गाथा अवश्य ही चामुण्डरायसे पहलेकी होनी चाहिये। शायद उसीसे भावसंग्रहकारने या वसुनन्दिने उसे परिवर्तित किया है।

ऐसी स्थितिमें आशाधरके द्वारा भावसंग्रहका उद्धृत न किया जाना अवश्य ही उल्लेखनीय है।

यदि भावसंग्रह दर्शनसारके रचयिता देवसेनका है तो सोमदेवके उपासकाध्ययनसे वह अवश्य ही एक चतुर्थ शताब्दी पूर्वका है क्योंकि सोमदेवने अपने यशस्तिलकको शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में समाप्त किया था। सोमदेव सूरिने जो पाँच उदुम्बर और तीन मकारोंके त्यागरूप अष्टमूल गुण बतलाये हैं भावसंग्रहमें भी वे ही अष्टमूल गुण बतलाये हैं। अतः उन अष्टमूल गुणोंके आविष्कर्ता भावसंग्रहकार ठहरते हैं, सोमदेव नहीं। किन्तु सागार धर्मामृतमें अष्टमूल गुणोंके मतभेदका निर्देश करते हुए आशाधरजीने उक्त अष्टमूल गुणोंको सोमदेव सूरिका बतलाया है। भावसंग्रहकारका वहाँ संकेत तक नहीं है।

सागार धर्मामृतके ही टिप्पणमें एक गाथा उद्धृत है जो इसप्रकार है—

'उत्तम पत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया।
अविरद सम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वम् ॥'

भावसंग्रहमें इस गाथाको इस रूपमें परिवर्तित पाया जाता है—

तिविहं भणंति पत्तं मज्झिम तह उत्तमं जहण्णं च।
उत्तमपत्तं साहू मज्झिम पत्तं च सावया भणिया ॥४९७॥
अविरइ सम्मादिट्ठी जहण्णवत्तं तु अक्खियं समये।
णाऊं पत्तविसेसं दिज्जइ दाणाइं भत्तीए ॥४९८॥

ऐसी स्थितिमें वसुनन्दिके द्वारा भावसंग्रहकी गाथाओंको लिये जानेकी अपेक्षा यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि भावसंग्रहके कर्ताने ही वसुनन्दिको अपनाया और वसुनन्दिको ही क्यों, उन्होंने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहको भी सामने रखकर उनका भी अनुसरण किया प्रतीत होता है।

जीवकाण्डमें[1] मिथ्यात्वके पाँच भेद करके बुद्धको एकान्तवादी, ब्रह्मको विपरीतवादी, तापसको वैनयिक, इन्द्रको संशयिक और मस्करीको अज्ञानी कहा है। भावसंग्रहमें भी उन्हींको आधार बनाकर मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका कथन किया है (गा० १६-१७१)। किन्तु उसमें ब्रह्मासे ब्राह्मण लिया है।

दर्शनसारमें बुद्धको एकान्तवादी, श्वेताम्बर संघके प्रवर्तकको विपरीतवादी, मस्करी पूरणको अज्ञानी कहा है और वैनयिकोंको अनेक प्रकारका बतलाया है। यदि दर्शनसारके रचयिताकी कृति भावसंग्रह होती तो वे श्वेताम्बर संघको संशय मिथ्यात्वी न कहते। साथ ही मिथ्यात्वका कथन करते हुए तथोक्त जैनाभासोंको यूं ही अछूता न छोड़ देते। चूंकि भावसंग्रहके कर्ता उन्हींमेंसे थे इसलिये उन्होंने उनको छोड़ दिया जान पड़ता है।

---

१. 'एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ। इंदोविय संसइओ मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥१६॥'—जी० का०

यदि भावसंग्रह विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तमें रचा गया होता तो उस समयके लगभग रचे गये श्रावकाचारोंमेंसे किसी एकमें तो उन बातोंकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती जिन्हें भावसंग्रहकारने स्थान दिया है। किन्तु उस समयकी कृतियोंमें उन बातोंका संकेत तक नहीं है। उनके द्वारा निरूपित पूजा विधानकी विधि भी सागार धर्मामृत पर्यन्त किसी श्रावकाचारमें देखनेको नहीं मिलती।

भावसंग्रहमें स्त्री वाहनादियुक्त दश दिग्पालोंको अर्घ्यदान देनेके सिवाय एक उल्लेखनीय बात और भी है। उत्तमपात्रोंमेंसे कुछको वेदमय[1] और कुछको तपोमय कहा है। और वेदका अर्थ सिद्धान्त करके सिद्धान्तके जानकारको वेदमय पात्र और तपस्वी ज्ञानीको तपोमय पात्र कहा है। इस तरहका भेद भी किसी श्रावकाचारमें नहीं मिलता। वैसे सागार धर्मामृतमें शास्त्रज्ञोंका भी समादर करना पाक्षिक श्रावकका कर्तव्य बतलाया है।

एक बात और भी उल्लेखनीय है। भावसंग्रहमें पशुवधका निषेध करते हुए कहा है कि हरिहरादिके भक्तोंके शास्त्रोंमें कहा है कि सब जीवोंके पांच स्थानोंमें देवताओंका आवास है। तो उनके मारनेपर सब देवताओंका भी धात होगा। आगेकी गाथा इस प्रकार है—

देवे वहिऊण गुणा लब्भहि जइ इत्थ उत्तमा केई।
तु रुक्कवंदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥४८॥

केकड़ीके पं० रतनलालजीने हमें सूचित किया है कि अजमेरकी प्रतिमें 'वहिऊण' के स्थानमें 'हणिऊण' तथा 'तु रुक्कवदंणया' के स्थानमें 'तो तुरुक्कवंदणीया' पाठ है।

इन पाठोंसे गाथाका अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—'यदि देवोंका हनन करनेसे किन्हीं उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है तो तुर्क (मूर्तिभंजक मुसलमान) तथा सब शिकारी भी वंदनीय हैं। इससे स्पष्ट है कि भावसंग्रह उस समय रचा गया है जब भारतमें मुसलमानोंका आक्रमण हो चुका था। प्रसिद्ध मूर्तिभंजक मुहम्मद गजनीने ई० सं० १०२३ में सोमनाथका मन्दिर तोड़ा था। उसके बाद बारहवीं शताब्दीमें सहाबुद्दीन गौरीके आक्रमण हुए थे। उसकी चर्चा आशाधरजीने अनगार धर्मामृतकी प्रशास्तिमें की है। अतः यह निश्चित है कि भावसंग्रह वि०सं० ९९० (ई० सन् ९३३)की रचना किसी भी तरह हो नहीं सकती।

अतः भावसंग्रहके देवसेन (वि० ९९०) की रचना होनेके सम्बन्धमें अनेक विप्रतिपतियाँ हैं और कोई सबल प्रमाण नहीं है।

---

१. किं किंचिवि वेयमयं किंचिवि पत्तं तवोमयं परमं। तं पत्तं संसारे तारणयं होइ णियमेण ॥५०५॥—भा० सं०

प्रभाचन्द्राचार्यने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें नीचे लिखी गाथा उद्धृत की है—

> णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
> ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

यह गाथा भावसंग्रहमें बिल्कुल इसी रूपमें वर्तमान है और उसकी क्रम संख्या ११० है। न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने उक्त ग्रंथकी भूमिकामें प्रभाचन्द्राचार्यका समय ९८० ई० से १०६५ तक निश्चित किया है। किन्तु भाव संग्रहकी उक्त स्थितिको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त गाथा भावसंग्रहसे ली गई है।

भावसंग्रह अवश्य ही कम से कम भारतमें गजनीके आक्रमणके पश्चात् रचा गया है। और उसे उसकी पूर्वावधि माना जा सकता है। तथा कर्मप्रकृति नामके संग्रह ग्रन्थमें कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो भावसंग्रहमें भी हैं और उनकी क्रमसंख्या भावसंग्रहमें ३२५ से ३३८ तक (नं० ३३० को छोड़कर) है। चूँकि कर्म प्रकृतिमें उन गाथाओंकी स्थिति उतनी संगत नहीं जान पड़ती जितनी भावसंग्रहमें है। अतः भावसंग्रहसे यदि उन्हें कर्मप्रकृतिमें संगृहीत किया माना जाये तो भावसंग्रहकी उत्तरावधि कर्मप्रकृतिके पूर्व हो सकती है। किन्तु कर्मप्रकृतिके संग्रहका समय भी सुनिश्चित नहीं है।

वामदेवकृत संस्कृत भावसंग्रह प्राकृत भावसंग्रहका ही छायानुवाद जैसा है। वामदेव रचित त्रैलोक्य प्रदीप ग्रन्थकी सं० १४३६ की लिखी हुई प्रति श्री महावीर जीके शास्त्र भण्डारमें है। अतः वामदेवने अपना भावसंग्रह यदि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें रचा हो तो यह निश्चित है कि प्राकृत भावसंग्रह उससे पूर्वका रचा हुआ है। पूर्वोल्लिखित बातोंको ध्यानमें रखते हुए प्राकृत भावसंग्रहको विक्रमकी १२वीं १३वीं शताब्दीका मानना ही उचित प्रतीत होता है। जैसा कि पं० परमानन्दजीका भी मत है।

गर्गर्षि रचित कर्मविपाक

शतक और सित्तरीसे प्रमाणित होता है कि जैन परम्परामें इस प्रकारके प्रकरणोंको रचनेकी प्रवृत्ति आरम्भसे ही रही है। उससे कर्मसिद्धान्तके एक एक विषयको समझनेमें सरलता होती है, अन्यथा यह सिद्धान्त इतना गहन और विस्तृत है कि साधारण बुद्धिका प्राणी उसका पार पाना तो दूर, उसमें प्रवेश करनेका भी साहस नहीं कर सकता। इस प्रकारके प्रकरण ग्रन्थ दोनों जैन परम्पराओंमें रचे गये। दिगम्बरमें तो आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसारके द्वारा जीव और कर्मविषयक मौलिक सिद्धान्तोंको दो भागोंमें निबद्ध कर दिया। किन्तु

श्वेताम्बर परम्परामें विभिन्न आचार्योंने छोटे २ प्रकरण रचकर उस कमीकी पूर्ति की।

आचार्य[1] गर्गर्षिने १६८ गाथाओंके द्वारा कर्मविपाक नामक ग्रन्थ रचा। जैसा कि ग्रन्थके नामसे प्रकट होता है इस ग्रन्थमें आठों कर्मों और उनकी उत्तर-प्रकृतियोंके विपाक (पककर फल देने) का कथन किया है। साधारणतया आठों कर्मोंकी १४८ प्रकृतियाँ ही मान्य हैं किन्तु नामकर्मकी प्रकृतियोंमें पाँच शरीरोंके अवान्तर भेदोंको ले लेनेसे उनकी संख्या १५८ भी हो जाती है। तदनुसार गर्गर्षि-ने अपने कर्मविपाकमें कर्मप्रकृतियोंकी संख्या १५८ ही मान्य की है।

आठों कर्मोंके स्वभावको बतलानेके लिये आठ दृष्टान्त दिये गये हैं—

पड-पडिहारसिमज्जा-हलिचित्त-कुलाल-भंडगारीणं।
जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा ॥

यह गाथा शतकमें है। फिर उसीसे प्राकृत दि० पञ्चसंग्रह, कर्मकाण्ड, और गर्गर्षिके कर्मविपाकमें भी ज्यों-की-त्यों ले ली गई है। केवल चतुर्थचरणमें थोड़ा-सा पाठ भेद है। कर्मविपाकमें गर्गर्षिने प्रत्येक दृष्टान्तका पृथक्से स्पष्टीकरण भी किया है। दिगम्बर परम्पराके भावसंग्रह और कर्मप्रकृतिमें भी वैसा किया गया है।

कर्मविपाकमें प्रत्येक कर्मप्रकृतिका कार्य पृथक् २ बतलाया है। इससे वह बहुत विस्तृत हो गया है, किन्तु उससे प्रत्येक प्रकृतिका कार्य स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है।

प्रकृतियोंके स्वरूपमें अन्तर

दोनों जैन परम्पराओंमें आठों कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोंकी संख्या तथा उनके नामोंमें अन्तर नहीं है। किन्तु कुछ उत्तरप्रकृतियोंके कार्योंमें और अर्थोंमे अन्तर[2] है। ऐसी प्रकृतियोंमें दर्शनावरण कर्मके अन्तर्गत पाँच निद्राएँ और नामकर्मके अन्तर्गत कुछ प्रकृतियां उल्लेखनीय हैं। उनमें भी नामकर्मके संहननके

---

१. 'भणिओ कम्मविवाओ समासओ गग्गरिसिणा उ ॥१६७॥
एवं गाहाण सयं अहियं छावट्ठिए पढिऊण।
जो गुरु पुच्छइ नाही कम्मविवागं च सो अइरा ॥१६८॥'—ग०क०वि०।

यह कर्मविपाक ग्रन्थ दो संस्कृत टीकाओंके साथ 'सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः के अन्तर्गत जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ था।

२. आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे प्रकाशित 'पहला कर्मग्रन्थ' पृ० १३३ आदिमें यह अन्तर दिया हुआ है।

भेद वज्रर्षभनाराच संहननका अर्थ विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। कर्मविपाकमें उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

> रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा।
> उभओ मक्कडबंधं नारायं तं वियाणाहि ॥१०९॥

यह गाथा जीव समास ग्रन्थसे ली गई है। अतः इसे प्राचीन होना चाहिये। इसमें कहा है—ऋषभ पट्टको अर्थात् परिवेष्टन पट्टको कहते हैं। वज्रका अर्थ कील जानना चाहिये और दोनों ओरसे मर्कटबन्धको नाराच जानना चाहिये। अर्थात् जिसमें दो हड्डियाँ दोनों ओरसे मर्कटबन्धमे बंधी हों, और पट्टकी आकृति वाली तीसरी हड्डीमे वेष्टित हों और ऊपरसे इन तीनों हड्डियोंको बीधने वाली कील हो उस संहननको वज्रऋषभनाराच कहते हैं।

दिगम्बर परम्परामें—संहनन अर्थात् हड्डी समूह, ऋषभ-वेष्टन, वज्रके समान अभेद्य होनेसे वज्रऋषभ कहलाता है। और वज्रके समान नाराचको वज्र नाराच कहते हैं। अर्थात् जिस संहनन नामकर्मके उदयसे वज्रमय हड्डियाँ, वज्र-मय वेष्टनसे वेष्ठित और वज्रमय नाराचसे कीलित होती है वह वज्रर्षभ नाराच शरीर संहनन है।' (षट्खं०, पु० ६, पृ० ७३)

यह अर्थभेद बहुत पुराना प्रतीत होता है। इसी तरहका अर्थ भेद कुछ अन्य प्रकृतियोंमें भी पाया जाता है।

इस कर्मविपाकको वृहत्कर्मविपाक भी कहते है। और इसे प्रथम प्राचीन कर्मग्रन्थ भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि देवेन्द्र सूरिने विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें चार कर्मग्रन्थोंकी रचना की थी जो नवीन कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। उन्हींके कारण पहलेके कर्मग्रन्थोंको प्राचीन तथा वृहत् विशेषण दिया गया है जिससे दोनोंका भेद परिलक्षित किया जा सके; क्योंकि देवेन्द्र सूरिने अपने कर्मग्रन्थोंको वही नाम दिया है।

आचार्य गर्गर्षि

आचार्य गर्गर्षिने अपने सम्बन्धमें कोई जानकारी नहीं दी और न अन्य स्रोत-से ही उनके सम्बन्धमें कोई जानकारी मिलती है। उनके कर्मविपाककी दो संस्कृत टीकाएँ मुद्रित हो चुकी है उनमेंसे एक टीका तो अज्ञातकर्तृक है। उसके कर्ताके सम्बन्धमें कोई भी बात ज्ञात नहीं है। दूसरी टीका परमानन्द सूरिकी रची हुई है। यह कुमारपालके (सं० ११९९–१२३०) राज्यमें वर्तमान थे। उनकी टीका की एक ताड़पत्रीय प्रति सं० १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध[1] है। और गर्गर्षि कुमारपालसे पहले हो गये हैं।

---

१. जै० सा० इ० (गु०), पृ० ३९०।

सिद्धर्षिने अपनी उपमिति भव प्रपञ्च कथामें गर्गर्षिका गुरु रूपसे स्मरण किया है। और उक्त कथा उन्होंने सं० ९६२ में समाप्त की थी। अतः गर्गर्षि और उनकी कृति कर्मविपाकका समय विक्रमकी नौवीं शताब्दीका अन्तिम चरण या दशवींका प्रथम चरण होना चाहिये।

गोविन्दाचार्य रचित कर्मस्तव वृत्ति

कर्मस्तव[1] के सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परामें उसे द्वितीय प्राचीन कर्म ग्रंथके रूपमें माना जाता है। इस पर २४ और ३२ गाथात्मक दो भाष्य भी हैं। उनके कर्ता आदिके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। तथा गोविन्दाचार्य रचित एक संस्कृत वृत्ति है। इस वृत्तिकी एक प्रति १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध है। अतः यह निश्चित है कि ग्रन्थकार उससे पहले हो गये हैं।

बन्धस्वामित्व[2]

यह एक ५४ गाथाओंका प्रकरण ग्रन्थ है। जैसा कि नामसे प्रकट होता है, इसमें चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे कर्मप्रकृतियोंके बन्धके स्वामियोंका कथन है। इसके कर्ताका नाम अज्ञात है। अन्तिम गाथामें उसने कहा है—'मुझ[3] जड़बुद्धि-ने पूर्व सूरि रचित प्रकरणोंमेंसे कर्मस्तवको सुनकर इस बन्ध स्वामित्वको रचा।' अतः कर्मस्तवके पश्चात् इसकी रचना हुई है। इस प्रकरण पर हरिभद्रसूरि रचित एक संस्कृत टीका है। यह बृहद्गच्छके मानदेव सूरि जिनदेव उपाध्यायके शिष्य थे। इन्होंने जयसिंहके राज्यमें वि० सं० ११७२ में बन्धस्वामित्व षडशीति आदि कर्मग्रन्थों पर वृत्ति रची थी। इन्होंने अपनी टीकामें[4] कर्मस्तव टीकाका निर्देश किया है। यदि यह टीका गोविन्दाचार्य रचित है तो गोविन्दाचार्यका समय उनसे पहले होना चाहिये।

जिनवल्लभ गणि रचित षडशीति

यह छियासी गाथाओंका एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसीसे इसका नाम षडशीति

---

१. यह कर्मस्तव भी गोविन्दाचार्यकी टीकाके साथ आत्मानन्दसभा भावनगरसे 'सटीकाः चत्वारः कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुका है।

२. यह बन्धस्वामित्व भी हरिभद्रसूरि रचित टीकाके साथ 'सटीकाः चत्वारः कर्मग्रन्थाः' के अन्तर्गत आत्मानन्द जैन सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।

३. 'इय पुव्वसूरि कय पगरणेसु जड़बुद्धिणा मए रइयं।
बंधसामित्तमिणं नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥५४॥'—ब० स्वा०।

४. 'आसां दसानामपि गाथानां पुनर्व्याख्यानं कर्मस्तवटीकातो बोद्धव्यमिति।
—प्रा० ब० स्वा० गा० १४।

है। इसमें ग्रन्थकारने जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या आदिका कथन किया है। इसका दूसरा नाम आगमिक वस्तु विचारसार भी है।

इसमें जो विषय वर्णित है वह सब गोमट्टसार जीवकाण्डमें है। किन्तु दोनों-की शैलीमें बहुत अन्तर है। जीवकाण्डमें बीस प्ररूपणाएँ हैं और प्रत्येक प्ररूपणा-का उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। प्रकृत षडशीति तो उसका एक अंश जैसा है। अनेक स्थलोंमें दोनोंमें मतभेद[1] भी है।

इसके रचयिता जिनवल्लभगणि[2] चैत्यवासी जिनेश्वर सूरिके शिष्य थे और उन्होंने नवांग वृत्तिकार अभयदेव सूरिके पास विद्याध्ययन किया था। इससे वह चैत्यवासके विरोधी हो गये और उन्होंने अभयदेव सूरिसे दीक्षा ली। बादको वे उनके पट्टधर हुए और सं० ११६७ में उनका स्वर्गवास हुआ।

इस ग्रंथकी तीन वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। एक वृत्ति तो बन्धस्वामित्व पर वृत्ति-के रचयिता हरिभद्रसूरिकी है। दूसरी वृत्ति मलय गिरिकी है। तीसरी वृत्ति यशो-भद्र सूरिकी है। इनमेंसे पहली दो वृत्तियोंके साथ षडशीतिका प्रकाशन आत्मानन्द सभा भावनगरसे हुआ है।

ये सब वृत्तियाँ विक्रमकी १२वीं १३वीं शताब्दी की हैं।

जिन वल्लभ गणिका एक सार्धशतक नामक ग्रंथ भी है। इसमें १५५ गाथायें हैं और ११० गाथाओंका उसपर एक भाष्य है। उसके कर्ताका नाम ज्ञात नहीं है। मुनिचन्द्र सूरिने वि० सं० ११७० में उस पर चूर्णि रची थी और धनेश्वर सूरिने उसी समयके लगभग उस पर वृत्ति रची थी।

देवेन्द्रसूरि रचित नव्य कर्मग्रन्थ

आचार्य देवेन्द्रसूरिने पाँच कर्मग्रन्थोंकी रचना की थी और उन्होंने उनका नामकरण भी पूर्वमें विद्यमान प्रकरणोंके नामोंके आधारपर कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धवामित्व, षडशीति और शतक ही रखा था। वास्तवमें उनके ये पाँचों कर्म-ग्रन्थ स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही उनकी रचना हुई है। यद्यपि ग्रन्थोंका नाम, विषय, वस्तु वर्णनका क्रम आदि प्रायः सभी उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थोंका ऋणी है। तथापि उसमें जो वैशिष्ट्य है वह ग्रन्थकारके वैदुष्य और रचना चातुर्यका परिचायक है। इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी इस विशि-ष्टताके कारण ही प्राचीन कर्मग्रन्थोंकी ओरसे पाठक उदासीन जैसे बन गये।

---

१. जै० सा० इ० (गु०), पृ० २३०–३१।

२. श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे षडशीति नामक नवीन चतुर्थ कर्मग्रंथका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उससे मतभेदोंको जाना जा सकता है।

हमने भी इसीसे उनका साधारण परिचय देकर सन्तोष कर लिया क्योंकि नवीन कर्मग्रन्थोंके विषयमें आवश्यक वक्तव्य देना अपेक्षित था ।

उक्त नामके प्राचीन पाँचों कर्मग्रन्थ विभिन्न आचार्योंकी कृति होनेसे विभिन्न कालोंमें रचे गये थे । अतः उनका कोई क्रम निर्धारित नहीं था । देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचों कर्मग्रन्थोंको पुराना नाम देकर जो क्रम निर्धारित किया, उसी क्रमके अनुसार प्राचीन कर्मग्रन्थोंको भी पहला दूसरा आदि संज्ञाएँ दे दी गई । फलतः कर्मविपाक पहला, कर्मस्तव, दूसरा, बन्धस्वामित्व तीसरा, षडशीति चौथा और शतक पाँचवा कर्मग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया ।

यह क्रम इतना अधिक रूढ़ हो गया है कि इन कर्मग्रन्थोंके मूलनामसे अपरिचित भी प्रथम, द्वितीय आदि कर्मग्रन्थ कहनेसे ठीक-ठीक समझ जाते हैं ।

कर्मविपाक

इस प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्मोंकी सब प्रकृतियोंके विपाकका ही मुख्य रूपसे कथन है । उस कथनको पाँच भागोंमें बाटा जा सकता है—

१—प्रत्येक कर्मके प्रकृति आदि भेदोंका कथन । २—कर्मोंकी मूल तथा उत्तरप्रकृतियाँ । ३—पाँच प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनोंका कथन । ४—सब प्रकृतियोंका दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन और ५—सब प्रकृतियोंके कारणों का कथन । इसमें केवन ६० गाथाएँ हैं । और इस तरह यह प्राचीन कर्मविपाकसे बहुत छोटा है । किन्तु उससे इसमें विषय अधिक है । आठों कर्मोंके बन्धके जो कारण शतकमें बतलाये है, देवेन्द्रसूरिने उन्हें कर्मविपाकमें ही दे दिया है ।

प्राचीन कर्मविपाकमें श्रुतज्ञानावरण कर्मका वर्णन करते हुए श्रुतज्ञानके चौदह भेदोंका निर्देश मात्र किया है । किन्तु इस कर्मविपाकमें एक गाथाके (६) द्वारा उन चौदह भेदोंको गिनाया है और एक गाथा (७) के द्वारा श्रुतज्ञानके उन बीस भेदोंको भी गिनाया है जो षड्खण्डागम और जीवकाण्डमें गिनाये गये है । श्वेताम्बर परम्परामें ये बीस भेद अन्य किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आये ।

२. कर्मस्तव

देवेन्द्रसूरि रचित इस नवीन कर्मस्तवमें केवल ३४ गाथाएँ हैं और इस तरह यह भी प्राचीन कर्मस्तवसे प्रमाणमें छोटा है । इसमें गुणस्थानोंमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका कथन थोड़ेमें बड़े सुन्दर ढंगसे किया गया है ।

३. बन्धस्वामित्व

बन्ध स्वामित्व नामके इस तीसरे कर्मग्रन्थकी गाथा संख्या मात्र २४ है । और इस तरह प्राचीन बन्ध स्वामित्वसे प्रमाणमें यह भी छोटा है । दोनोंमें विषय समान होते हुए भी प्राचीनमें जो बात विस्तारसे कही है नवीनमें उसे

परिमित शब्दोंमें कहा है। इसीसे गति आदि मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी संख्याका निर्देश जैसा प्राचीन बन्धस्वामित्वमें अलगसे किया है, नवीन कर्मग्रन्थमें वैसा नहीं किया। किन्तु गुणस्थानोंको लेकर बन्ध स्वामित्वका कथन इस रीतिसे किया है उनका ज्ञान पाठकको स्वतः हो जाता है।

४. षडशीति

षडशीति नामक चतुर्थ कर्मग्रन्थमें प्राचोनकी तरह ही ८६ गाथाएँ हैं। इसीसे दोनोंके षडशीति नाममें भी समानता है। किन्तु प्राचीनकी टीकाके अन्तमें टीकाकारने उसका नाम 'आगमिक वस्तु विचारसार' दिया है, जबकि नवीनके कर्ताने 'सूक्ष्मार्थ विचार' नाम दिया है। प्राचीनकी तरह नवीनमें भी मुख्य अधिकार तीन ही हैं—जीवस्थान, मार्गणा स्थान और गुणस्थान। किन्तु गाथा-संख्या समान होते हुए भी नवीनमें ग्रन्थकारने विषयका विस्तारपूर्वक कथन किया है। 'भाव' और 'संख्या' का कथन प्राचीनमें नहीं है किन्तु नवीनमें विस्तारसे है।

शतक

शतक नामक इस पञ्चम कर्मग्रन्थका नाम शतक होते हुए भी प्राचीन शतकसे इसके विषयवर्णनमें अन्तर है। सबसे प्रथम ध्रुवबन्धिनी, देशघाती, अघाती, पुण्यरूपा, पापरूपा, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना कर्मप्रकृतियोंका कथन है। फिर उन्हीं प्रकृतियोंमें कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गलविपाकी हैं यह बतलाया है। फिर बन्धके चार भेदोंका स्वरूप बतलाकर उनका कथन किया है। प्रकृतिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोंको बतलाया है। स्थितिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तप्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवोंमें उसका प्रमाण निकालनेकी रीति, और उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बन्धके स्वामियोंका कथन किया है। प्रदेशबन्धका कथन करते हुए वर्गणाओंका स्वरूप, उसकी अवगाहना, बद्ध कर्मदलिकोंका मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें बटवारा, कर्मके क्षपणमें करण ग्यारह गुणश्रेणियाँ, गुणश्रेणी रचनाका स्वरूप, गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसंगवश पल्योपम सागरोपम और पुद्गल परावर्तके भेदोंका स्वरूप, योगस्थान वगैरहका अल्पबहुत्व और लोक आदिका स्वरूप बतलाया है। तथा अन्तमें उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणिका कथन किया है। इनमेंसे बहुतसे कथन प्राचीन शतकमें नहीं हैं।

कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञ टीका

देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचों कर्मग्रन्थों पर संस्कृतमें टीका भी बनाई है। और

उनकी टीका उनकी विद्वत्ता और रचना चातुर्य्यकी परिचायिका है। इससे उनकी अध्ययन शीलताका पता चलता है। उनकी टीकाएँ कर्मसाहित्यके उद्धरणोंसे और कर्मविषयक विविध चर्चाओंसे भरी हुई हैं। उसको देखनेसे उनके कर्मविषयक पाण्डित्यके प्रति गहरी आस्था होती है। टीकाकी शैली प्रसन्न और भाषा सरल है। कर्मसाहित्यके अभ्यासीके लिए यह टीका अवश्य ही अवलोकनीय है।

ग्रन्थकार तथा उनका समय

उक्त कर्मग्रन्थोंके रचयिता श्री देवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाके अन्तमें अपनी प्रशस्ति दी है। उससे ज्ञात होता है कि उनके गुरुका नाम जगच्चन्द्रसूरि था और वे चान्द्रकुलमें हुए थे। तथा विबुध श्री धर्मकीर्ति और विद्यानन्दसूरिने उनके कर्मग्रन्थोंकी टीकाका संशोधन किया था।

गुर्वावलि[1]में श्री जगच्चन्द्रसूरिके विषयमें लिखा है कि वि०सं० १२८५में इन्होंने उग्र तप धारण किया, इससे इनकी ख्याति 'तपा' नामसे हो गई और इनका वृद्धगच्छ तपागच्छ नामसे प्रसिद्ध हुआ। दैलवाराके प्रसिद्ध मन्दिरोंके निर्माता श्री वस्तुपाल तेजपाल इनका बहुत आदर करते थे। तपागच्छकी स्थापनाके बाद श्री जगच्चन्द्रसूरिने अपने शिष्य देवेन्द्रसूरि और विजयचन्द्रसूरिको सूरिपद दिया।

श्री देवेन्द्रसूरिने उज्जैनी नगरीके वासी सेठ जिनचन्द्रके पुत्र वीरधवलको प्रतिबुद्ध करके वि०सं० १३०२में दीक्षा दी थी और वि०सं० १३२३में गुजरातके प्रल्हादनपुर नामक नगरमें उसे सूरिपद दिया था। यही वीरधवल विद्यानन्दसूरिके नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्होंने अपने गुरु श्री देवेन्द्रसूरि रचित कर्मग्रन्थोंकी टीकाका संशोधन किया। गुर्वावलीके अनुसार वि०सं० १३२७में देवेन्द्रसूरिका स्वर्गवास हुआ। अतः उनका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा चौदहवींका पूर्व भाग है।

संस्कृत कर्मग्रन्थ

विक्रमकी १५वीं शताब्दीके प्रारम्भमें जयतिलक सूरिने संस्कृतके ५६९ श्लोकोंमें चार कर्मग्रन्थोंकी रचना की थी।

कर्मप्रकृति नामक अन्य ग्रन्थ

जिन रत्नकोशमें कर्मप्रकृति नामक आठ ग्रन्थोंका निर्देश हैं। इनमेंसे पहलीके रचयिता शिवशर्म सूरि हैं इसके सम्बन्धमें पीछे विस्तारसे लिख आये हैं। दूसरी-

---

१. 'तदादिवाणद्विप भानुवर्षे श्रीविक्रमात् प्राप तदीयगच्छः।
वृहद्गणाह्वोऽपि तपेति नाम श्रीवस्तुपालादिभिरर्च्यमानः।'

के रचयिता तपागच्छके यशोविजय सूरि हैं जो विक्रमकी १८वीं शतीके पूर्वार्धमें हुए हैं। तीसरीके रचयिता नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक हैं। इसकी प्रतियाँ अनेक भण्डारोंमें पाई जाती है। चौथीके रचयिता ऋषभनन्दि हैं। आरा जैनसिद्धान्त भवनकी ग्रन्थसूचीमें ऐसा ही छपा हुआ है। उसीका निर्देश जिन रत्नकोशमें है। हमने आरासे उसकी प्रति मंगाई तो नेमिचन्द्र सैद्धान्तिककी कर्मप्रकृति आई। अतः उक्त ऋषभनन्दिका निर्देश भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है किन्तु उस भ्रमका कारण क्या है यह चिन्त्य है। अस्तु,

पाँचवीके रचयिता सुमतिकीर्ति हैं। किन्तु यह उल्लेख भी भ्रमपूर्ण ही प्रतीत होता है। कोशमें लिखा है कि ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी सूचीमें कर्मप्रकृति टीकाको ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति रचित बतलाया है। वही ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि उसकी प्रति देहली और जयपुरके शास्त्र भण्डारोंमें भी वर्तमान है। अस्तु,

नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक रचित कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थकी गाथा संख्या १६२ है। यह कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है किन्तु संकलित है। और इसका संकलन गोम्मटसारके कर्मकाण्डसे किया गया है। इसमें प्रकृति समुत्कीर्तन, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और मूलप्रकृतियोंके बन्धके कारणोंका कथन है जो कर्मकाण्डके प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकार, बन्धोदयसत्ता नामक द्वितीय अधिकार और प्रत्यय नामक छठे अधिकारसे संकलित किया गया है और आवश्यकतानुसार संकलयिताने कुछ अन्य गाथाएँ भी यथास्थान उसमें सम्मिलित कर दी है जो सम्भवतया संकलयिताकी कृति हो सकती हैं।

कर्मप्रकृतिकी गाथाओंका पूरा विश्लेषण इस प्रकार है—कर्मकाण्डके प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकारकी पहली गाथासे कर्मप्रकृतिका प्रारम्भ होता है इस अधिकारकी प्रथम १५ गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान हैं। १५वीं गाथामें सप्तभंगीके द्वारा जानकर श्रद्धान करनेकी बात आई है अतः कर्मप्र०में १६वीं गाथा सात भंगोंका कथन करनेवाली है। यह गाथा पञ्चास्तिकायकी १४वीं गाथा है और वहींसे ली गई जान पड़ती है। इस एक गाथाके बीचमें बढ़ जानेसे कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिकी यथाक्रम गाथा संख्यामें एकका अन्तर पड़ गया है। आगे पुनः कर्मकाण्डकी २० पर्यन्त गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान हैं। कर्मकाण्डकी बीसवीं गाथामें जिसकी संख्या कर्मप्रकृतिमें २१ है, आठों कर्मोंके क्रमपाठका समर्थन करते हुए उसका उपसंहार किया गया है। इसके आगे पाँच गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें नवीन हैं। इनमें बतलाया है कि जीवके अनादिकालसे विविध कर्मोंका बन्ध होता है। उनका उदय होनेपर जीवके राग-द्वेषरूप भाव होते हैं। उन भावोंके कारण पुनः कर्मबन्ध होता है। उस बन्धके चार भेद हैं।

चालू चर्चाके मध्यमें उक्त कथन बिल्कुल बेमौके प्रतीत होता है। उसका गाथा २१ और २७ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्तु,

२७वीं गाथामें, जिसका नम्बर कर्मकाण्डमें २१ है आठों कर्मोंका स्वभाव उदाहरणके द्वारा प्रकट किया गया है। कर्मप्रकृतिकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उस गाथाका संस्कृतमें व्याख्यान किया गया है। आगे नवीन आठ गाथाओं-के द्वारा उसी कथनको विस्तारसे किया है अर्थात् एक एक गाथाके द्वारा एक-एक कर्मका स्वभाव बतलाया गया है। फिर गाथा ३६ में जिसका क्रमांक कर्म-काण्डमें २२ है प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंकी संख्या बतलाई है।

आगे जीवकाण्ड[1]के ज्ञानमार्गणाधिकारसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका लक्षण बतलानेवाली गाथाएँ देकर तथा दर्शन[2]-मार्गणाधिकारसे दर्शन, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन सम्बन्धी गाथाएँ देकर ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मोंकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं। दो गाथाओंके द्वारा जिनकी क्रमसंख्या ४७-४८ है, दर्शनावरणीयके भेद गिनाकर पांचो निद्राओंका स्वरूप तीन गाथाओंके द्वारा बतलाया है। ये तीनों गाथाएँ कर्मकाण्ड की हैं। कर्मकाण्डमें इनकी क्रमसंख्या २३, २४, २५ है और कर्मप्रकृतिमें ४९, ५०, ५१ है। गाथा ५२-५३ के द्वारा वेदनीय और मोहनीयके एक भेद दर्शनमोहनीयके भेद बतलाकर कर्मकाण्डकी २६वीं गाथाके द्वारा दर्शन-मोहनीयके तीन भेद कैसे हो जाते है यह बतलाया है।

आगे चारित्रमोहनीयके भेद गिनाये है। उसके लिये पहली दो गाथाएँ तो नई रची गई है। आगे कषायके भेदोंका कथन करनेवाली ५ गाथाएँ जीवकाण्ड[3]के कषायमार्गणाधिकारसे ली गई हैं।

फिर एक गाथा नं० ६२ के द्वारा नोकषायके भेद बतलाये हैं। आगे स्त्री और पुरुषकी व्युत्पत्ति करनेवाली दो गाथाएँ तथा नपुंसक वेदका स्वरूप बतलाने वाली एक गाथा जी. का.[4] के वेद मार्गणाधिकारसे ली है।

आगे आयु और नाम कर्मकी प्रकृतियोंको गिनाया है। कर्मकाण्डमें गा० २७ के द्वारा पाँच शरीरोंके संयोगीभेद, गा० १८के द्वारा शरीरके आठ अंग और गाथा २९–३२के द्वारा संहननोंके बारेमें विशेष कथन किया गया है तथा गाथा ३३के

---

१. जी० का०, गा० ३०५, ३१४, ३६९, ४३७, ४५९।

२. जी०का०, गा० ४८१, ४८३, ४८४, ४८५। इनमेंसे गा० ३०५ के उत्तरार्ध-में थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है।

३. जी०का०, गा० २८३, २८४, २८५, २८६ और २८२।

४. जी० का०, गा० २७२, २७३, २७४।

द्वारा आतप नामकर्म और उष्ण नामकर्मके अन्तरको स्पष्ट किया है। नामकर्मके भेदोंको बतलाते हुए कर्मप्रकृतिके संकलयिताने इन सब गाथाओंको यथास्थान संकलित कर लिया है। इस तरह सब कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या समाप्त होने पर्यन्त कर्म प्रकृतिकी गाथा संख्या १०३ हो जाती है। आगे पुनः कर्म-काण्डकी गाथा ३४ से ५१ तक यथाक्रम है। ५१ संख्याकी गाथाका नम्बर कर्म प्रकृतिमें १२२ है। यहीं प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार समाप्त हो जाता है। जबकि कर्मकाण्डके इस अधिकारमें ५१के बाद भी ३५ गाथाएँ शेष रह जाती हैं जो कर्म प्रकृतिमें नहीं ली गई हैं। अस्तु,

इसके बाद कर्म प्रकृतिमें स्थितिबन्धका कथन है। यह कर्मकाण्डसे संक-लित है। कर्मकाण्डके अन्तर्गत स्थिति बन्धाधिकारकी गा० १२७से १४४ तक ज्यों की त्यों यथाक्रम संकलित है। उनका नम्बर १२३ से १४० तक है। यहीं स्थिति-बन्धाधिकार समाप्त हो जाता है। यद्यपि कर्मकाण्डमें आगे भी चलता है। अनु-भागबन्धाधिकारमें केवल चार गाथाएँ हैं जो कर्मकाण्डके अनुभागबन्धा० की है। कर्मकाण्डमें उनका नम्बर १६३, १८०, १८१ और १८४ है।

आगे आठों कर्मोंके प्रत्ययोंका कथन भी कर्मकाण्डके प्रत्ययाधिकार नामक छठे अधिकारसे संकलित किया गया है। कर्मकाण्डमें ८०० से ८१० गाथा तक ग्यारह गाथाओंसे यह कथन किया गया है। किन्तु कर्मप्रकृतिमें गा० १४५ से १६२ तक १८ गाथाओंसे प्रत्ययोंका कथन है। उसका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिके संकलयिताने एक गाथाके द्वारा असाता वेदनीयके बन्धके कारणोंका, ५ गाथाओं-के द्वारा तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके कारणोंका और एक गाथाके द्वारा अशुभ नामकर्मके बन्धके कारणोंका विशेष कथन किया है जो कर्मकाण्डमें नहीं है। इससे गाथा संख्या बढ़ गई है।

इस तरह कर्मप्रकृति एक संकलित रचना है। मुख्य रूपसे कर्मकाण्डसे उसका संकलन किया गया है और कमी पूर्तिके रूपमें संकलयिताने उसके कुछ अन्य गाथाएँ भी जो उसकी स्वरचित प्रतीत होती हैं, जोड़ दी हैं। किन्तु संकलयिता-की रुचि कुछ विचित्र सी जान पड़ती है। उसने अनुभागबन्धकी केवल चार गाथाएँ ही संकलित की और प्रदेशबन्ध[1] को तो एक तरहसे छोड़ ही दिया है।

---

१. कर्मप्रकृतिकी गाथा २१–२६ में जीव प्रदेशों और कर्मप्रदेशोंके बन्धादिका कथन किया है। और गाथा २६ में बन्धके चार भेद बतलाकर उत्तरार्धमें लिखा है—'पयडिट्ठिदि अणुभागपएसबंधो पु कहिओ।' मुख्तार साहबने अपनी पु० वा० सू० की प्रस्ता० (पृ० ८३) के फुटनोटमें लिखा कि 'पयडि-ट्ठिदि अणु भागं पएसबंधो पुरा कहिओ' कर्मप्रकृतिकी अनेक प्रतियोंमें यही पाठ पाया जाता है जो ठीक जान पड़ती है क्योंकि 'जीवपएसेक्केक्के'

अथवा जिस रूपमें उसका कथन किया गया है वह संकलयिताकी बुद्धिमत्ताका परिचायक नहीं है। जो गाथाएँ उसकी स्वरचित हैं उनसे वह विशेष दक्ष प्रतीत नहीं होता।

संकलयिताका नाम तथा समय

प्रतिमें कर्मप्रकृतिके रचयिताका नाम नेमिचन्द सिद्धान्ति लिखा है। कर्म-काण्डके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती था। अतः यह नेमिचन्द सिद्धान्ती कोई दूसरे ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। मुखतार साहबने लिखा है—'मेरी रायमें यह कर्मप्रकृति या तो नेमिचन्द्र नामके किसी दूसरे आचार्य, भट्टारक अथवा विद्वान्की कृति है, जिनके साथ नामसाम्यादिके कारण 'सिद्धान्त चक्रवर्ती पद बादको कहीं कहीं जुड़ गया है, सब प्रतियोंमें यह नहीं पाया जाता। या किसी दूसरे विद्वान्ने उसका संकलन कर उसे नेमिचन्द्र आचार्यके नामांकित कर दिया है। ऐसा करनेमें उसकी दो दृष्टि हो सकती हैं, एक तो ग्रंथ प्रचारकी और दूसरी नेमिचन्द्रके श्रेय तथा उपकार स्मरणको स्थिर रखनेकी क्योंकि इस ग्रंथका अधिकांश शरीर आद्यन्त भागों सहित उन्हींके गोम्मटसारसे बना है। (पु० वा० सू० प्रस्ता०, पृ० ८८)।

यद्यपि संकलयिताके नामका निर्णय न हो सकनेसे उसके समयका निर्णय किया जा सकना शक्य नहीं है। तथापि हमारे सामने आरा जैन सिद्धान्त भवन-की जो प्रति उपस्थित है उस पर प्रति लेखनका काल सम्वत् १६६९ लिखा है। भट्टारक ज्ञान भूषण और सुमतिकीर्ति ने उस पर एक टीका भी लिखी है। पंच-संग्रहकी वृत्ति भी सुमतिकीर्तिकी लिखी हुई है और उसमें उसका रचनाकाल सम्वत् १६२० दिया है। उसका संशोधन भी ज्ञानभूषणने ही किया था। अतः यह वृत्ति भी उसी समयके लगभग की होनी चाहिये।

अतः इतना तो सुनिश्चित है कि विक्रमकी ११वीं शताब्दीके पश्चात् १६वीं

इत्यादि पूर्वकी तीन गाथाओंमें प्रदेश बन्धका ही कथन है। ज्ञानभूषणने अपनी टीकामें इसका अर्थ देते हुए लिखा है—'ते चत्वारो भेदाः के ? प्रकृति-स्थित्यनुभागाः प्रदेशबन्धश्च, अयं भेदः पुरा कथितः।' मुख्तार साहबने यह भी लिखा है कि मेरे पास कर्मप्रकृतिकी एक वृत्ति सहित प्रति और है जिसमें यहाँ पाँचके स्थान पर छै गाथाएँ हैं। छठी गाथा 'सो बंधो चउभेओ' से पूर्व इस प्रकार है—

'आउगभागो थोवो णामा गोदे समो तदो अहिओ।
घादि तिये वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये॥'

यह कर्मकाण्डकी गाथा १९२ है।

शताब्दी पर्यन्त ५०० वर्षोंके सुदीर्घ कालके अन्दर किसी समय इस कर्मप्रकृतिका संकलन किया गया है।

इस कालमें कब इसकी रचना हुई यही विचारणीय है—

संस्कृत क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्र त्रैविद्यके गुरुका नाम भी नेमिचन्द्र गणी था। उन्होंने क्षपणासारकी प्रशस्तिमें उन्हें सैद्धान्ताधिप लिखा है। कर्मकाण्डके आधार पर संकलित बन्ध त्रिभंगीके रचयिताका नाम एक प्रतिमें नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्र लिखा है। अतः क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्रके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्ती ही कर्मप्रकृतिके संकलयिता प्रतीत होते हैं। माधवचन्द्रने क्षपणासारको शक सं० ११२५ (वि०सं० १२६०)में रचा है। अतः कर्मप्रकृति भी इसी समयके लगभग संकलित की गई जान पड़ती है।

बन्धत्रिभंगी, उदयत्रिभंगी और सत्त्वत्रिभंगी

जिस तरह किसी संकलयिताने कर्मकाण्डके आधारसे कर्मप्रकृतिकी संकलना की है संभवतया उसी प्रकार कर्मकाण्डके आधार पर अन्य भी प्रकरण संग्रहीत किये गये हैं। इसी तरहके तीन प्रकरण कर्मकाण्डके बन्धोदय सत्त्व नामक दूसरे अधिकारसे संकलित किये गये हैं। कर्मप्रकृतिके संकलयिताकी तरह इनके संकलयिताने उक्त अधिकारसे अपनी रुचिके अनुसार गाथाएँ संकलित की हैं और आवश्यकताके अनुसार उनके बीचमें कुछ स्वरचित गाथाएँ भी जोड़ दी हैं।

इनमेंसे प्रथम प्रकरण बन्धत्रिभंगीका प्रारम्भ कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी प्रथम गाथासे होता है जिसकी क्रमसंख्या कर्मकाण्डमें ८७ है। ८७के बाद ८८वीं गाथा है और फिर कर्मकाण्डकी गा० ३४, ३७ यथाक्रम है। फिर कर्मप्रकृतिकी ५३-५४वीं गाथा यथाक्रम हैं। फिर कर्मकाण्डकी ३५वीं गाथा है। फिर कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी ८९, ९०, ९१ नम्बरकी तीन गाथाएँ छोड़कर ९२वीं से १०७ पर्यन्त गाथाएँ हैं। फिर जीवकाण्डकी १२८वीं और त्रिलोकसारकी २०३वीं गाथा है। पुनः कर्मकाण्डकी गाथा १०८ और १०९ हैं। फिर एक गाथा स्वरचित है। पुनः कर्मकाण्डकी गाथा ११० है। फिर स्वरचित गाथाएँ हैं। बीच-बीचमें कुछ व्याख्या भी संस्कृत में है। संदृष्टिया भी हैं। इस तरहसे बंधत्रिभंगी, उदयत्रिभंगी और सत्त्वत्रिभंगीका कथन किया गया है। कुल गाथा संख्या १४३ है। अन्तमें लिखा है 'तत्त्वत्रिभंगी समाप्ता।' शायद 'सत्त्व'के स्थानमें तत्त्व लिखा गया है। एक दूसरी प्रति भी उक्त भण्डारमें उसीके साथ है उसमें 'सत्त्वत्रिभंगी' लिखा हुआ है उसमें कुछ गाथाएँ अधिक है।

इनकी एक संस्कृत टीका भी है। उसके सम्बन्धमें आगे प्रकाश डाला जायेगा।

आराके जैनसिद्धान्त भवनमें त्रिभंगीके नामसे एक हस्तलिखित ग्रन्थ वर्तमान है उसमें ही उक्त प्रकरण वर्तमान है।

जिन रत्न कोशमें त्रिभंगीसार नामक एक ग्रन्थका निर्देश है जिसे नेमिचन्द्र सैद्धान्तिकका बतलाया है। उसके विवरणमें लिखा है कि इस ग्रन्थमें आगे लिखे विभाग हैं—१. आस्रवत्रिभंगी, २. बन्धत्रिभंगी, ३. उदय-उदीरणात्रिभंगी, ४. सत्तात्रिभंगी, ५. सत्त्वस्थानत्रिभंगी, ६. भावत्रिभंगी। इस ग्रन्थका निर्देश बम्बई रायल एशियाटिक सोसायटीकी बम्बई शाखामें स्थित हस्तलिखित प्रतियोंकी विवरणात्मक सूचीसे जिन रत्नकोशमें लिया गया है।

जिन रत्नकोशमें उसका विवरण देते हुए लिखा है कि त्रिभंगीसारके अन्तर्गत विभाग विभिन्न ग्रन्थ कर्ताओंके द्वारा रचे गये हैं—प्रथम आस्रवत्रिभंगीमें ६३ गाथाएँ हैं और वह श्रुतमुनिके द्वारा रचित है। द्वितीय बन्धत्रिभंगीमें ४४ गाथाएँ हैं और उनके रचयिता नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्र हैं। तीसरी उदयत्रिभंगीमें ७३ गाथाएँ हैं और उसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं। चौथी सत्तात्रिभंगीमें ३५ गाथाएँ हैं और उनके रचयिता भी नेमिचन्द्र हैं। पाँचवीं सत्त्वस्थानत्रिभंगीमें ३७ गाथाएँ हैं और उनके रचयिता कनकनन्दि हैं। इस पर नेमिचन्द्रकी टीका भी है। अन्तिम भावत्रिभंगीमें ११६ गाथाएँ हैं और यह भी श्रुतमुनिके द्वारा रचित है।

आराकी उक्त त्रिभंगी उक्त त्रिभंगीसार की ही प्रतिलिपि है। उसमें उक्त क्रमसे छहों त्रिभंगियाँ संकलित हैं। किन्तु उसमें बन्धत्रिभगी, उदयत्रिभंगी और सत्त्वत्रिभंगीके कर्ताका नाम नहीं दिया है। गाथा संख्यामें भी कुछ अन्तर है।

उक्त छहों त्रिभंगीमेंसे आदि और अन्तकी त्रिभंगी तो श्रुतमुनि रचित हैं। एक सत्त्वस्थानत्रिभंगी कनकनन्दि रचित हैं। यह कनकनन्दि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरुओंमें से थे। शेष तीन त्रिभंगी कर्मकाण्डसे संकलित की गई हैं। उनमेंसे एकका रचयिता नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्रको बतलाया है और शेषका नेमिचन्द्र को। जैसाकि कर्मप्रकृतिके सम्बन्धमें विचार करते हुए लिख आये हैं—क्षपणासार संस्कृतके रचयिता माधवचन्द्र और उनके गुरु नेमिचन्द्र सैद्धान्ताधिप या सैद्धान्ती ही उनके संकलयिता प्रतीत होते हैं।

श्रुतमुनिकी रचनाएँ—

भावत्रिभंगी

श्रुतमुनिके[1] द्वारा रचित इस भावत्रिभंगीमें जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक भावोंका कथन गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें ११६ गाथाओंके द्वारा किया गया है।

---

१. 'इदि गुणमग्गणठाणे भावा कहिया पबोह सुयमुणिणा।
सोहंतु ते मुणिंदा सुयपरिपुण्णा दु गुणपुण्णा ॥११६॥'—भा० त्रि०

कर्मकाण्डके भावचूलिका नामक सातवें अधिकारमें भावोंका कथन विविध भंगोंके साथ किया गया है। यहाँ भंगोंको छोड़कर सामान्य कथन है किन्तु कर्मकाण्डमें मार्गणाओंके आश्रयसे भावोंका कथन नहीं है, जबकि इस ग्रन्थमें है। पहले गुणस्थानोंमें कथन है और फिर मार्गणास्थानोंमें कथन है।

पाँचों भावोंके उत्तर भेदोंमेंसे किस स्थानमें कितने भाव होते है, कितने नही होते और कितने भाव उसी स्थानमें होकर आगे नहीं होते। इन तीन बातोंको लेकर भावोंका कथन होनेके कारण इसे भावत्रिभंगी कहते है। वैसे दूसरी[1] गाथामें तो सूत्रोक्त मूलभाव तथा उत्तरभावोंका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञाकी गई है। उसपरसे इसे 'भाव स्वरूप' नामसे कहा जा सकता है।

श्रीमाणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित भावसंग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उसमें भावत्रिभंगी नाम पर लगे पाद टिप्पणमें लिखा है कि पुस्तकके अन्तमें 'भावसंग्रहः समाप्तः' पाठ था किन्तु प्रारम्भमे उल्लिखित नामके अनुसार उसे परिवर्तित करके 'भावत्रिभंगी समाप्ता' ऐसा छापा गया है। इसपरसे उसका भावसंग्रह नाम भी ज्ञात होता है।

पुस्तकके साथमें संदृष्टियाँ भी बनी हुई है। संभव है ये संदृष्टियाँ श्रुतमुनिने ही अपने ग्रन्थमें बनाकर लगा दी हों। इनसे ग्रन्थका विषय स्पष्ट हो जाता है।

रचना सरल और स्पष्ट है। प्रत्येक बातको बहुत सरलता और स्पष्टताके साथ कहा गया है। और उसका आधार कर्मकाण्डका सातवाँ अधिकार है। गोम्मटसारकी गाथाओंको अनुकृति उसकी गाथाओं पर छाई हुई है।

आस्रवत्रिभंगी

इन्हीं श्रुतमुनिकी दूसरी कृति आस्रवत्रिभंगी[2] है। कर्मकाण्डके प्रत्यय नामक छठे अधिकारमें भी आस्रवके प्रत्ययोंका कथन आया है। और यहाँ उस प्रकरण की दो एक गाथाएँ भी ज्योंकी-त्यों ले ली गई है। किन्तु कर्मकाण्डमें केवल गुणस्थानोंमें भंगोंके साथ कथन है जब कि यहाँ गुणस्थानोंमें सामान्य कथन है और उसके सिवाय चौदह मार्गणाओंमें भी प्रत्ययोंका कथन है जो कर्मकाण्डमें नहीं है। तथापि उसका आधार कर्मकाण्ड ही प्रतीत होता है। आस्रवके कारण

---

१. 'इदि वंदिय पंचगुरू सरूव सिद्धत्थ भवियबोहत्थं।
सुत्तुत्तं मुलुत्तरभावसरूवं पवक्खामि ॥२॥'—भा० त्रि०।

२. यह आस्रवत्रिभंगी माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित भावसंग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुकी है।

चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। मिथ्यात्वके ५ भेद हैं अविरतिके १२ भेद हैं, कषायके २५ और योगके १५ भेद हैं। इस तरह मूल प्रत्यय चार है और उत्तर प्रत्यय ५७ हैं। इनके निमित्तसे कर्मोंका आस्रव होता है।

ये आस्रव प्रत्यय किस गुणस्थानमें कितने होते हैं, कितने नहीं होते और कितने प्रत्यय उसी गुणस्थान तक होते हैं आगे नहीं होते, इन तीन भंगोंका कथन होनेसे इसका नाम आस्रवत्रिभंगी है। इसमें कुल ६२ गाथाएँ हैं और साथमें संदृष्टियाँ भी हैं।

श्रुतमुनिका परिचय और समय

श्रुतमुनिने अपने भावत्रिभंगी अथवा भावसंग्रह नामकग्रन्थके अन्तमें अपनी प्रशस्ति[1] दी है उससे ज्ञात होता है कि श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु बालेन्दु या बालचन्द्र थे और महाव्रतगुरु अभयचन्द्र सैद्धान्तिक थे। तथा शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे। इनका परिचय कराते हुए श्रुतमुनिने लिखा है कि कुन्दकुन्दान्वयके मूलसंघ, देशगण, पुस्तकगच्छकी इंगुलेश्वर शाखामें हुए मुनि प्रधान अभयचन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य बालचन्द्र मुनि थे। और शब्दागम, परमागम, तर्कागमके पूर्णज्ञाता अभयसूरि सैद्धान्तिक थे। तथा सारत्रयमें निपुण, शुद्धात्मामें लीन और भव्य जीवोंका प्रतिबोध करनेवाले प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे।' श्रुतमुनिने बालचन्द मुनि और अभयसूरि सिद्धांतका जयघोष करनेके बाद दो गाथाओंके द्वारा चारुकीर्ति मुनिका भी जयघोष किया है।

श्रुतमुनिके द्वारा रचित एक ग्रन्थ परमागमसार है उसमें भी उक्त प्रशस्ति

---

१. 'अणुवदुगुरु बालेन्दु महव्वदे अभयचंद सिद्धंति। सत्थेऽभयसूरि पभाचंदा खलु सुयमुणीस गुरु ॥११७॥ श्रीमूलसंघ देसियगणपुत्थयगच्छकोंडकुंदाणं। परपण्णइंगलेसरवलिम्हि जादस्स मुणिपहाणस्स ॥ सिद्धंताभयचंदस्स य सिस्सो बालचंदमुणिपवरो। सो भव्वकुवलयाणं आणंदकरो सया जयउ ॥११९॥ सद्दागम-परमागम-तक्कागम णिरवसेसवेदी हु। विजिदसयलण्णवादी जयउ चिर अभयसूरि सिद्धंती ॥१२०॥ णयणिक्खेवपमाणं जाणित्ता विजिदसयलपरसमओ। वरणिवयिणि वह वंदियपयपम्मो चारुकीत्तिमुणी ॥१२१॥ णाद णिक्खिलत्थसद्दो सयलणरिंदेहिं पूजियो बिमलो। जिणमग्गगयणसूरो जयउ चिरं चारुकित्तिमुणी ॥१२२॥ वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहियपरभावो। भवियाणं पडिवोहणपरो पहाचंदणाम मुणी ॥१२३॥'—भा० त्रि० प्रश०।

दी है किन्तु उसमें उसका रचनाकाल भी दिया है जो शक सं० १२६३ (वि० सं० १३९८) है अतः श्रुतमुनि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए हैं।

श्रवणबेल गोलाके विन्ध्यगिरि पर्वतके एक शिलालेख[2] नं० १०५ में अभयचन्द्रके शिष्य श्रुतमुनिकी बड़ी प्रशंसा की गई है। इसमें चारुकीर्ति और अभयसूरिकी भी प्रशंसा है। अतः यह श्रुतमुनि ही प्रतीत होते हैं। यह शिलालेख शक सं० १३२० का है अर्थात् परमागमसारकी रचनाके ५७ वर्ष पश्चात् का है।

चन्द्रगिरि पर्वत परके एक अन्य शिलालेखमें भी अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डितका उल्लेख है। यह शिलालेख शक सं० १२३५ का है। ये दोनों श्रुतमुनिके व्रत गुरु ही प्रतीत होते है।

इन्हीं अभयचन्द्रको डॉ० उपाध्येने गोम्मटसारकी मन्द प्रबोधिकाका रचयिता माना है। किन्तु बेलूर शिलालेखोंके आधारपर अभयचन्द्रका स्वर्गवास सन् १२७९ में और बालचन्द्रका ईस्वी १२७४ में बतलाया है जो ठीक प्रतीत नहीं होता। मन्द प्रबोधिकाकी रचनाके समयकी चर्चामें इसपर प्रकाश डाला गया है।

केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति शक सं० १२८१ में बनाकर समाप्त की थी। केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे। अभयसूरि श्रुतमुनिके शास्त्र गुरु प्रतीत होते हैं। क्योंकि परमागमसारकी रचनाके १८ वर्ष बाद केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति समाप्त की थी। अतः श्रुतमुनिके वह लघु समकालीन थे, यह निश्चित है।

पंचसंग्रहकी प्राकृत टीका

पञ्चसंग्रह पर एक प्राकृत टीका है उसकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उसका लेखनकाल संवत् १५२६ दिया है। यह टीका किसने कब रची इसका कोई पता उससे नहीं चलता। किन्तु इतना निश्चित है कि धवला टीकाके पश्चात् ही उसकी रचना हुई है क्योंकि टीकाके प्रारम्भमें धवलाकी तरह मंगल निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता की चर्चा है जो धवलासे ली गई है किन्तु यथास्थान उसमें कुछ काट-छाट कर दी गई है। उल्लेखनीय बात यह है कि ग्रन्थका नाम बतलाते हुए 'आराधना' नाम बतलाया है। यथा—

'तत्थ गुणणामं आराहणा इदि। किं कारणं? जेण आराधिज्जंते अणआं दंसण-णाण-चरित्त-तवाणि त्ति।'

इससे प्रतीत होता है कि आराधना भगवतीकी प्राकृत टीकाका यह आद्यंश

---

१. 'सगगा (का) ले हु सहस्से विसयसिसट्ठिगदे दुविसवरिसे। मग्गसिर सुद्ध सत्तमि गुरुवारे गंथ संपुण्णो ॥२२३॥—जै० प्र० सं०, भा० १, पृ० १९१।

२. शि० सं०, भाग १, पृ० २०१।

होना चाहिये। भगवती आराधनाकी विजयोदया[1] टीकामें प्राकृत टीकाका उल्लेख है। किन्तु वह टीका धवलासे प्राचीन होनी चाहिये, अतः उसमें धवलाकी अनुकृतिकी संभावना नहीं की जा सकती। सम्भव है धवलाके बाद किसीने उस पर कोई प्राकृत टीका रची हो। किन्तु यह सब अनुमान मात्र है।

अन्य सब कथन धवलासे लेने पर भी उसके रचयिताने कर्ताके विषयमें परिवर्तन कर दिया है। धवलामें कर्ताके दो भेद बतलाये हैं अर्थकर्ता और ग्रंथकर्ता। किन्तु इसमें तीन भेद बतलाये हैं, मूलतंत्रकर्ता[2], उत्तरतंत्रकर्ता और उत्तरोत्तरतंत्रकर्ता। तथा भगवान महावीरको मूलतंत्रकर्ता, गौतम गणधरको उत्तरतंत्रकर्ता और लोहाचार्य तथा भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचार्यको उत्तरोत्तर तंत्रकर्ता लिखा है। यथा—

'कत्तारा तिविधा मूलतंतकत्ता, उत्तरतंतकत्ता, उत्तरोत्तरतंतकत्ता चेदि। तत्थ मूलतंतकत्ता, भगवं महावीरो। उत्तरतंतकत्ता गोदम भयवदो। उत्तरोत्तर तंतकत्ता लोहायरिया भट्टारक अप्पभूदिअ आयरिया।'

यहाँ उत्तरोत्तर तंत्रकर्तामें जो भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचार्य का नाम दिया है, वह टीकाके कर्ताके अन्वेषणकी दृष्टिसे चिन्त्य है।

आगे श्रुतज्ञान रूपी वृक्षका वर्णन है उसमें बारह अंगों और चौदह पूर्वोंका कथन धवलासे प्रायः ज्योंका त्यों ले लिया गया है। और अन्तमें लिखा है— 'एवं श्रुतवृक्षः समाप्तः।'

इसके पश्चात् पंचसंग्रह गत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार आता है। पञ्चसंग्रहमें इसका नम्बर दूसरा है और जीवसमास नामक अधिकारका पहला। किन्तु इस टीकामें प्रकृति समुत्कीर्तनको पहला स्थान दिया है।

प्रायः प्रत्येक अधिकारमें टीकाकार पहले ग्रन्थका मूलभाग जो प्रायः अधूरा होता है, देता है। फिर उसका व्याख्यान करता है। प्रत्येक गाथाका अलग-अलग व्याख्यान करनेकी पद्धति टीकाकारने नहीं अपनाई है।

प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें प्रकृतियोंका स्वरूप निरूपण प्राकृतगद्यमें बहुत सुन्दर रीतिसे किया गया है। और बीच-बीचमें कुछ गाथाएँ भी ग्रन्थान्तरसे उद्धृत की गई हैं।

टीकामें धवलाकी तरह प्राकृतके साथ यत्रतत्र संस्कृत भाषाका भी उपयोग

---

१. इसके परिचय तथा उल्लेखोंके लिये देखें—जै०सा० इ० पृ० ८४ आदि।

२. इयमूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदि विप्पवरो। उवतंते कत्तारो अणुतंते सेस आइरिया ॥८०॥—त्रि० प०, अधि० १।

किया गया है खास कर जहाँ व्युत्पत्ति आदि दी गई है। और इस तरह उसमें जानने योग्य विषयकी बहुतायत है। आभिनिबोधिक ज्ञानकी जो व्युत्पत्ति दी गई है वह अभी तक हमारे देखनेमें किसी ग्रन्थान्तरमें नहीं आई। यथा—

'आभिनिबोधिक ज्ञानमिति'—अ इति द्रव्य पर्यायः। भि इति द्रव्याभिमुखः 'निरिति निश्चयबोध इति।' बुध अवगमने धातुः। अभिनिबोधिक एव आभिनिबोधिकं वा प्रयोजनं अस्येति आभिनिबोधिकम्। आभिनिबोधिकमेव ज्ञानं आभिनिबोधिक ज्ञानम्। आभिनिबोधिक ज्ञानस्य आवरणं आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीयं चेति।

इसमें 'अ' का अर्थ द्रव्य और 'भि' का अर्थ द्रव्याभिमुख अश्रुत पूर्व हैं। समस्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर साहित्यमें 'अभिमुख नियमित बोध' अर्थ ही किया गया है। ज्ञानके भेदोंका अच्छा कथन ज्ञानावरणीय कर्मके कथनमें किया गया है।

नामकर्मकी कुछ प्रकृतियोंका स्वरूप कथन प्रायः तत्त्वार्थवार्तिकसे लिया गया है। किन्तु आनुपूर्वी नामकर्मका जो लक्षण किया है वह दिगम्बर परम्पराके शास्त्रोंमें हमारे देखनेमें नहीं आया। दिगम्बरीय[१] साहित्यके अनुसार आनुपूर्वी नामकर्मका कार्य पूर्व शरीर छोड़नेके बाद और नया शरीर धारण करनेके पहले विग्रह गतिमें जीवका आकार पूर्व शरीरके समान बनाये रखना है।

किन्तु टीकाकारने लिखा[२] है कि यदि आनुपूर्वी नामकर्म न होता तो जीव एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें नहीं जा सकता था। अतः क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें ले जाने वाला कर्म आनुपूर्वी है। यह लक्षण श्वेताम्बर परम्परासे मेल खाता है। उसके अनुसार आनुपूर्वी[३] नामकर्म समश्रेणिसे गमन करते हुए जीवको खींचकर उसके विश्रेणि पतित उत्पत्तिस्थानमें ले जाता है।

इसी तरह विहायोगति नामकर्मका स्वरूप बतलाते हुए लिखा[४] है—यदि

---

१. 'यदुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम ॥—त०वा० पृ० ५७७।

२. 'अनुपूर्वे भवा अनुपूर्वी अनुगतिः अनुक्रान्तिरित्यर्थः।.....यद्यानुपूर्वी नामकर्म न स्यात् क्षेत्रात् क्षेत्रान्तर प्राप्तिर्जीवस्य न स्यात्। अतः क्षेत्रान्तर प्रापक-कर्मानुपूर्वी नाम।'

३. देखो प्रथम कर्मग्रन्थके हिन्दी अनुवादका परिशिष्ट पृ० १३४।

४. 'विहायसि गति विहायोगतिः। यदि विहायोगति नामकर्म न स्यात् आकाशे जीवगतिर्न स्यात्। तदभावे अल्पप्रदेशानां भूम्यवस्थानं बहूवां आकाश व्यवस्थापनं पतनमेव स्यात्। यदि त्रसनाकर्म न स्यात् न त्रसति जीवः,

विहायोगति नामकर्म न होता तो आकाश में जीवकी गति न होती और उसके अभावमें अल्प प्रदेशी वस्तुओंका भूमिपर ठहरना और बहु प्रदेशी वस्तुओंका आकाशमें ठहरना (न) होता, पतन हो जाता। त्रस नामकर्मके लिये लिखा है कि यदि त्रस नामकर्म न होता तो दो इन्द्रिय आदि जीवोंमें आकुञ्चन, प्रसारण, निमीलन, उन्मीलन, हलन-चलन आदि न होता। तथा यदि, स्थावर नामकर्म न होता तो जीव न ठहरता।

ये सब लक्षण त्रस, स्थावर शब्दोंकी व्युत्पत्तिके आधारपर घड़े गये जान पड़ते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें भी इस तरहके लक्षण नहीं हैं। पता नहीं, टीकाकारने कहींसे इन्हें लिया है या स्वयं ही घड़ा है। अस्तु,

प्रकृति समुत्कीर्तनके पश्चात् कर्मस्तव नामक अधिकार आता है। कर्मस्तव मूलकी बन्धव्युच्छित्ति, उदीरणा व्युच्छित्ति और सत्त्व व्युच्छित्तिसे सम्बद्ध केवल सात गाथाओंको देकर उनका व्याख्यान कर दिया गया है। उसमें पहले मूल कर्मस्तव पूरा एक साथ दे दिया गया है। इस प्रकरणमें पंचसंग्रहमें जो भाष्य गाथाएँ हैं उनका यहाँ कोई निर्देश नहीं है।

उसके बाद 'जीव समास' आता है। उसकी जो गाथाएं इसमें हैं उनमें अनेक गाथाएँ ऐसी है जो मूल पंचसंग्रहके अन्तर्गत जीव समासमें नहीं हैं और बहुतसी गाथाएँ छोड़ भी दी गई हैं। पंचसंग्रहका परिचय कराते हुए जीव-समास नामक प्रकरणके सम्बन्धमें हमने लिखा था कि बीस प्ररूणाओंका कथन समाप्त हो जानेके बाद पुनः लेश्या वगैरहका कथन किया गया है जो असंबद्ध सा लगता है। इसमें वे सब गाथाएँ नहीं हैं और बीस प्ररूपणाओंके कथनकी समाप्तिके साथ ही प्रकरणको समाप्त कर दिया गया है। यह तो हुई मूल प्रकरणके सम्बन्धकी बात।

टीकाके नाम पर केवल दो स्थानोंपर टीका की गई है। एक तो प्रारम्भमें गुणस्थानके लक्षण वाली तीसरी गाथाके नीचे 'इदाणीं लद्धिविहंवत्तइस्सामो। लिखकर लब्धि विधान ? कथन है। इस लब्धि विधानमें प्रत्येक गुणस्थानमें कौन सा भाव क्यों होता है, इसका स्पष्ट और सुन्दर कथन है। दूसरी मार्गणाके मोक्षों वाली गाथाके नीचे चौदह मार्गणाओंकी व्युत्पत्ति की गई है जो धवला भाग एकसे ली गई है। बस, इस प्रकरणमें टीकाके नामपर इतना ही है।

आकुञ्चन-प्रसारण-निमीलनोन्मीलन-स्पन्दनादि त्रसनं। तद्द्वीन्द्रियादीनां न स्यात्। अतः त्रसनिर्वर्तकं त्रसनाम। यदि स्थावर नामकर्म न स्यात् नावतिष्ठति जीवः स्पन्दनाभावात्। अतः स्थावर निर्वर्तकं स्थावरनाम।'

इसके बाद शतक है। मूल शतककी प्रत्येक गाथाका व्याख्यान टीकाकारने किया है किन्तु पञ्चसंग्रह गत भाष्य गाथाएँ केवल तीस पैंतीसके लगभग ली गई हैं शेषको छोड़ दिया है। अन्तमें लिखा है—'सवयपंजिया समत्ता'। अर्थात् शतककी पंजिका समाप्त हुई।

शतकमें गत्यादि मार्गणाओंमें बन्ध स्वामित्वका कथन कर लेनेकी सूचना एक गाथाके द्वारा दी गई है। उसकी टीकामें टीकाकारने मार्गणाओंमें कर्म-प्रकृतियोंके बन्धादिका कथन विस्तारसे किया है। उसके अन्तमें तीन गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जह जिणवरेहिं कहियं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
आयरियकमेण पुणो जह गंगणइपवाहुव्व ॥१२॥
तह पउमणंदि मुणिणा रइयं भवियाण बोहणट्ठाए।
ओघेणादेसेण य पयडीणं बंधसामित्तं ॥१३॥
छउमत्थिया य रइअं जं इत्थ हविज्ज पवयणविरुद्धं।
तं पवयणाइ कुसला सोहंतु मुणी पयत्तेण ॥१४॥

इसमें कहा है कि जैसा जिनवरने कहा और गणधर देवोंने संकलित किया फिर जैसा गंगानदीके प्रवाहकी तरह आचार्य परम्परासे आया, वैसा ही ओघ और आदेशकी अपेक्षासे प्रकृतियोंके बन्धस्वामित्वको भव्यजीवोंको बोध करानेके लिये पद्मनन्दि मुनिने रचा। इस छद्मस्थके रचे हुएमें जो बात आगमविरुद्ध हो उसे प्रवचनमें कुशल मुनि प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करें।

यह पद्मनन्दि मुनि इस टीकाके रचयिता हैं अथवा टीकाकारने जहाँसे बन्ध-स्वामित्वको लिया है उसके रचयिता है, यह विना प्रमाणोंके प्रकाशमें निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पद्मनन्दी नामके अनेक आचार्य हुए हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दी था रज० प्रज्ञ० की प्रशस्तिमें उन्हें सिद्धान्त पारगामी भी लिखा है। तथा उसकी अन्तिम गाथा उक्त उद्धृत अन्तिम गाथासे बहुत अधिक मिलती है, जो इस प्रकार है—

छउमत्थेण विरइयं जं किं पि हवेज्ज पवयणविरुद्धं।
सोधंतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥१७०॥

तथा उसमें भी ग्रन्थकारका निर्देश 'मुणिपउमणंदिणा' करके है। अतः संभव है उन्होंने बन्धस्वामित्वका कथन किसी ग्रन्थमें किया हो और उसीसे टीकाकारने उसे लिया है। ज० प्र० की रचना विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें

हुई है। अतः उसके बाद ही यह टीका रची गई है यह निश्चित समझना चाहिये, क्योंकि जीवकाण्ड और त्रिलोकसारसे भी उसमें गाथाएँ उद्धृत हैं। अस्तु,

शतकके पश्चात् सित्तरीकी टीका है। इसमें टीकाकारने मूल सित्तरी तो प्रायः पूर्ण ले ली है किन्तु भाष्य गाथाएँ केवल ३० के लगभग ही ली हैं। टीका में शतककी टीकाका कई जगह उल्लेख किया गया है।

अन्तमें लिखा है—'एवं सत्तरि चूलिया समत्ता'।

टीकामें 'पञ्चसंग्रह' नामका निर्देश दृष्टिगोचर नहीं होता।

सिद्धान्तसार

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसंग्रह नामक २१वें पुष्पके प्रारम्भमें सिद्धान्तसार नामक प्रकरण ज्ञानभूषणके भाष्यके साथ प्रकाशित हुआ है। इसमें ७९ प्राकृत गाथाएँ है। उनके द्वारा ग्रन्थकारने चौदह मार्गणाओं-में जीवसमासोंका, गुणस्थानोंका, योगोंका और उपयोगोंका तथा चौदह जीव-समासोंमें योगोंका और उपयोगोंका, व चौदह गुणस्थानोंमें योगोंका और उपयोगों-का, फिर चौदह मार्गणाओंमें चौदह जीवसमासोंमें और चौदह गुणस्थानोंमें बन्धके ५७ प्रत्ययोंका कथन किया है।

इस तरहसे ग्रन्थकारने थोड़ी-सी गाथाओंके द्वारा काफी सैद्धान्तिक बातोंका कथन किया है।

ग्रन्थकार

सिद्धान्तासारादिसंग्रहके प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ताका परिचय देते हुए श्री नाथूराम जी प्रेमीने लिखा है—'इस संग्रहके प्रथम ग्रन्थ 'सिद्धान्तसार'के मूलकर्ता जिन-नामके आचार्य हैं जैसा कि उक्त ग्रन्थकी ७८वीं गाथासे और उसकी टीकासे भी मालूम होता है। प्रारम्भमें 'जिनेन्द्राचार्य' नाम संशोधककी भूलसे मुद्रित हो गया है।' सम्पादक और संशोधक पं० पन्नालालजी सोनीने भी उक्त गाथाके पाद-टिप्पणीमें लिखा है—'प्रारम्भे हि जिनेन्द्राचार्य' इति विस्मृत्य लिखितोऽस्माभि-रन्यमूलपुस्तकं विलोक्य' अर्थात् अन्य मूल पुस्तकको देखकर ग्रन्थके प्रारम्भमें हमने भूलसे 'जिनेन्द्राचार्य लिख दिया है। हमारे सामने भी आराके जैनसिद्धान्त भवनकी हस्तलिखित प्रतिके अन्तमें ग्रन्थकारका नाम जिनेन्द्राचार्य ही लिखा है।

गाथा ७८में 'जिनइंदेण पउत्तं' पाठ है। 'जिनइंद' का संस्कृत रूप जिनेन्द्र होता है जिनचंद्र नहीं होता। किन्तु भाष्यकार ज्ञानभूषणने 'जिणइंदेण जिनचन्द्र-नाम्ना सिद्धान्तग्रन्थ वेदिना' लिखा है। इससे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम जिनचंद्र मान लिया गया है।

किन्तु जिनेन्द्राचार्य नामके किसी ग्रन्थकारका पता अन्यत्रसे नहीं चलता जबकि जिनचंद्र[1] नामके सिद्धान्त वेत्ता अनेक विद्वान् हो गये हैं। उनमेंसे एक धर्मसंग्रह श्रावकाचारके कर्ता मेधावीके गुरु और पाण्डव पुराणके कर्ता शुभचन्द्रके शिष्य थे। तिलोय पण्णत्तिकी दान प्रशस्तिमें मेधावीने अपनी गुरुपरम्पराका परिचय देते हुए सरस्वती गच्छके प्रभाचन्द्र-पद्मनन्दि-शुभचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्रका उल्लेख किया हैं जो सैद्धान्तिकों की सीमा थे। उक्त प्रशस्ति वि०सं० १५१९ में लिखी गई है और उस समय जिनचन्द्र वर्तमान थे। परन्तु प्रेमीजीने उन्हें सिद्धान्तसारका कर्ता नहीं माना है; क्योंकि सिद्धान्तसारकी एक कनड़ी टीका प्रभाचन्द्रकृत है। और प्रभाचन्द्रका समय कर्नाटक कवि चरिते (द्वि०भा०)में तेरहवीं शताब्दी अनुमान किया है।

दूसरे जिनचन्द्र तत्त्वार्थसूत्रकी सुखबोधिका टीकाके कर्ता भास्करनन्दिके गुरु थे। इनका ठीक समय मालूम नहीं है। पं० शान्तिराज शास्त्रीने वि०सं० १३५३ के लगभग अनुमान किया है। इन्हें भी भास्करनन्दिने महासैद्धान्त कहा है। यदि उक्त अनुमानित समय ठीक हो तो ये भी सिद्धान्तसारके कर्ता नहीं हो सकते। इस तरहसे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम तथा समय दोनों ही विवाद-ग्रस्त है।

किन्तु ग्रन्थके अन्तरंग परीक्षणसे यह स्पष्ट है कि गोम्मटसारको पढ़कर ग्रन्थकारने उसकी रचना की है। उसका प्रारम्भ ही जीवकाण्डके अन्तकी दो गाथाओंको लेकर हुआ है वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

> सिद्धाणं सिद्ध गई केवलणाणं व दंसणं खयियं।
> सम्मतमणाहारं उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥७३२॥
> गुण जीव ठाण रहिया सण्णापज्जत्तिपाण परिहीणा।
> सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥७३३॥

और सिद्धान्तसारके प्रारम्भकी दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

> जीवगुणठाणसण्णा पज्जत्तिपाण मग्गणाणवूणे।
> सिद्धंतसारमिणमो भणामि सिद्धे णमंसिता ॥१॥
> सिद्धाणं सिद्धगई दंसण णाणं च केवलं खइयं।
> सम्मत्तमणाहारे सेसा संसारिए जीवे ॥२॥

अतः ग्यारहवीं शताब्दीके पश्चात् ही सिद्धान्तसार रचा गया है। और चूँकि

---

१. देखो—'जिनचन्द्र, ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र' शीर्षक निबन्ध, जै०सा०इ०, पृ० ३७८।

सिद्धान्तसारकी कनड़ी टीकाके कर्ता प्रभाचन्द्रका समय तेरहवीं शताब्दी अनुमान किया गया है, अतः बारहवीं शताब्दीके लगभग सिद्धान्तसार रचा गया होना चाहिये।

सकलकीर्तिका कर्मविपाक

सकलकीर्ति विरचित कर्मविपाक संस्कृत भाषामें रचित एक सुन्दर सरल ग्रन्थ है। इसमें प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका साधारण कथन है। अधिकतर कथन गद्यमें है। प्रत्येक प्रकरणके प्रारम्भमें श्लोक हैं जो नमस्कारात्मक है। प्रकृतिबन्धमें कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके लक्षण विस्तार-से कहकर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके बन्ध और अबन्धका कथन बड़े स्पष्ट रूपमें किया है, केवल संख्या न बतलाकर प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं। फिर स्थितिबन्धका कथन है। उसमें प्रत्येक प्रकृतिकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति विस्तारसे बतलाई है। फिर अनुभाग बन्धका कथन है। और फिर प्रदेशबन्ध-का कथन है। उसमें प्रत्येक कर्मके बन्धके कारणोंका कथन तत्त्वार्थसूत्र तथा उसकी टीकाओंके आधारसे किया है। अन्तमें गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके क्षयका कथन किया है।

इस ग्रन्थमें तो सकलकीर्तिने अपना कोई परिचय नहीं दिया। किन्तु अन्य ग्रन्थकारोंने इनका स्मरण बड़े आदरके साथ किया है। इसका कारण यह है कि यह मूलसंघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छकी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इनकी शिष्य परम्परामें अनेक विद्वान भट्टारक ग्रन्थकार हुए हैं और उन्होंने अपने पूर्वज सकलकीर्तिका स्मरण बड़े आदरके साथ किया है।

कामराजकृत जयपुराणकी प्रशस्तिमें[1] लिखा है कि सकलकीर्ति भट्टारकने गुजरात और बागड़ आदि देशोंमें जैनधर्मका उद्धार किया था। भ० सकलकीर्ति के शिष्य और लघुभ्राता ब्र० जिनदासने भी अपने ग्रन्थोंमें सकलकीर्तिका स्मरण बड़े गौरवके साथ किया है। प० परमानन्दजीने[2] लिखा है कि सं० १४४४ में वह ईडरकी गद्दी पर बैठे थे और सं० १४९९ के पूषमासमें उनकी मत्यु महसाना (गुजरात) में हुई थी। महसानामें उनका समाधि स्थान भी बना हुआ है। पं०

---

१. 'आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत्।
स सकलकीर्ति योगीशो ज्ञानी भट्टारकेश्वर ॥२१॥
येनोद्धृतो गतो धर्मो गुर्जरे वाग्वरादिके।
निर्ग्रन्थेन कवित्वादि गुणानेवार्हता पुरा ॥२२॥
—जै० प्र० सं० भा १, पृ० ४०।

२. जै० सं० १ भा०, प्रस्ता, ४० १०-११।

परमानन्दजीने यह भी लिखा है। कि सकलकीर्तिके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियोंके कितने ही अभिलेख सं० १४८० से १४९२ तकके मेरी नोटबुकमें दर्ज है। अतः यह निश्चित है कि वे विक्रमकी १५वीं शतीके उत्तरार्द्धके विद्वान हैं। उनके द्वारा रचित कुछ ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार है—

सिद्धान्तसार दीपक, धन्यकुमार चरित्र, कर्म विपाक, सद्भाषितावली, धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, मूलाचार प्रदीप, सुकुमालचरित्र, जम्बूस्वामिचरित्र, श्रीपाल चरित्र, वृषभचरित्र, सुदर्शनचरित्र, वर्धमान पुराण, पार्श्वनाथपुराण, मल्लिनाथ पुराण, सारचतुर्विंशतिका, यशोधरचरित्र पुराणसार आदि।

सिद्धान्तसार भाष्य

आचार्य जिनेन्द्र या जिनचन्द्र रचित सिद्धान्तसार पर एक संस्कृत व्याख्या है जो सिद्धान्तसारके साथ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुकी है। व्याख्या साधारण होते हुए भी मूल ग्रन्थको समझनेके लिये उपयुक्त है और उससे प्रतीत होता है कि टीकाकार प्रकृत विषयका अच्छा अभ्यासी है।

यद्यपि भाष्यकारने सिद्धान्तसारके भाष्यमें अपना कोई स्पष्ट परिचय नहीं दिया है, ग्रन्थके अन्तमें कोई प्रशस्ति भी नहीं दी है, तथापि मंगलाचरणके श्लोकमें सिद्धान्तसार भाष्यके दो विशेषण दिये है—'लक्ष्मी वीरेन्दुसेवितं' और 'ज्ञान सुभूषणम्'। इन विशेषणोंके द्वारा लक्ष्मीचन्द, वीरचन्द और ज्ञानभूषण ये तीन नाम प्रकट होते हैं। अतः प्रेमीजीने ज्ञानभूषणको भाष्यका कर्ता बतलाया है। सुमतिकीर्ति भट्टारकने प्राकृत पंचसंग्रहकी अपनी वृत्तिके अन्तमें जो प्रशस्ति[1] दी है। उसमें उन्होंने ज्ञानभूषणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—मूलसंघमें उत्पन्न हुए नन्दिसंघमें बलात्कार गण और सरस्वती गच्छमें आचार्य कुन्दकुन्द

---

१. 'श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघो वरो बलात्कारगणप्रसिद्धः।
श्रीकुन्दकुन्दो वरसूरिवर्यो बभौ बुधो भारतिगच्छ सारे ॥१॥
तदन्वये देवमुनीन्द्रवंद्यः श्री पद्मनन्दी जिनधर्मनन्दी।
ततो हि जातो दिविजेन्द्रकीर्तिविद्या (दि) नन्दी वर धर्ममूर्तिः ॥२॥
तदीयपट्टे नृपमाननीयो मल्ल्यादिभूषो मुनिवंदनीयः।
ततो हि जातो वरधर्मधर्ता लक्ष्मादिचन्द्रो बहुशिष्यकर्ता ॥३॥
पंचाचाररतो नित्यं सूरिसद्गुणधारकः।
लक्ष्मीचन्द्र गुरुस्वामी भट्टारकशिरोमणिः ॥४॥
दुर्वारदुर्वादिकपर्वतानां वज्रायमानो वरवीरचन्द्रः।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराजः ॥५॥
—प्रा० पंच०, प्रशस्ति।

हुए। उनके वंशमें पद्मनन्दी हुए। उनके पट्ट पर दिविजेन्द्रकीर्ति विद्यानन्दि हुए, उनके पट्ट पर राज मान्य मल्लिभूषण हुए। फिर क्रमसे लक्ष्मीचन्द, वीरचन्द और ज्ञानभूषण हुए। इन्हीं ज्ञानभूषणकी प्रेरणासे सुमतिकर्तिने प्राकृत पंच-संग्रहकी वृत्ति बनाई और ज्ञानभूषणने उसका संशोधन किया।

कर्मप्रकृतिकी टीका ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनोंने बनाई है। उसमें भी मल्लिभूषणके पूर्वज विद्यानन्दि[1]से उक्त गुरु परम्परा दी है।

अतः सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषण ही उक्त भाष्यके रचयिता प्रतीत होते हैं। किन्तु श्रीनाथूरामजी प्रेमीने लिखा है कि कारंजा[2]में जो सिद्धान्तसार भाष्य-की प्रति है उससे मालूम होता है कि उसके कर्ता ज्ञानभूषण नहीं हैं, सुमतिकीर्ति हैं। और उसका संशोधन सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषणने किया है। ऐसा होना संभव है क्योंकि कर्मप्रकृतिकी टीका भी ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिके साथ बनाई थी और प्रा० पंचसंग्रहकी वृत्तिका उन्होंने संशोधन किया था। अतः सिद्धान्तसार भाष्यकी रचना सुमतिकीर्तिने और संशोधन ज्ञानभूषणने किया हो तो कोई विशेष बात नहीं है। किन्तु ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तसार भाष्यमें सुमतिकीर्तिका नाम कहीं दृष्टिगोचर न होना कुछ शंका पैदा करता है क्योंकि शेष दोनों टीकाओंमें ज्ञानभूषणके साथ सुमतिकीर्तिका भी नाम है। अस्तु,

ज्ञानभूषणकी दो गुरु परम्पराएँ

प्रा० पंचसंग्रहकी प्रशस्तिमें, ज्ञानभूषणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—पद्मनन्दि, दिविजेन्द्र (देवेन्द्र) कीर्त्ति, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीर-चन्द्र, ज्ञानभूषण। और ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी प्रभाचन्द्र थे। कर्मप्रकृति

---

१. 'विद्यानन्दि-सुमल्ल्यादिभूष-लक्ष्मीन्दु-सद्गुरून्।
वीरेन्दुं, ज्ञानभूषंहि वन्दे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥'—कर्मप्र० टी०।

२. 'इति श्रीसिद्धान्तसारभाष्यं श्रीरत्नत्रयज्ञापनार्थं सुमतीन्दुना लिखितम्। सूरिवर श्रीरमरकीर्तिसमुपदेशात् श्रीमूलसंघबलात्कारगणाग्रणी श्रीमद्भ-ट्टारक श्रीलक्ष्मीचन्द्रस्तत्पट्टपयोधिचंचच्चन्द्रभट्टारक श्रीवीरचन्द्रस्तत्पट्टालंकार भट्टारक श्रीज्ञानभूषणः श्री सिद्धान्तसार भाष्यं बल्लभजनवल्लभं मुमुक्षु श्री सुमतिकीर्ति विरचितं शोधितवान्।

टीका सिद्धान्तसारस्य सतां सद्ज्ञानसिद्धये।
ज्ञामभूष इमां चक्रे मूलसंघविदावरः॥
सिद्धान्तसार भाष्यं च शोधितं ज्ञान भूषणः।
रचितं हि सुमत्यावि‥‥‥‥॥—जै० सा० इ०, पृ० ३७९।

टीकाके प्रारम्भमें भी यही गुरुपरम्परा दी है। उसमें पद्मनन्दि और देवेन्द्रकीर्ति-का नाम नहीं है।

किन्तु भट्टारक सकलभूषणने अपनी उपदेश रत्नमालाकी प्रशस्तिमें, ब्रह्म कामराजने जयपुराणकी प्रशस्तिमें और भट्टारक शुभचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जो गुरुपरम्परा दी है वह है—पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण। ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी थे विजयकीर्ति, उनके शुभचन्द्र और शुभचन्द्रके सुमतिकीर्ति।

श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीने इन दोनों परम्पराओंके ज्ञानभूषणको एक ही व्यक्ति माना है। किन्तु गुरुपरम्परा तथा कालक्रमको देखते हुए ये दोनों ज्ञानभूषण दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

प्रथम गुरुपरम्पराके अनुसार ज्ञानभूषणके गुरु लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द्र थे इसीसे सिद्धान्तसार भाष्यके मंगलाचरणमें भी 'लक्ष्मीवीरेन्दुसेवितं'के द्वारा उनका स्मरण ज्ञानभूषणने किया है। किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार ज्ञानभूषण के पूर्व गुरु भुवनकीर्ति थे।

तथा प्रथम गुरु परम्पराके अनुसार पद्मनन्दी और ज्ञानभूषणके मध्यमें पाँच व्यक्ति हैं किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार केवल दो ही व्यक्ति हैं। अतः ये दोनों ज्ञानभूषण एक व्यक्ति नहीं हो सकते। उन दोनोंको एक व्यक्ति मान लेनेसे समय सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होती है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—

समय विचार

ज्ञानभूषणकृत तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें उसका रचनाकाल वि०सं० १५६० दिया है। प्रेमी जीने लिखा है कि—'जैन धातु प्रतिमा लेखसंग्रहमें प्रकाशित वीसनगर (गुजरात) के शान्तिनाथके श्वेताम्बर मन्दिरकी एक दिगम्बर प्रतिमाके लेखसे और पैंथापुरके श्वेताम्बर मन्दिरकी दि० प्रतिमाके लेखसे मालूम होता है कि वि.सं. १५५७ और १५६१में ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर नहीं थे, किन्तु उनके शिष्य विजयकीर्ति थे और वे १५५७के पहले इस पदको छोड़ चुके थे। इसलिये तत्त्वज्ञान तरंगिणीकी रचना उन्होंने उस समय की है जब भट्टारक पदपर विजय-कीर्ति थे।'

पूर्वोक्त जैनधातु प्रतिमा लेखसंग्रह नामक ग्रन्थमें विक्रम संवत् १५३४, १५३५ और १५३६के तीन प्रतिमा लेख और भी हैं जिनसे मालूम होता है कि उक्त संवतोंमें ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे। भट्टारक पद छोड़नेके बाद भी वह बहुत समय तक जीवित रहे।'

उक्त प्रतिमा लेखोंसे यह स्पष्ट है कि ज्ञानभूषण १५३४में भट्टारक पद पर थे। किन्तु वे कब उस पद पर बैठे यह ज्ञात नहीं है। सकलकीर्ति भट्टारकके विषयमें पं० परमानन्द जीने लिखा है कि वे सं. १४४४में गद्दी पर आसीन हुए थे और संवत् १४९९के पूष मासमें उनकी मृत्यु महसाना (गुजरात)में हुई थी। इनके शिष्य तथा कनिष्ठ भ्राता ब्र. जिनदासने कई ग्रंथ रचे हैं। १५२० सं०में इन्होंने गुजराती भाषामें हरिवंश राशकी रचना की है। इनके ग्रंथोंकी प्रशस्तिमें सकलकीर्ति और उनके शिष्य भुवनकीर्तिका नाम है ज्ञानभूषण का नहीं है। अतः ज्ञानभूषण १५२० के पश्चात् और १५३४ से पहले गद्दी पर बैठे थे।

श्रीयुत प्रेमीजीने जिस जैनधातु प्रतिमा लेख संग्रहका उल्लेख किया है उसमें नन्दिसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छके उक्त आचार्योंके अनेक प्रतिमा लेख संगहीत हैं जिनसे उनके समय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन प्रतिमालेखोंके अनुसार जिस सम्वत्में जो आचार्य भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे उनकी तालिका इस प्रकार है—

लेख नं० ५३५—सं० १४८८ भ० पद्मनन्दिदेव
,, नं० ६—सं० १४९२ भ० सकलकीर्ति
,, नं० ६७३—सं० १५०९ भ० भुवनकीर्ति
,, ७४८—सं० १५१३ ,,
,, ७५१—सं० १५१५ ,,
,, ६६—सं० १५१६ ,,
,, ४४—सं० १५२३ ,,
,, ४३—सं० १५२६ भ० ज्ञानभूषण
,, ८६७—सं० १५३४ ,,
,, ६७४—सं० १५३५ ,,
,, ५०९—सं० ?५३० ,,
,, ५०३—सं० १५५७ विजयकीर्ति
,, ४९७—सं० १५५९ ,,
,, ६९३—सं० १५६१ ,,
,, ६७७—सं० १६११ शुभचन्द्र
,, ६८—सं० १६३२ सुमतिकीर्तिके शिष्य गुणकीर्ति
,, १३९०—सं० १६५१ गुणकीर्तिके शिष्य वादिभूषण
,, १४५१—सं० १६६० भ० वादिभूषण

अतः उक्त प्रतिमा लेखोंसे यह स्पष्ट है कि भ० ज्ञानभूषण सं० १५२६ से

१५३६ तक तो अवश्य ही भट्टारक पद पर विराजमान थे। और वे सं० १५२३ के पश्चात् और १५२६ से पहले किसी समय भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित किये गये थे। तथा सं० १५५७ में उनके शिष्य विजयकीर्ति उस पद पर थे। सूरतके[1] मन्दिरकी एक जिनबिम्ब पर सं० १५४४ का लेख है। लेखसे प्रकट है कि वह मूर्ति भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठितकी गई थी। अतः सं० १५४४ तक ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे।

उधर सुमतिकीर्तिने अपनी पंचसंग्रह वृत्तिके अन्तमें उसका रचना काल सं० १६२० दिया है। यह वृत्ति भ० ज्ञानभूषणकी प्रेरणासे रची गई थी और उन्होंने उसका संशोधन भी किया था। अतः यह स्पष्ट है कि वि० सं० १६२० में ज्ञान भूषण जीवित थे। उधर ज्ञानभूषण वि० सं० १५२६में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे और वि० सं० १५२३ के पश्चात् वे गद्दी पर बैठे थे। यदि यही मान लिया जाये कि वे सं० १५२५ में गद्दी पर बैठे थे और उस समय उनकी उम्र १५ वर्ष भी मानी जाये तो पञ्चसंग्रहवृत्तिकी रचनाके समय उनकी उम्र ११० वर्ष ठहरती है। एक तो इतनी छोटी अवस्थामें भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित होना और फिर इतनी लम्बी उम्रका होना चित्तको लगता नहीं।

फिर यदि ज्ञानभूषणकी दूसरी गुरु परम्परा सामने न होती तो उक्त दोनों बातोंको भी अंगीकार किया जा सकता था। किन्तु दूसरी परम्परा न केवल ग्रन्थ प्रशस्तियोंमें किन्तु मूर्तिलेखोंमें भी अंकित मिलती है। बुद्धिसागर सूरिके जैनधातु प्रतिमालेख संग्रहमें ही दोनों परम्पराओंके मूर्तिलेख मिलते हैं जो इस प्रकार हैं।

न० ६७४—सं० १५३५ वर्षे पोष व० १३ श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे भ० श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात्''''।'

न० ७५७—'सं० १६३० वर्षे चैत वदि ५ श्री मूलसंघे श्री सरस्वती गच्छे श्री बलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री वीरचन्द भ० श्री ज्ञानभूषण भ० श्री प्रभाचन्द्रोपदेशेन। इस तरह पहले वाले ज्ञानभूषणके गुरुका नाम भुवनकीर्ति था और दूसरे ज्ञानभूषणके गुरुका नाम वीरचन्द था।

श्री कामता प्रसादजीके द्वारा सम्पादित प्राचीन जैनलेख संग्रह (१ भाग) में अलीगंजके जैनमन्दिरकी एक मूर्तिके तलमें भी दूसरे ज्ञानभूषणसे सम्बद्ध एकलेख अंकित है। किन्तु उसमें सम्वत् नहीं है। यह मूर्ति वीरचन्द्रके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई थी। शिलालेख इस प्रकार है—

---

१. 'सं० १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसंघे भ० श्री भुवनकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषण गुरुपदेशात्। —दान० माणि० पृ० ४५।

२६—'श्रीमूलसंघे भ० लक्ष्मीचन्द्र तत्पट्टे भ० वीरचन्द तत्पट्टे भ० ज्ञानभूषणोपदेशात्....।'

यही ज्ञानभूषण सिद्धान्तसार भाष्यके रचयिता हैं।

उक्त दोनों गुरुपरम्परायें पद्मनन्दीसे प्रारम्भ होती हैं। जिससे प्रकट होता है कि पद्मनन्दीके दो शिष्य थे सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति। पं० परमानन्दजी[1] ने लिखा है कि पद्मनन्दीके शिष्योंमें मतभेद हो जानेके कारण गुजरातकी गद्दीकी दो परम्परायें चालू हो गई थीं। एक भट्टारक सकलकीर्तिकी और दूसरी देवेन्द्रकीर्ति की। सकलकीर्तिसे ईडरकी गद्दीकी परम्परा चली और देवेन्द्रकीर्तिसे सूरतकी गद्दीकी परम्परा चली।

देवेन्द्रकीर्तिके उत्तराधिकारी भट्टा० विद्यानन्दि थे। इनके मूर्ति लेख वि० सं० १४९९ से वि० सं० १५२३ तकके पाये जाते हैं। विद्यानन्दिके उत्तराधिकारी मल्लिभूषण थे। सूरत आदिके मूर्तिलेखोंसे जाना जाता है कि मल्लिभूषण वि० सं० १५४४ में भट्टारक पद पर आसीन थे।

सूरत जैनमन्दिरके दो प्रतिमालेखों पर वि० सं० १५४४ वैसाख सुदी तीज अंकित है। किन्तु एक शिलालेखमें[2] भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणका नाम है और दूसरेमें[3] भट्टारक विद्यानन्दिके शिष्य भट्टारक मल्लीभूषणका नाम है। अर्थात् जिस समय ईडरकी गद्दीके भट्टारक पद पर ज्ञानभूषण थे तब सुरतकी गद्दी पर भ० मल्लिभूषण विराजमान थे। मल्लिभूषणके पश्चात् लक्ष्मीचन्द और लक्ष्मीचन्दके पश्चात् वीरचन्द और तब ज्ञानभूषण सूरतकी गद्दी पर बैठे। मल्लिभूषणके समकालीन ज्ञानभूषण बीस पच्चीस वर्ष तक ईडरकी भट्टारकी करनेके बाद मल्लिभूषणके दो उत्तराधिकारियोंके पश्चात् पुनः सूरतके भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए हो ऐसा तो संभव प्रतीत नहीं होता। अतः ईडरके भट्टारक ज्ञानभूषणसे सूरतके भट्टारक ज्ञानभूषण जुदे ही होने चाहिये। अतः सूरतवाले ज्ञानभूषण ही सिद्धान्तसार भाष्य और कर्मप्रकृति टीकाके कर्ता है।

वे कब सूरतकी गद्दी पर बैठे यह ज्ञात नहीं हो सका। अन्य मूर्तिलेखोंके प्रकाशमें आने पर ही उस पर प्रकाश पड़नेकी पूर्ण आशा है। किन्तु इतना

१. जै० प्र० सं०, भा० १, पृ० १९।

२. 'सं० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसंघे भ० श्री भुवनकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषणगुरूपदेशात्'।—दान० माणि० पृ० ४५।

३. सं० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी २ सोमे। श्रीमूलसंघे। सरस्वतीगच्छे बलात्कार गणे। भट्टारक श्री विद्यानन्दी देवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री मल्लीभूषण।
—दा० मा०, पृ० ४३।

निश्चित है कि कि वह वि० सं० १६२० में वर्तमान थे और उस समय सूरतकी गद्दी पर उनके शिष्य प्रभाचन्द विराजमान थे। यह बात प्रा० पञ्चसंग्रहकी प्रशस्तिसे प्रकट होती है। अतः उनका समय विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका अन्तिम चरण और १७वीं शताब्दीका प्रथम चरण समझना चाहिये।

इन ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी क्रमसे प्रभाचन्द्र, वादीचन्द्र और महीचन्द्र थे। और शुभचन्द्र ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। शुभचन्द्रने वि० सं० १६१३ में कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीका पूर्ण की थी। उसकी प्रशस्ति[1]में उन्होंने लिखा है कि सुमतिकीर्तिकी प्रार्थनापर उन्होंने यह वृत्ति रची है। उसी प्रशस्तिमें शुभचन्द्रने लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रको अपना गुरु बतलाया है। ये लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र वे ही हैं जो सूरतकी गद्दीके भट्टारक तथा ज्ञानभूषणके गुरु थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय सुमतिकीर्ति सकलभूषणके साथ शुभचन्द्रसे पढ़ते थे। शायद इसीसे सकलभूषण[2]ने सुमतिकीर्तिको अपना गुरुभाई कहा है। शुभचन्द्रके बाद ईडरकी गद्दीपर सुमतिकीर्ति बैठे थे। इस दृष्टिसे भी वह शुभचन्द्रके शिष्य सकलभूषणके गुरुभाई होते हैं।

शुभचन्द्र वि० सं० १६११ में भट्टारक पदासीन थे यह बात एक [3]प्रतिमा-लेखसे प्रकट होती है। तथा वि० सं० १६२६ में सुमतिकीर्ति[4] भट्टारक पदपर विराजमान थे। सकलभूषणकी उपदेश रत्नमालाकी रचनाके समय वि० सं० १६२७ में सुमतिकीर्ति गच्छाधीश थे। अतः पंचसंग्रहवृत्तिकी रचनाके पश्चात् ही वह भट्टारक पदपर विराजमान हुए थे ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि उसकी प्रशस्ति में इस बातका संकेत तक नहीं है।

---

१. 'तथा साधु सुमत्यादिकीर्तिना कृतप्रार्थना। सार्थीकृता समर्थेन शुभचन्द्रेण सूरिणा ॥९॥'
भट्टारक पदाधीशा मूलसंघे विदांवराः। रमाविरेन्दु-चिद्रूप-गुरवो हि गणेशिनः ॥१०॥'—जै०ग्र० प्र०सं० भा० १, पृ० ४२-४३।

२. 'पट्टे तस्य प्रीणित प्राणिवर्गः शान्तो दांत शीलशाली सुधीमान्। जीयात्सूरिः श्री सुमत्यादिकीर्तिर्गच्छाधीशः कम्रकान्तिः कलावान् ॥२३१॥—जै०ग्र० प्र०सं० भा० १, पृ० २०।

३. 'सं० १६११ वर्षे माघ व ७ श्री मूलसंघे नंदिसंघे सरस्वतीगच्छे वलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्विये भ० विजयकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्र····।' —जै०प्र० ले०सं०, ले० नं० ६७७।

४. 'सं० १६२६ वर्षे फाल्गुण सुदी ३ शुक्रे श्री मूलसंघे भ० श्री सुमतिकीर्ति उपदेशात् ईडरवास्तव्य'—प्रा० जै०ले० सं०, पृ० २८।

सुमतिकीर्तिके उत्तराधिकारी गुणकीर्ति थे। एक प्रतिमालेखसे प्रकट होता है कि वि० सं० १६३२ में गुणकीर्ति पट्टपर थे।

सकलभूषणने सुमतिकीर्तिकी बड़ी प्रशंसा की है। लिखा है वह बड़े शील-वान, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय और संयमी थे। उनसे सब प्रसन्न रहते थे। आदि।

त्रिभंगी टीका

पीछे त्रिभंगीसार नामसे संगृहीत जिन छै त्रिभंगियोंका निर्देश किया है, उनमेंसे आश्रवत्रिभंगी तथा बन्ध उदय और सत्त्व त्रिभंगीकी टीकाकी कई प्रतियाँ धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें वर्तमान हैं। यह टीका एक ही ग्रन्थके रूपमें है और उसके अन्तमें लिखा है 'इति त्रिभंगीसार टीका समाप्ता।'

प्रारम्भकी आस्रव त्रिभंगीके रचयिता श्रुतमुनि है। किन्तु टीकाकारने उसे भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तीकी कृति समझकर बन्धोदयसत्त्वत्रिभंगीके साथ एक ग्रन्थके रूपमें सम्मिलित कर लिया जान पड़ता है; क्योंकि आस्रवत्रिभंगी टीकाके अन्तमें लिखा है—'इति मूलनेमिचन्द्रसिद्धान्तीकर्ता आस्रवत्रिभंगी समाप्ता।'

किन्तु प्रथम गाथाके 'वोच्छे हं' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिणा कथितं अहं''''सप्तपंचाशदाश्रवाः कथयामः (मि)।'

अर्थात् श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा कथित सतावन आस्रवोंको मैं कहता हूँ। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने कर्मकाण्डमे सत्तावन प्रत्ययोंका कथन किया है और उसीके आधारसे श्रुतमुनिने आस्रवत्रिभंगीकी रचना की है। और इसलिये आस्रवत्रिभंगीके मूलकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती है। किन्तु आगे कर्ताका निरूपण करते हुए लिखा है—'उत्तरोत्तरकर्ता गुरु पूर्व क्रमागतः सकलसिद्धान्तचक्रवर्ती अखंडित रत्नत्रयाभरणभूषितः मूलोत्तराराद (?) सकल गुण सम्पूर्णः श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिना भट्टारकेणासन्नभव्यसंदोहस्योपकारार्थं श्रीमज्जिनागमात्युद्धारकरणार्थं च ग्रन्थरचनानिमित्तं।'

टीकाकारकी भाषा बहुत स्वलित है इससे उनका ठीक आशय समझनेमें कठिनाई होती है। आस्रवत्रिभंगीके कर्ता श्रुतमुनिने अन्तिम गाथामें अपना नाम दिया है और उसका अर्थ करते हुए टीकाकारने 'सुदमुणिणा-श्रुतमुनिना' ऐसा लिखा है तथापि उन्होंने अन्यत्र कहीं श्रुतमुनिको उसको रचयिता नहीं लिखा।

टीकाके आरम्भ में एक श्लोक इस प्रकार है—

> या पूर्वं श्रुतटीका कर्णाटभाषया विहिता।
> लाटीया भाषया सा विरच्यते सोमदेवेन ॥४॥

अर्थात् पहले जो श्रुतमुनिने कर्णाट भाषामें टीका लिखी थी, उसे सोमदेव लाटीय भाषामें रचता है।

श्रुतमुनिने स्वरचित आस्रवत्रिभंगी पर कन्नड़ भाषामें टीका भी बनाई थी। मूडबिद्रीके जैन मठमें इसकी प्रति वर्तमान है और उसका ग्रन्थ नं० २०४ है।[1] उसी टीकाको सोमदेवने लाटी भाषामें रचा है। किन्तु संस्कृत भाषाके लिये लाटीया भाषा शब्दका व्यवहार विचित्र ही है। लाटीया भाषाका मतलब लाट देशकी भाषा होता है। लाट गुजरातका प्राचीन नाम है। उसकी भाषाको लाटी भाषा कहना चाहिये। अस्तु,

आगे एक श्लोक इस प्रकार है—

> प्रणिपत्य नेमिचन्द्रं वृषभाद्यान् वीर पश्चिमान् जिनान्।
> सर्वान् वक्ष्ये सुभाषयाऽहं विशदां टीकां त्रिभंग्यायां ॥६॥

इसमें सुभाषाके द्वारा त्रिभंगीकी टीका रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। सुभाषासे तो संस्कृत भाषाका ग्रहण हो सकता है किन्तु लाटीया भाषासे संस्कृतका ग्रहण नहीं हो सकता। शायद टीकाकारने जिस भ्रष्ट संस्कृत भाषामें अपनी टीका रची है उसे लाटी भाषा कहा हो। किन्तु उसके लिए भी यह प्रयोग विचित्र ही है।

देहलीके सेठके कूचेके जैन मन्दिरमें उक्त टीकाकी एक भाषा टीका भी है। उसे देखकर हमें लगा कि टीकाकारने उस भाषा टीकाके लिये तो लाटीया भाषा शब्दका प्रयोग नहीं किया। क्योंकि उस टीकामें किसी अन्य टीकाकारका नाम नहीं है और संस्कृत टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति है वह प्रशस्ति ज्योंकी त्यों है उसकी भाषा टीका नहीं की गई है। यदि कोई अन्य टीकाकार होता तो वह प्रशस्तिकी भी भाषा करता। खेद है कि उस प्रतिका प्रथमपत्र नहीं है यदि होता तो शायद इस विषय पर उससे विशेष प्रकाश पड़ता।

रचयिता और समय

इस त्रिभंगी टीकाके रचयिताका नाम सोमदेव है। ग्रन्थ टीकाके आदिमें उन्होंने श्लोकमें, जो पीछे उद्धृत किया गया है, अपना नाम दिया है। उससे पहले श्लोक[2] ३ में उन्होंने गुणभद्र सूरिको नमस्कार किया है। किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि गुणभद्र सूरि उनके गुरु थे।

---

१. कन्नड़० ता० प्र० सू०, पृ० १०।

२. 'कर्म द्रुमोन्मूलनदिक्करीन्द्रं सिद्धान्तपाथोनिधिदृष्टपारं।
षट्त्रिंशदाचार्यगुणैः प्रयुक्तं नमाम्यहं श्रीगुणभद्रसूरिं ॥३॥'

ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें[1] उन्होंने अपने वंश वगैरहका कथन किया है। पिताका नाम आभदेव था और माताका नाम वैजेणी था। वह बघेरवाल वंशके थे। उन्होंने मूल संघके श्री पूज्यपादके प्रसादसे आत्मशक्तिके अनुसार जिनोक्त शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया था। यह गृहस्थ थे और जिन बिम्ब प्रतिष्ठाचार्य थे। इनका संस्कृत भाषा विषयक ज्ञान परिपक्व नहीं था इसीसे उन्होंने अपनी टीका-में आगम विरोधीके साथ ही साथ शब्द शास्त्रसे विरुद्ध कथनको भी शोधनेकी प्रार्थना मनीषियोंसे की है।

प्रशस्तिका अन्तिम श्लोक आशाधरजी की शैलीके अनुकरणको लिये हुए है और उसमें उन्हींकी तरह 'शिवाशाधरः' पदका प्रयोग भी किया गया है। आशाधर जी भी बघेरबालवंशी थे। शायद इसी जाति स्नेहवश उनके नामका इस प्रकार प्रयोग किया गया है।

सोमदेवने अपने स्थान और समयका कोई निर्देश नहीं किया। फिर भी यह निश्चित है कि वह विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके पश्चात् हुए हैं क्योंकि जिस श्रुतमुनिकी आस्रव त्रिभंगी पर उन्होंने टीका रची है उन्होंने अपना परमागम-सार वि० सं० १३९८में समाप्त किया था। अब विचारणीय यही है कि चौदहवीं शताब्दीके पश्चात् वह कब हुए हैं ?

---

१. 'अमितगुणगणः साध्वाभदेवाब्धिसोमः विजयनिवररत्नं काममुद्योतकारी।
गतकलिलकलंकःसर्वदोषः स्ववृत्तः स जयति जिनविम्ब स्थापनाचार्यचार्याः (वर्णः) ॥१॥
यथामरेन्द्रस्य पुलोमजा प्रिया नारायणस्याब्धिसुता वभूव।
तथाभदेवस्य वैंजेणिनाम्नी प्रिया सुधर्मा, सुगुणा सुशीला ॥२॥
तयोः सुतः सद्गुणवान् सुवृत्तः सोमोऽभिधः कौमुदवृद्धिकारी।
व्याघेरवालंबुनिधेः सुरत्नं जीयाच्चिरं सर्वजनीनवृत्तिः ॥३॥
श्रीमज्जिनोक्तानि समंजसानि शास्त्राणि लेभे स यथात्मशक्त्या।
श्रीमूलसंघाब्धिविवर्धनेन्दोः श्रीपूज्यपादप्रभुसत्प्रसादात् ॥४॥
× × ×
शब्दशास्त्रविरोधंयत् यदागमविरोधि च।
न्यूनाधिकं च यत्प्रोक्तं शोधितं तन्मनीषिभिः।
श्रीसद्धांघ्रियुगे जिनस्य नितरां लीनः शिवाशाधरः।
सोमःसद्गुणभाजनं सविनयः सत्यात्रदाने रतः।
सद्रत्नत्रययुक् सदा बुधमनाल्हादी चिरं भूतले।
नद्यांद्येन विवेकिना विरचिता टीका सुबोधाभिधा ॥७॥

त्रिवर्णाचारके कर्ता भट्टारक सोमसेनने भी गुणभद्रसूरिका स्मरण किया है और उन्होंने अपना त्रिवर्णाचार सं० १६६७में तथा रामपुराण सं० १६५६ में रचा है। इस परसे पं० परमानन्दजीने सोमसेन और सोमदेवके ऐक्यकी सम्भावना पर त्रिभंगीसार टीकाका समय विक्रमकी सतरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध माना है।

किन्तु प्रथम तो दोनोंके नामोंमें भेद है। दूसरे, जब सोमसेन भट्टारक हैं तब सोमदेव गृहस्थ प्रतिष्ठाचार्य हैं। तीसरे, नया मन्दिर देहलीके भण्डारकी त्रिभंगी-टीकाकी प्रतिमें उसका लेखनकाल विक्रम सम्वत् १६१५ लिखा है। अतः सोमसेन और सोमदेव एक व्यक्ति नहीं हो सकते। सोमदेव सोमसेनसे पहले हुए हैं।

अतः उक्त उल्लेखोंके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि सोमदेव विक्रम सम्वत्की १५वीं और १६वीं शताब्दीमें किसी समय हुए हैं।

गोम्मटसारकी टीकाएँ

कर्मकाण्डके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार आती है—

> गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
> सो राओ चिरकालं णामेण य वीर मत्तंडी ॥९७२॥

इस गाथाकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका तथा तदनुसारिणी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका इस प्रकार है।

जी० प्र०—गोम्मटसार सूत्रलेखने गोम्मटराजेन या देशी भाषा कृता स राजा नाम्ना वीरमार्तण्डश्चिरकालं जयतु ॥

सं चं०—गोम्मटसार ग्रन्थके सूत्र लिखने विषैं गोम्मट राजाकरि जो देशी भाषा करी सो राजा नामकरि वीर मार्तण्ड चिरकालपर्यन्त जीतिवंत प्रवर्त्तौ।

इस परसे यह धारणा बनी कि चामुण्डरायने गोम्मटसारकी रचनाके समय उसपर देशी भाषामें अर्थात् कनड़ीमें कोई वृत्ति रची थी और चामुण्डरायके नाम पर उसका नाम वीर मार्तण्डी था।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाके आरम्भिक मंगलपद्यमें उसके रचयिताने कहा[1] है कि मैं कर्णाट वृत्तिके आधारसे गोम्मटसारकी टीका करता हूँ। इस परसे उक्त धारणा को बल मिला और कतिपय विद्वान[2] लेखकोंने यहां तक लिखा कि जीव० प्रदी-

---

१. 'नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्रीज्ञानभूषणं। वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाट-वृत्तितः ॥१॥'

२. कर्मकाण्ड भूमिका पृ० ५ (रा० शा० माला सं० १९२८ ई०), जीवकाण्ड भूमिका, द्रव्यसंग्रह अंग्रेजी, भूमिका, पृ० ४१, जीवकाण्ड अंग्रेजी, भू० पृ० ७, और गोम्मटसार, मराठी टीकाकी भूमि०, पृ० १ आदि।

पिकामें जिस कर्णाटक वृत्तिका उल्लेख है वह चामुण्डरायकी वह वृत्ति है जिसका उल्लेख गो० कर्मकाण्डकी अन्तिम गाथामें किया गया है।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने एक लेख 'गोम्मट शब्दके अर्थ विचार पर सामग्री' शीर्षकसे इं० हि० क्वा०, जि० १६में प्रकाशित कराया था। उसका अनुवाद जै० सि० भास्करके भा८, कि० २ में प्रकाशित हुआ था। उसमें कर्मकाण्डकी उक्त अन्तिम गाथाके सम्बन्धमें अपने नोटमें डॉ० उपाध्येने लिखा[1] है—'इस गाथाकी रचना असन्तोषजनक है जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अनुसार यह 'वीरमत्तंडो' पढ़ा जाता है। क्योंकि वहाँ इसे 'राओ' का विशेषण कहा है। जीवतत्त्व प्रदीपिका' में 'जाकया देसी' का 'या देशी भाषा कृता' कर लिया गया है। पं० टोडरमल्ल इत्यादि चामुण्डरायकी टीकाका इसे एक उल्लेख समझते हैं। नरसिंहाचार्यके अनुसार, चामुण्डरायने ऐसी कोई रचना नहीं की। इसका अर्थ केवल इतना होता है कि इस ग्रन्थकी कोई हस्तलिपि अभी तक प्रकाशमें नहीं आई है (?)। जीव० प्रदी०का प्रथम श्लोक स्पष्ट रूपमें कहता है कि इसका आधार एक कन्नड़ टीका पर है। हमारे पास इस कथनके लिये कोई प्रमाण नहीं है कि यह चामुण्डरायकी कृति है। हमें मालूम है कि कन्नड़में गोम्मटसारकी टीका है जिसका नाम जीवतत्त्व प्रदीपिका है जिसे केशववर्णीने सन् १३५९ में रचा था। वे अभय सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और धर्मभूषणके आदेशानुसार यह टीका की थी। वीर मार्तण्डी, जैसा कि गाथामें मिलता है देशीका विशेषण है और यह वृत्तिका नाम है। चामुण्डरायकी उपाधि भी वीरमार्तण्ड थी, जो उन्होंने लोलम्बाके युद्धमें अपनी वीरता प्रदर्शित करके प्राप्त की थी। और यह असंगत प्रतीत नहीं होता कि उन्ह ने इसका नाम अपनी एक उपाधिके नाम पर रक्खा हो। यदि हमारे देशी शब्दका अर्थ सत्य है तो इसका अर्थ है कि कन्नड़ जो कि एक द्रविड़ भाषा है एक प्राकृतभाषाके लेखकके द्वारा देशी नामसे सम्बोधित की गई है।'

उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि डॉ० उपाध्ये भी इस बातसे सहमत हैं कि उक्त गाथाका वीरमार्तण्डी देशीका विशेषण है और वृत्तिका नाम है। अतः उक्त गाथाका जो अर्थ समझा गया वह एकदम गलत तो नहीं समझा गया। किन्तु चामुण्डरायकी इस प्रकारकी किसी कृतिका कोई उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

गोमट्टसार पर अब तक दो संस्कृत टीकाएँ प्रकाशमें आई हैं, उनमेंसे एकका नाम मन्द प्रबोधिका है और दूसरीका जीव तत्त्व प्रदीपिका। ये दोनों टीकाएँ गान्धी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्तासे प्रकाशित गोमट्टसारके शास्त्राकार संस्करणमें पं० टोडरमलजीकी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाके साथ

---

१. जै० सि० भा० ८, कि० २, पृ० ९०।

प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें मन्द प्रबोधिका जीवकाण्डकी गाथा ३८३ तक ही मुद्रित हैं। इस टीकाके कर्ता अभयचन्द्र हैं। अभयचन्द्रने अपनी टीका पूरे गोमट्टसार पर रची थी। या उसे उन्होंने अपूर्ण ही छोड़ दिया था, यह अभी तक अनिर्णीत है।

जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकाके अवलोकनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके रचयिताने मन्द प्रबोधिका टीकाका पूरा अनुसरण किया है। उसके बहुतसे विवरण मन्दप्रबोधिकाके अनुसार हैं। मन्द प्रबोधिकाके अधिकांश परिभाषिक विवरणोंको जी० प्रदीपिकामें पूरी तरहसे अपना लिया गया हैं। जी० प्रदीपिकाके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें जो संस्कृत पद्य दिये गये हैं वे भी मन्द प्रबोधिकामें पाये जाने वाले पद्योंकी अनुकृति हैं। जी०[1] प्रदी० में अभयचन्द्रका नामोल्लेख भी किया गया है।

जी०का०गा० ३८३ की मन्द[2] प्रबोधिका टीकामें गाथाका व्याख्यान न करके केवल इतना लिखा हैं कि श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत व्याख्यान यहाँ समाप्त हो जाता है। अतः यह कर्णाटवृत्तिके अनुसार कहता है। यदि यह वाक्य जी० प्रदीपिकामें होता तो उससे यह स्पष्ट था कि वह बात जी० प्रदीपिकाके कर्ताने कही है। किन्तु टोडरमलजीकी टीका जी० प्रदीपिकाका ही अनुवाद है। और उसमें उक्त वाक्यका अनुवाद नही है। अतः जी० प्रदी० के कर्ताका तो यह वचन हो नहीं सकता और मन्दप्रबोधिकाका कर्ता ऐसी बात लिख नहीं सकता। अतः उक्त कथन किसका है यह स्पष्ट नहीं होता। और उसके आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि जी०प्रदी० के कर्ताको भी यहीं तक टीका प्राप्त हुई थी।

इसके सिवाय कर्मकाण्डके कलकत्ता संस्करणमें दी हुई संपादकीय टिप्पणोंसे यह प्रकट होता है कि संभवतया उनके सामने कर्मकाण्ड पर अभयचन्द्र रचित मन्द प्रबोधिका टीका वर्तमान थी क्योंकि उन्होंने अपने टिप्पणोंमें यह बतलाया है कि जी० प्र० के मन्द प्र० में इतना पाठ अधिक है और उस पाठको उद्धृत भी किया है। अतः मन्द प्रबोधिका टीकाकी प्रतियोंकी खोज किये बिना यह कहना शक्य नहीं है हि अभयचन्द्रने अपनी मन्द प्रबोधिका टीका गोमट्टसार जीवकाण्डके अमुक भाग तक बनाई थी।

---

१. 'इति श्रीमदभयचन्द्रसूरिसिद्धान्तचक्रवर्त्यभिप्रायः।

जी०का०टी०, गा० १३।

२. 'म० प्र०—'श्रीमदभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीविहितव्याख्यानं विश्रान्तमिति-कर्णाटवृत्त्यनुरूपमयमनुवदति।

१. मन्दप्रबोधिका टीका

मन्द प्रबोधिकाका नाम सार्थक है। टीकाकारने यथासंभव संक्षेपमें प्रत्येक गाथाका अर्थ दिया है और जहाँ स्पष्टीकरणके लिये विशेष कथनकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ विशेष कथन किया है। संस्कृत भी सरल है विशेष कठिन नहीं है। प्रथम मंगल गाथाका व्याख्यान करते हुए चामुण्डरायके प्रश्नको इस ग्रन्थके निर्माणमें निमित्त बतलाया है। गुरु शिष्य परम्परासे प्रवर्तित उपदेशको हेतु बतलाया है। गाथा सूत्रोंका परिमाण ७२५ बतलाया है और ग्रन्थका नाम जीवकाण्ड, जीवप्ररूपण अथवा जीवस्थान वतलाया है। कर्ताके तीन भेद किये हैं—मूलतंत्रकर्ता भगवान महावीर, उत्तर तंत्रकर्ता गौतम गणधर और उतरोत्तर तंत्रकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको कहा है।

टीकाके अवलोकनसे टीकाकारके सिद्धान्त विषयक ज्ञानकी गम्भीरता प्रकट होती है। किन्तु उनके सिद्धान्त चक्रवर्तित्वमें सन्देह होता है। मंगलके प्रकरणमें उन्होंने लिखा[1] है कि गौतम गणधरने वेदना खण्डके आदिमें 'णमो जिणाणं आदि मंगल किया है। किन्तु धवला (पृ० ९, १०३) में लिखा[2] है कि गौतम गणधरने महाकर्म प्रकृति प्राभृतके आदिमें णमोजिणाणं आदि मंगल किया था और वहाँसे लाकर भूत बलि भट्टारकने उसे वेदना खण्डके आदिमें रखा। अभयचन्द्रजी या तो भूलमे वैसा लिख गये हैं या फिर उन्होंने धवलाका पूरा अनुगम नहीं किया प्रतीत होता। किन्तु उनका सिद्धान्त विषयक ज्ञान परिपूर्ण था। इसमें सन्देह नहीं है।

जीवतत्त्व प्रदीपिका में तो उनका अनुसरण किया ही गया है किन्तु जिस कर्णाटवृत्तिके आधार पर जीवतत्त्व प्रदीपिकाको रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने की है उस कर्णाटवृत्तिकी रचना भी मन्द प्रबोधिकाके साहाय्यकी ऋणी है यह बात डा० ए० एन० उपाध्येने अपने लेखमें[3] दोनों टीकाओंसे एक उद्धरण देकर स्पष्ट की है। वह उद्धरण जीवकाण्डकी गा० १३ की टीकाका है। कर्नाटकटीकावाले

१. 'श्रीमद् गौतम गणधरपादैरपिवेदनाखण्डस्यादौ णमोजिणाणमित्यादिना'
—गो० म० प्र० टी०, पृ० १४।

२. 'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि चउवीस अणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदवलिभडारएण वेयणाखण्डस्स आदीए मगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स' ।—षट्खं; पु०, ९, पृ० १०३।

३. गो० जी० प्र० टीका, उसका कर्तृत्व और समय'—अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० ११३।

उद्धरणमें अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीका नाम भी है जिससे किसी प्रकारका सन्देह नहीं रहता। अतः गोमट्टसारकी उपलब्ध इन तीनों टीकाओंमें मन्द प्रबोधिका आद्य टीका है। शेष दोनों टीकाएं उसीके आधार पर बनी हैं। इस दृष्टि से उस टीका और उसके कर्ताका महत्त्व स्पष्ट है।

कर्ता और रचनाकाल

मन्द प्रबोधिकाके कर्ताका नाम अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती है। उनकी टीकासे उनके तथा रचनाकालके सम्बन्धमें कोई संकेत तक नहीं मिलता। किन्तु चूंकि कर्नाटक वृत्तिमें उनका उल्लेख है अतः यह निश्चित है कि कर्णाटकवृत्तिसे पहले मन्द प्रबोधिकाकी रचना हो चुकी थी। कर्णाटकवृत्तिके रचयिता केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और उन्होंने अपनी वृत्ति धर्मभूषण भट्टारकके आदेशानुसार शक सं० १२८१ या ईस्वी सन् १३५९ में लिखी थी। ऐसा डॉ० उपाध्येने अपने उक्त लेखमें लिखा है। अतः निश्चय ही मन्द प्रबोधिकाकी रचना उससे पहले हुई है। किन्तु कितने समय पहले हुई है यह चिन्त्य है।

अभयचन्द्रने जीवकाण्ड गा० ५६–५७की मन्दप्रबोधिका[1] टीकामें श्रीबालचन्द्र पण्डितदेवका निर्देश किया है। श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेखमें जो ई० सन् १३१३ का है बालेन्दु पण्डितका उल्लेख है। डॉ० उपाध्येने अभयचन्दके द्वारा निर्दिष्ट बालचन्द्रको और श्रवणबेलगोलाके शिलालेखमें स्मृत बालेन्दु पण्डितको एक ही व्यक्ति माना है। उन्होंने यह भी लिखा[2] है कि 'इसके अतिरिक्त उनकी पदवियों-उपाधियों और छोटे-छोटे वर्णनोंसे जो कि उनमें दिये हुए हैं, मुझे मालूम हुआ है कि हमारे अभयचन्द्र और बालचन्द्र, सभी सम्भावनाओंको लेकर वे ही हैं जिनकी प्रशंसा बेलूर शिलालेखोंमें की गई है और जो हमें बतलाते हैं कि अभयचन्द्रका स्वर्गवास ईस्वी सन् १२७९ में और बालचन्द्रका ईस्वी सन् १२७४ में हुआ था।'

इस तरह डॉ० उपाध्येने अभयचन्द्रकी मन्द प्रबोधिकाका समय ईस्वी सन्‌की तेरहवीं शताब्दीका तीसरा चरण स्थिर किया है। जो अन्य प्रमाणसे भी समर्थित होता है।

---

१. 'पुनरपि कथंभूताः ? विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः-प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिसामर्थ्येनायुर्वर्जितसप्तकर्मणां गुणश्रेणि गुण संक्रम-स्थित्यनुभागकाण्डकघातैःषोडशप्रकृतिक्षपणेन मोहनीयस्याष्टकषायादिक्षपणेन बादरसूक्ष्मकृष्टिविधानेन अन्यैश्चोपायैः आत्मनः श्रेयोमार्गभ्रान्तिहेतुं····इति श्रीबालचन्द्र पण्डितदेवानां तात्पर्यार्थः।'—मं–प्रबो०।

२. वही लेख, अने० वर्ष ४, कि० १।

अभयचन्द्रने जी० का० की प्रथम गाथाकी मन्द प्रबोधिका टीकामें एक पद्य[1] उद्धृत किया है जो पं० आशाधरके अनगार धर्मामृतके नौवें अध्यायका २६वां पद्य है। पं० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १३०० अर्थात् ई० सन् १२४३में समाप्त की थी। अतः मन्दप्रबोधिककी रचना उसके बाद हुई यह निश्चित है। और चूँकि कर्णाटक वृत्तिकी समाप्ति ई० सन् १३५९ में हुई।' अतः मन्द प्रबधिकाकी रचना सन् १२४३ और १३५९ के मध्यमें किसी समय हुई है। श्रवण बेलगोला और बेलूरके शिलालेखोंमें निदिष्ट बालचन्द्र पण्डित और अभयचन्द पण्डित भी इसी समयमें हुए हैं। किन्तु श्रवणबेल गोलाके शिलालेखमें बालेन्दु पण्डितको अभयचन्द्रका शिष्य बतलाया है। और एक गुरु अपनी टीकामें अपने शिष्यके मतका उल्लेख 'इति बालचन्द्र पण्डित देवानां तात्पर्यार्थः' इस रूपमें नहीं कर सकता।

किन्तु उसमें[2] अभयचन्द्रको 'सिद्धान्ताम्भोधि सीतद्युतिः' विशेषण दिया है जो बतलाता है कि अभयचन्द्र सिद्धान्तरूपी समुद्रके लिये चन्द्रमाके तुल्य थे। अतः ई० सन् १३१३ के शिलालेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र मन्द प्रबोधिकाके कर्ता होना चाहिये। प्रश्न केवल बालचन्द्र पण्डितदेवको उनका शिष्य बतलानेका रह जाता है।

इस सम्बन्धमें परमागमसारके रचयिता श्रुतमुनिने जो अपनी प्रशस्ति उसके अन्तमें दी है वह[3] भी यहाँ उल्लेखनीय है। परमागमसारकी समाप्ति शक सं० १२६३ में हुई है। प्रशस्तिमें लिखा है—श्रुतमुनिके अणुव्रत गुरु बालेन्दु, महाव्रत

---

१. 'उच्यते, 'नेष्टं विहंतुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षःप्रभुरन्तरायः। तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदार्हदादेः।'' इति वचनेन''''।—मं० प्रबो०।

२. 'तच्छिष्यश्चरुकीर्ति प्रथितगुणगणः पण्डितस्तस्य शिष्यः,
ख्यातः श्रीमाघनन्दिव्रतिपतिनुतभट्टारकस्तस्य शिष्यः।
सिद्धान्ताम्भोधिसीतद्युतिरभयशशी तस्य शिष्यो महीयान्
बालेन्दुः पण्डितस्तत्पदनुतिरमलो रामचन्द्रोऽमलाङ्गः ॥१६॥'
—शिला० सं०, भा० १, पृ० ३२।

३. 'अणुवद गुरुबालेंदू महव्वदे अभयचंद सिद्धंति।
सत्थेऽभयसूरि पहा (भा) चंदा खलु सुयमुणिस्स गुरु ॥२२५॥
सिरिमूलसंघ-देसियगण-पुत्थयगच्छ कोंडकुंदाणं।
परमण्ण-इंगलेसर बलिम्मि जादस्स मुणिपहाणस्स ॥२२६॥
सिद्धंताहयचंदस्स य सिस्सो बालचंद मुणिपवरो।
सो भविय कुवलयाणं आणंदकरो सया जयउ ॥२२७॥
प्रश० सं० भा० १, पृ० १९१।

गुरु अभयचन्द्र सिद्धान्तिक, और शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र थे। आगे लिखा है—सैद्धान्तिक अभयचन्द्रके शिष्य बालचन्द्र मुनि जयवन्त हों। शब्दागम, परमागम, तर्कागमके वेत्ता तथा सकल अन्यवादियोंके जेता अभयसूरि सिद्धान्ती जयवन्त हों।

विचारणीय यह है कि श्रवणबेल गोलाके शिलोलेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द पण्डित तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिमें स्मृत अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र मुनि क्या एक ही व्यक्ति हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उक्त शिलालेख मूलसंघ देशीगण और पुस्तक गच्छके आचार्योंसे सम्बद्ध है तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिभी मूलसंघ, देशीगण और पुस्तक गच्छकी इगंलेश्वर शाखासे-सम्बद्ध है। अन्तर इतना ही है कि एक जगह बालचन्द-को पण्डित लिखा है और एक जगह मुनि। हो सकता है कि मन्दप्रबोधिकाकी रचनाके समय वे केवल बालचन्द पण्डित हों और पीछे उन्होंने मुनिपद धारण कर लिया हो।

किन्तु इन दोनों उल्लेखोंके समन्वयमें सबसे बड़ी बाधा बेलूरके शिलालेख है जिनमें शक सं० १२०१ में अभयचन्दकी और उनसे ५ बर्ष पूर्व बालचन्दकी मृत्यु बतलाई है। क्योंकि परमागमसारकी रचनाके समय यदि श्रुतमुनिकी अवस्था ५० वर्ष भी मान ली जाये तो शक सं० १२१३ में उनका जन्म हुआ होगा। उस समयसे बहुत पहले अभयचन्द और बालचन्दका स्वर्गवास हो चुका था।

किन्तु श्रवणवेलगोलाके जस शिलालेखमें अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डितका नाम है वह शिलालेख शक सं० १२३५ का है। शक सं० १२३५ में शुभचन्द्र त्रैविद्यकी मृत्यु हुई और उनकी स्मृतिमें उनके शिष्योंने उनकी निषद्या निर्माण कराई। शिलालेखके अनुसार शुभचन्द्रके शिष्य चारुकीर्ति थे, चारुकीर्तिके शिष्य माघनन्दि थे, माघनन्दिके शिष्य अभयचन्द्र और अभय-चन्द्रके शिष्य बालचन्द्र पण्डित थे। ऐसी स्थितिसे अभयचन्द्र और बालचन्द्रकी मृत्यु शक सं० १२०१ में या उससे पूर्व कैसे हो सकती है? अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि अपने दादा गुरु शुभचन्द्रकी मृत्युके समय अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र जीवित थे और ऐसा होनेसे परमागमसारके रचयिता श्रुत-मुनिके वे दोनों व्रतगुरु हो सकते है। अतः मन्दप्रबोधिकाकी रचनाका काल ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दीके तीसरे चरणकी अपेक्षा चौदहवी शताब्दीका प्रथम चरण होना चाहिये।

श्रुतमुनिके विद्यागुरु अभयसूरि सिद्धान्ती थे और गोमट्टसारकी कर्नाटक

वृत्तिके रचयिता केशववर्णीके गुरु अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्ती थे । परमागमसार शक सं० १२६३ में पूर्ण हुआ और गो० कर्नाटक वृत्ति शक सं० १२८१ में। दोनोंमें केवल १८ वर्षका अन्तर है । अतः ये दोनों अभयसूरि भी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं । इन्हें श्रुतमुनिने परमागम आदिका पूर्ण ज्ञाता बतलाया हैं । ऐसी स्थितिमें मन्दप्रबोधिकाके रचयिता अभयचन्द्र सिद्धान्तीका अभयसूरिके साथ साक्षात्कार हो सकता है और सम्भवतया उसीके फलस्वरूप मन्दप्रबोधिकाके आधार पर केशववर्णीके द्वारा कर्नाटक वृत्ति रची गई हो । अस्तु, जो कुछ हो पर इतना सुनिश्चित है कि अनगार धर्मामृतकी टीकाके समाप्तिकाल वि० सं० १३०० के पश्चात् और कर्नाटक वृत्तिकी समाप्तिके समय शक० सं० १२८१ (वि० सं० १४१६)से पूर्व अर्थात् विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीमें मन्दप्रबोधिकाकी रचना हुई ।

२ जीवतत्व प्रदीपिका

वर्तमानमें पूरे गोम्मटसार पर उपलब्ध होने वाली पूरी और सुविस्तृत संस्कृत टीका जीवतत्त्व प्रदीपिका ही है । गोम्मटसारके अध्ययनके यथेष्ट प्रचार-का श्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिकाको ही प्राप्त है । पं० श्री टोडरमल जीने उसीको न केवल आधार बनाकर, बल्कि अनुदित करके अपनी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाकी रचना की थी । उन्होंने अपनी टीकाकी पीठिकामें लिखा है—'ऐसैं विचारि श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीयनामा पञ्चसंग्रह ग्रन्थकी जीवतत्त्व प्रदीपिका नामा संस्कृत टीका ताकै अनुसारि सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामा यहु देशभाषामयी टीका करनेका निश्चय किया है ।' और गोम्मटसारके हिन्दी अंग्रेजी और मराठीके सभी आधुनिक अनुवाद पं० टोडरमल जीकी टीकाके आधार पर हुए हैं । अतः इस सबका परम्पराश्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिका को ही है ।

किन्तु इस टीकाके कर्तृत्वको लेकर कुछ भ्रम फैल गया था । पं० टोडरमल जी ने अपनी हिन्दी टीकामें इस टीकाको केशववर्णीकी बतलाया है । उसीके आधार पर गोम्मटसारके आधुनिक टीकाकारोंने भी उसे केशववर्णीकी बतलाया । पं० टोडरमल जीके उक्त उल्लेखका कारण जीवकाण्डकी जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अन्तमें पाया जानेवाला एक श्लोक है जो इस प्रकार हैं—

> श्रित्वा कर्णाटिकीं वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवैः कृतिः ।
> कृतेयमन्यथा किंचिद् विशोध्यं तद्बहुश्रुतैः ॥१॥

इसका अनुवाद पं० टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है—

> केशववर्णी भव्यविचार । कर्णाटक टीका अनुसार ।
> संस्कृत टीका कीनी एहु । जो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु ॥१॥

डा० उपाध्येके जिस लेख[1]का उल्लेख पहले किया गया है उस लेख में जीवतत्त्व प्रदीपिकाके कर्तृत्वके विषयमें फैले हुए इस भ्रमका निराकरण करते हुए डा० साहबने सुन्दर विचार प्रस्तुत किया है।

असलमें उक्त श्लोक जो इस भ्रम फैलानेका कारण बना, अशुद्ध है। श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बईकी जीवतत्त्व प्रदीपिका सहित गोम्मटसारकी लिखित प्रतिमें उक्त श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

'श्रित्वा कर्णाटिकीं वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवैः कृताम्।
कृतेयमन्यथा किंचित्तद्विशोध्यं बहुश्रुतैः ॥'

इसके साथ एक श्लोक और है जो इस प्रकार है—

श्रीमत् केशवचन्द्रस्य कृतकर्णाटवृत्तितः।
कृतेयमन्यथा किंचिच्चेत्तच्छोध्यं बहुश्रुतैः ॥'

इन पद्योंसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इन पद्योंमें टीकाके कर्ताने अपना नाम नहीं दिया बल्कि यह लिखा है कि उसने अपनी टीका केशववर्णीकी कर्णाटवृत्ति परसे लिखी है और साथ ही यह आशा व्यक्त की है कि यदि उसकी टीकामें कुछ अशुद्धियाँ हों तो बहुश्रुत विद्वान् उन्हें शुद्ध करके पढ़नेकी कृपा करें।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाको कर्णाटक वृत्तिके अनुसार रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने अपनी टीकाके प्रथम मंगल श्लोकमें ही की है—

'नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्रीज्ञानभूषणम्।
वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाटवृत्तितः ॥'

केशववर्णीकी कर्नाटक वृत्तिकी लिखित प्रतियां आज भी उपलब्ध हैं। उस वृत्तिका नाम भी जीवतत्त्व प्रदीपिका है और वह सं०जी०प्र० से कुछ बड़ी है। अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं रहता कि सं०जी०प्र०का के रचयिता केशववर्णी नहीं है।

तब प्रश्न होता है कि उसके रचयिता कौन हैं और कब उसकी रचना हुई है? गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करणके अन्तमें एक प्रशस्ति[2] दी हुई है। उससे

---

१. अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० ११३ आदि।

२. 'यत्र रत्नैस्त्रिभिर्लब्ध्वार्हन्त्यं पूज्यं नरामरैः। निर्वान्ति मूलसंघोऽयं नंद्यादाचन्द्र तारकं ॥४॥ तत्र श्रीशारदागच्छे बलात्कारगणोऽन्वयः। कुन्दकुन्द मुनीन्द्रस्य नंद्याम्नायोऽपि नन्दतु ॥५॥ यो गुणैर्गणभृद्गीतो भट्टारक शिरोमणिः। भक्त्या नमामि तं भूयो गुरुं श्रीज्ञानभूषणम् ॥६॥ कर्णाटप्रायदेशेशमल्लिभूपाल भक्तितः। सिद्धान्तः पाठितो येन मुनिचन्द्रं नमामि तम् ॥७॥ योऽभ्यर्थ्य धर्मवृद्ध्यर्थं मह्यं सूरिपदं ददौ। भट्टारकशिरोरत्नं प्रभेन्दुः स

पता चलता है कि संस्कृत जी०प्र० टीकाके कर्ता मूलसंघ, शारदागच्छ बलात्कार गण, कुन्दकुन्दाम्वय और नन्दि आम्नायके नेमिचन्द्र हैं। वे ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे। प्रभाचन्द्र भट्टारकने उन्हे सूरिपद प्रदान किया था। कर्णाटकके जैन राजा मल्लिभूपालकी भक्तिवश उन्हे मुनिचन्द्रने सिद्धान्त पढ़ाया था। लाला वर्णी-के आग्रहसे वे गुर्जर देशसे आकर चित्रकूटमें जिनदास शाह द्वारा निर्मापित चैत्यालयमें ठहरे। वहाँ उन्होंने सूरि श्री धर्मचन्द्र, अभयचन्द्र भट्टारक और लाला वर्णी आदि भव्य जीवोंके लिये, खण्डेलवाल वंशके साह सांगा और साह सहेसकी प्रार्थना पर कर्णाट वृत्तिके अनुसार गोम्मटसारकी वृत्ति लिखी। उसकी रचनामें विविध विद्यामें विख्यात विशालकीर्ति सूरिने सहायता की और उसे प्रथम बार हर्ष पूर्वक पढा। त्रैविद्य चक्रवर्ती निर्ग्रन्थाचार्य अभयचन्द्रने उसका संशोधन करके उसकी प्रथम प्रति तैयार की थी।'

अतः उक्त प्रशस्तिके अनुसार संस्कृत जीव तत्त्व प्रदीपिका टीकाके कर्ता नेमिचन्द हैं। गोम्मटसारके अन्तर्गत अध्यायोंके अन्तमें जो सन्धि वाक्य हैं उनसे भी इस बातका समर्थन होता है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्रकृतायां गोम्म-टसारांपरनामपञ्चसंग्रहवृत्तौ' यहाँ नेमिचन्द्रकृतायां पद 'वृत्तिका विशेषण है न कि गोम्मटसारका, क्योंकि वृत्तिकी तरह वह भी स्त्रीलिंगमे प्रयुक्त हुआ है। किन्तु गोम्मटसारके रचयिताका नाम भी आचार्य नेमिचन्द्र था। अत. किन्ही सन्धि-वाक्योंमें नेमिचन्द्रके साथ सिद्धान्तचक्रवर्ती पद जोड़ दिया गया है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीविरचितायां गोम्मटसारपरनामपंच-संग्रह वृत्तौ जीवतत्त्वप्रदीपिकाख्यायां कर्मकाण्डे त्रिकरणचूलिका नाम अष्टमोऽ-धिकारः।' किन्तु यहाँ भी 'विरचितायां' पद जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक वृत्तिका विशेषण है। अतः ग्रन्थकार और टीकाकारके नाम साम्यके कारण उक्त प्रकारकी भूल हो गई है।

नमस्यते ॥८॥ विविधविद्याविख्यात विशालकीर्तिसूरिणा। सहायोऽस्यां कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथमं मुदा ॥९॥ सूरेः श्री धर्मचन्द्रस्याभयचन्द्रगणेशिनः। वर्णि लालादिभव्यानां कृते कर्णाटवृत्तितः ॥१०॥ रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्व-नाथालयेऽमुना। साधुसांगासहेसाभ्यां प्रार्थितेन मुमुक्षुणा ॥११॥ गोम्मट-सारवृत्तिर्हि नंद्याद् भव्यैः प्रवर्तिता। शोधयन्त्वागमात् किंचित् विरुद्धं चेद् बहुश्रुताः ॥१२॥ निर्गन्थाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना। संशोध्याभयचन्द्रेणा-लेखि प्रथम पुस्तकः ॥१३॥'—गो०क०का०, पृ० २०९७-९८।

इसके नीचे गद्य प्रशस्ति है जिसमें संक्षेप में वही बात प्रायः कही है जो पद्योंमें कही गई है।

तथा टीकाका आद्य मंगलाचरण भी इसी बातका समर्थक है। उसका पूर्वार्द्ध 'नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्रीज्ञानभूषणं' में जिनके विशेषण रूपसे प्रयुक्त नेमिचन्द्र और ज्ञानभूषण पद द्व्यर्थक हैं। इन दो पदोंके द्वारा टीकाकारने अपना और अपने गुरु ज्ञानभूषणका निर्देश किया है। ज्ञानभूषण और उनकी परम्परामें होने वाले ग्रन्थकारोंने प्रायः मंगल पद्योंमें अपना और अपने गुरुका नाम विशेषण रूपसे प्रयुक्त किया है। उदाहरणके लिये भ० ज्ञानभूषणने सिद्धान्तसार भाष्यके आदिमें जो मंगलाचरण किया है उसमें उन्होंने अपना और अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रका नाम विशेषण रूपसे दिया है। यथा

श्री सर्वज्ञं प्रणम्यादौ लक्ष्मी-वीरेन्दु-सेवितम्।
भाष्यं सिद्धान्तसारस्य वक्ष्ये ज्ञानसुभूषणम्॥

इस तरहके उदाहरण बहुत मिलते हैं। अतः यह निर्विविवाद है कि जीवतत्त्व प्रदीपिकाके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र था और वह ज्ञानभूषणके शिष्य थे।

अब विचारणीय यह है कि वे हुए कब हैं?

समय विचार

नेमिचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जीवतत्त्व प्रदीपिकाकी रचनाके समयका निर्देश नहीं किया है। किन्तु केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्तिको शक सम्वत् १२८१ में समाप्त किया था और चूंकि नेमिचन्द्रकी जीवतत्त्वप्रदीपिका उसीका अनुसरण करते हुए रची गई है अतः यह निश्चित है कि उसकी रचना शक सं० १२८१ (वि० सं० १४१६) के पश्चात् किसी समयमें हुई है। और पं० टोडरमलजीने सं०जी०प्र० का के आधार पर हिन्दी टीकाका निर्माण वि० सं० १८१८ या शक सं० १६८३ में किया था अतः जीव० प्र० उससे पहलेकी है यह भी निश्चित है। अब देखना यह है कि वि० सं० १४१६ से लेकर १८१८ तकके चार सौ वर्षोंके अन्दर कब उसका निर्माण हुआ।

उक्त प्रशस्तिमें कर्णाट प्राय देशके स्वामी मल्लिभूपालका नाम आया है। डा० उपाध्येने उसीके आधार पर संस्कृत जी०प्र० की रचनाका समय ईसाकी १६ वीं शताब्दीका प्रारम्भ ठहराया है। उन्होंने लिखा[1] है 'जैन साहित्यके उद्धरणों पर दृष्टि डालनेसे मुझे मालूम होता है कि मल्लि नामक एक शासक कुछ जैन लेखकोंके साथ प्रायः सम्पर्कको प्राप्त है। शुभचन्द्र गुर्वावलीके अनुसार विजय कीर्ति (ई० सन् की १६ वीं शताब्दीके प्रारम्भमें) मल्लिभूपालके द्वारा सम्मानित हुआ था। विजयकीर्तिका समकालीन होनेसे उस मल्लिभूपालको १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भमें रखा जा सकता है। उसके स्थान और धर्म विषयका हमें परिचय

---

१. अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० १२०।

नहीं दिया गया। दूसरे विशालकीर्तिके शिष्य विद्यानन्द स्वामी[1] के विषयमें कहा जाता है कि ये मल्लिरायके द्वारा पूजे गये थे। और ये विद्यानन्द ई० सन् १५४१ में दिवंगत हुए हैं। इससे भी मालूम होता है कि १६ वीं शताब्दीके प्रारम्भमें एक मल्लिभूपाल था। हुमचका शिलालेख इस विषयको और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। वह बतलाता है कि यह राजा जो विद्यानन्दके सम्पर्कमें था सालुव मल्लिराय कहलाता है, यह उल्लेख हमें मात्र परम्परागत किंवदन्तियोंसे हटाकर ऐतिहासिक आधार पर ले आता है। सालुव नरेशोंने कनारा जिलेके एक भाग पर राज्य किया है और वे जैनधर्मको मानते थे। मल्लिभूपाल मल्लिरायका संस्कृत किया हुआ रूप है। और मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नेमिचन्द्र सालुव मल्लिरायका उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि उन्होंने उनके वंशका उल्लेख नहीं किया है। १५३० ई० के लेखमें उल्लिखित होनेसे हम सालुव मल्लिरायको १६ वी शताब्दीके प्रथम चरणमें रख सकते हैं। और यह उसके विद्यानन्द तथा विजयकीर्ति विषयक सम्पर्कके साथ भी अच्छी तरह संगत जान पड़ता है। इस तरह नेमिचन्द्र के सालुव मल्लिरायके समकालीन होनेसे हम सं० जीव० प्रदीपिकाकी रचनाको ईसाकी १६ वी शताब्दीके प्रारम्भकी ठहरा सकते हैं।'

श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीने 'जिनचन्द्र ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र' शीर्षक अपने लेखके टिप्पणीमें लिखा है कि २६ अगस्त १९१५के जैन मित्रमें गोम्मटसार टीका-की प्रशस्ति प्रकाशित हुई थी। उसके अनुसार यह टीका वीरनिर्वाण सम्वत् २१७७ में समाप्त हुई। प्रेमीजीने उस प्रशस्तिका जो आशय दिया है उससे यही ज्ञात होता है कि वह प्रशस्ति वही है जो गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करणके अन्तमे प्रकाशित हुई है। किन्तु उसमें उसका रचनाकाल नहीं दिया, जबकि जैनमित्रमें प्रकाशित प्रशस्तिमें रचनाकाल दिया हुआ है। किन्तु वह वीर निर्वाण सम्वत्के रूप-मे है। प्रेमीजी ने लिखा है—'गोम्मटसारके कर्ताके मतसे २१७७में विक्रम संवत् (२१७७ – ६०५ = १५७२ + १३५) १७०७ पड़ता है अतएव उक्त नेमिचन्द्रके गुरु ज्ञानभूषण कोई दूसरे ही ज्ञानभूषण है जो सिद्धान्त सारके कर्तासे सौ सवा सौ वर्ष बाद हुए हैं।'

उसका उल्लेख करते हुए डॉ० उपाध्येने लिखा है यह समय (अर्थात् वि० सं० १७०७ या ईस्वी सन् १६५०) मल्लिभूपाल और नेमिचन्द्रको समकालीन नही ठहरा सकता। चूँकि असली प्रशस्ति उद्धृत नही की गई है अतः इस उल्लेख-की विशेषताओंका निर्णय करना कठिन है। हर हालतमें ई० सन् १६५० जी०

---

१. 'विशालकीर्तेः' श्रीविद्यानन्द स्वामीति शब्दतः।
अभवत्तनयः साधुर्मल्लिरायनृपार्चितः॥'
—प्रश० सं० [आरा], पृ० १२५।

प्रदीपिकाकी बादकी प्रतिलिपिकी समाप्तिका समय है, न कि स्वयं जी० प्रदीपिका रचनाकी समाप्तिका समय।[1]

अर्थात् डॉ० उपाध्येके लेखके अनुसार वि० सं० १७०७ से पहले ही टीका-की रचना हो चुकी थी। ऐसी स्थितिमें इस समस्याको सुलझानेके दो साधन हो सकते हैं, प्रथम, प्रशस्तिमें निर्दिष्ट वीर नि० सम्वत् की समीक्षा और दूसरा नेमिचन्द्रके द्वारा उल्लिखित अपने समकालीन व्यक्तियोंकी छानबीन, जिनकी ओर डॉ० उपाध्येने इसलिये ध्यान देना उचित नहीं समझा कि चूँकि इन नामोंके अनेक आचार्य और साधू जैन परम्परामें हो गये हैं। अतः केवल नामोंकी समानताके आधार पर कोई निर्णय करना खतरनाक हो सकता है।' किन्तु जब हम अन्य किसी आधारसे किसी निर्णय पर पहुँच जाते हैं तब यदि उसको आधार बना कर इस बातकी खोज की जाये कि उस समय पर इस नामके व्यक्ति हुए है या नहीं तो उससे निर्णयकी सारता या निस्सारता पर प्रकाश पड़े बिना नहीं रह सकता। अतः हम उक्त दोनों साधनोंसे प्रकृत समस्याको सुलझानेका प्रयत्न करते हैं

दक्षिणमें प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्के सम्बन्धमें मतभेद है। और उस मतभेदका कारण है 'विक्रमांक शक' को विक्रम सम्वत् या शक सम्वत् समझा जाना; क्योंकि त्रिलोकसारकी गाथा ८५० की टीकामें लिखा है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् विक्रमांक शक राजा होगा। और विक्रम सम्वत् तथा शालिवाहन शक सम्वत्के बीचमें १३५ वर्षका अन्तर है। उत्तर भारतमें जो वीर नि० सं० वर्तमानमें प्रचलित है वह उक्त कालको शालिवाहन शकका सूचक मानकर ही प्रचलित है और अनेक शास्त्रीय उल्लेख उसके पक्षमें हैं यहाँ उनकी चर्चासे प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो यह बतलानेका प्रयोजन इतना ही है कि प्रेमीजी ने जो २१७७ वी० नि० सं०में ६०५ वर्ष घटाकर जो १३५ जोड़े है यदि वे दक्षिण-के मतभेदको दृष्टिमें रखकर न जोड़े जायें, और उसे ६०५ घटानेसे जो शेष रहता है उसे विक्रम सम्वत् मान लिया जाये तो डॉ० उपाध्येके द्वारा निर्णीत और प्रशस्तिमें उल्लिखित कालमें जो सौ सवा सौ वर्षका अन्तर पड़ता है वह नहीं पड़ेगा। अथ तू २१७७ – ६०५ = १५७२ विक्रम सम्वत्में और १५७२ – ५७ = १५१५ ई० में नेमिचन्द्रने गोम्मट्टसारकी टीका समाप्त की। डॉ० उपाध्येने यही काल उसका निर्णीत किया है।

अब हम दूसरे साधनको देखेंगे—

मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके भट्टारक श्रीज्ञानभूषण सागवाड़े-

---

१. अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० १२०।

की गद्दीके भट्टारक थे। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें उनका विस्तारसे परिचय दिया है। उनके द्वारा रचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल विक्रम संवत् १५६० दिया है। नेमिचन्द्रकी गोमटसार टीकाका जो रचनाकाल ऊपर दिया है उसके साथ इसका बराबर मेल खाता है। तत्त्व ज्ञान तरंगिणीसे गो० टीकाकी रचना बारह वर्षके पश्चात् हुई है। यह ज्ञानभूषण गुजरातके रहनेवाले थे और दक्षिण तथा उत्तरके प्रदेशोंमें सम्मान्य थे। नेमिचन्द्र भी गुजरातसे ही चित्रकूट गये थे।

नेमिचन्द्रको सूरिपद भट्टारक प्रभाचन्द्रने प्रदान किया था। वादिचन्द्रने वि० सं० १६४० में अपना पार्श्व पुराण रचा था और वि० सं० १६४८ में ज्ञान सूर्योदय नाटक रचा था, उन्होंने अपने गुरुका नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र लिखा है। तथा अपनेको ज्ञानभूषणका प्रशिष्य और प्रभाचन्द्रका शिष्य बतलाया है। इन्होंने स्व रचित श्रीपालाख्यान नामके गुजराती ग्रन्थमें अपनी गुरु परम्परा[२] इस प्रकार दी है—विद्यानन्दिके पट्टपर मल्लिभूषण, उनके पद पर लक्ष्मीचन्द्र, फिर वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्र और उनके पद पर वादिचन्द्र। ज्ञानभूषणके शिष्य सुमतिकीर्तिने अपनी पंचसंग्रह[३] वृत्तिमें भी एक पद्यके द्वारा यही गुरु परम्परा दी है। तथा प्रेमीजीने लिखा है कि इस श्रीपालाख्यानकी प्रशस्तिमें जो लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द है वे वही है जिनका उल्लेख ज्ञानभूषणने अपने सिद्धान्तसार भाष्यके मंगलाचरणमें 'लक्ष्मीवीरेन्दु सेवितं' पदसे किया है। अर्थात् तत्त्व ज्ञान तरंगिणीके रचयिता उक्त भट्टरक ज्ञनभूषणके शिष्य प्रभाचन्द्र भट्टारक थे और इन्हीं प्रभाचन्द्र भट्टारकने नेमिचन्द्रको सूरि पद दिया था। अतः इनकी संगति भी उक्त कालके साथ ठीक बैठ जाती है।

इस तरहसे प्रेमीजीके द्वारा निर्दिष्ट प्रशस्तिमें जो गोमट्टसार टीकाका रचना काल वीर निर्वाण सं० २१७७ दिया है उसमें ६०५ वर्ष कम करनेसे १५७२ को शक सम्वत् न लेकर वि० सं० लेनेसे, वह टीकाका रचनाकाल उचित ठहरता है और उसकी संगति नेमिचन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट समकालीन व्यक्तियोंके साथ भी

---

१. जै० सि० भा० की कि० ४, पृ० ४३-४५।

२. जै० सा० इ०, पृ० ३८७।

३. 'विद्यानन्दि गुरुर्यतीश्वर महान् श्री मूलसंघेऽनघे,
श्रीभट्टारक मल्लिभूषणमुनिर्लक्ष्मीन्दुवीरेन्दुकौ ॥
तत्पट्टे भुवि भास्करो यतिव्रतिः श्रीज्ञानभूषो गणी
तत्पाद द्वयपंकजे मधुकरः श्रीमत्प्रभेन्दुर्यति ॥१॥'
—पं० सं० वृत्ति० पृ० १२४।

ठीक बैठती है। अतः वि० सं० १५७२ या ई० सन् १५१५ टीका समाप्तिका काल जानना चाहिये।

टीकाका परिचय

इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका एक महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थ है। गोम्मटसारके गहन विषयोंको उसमें बहुत सरल रीतिसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। सैद्धान्तिक विषयोंकी चर्चाके साथ ही साथ गोमटसारमें जो अलौकिक गणित-संख्यात, असंख्यात, अनन्त, श्रेणि, जगत्प्रतर, घनलोक आदि राशियोंका कथन है, उसे सहनानियोंके द्वारा अंकसंदृष्टिके रूपमें स्पष्ट किया गया है। और अपने जानतेमें टीकाकारने किसी विषयको गूढ़रूपमें नहीं रहने दिया है। जीव विषयक और कर्मविषयक प्रत्येक चर्चित विषयका सैद्धान्तिक रूपमें सुन्दर विश्लेषण किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि टीकाकार श्री नेमिचन्द्राचार्यको जैन सिद्धान्तका गम्भीरज्ञान था। उनकी टीकामें प्रसङ्गवश चर्चित विषयोंकी यदि तालिका बनाई जाये तो एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है।

उनकी शैली स्पष्ट और संस्कृत परिमार्जित है। उसमें दुरूहता और संदिग्धता नहीं है। साथ ही साथ न अनावश्यक विस्तार है और न आवश्यक विस्तारका संकोच है। संक्षेपमें गोम्मटसार ग्रन्थके हृद्यके समझनेके लिये जिस ढंगकी टीका आवश्यक हो सकती है, जी० प्रदीपिका तदनुरूप ही है।

उसके देखनेसे टीकाकारके बहुश्रुतत्वका भी परिचय मिलता है। उसमें संस्कृत और प्राकृतके लगभग एक सौ पद्य उद्धृत है। जो समन्तभद्राचार्यकी आप्त-मीमांसा, विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा, सोमदेवके यशस्तिलक, नेमिचन्द्रके त्रिलोक-सार और आशाधरके अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थोंसे लिये गये है। तथा टीकामें यतिवृषभ, भूतबली, भट्टाकलंक, नेमिचन्द्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र और केशववर्णी आदि ग्रन्थकारोंका नामोल्लेख है।

किन्तु यह टीका केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिके आधार रची गई है। अतः दोनोंका मिलान किये बिना यह कहना शक्य नहीं है कि उक्त विशेषताओंका श्रेय केवल नेमिचन्द्रको ही है, केशववर्णीको नहीं। संभव है केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिमें भी वे सब विशेषताएँ हों। फिर भी नेमिचन्द्रकी वृत्तिका जो रूप हमारे सामने है वह एक प्रशंसनीय टीकाके सर्वथा अनुरूप है।

सुमतिकीर्तिकी पञ्चसंग्रह वृत्ति

प्राकृत पंचसंग्रह पर एक वृत्ति सुमतिकीर्तिकी रची हुई है। इसकी एक प्रति देहलीके पंचायती जैन-मन्दिरमें वर्तमान है। यह प्रति संवत् १७११की

लिखी हुई है। टीकाकी प्रशस्तिमें उसके रचयिताने अपनी गुरुपरम्पराके साथ उसका रचनाकाल भी दिया है। तदनुसार [१]संवत् १६२० में टीकाकी रचना हुई थी। अतः उक्त प्रति टीकाकी रचनासे ९० वर्ष पश्चात् की लिखी हुई है।

रचयिताका परिचय

टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि सुमतिकीर्ति मूलसंघके अन्तर्गत नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छके भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे। प्रशस्तिमें ज्ञानभूषणकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र फिर ज्ञानभूषण। लक्ष्मीचन्द और वीरचन्दने तथा ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिको दीक्षा और शिक्षा दी थी। ज्ञान-भूषणके कहनेसे ही सुमतिकीर्तिने पञ्चसंग्रहकी यह वृत्ति रची थी और ज्ञानभूषणने उसे शुद्ध किया था। अतः यह ज्ञानभूषण भी वही है जिन्होंने सिद्धान्तसार भाष्य और कर्मप्रकृति टीका रची है। तथा सुमतिकीर्ति भी उन्हींके शिष्य हैं।

जैसा कि ऊपर लिखा है विक्रम[२] सं० १६२०में भाद्रपद शुक्ला दशमीके दिन ईलख (?) स्थानमें वृषभालय (ऋषभदेव मन्दिर)मे टीकाकी समाप्ति हुई थी। पं० परमानन्द[३] जीने 'ईलख' को गुजरातका ईडर नामक स्थान बतलाया है। और लिखा हैं कि सुमतिकीर्ति भी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इन्होंने अपने गुरु ज्ञानभूषणके साथ कर्मकाण्ड[४] (कर्मप्रकृति) की भी टीका रची थी, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

भ० सकलभूषणने वि०सं० १६२७में अपनी उपदेश रत्नमाला समाप्त की थी। उसकी प्रशस्तिमें अपनी गुर्वावली देते हुए उन्होंने भट्टारक शुभचन्द्रका उत्तराधिकारी सुमतिकीर्तिको बतलाया है और अपनेको सुमतिकीर्तिका गुरुभाई कहा है। यह सकलभूषण शुभचन्द्रके शिष्य थे।

---

१. 'दीक्षा शिक्षापदं दत्तं लक्ष्मीवीरेन्द्र (न्दु) सूरिणा। येन मे ज्ञानभूषेण तस्मै श्री गुरवे नमः ॥९॥ आगमेन विरुद्धं यद् व्याकरणेन दूषितम्। शुद्धीकृतं च तन्सर्वं गुरुभिर्ज्ञानभूषणैः ॥१०॥'—जै०प्र०सं०, पृ० १५६।

२. 'श्रीमद् विक्रम भूपतेः परिमिते वर्षे शते षोडशे, विंशत्यग्रगते सिते शुभतरे भाद्रे दशम्या तिथौ। 'ईलावे' वृषभालये वृषकरे सुश्रावके धार्मिके, सूरि श्रीसुमतीशकीर्तिविहिता टीका सदा नन्दतु ॥१३॥—जै०प्र०सं०, पृ० १५६।

३. जै०प्र०सं०, प्रस्ता० पृ० ७५।

४. 'तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः। टीकां हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमति-कीर्तियुक् ॥२॥'—जै०प्र०सं०, पृ० १५३।

पंचसंग्रह वृत्ति

इस वृत्तिकी जो प्रति हमें देखनेको प्राप्त हुई उसके प्रारम्भके ४८ पत्र नहीं हैं और उनके स्थानमें पंचसंग्रह मूलके ४९ पत्र रख दिये गये हैं। अतः टीकाके प्रारम्भके विषयमें कुछ कहना शक्य नहीं है। टीकाके अन्तका सन्धिवाक्य इस प्रकार है—

'इति श्री पंचसंग्रहापरनाम-लघुगोम्मटसार सिद्धान्तग्रन्थटीकायां कर्मकाण्डे सप्तति नाम सप्तमोऽधिकारः। इति श्री लघुगोम्मटसारटीका समाप्ता।'

सर्वत्र सन्धि वाक्योंमें ग्रन्थको लघु गोम्मटसार कहा गया है और उसका दूसरा नाम पंचसंग्रह बतलाया है। गोम्मटसारकी टीकाकी प्रशस्तिमें भी गोम्मटसारका अपर नाम पंचसंग्रह बतलाया गया है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र-विरचितायां गोम्मटसारपरनामपंचसंग्रहवृत्तौ जीवतत्त्वप्रदीपिकायां।'

शायद पंचसंग्रहके टीकाकारने पंचसंग्रहको लघु गोम्मटसार समझा है। किन्तु अपनी टीकामें उन्होंने पंचसंग्रहका निर्देश पंचसंग्रह नामसे ही किया है। यथा—'इदमुपशमविधानं गोम्मटसारे प्रोक्तमस्ति। पंचसंग्रहोक्त भावोऽयं कथ्यते।'

फिर भी उक्त सन्धिवाक्य इस बातका साक्षी है कि उस समय भी गोम्मटसारको कितना ऊँचा स्थान प्राप्त था। शायद लोग इस बातकी कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि गोम्मटसारसे भी कोई महान सिद्धान्त ग्रन्थ हो सकता है जिसपरसे गोम्मटसार संग्रहीत किया गया है। अस्तु,

धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें सम्बत् १७९९ की लिखी हुई इसकी एक प्रति हमें देखनेको मिली। इस प्रतिमें उसकी अन्तिम प्रशस्ति नहीं है। किन्तु पं० परमानन्दजीने अपने प्रशस्ति संग्रहमें उसकी प्रशस्ति दी है। प्रशस्तिके पश्चात् अन्तिम सन्धिवाक्य इस प्रकार दिया है—'इति श्री भट्टारक श्री ज्ञान भूषणविरचिता कर्मकाण्डग्रन्थटीका समाप्ता।'

नीचे टिप्पणमें लिखा है कि जयपुर और देहलीकी कितनी ही प्रतियोंमें ज्ञान भूषणनामांकिता सूरिसुमतिकीर्ति विरचिता' ऐसा पाठ पाया जाता है जो ग्रन्थकी दोनों भट्टारकों द्वारा संयुक्त रचना होनेका परिणाम जान पड़ता है (जै० प्र० पृ० १५६)।

ऐ० प० सरस्वती भवन झालरापाटनकी ग्रन्थ नामावलिमें भी कर्म प्रकृति टीका 'सुमति कीर्ति युग् ज्ञानभूषणकृता' ऐसा लिखा हुआ है। ज्ञानभूषणके साथ 'सुमतिकीर्तियुक्' विशेषण लगानेका कारण यह है कि टीकाके आदिवाक्य और प्रशस्तिमें यही पद पाया जाता है—

यथा—

विद्यानन्दि सुमल्यादि भूष लक्ष्मीन्दुसद् गुरून् ।
वीरेन्दु-ज्ञानभूषं हि वन्दे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

इसमें विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मी चन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण और सुमति कीर्तिको नमस्कार किया है।
प्रशस्तिमें लिखा है

मूलसंघे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वरः ।
तस्य पट्टे च वीरेन्दु विबुधो विश्ववन्दितः ॥१॥
तदन्वये दयाम्भोधि र्ज्ञानभूषो गुणाकरः ।
टीकां हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

अर्थात् मूलसंघमें महासाधु लक्ष्मी चन्द्र यतीश्वर हुए। उनके पट्ट पर विश्ववन्द्य वीरचन्द्र हुए। उनके वंशमें दयालु गुणाकर ज्ञानभूषण हुए। उन्होंने सुमति कीर्तिके साथ कर्मकाण्डकी टीका रची।

इससे स्पष्ट है कि टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनों है। यह ज्ञानभूषण ईडरकी गद्दी वाले ज्ञानभूषण नही है किन्तु सूरतकी गद्दीवाले ज्ञान भूषण है। उन्हीके शिष्यका नाम सुमतिकीर्ति था।

टीकाके आदि और अन्तिम श्लोकोंमें इसे कर्मकाण्डकी टीका कहा है और इसी लिये मूल ग्रन्थका कर्ता सिद्धान्तपरिज्ञानचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्र कविको बतलाया है। सिद्धान्त और चक्रवर्तीके बीचमें जो परिज्ञान पद डाल दिया गया है वह सिद्धान्त चक्रवर्तीका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये ही डाला गया जान पडता है। किन्तु वास्तवमें यह कर्मकाण्डके आधार पर संकलित कर्मप्रकृतिकी टीका है।

यह टीका गोम्मटसारकी टीकाको देखकर बनाई गई है क्योंकि प्रशस्तिमें इस बातको स्वीकार किया है। यथा

टीकां गोमट्टसारस्य विलोक्य विहित ध्रुवं ।
पठन्तु सज्जनाः सर्वे भाष्यमेतन्मनोहरम् ॥३॥

अर्थात् गोम्मट्टसारकी टीकाको देखकर रचे गये इस मनोहर भाष्यको सब सज्जन पढ़े।

गोमट्टसारकी नेमिचन्द्र कृत जीवतत्त्व प्रदीपिका टीकाके साथ मिलान करनेसे यह बराबर स्पष्ट हो जाता है कि एकको देखकर दूसरीकी रचनाकी गई है। उदाहरणके लिये यहाँ केवल दूसरी गाथाकी दोनों टीकाएं देते हैं—

नेमि० टी०—प्रकृतिः शीलः स्वभाव इत्यर्थः। सोऽपि कारणान्तरनिरपेक्षता अग्निवायु जलानां उर्ध्वतिर्यग्निम्नगमनवत्। सहि स्वभाववन्तपेक्षते इति। कयोः

सः । जीवांगयोः जीव कर्मणोः । तत्र रागादिपरिणमनमात्मनः स्वभावः रागाद्युत्पादकत्वं तु कर्मणः । तदेतरेतराश्रयदोषः तत्परिहारार्थं तयोः जीवकर्मणोः सम्बन्ध अनादिरित्युक्तं । क इव । कनकोपले मलमिव स्वर्णपाषाणे स्वर्णपाषाणयोः सम्बन्धस्य अनादिरिव । अनेन अमूर्तो जीवः मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यते इत्यपास्तं । तयोरस्तित्वं कुतः सिद्धं । स्वतः सिद्धं । अहं प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनः दरिद्र श्रीमदादिविचित्रपरिणामात् कर्मणश्च तत्सिद्धेः ॥२॥

ज्ञान० टी०—प्रकृतिः शीलः स्वभाव इति प्रकृतिपर्यायनामानि । स्वभावस्य लक्षणं किं । इति चेत् कारणान्तरनिरपेक्षत्वं स्वभावः । यथा अग्नेरूर्द्धगमनं स्वभावः वायोः तिर्यग्गमनं स्वभावः जलस्य च निम्नगमनं स्वभावः । स च स्वभाववन्तं अपेक्षते । स स्वभावः कयोः जीवांगयोः जीवकर्मणो इत्यर्थः । तत्र जीवकर्मणोर्मध्ये आत्मनः रागादि परिणमनं स्वभावः कर्मण रागाद्युत्पादकत्वं स्वभावः । स्वभावो हि स्वभाववन्तमन्तरेण न भवति, स्वभाववान् स्वभावं विना न भवति इत्युच्यमाने इतरेतराश्रयदोषप्रसंगः स्यात् । तत्परिहारार्थंअनयो जीवकर्मणोरनादि सम्बन्धः । कयोरिव कनकोपलयोर्मलमिव । यथा कनकपाषाणे मलसम्बन्धः अनादि तथा जीव कर्मणोरनादिसम्बन्धः । तयो जीर्वकर्मणोरस्तित्वं कथंसिद्धं ? स्वतः सिद्धं । कथमिति चेत् अहं प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनोऽस्तित्वं एको दरिद्रः एकः श्रीमान् एकः सुखी एको दुखी इति विचित्र परिणमनात् कर्मणोऽस्तित्वं सिद्धमिति ।

चूंकि कर्मप्रकृति टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति हैं अतः उसका रचनाकाल विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका अन्तिम चरण और १७ वीं का प्रथम चरण है ।

इस तरह दूसरी टीका पहली टीकाका अनुकरण मात्र है ।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कर्म प्रकृतिमें जीवकाण्डकी भी गाथाएं संकलित हैं । कर्म प्रकृतिके टीकाकारने उन गाथाओंकी टीका भी जीवकाण्डकी जीवतत्व प्रदीपिका टीकाके अनुसार ही की है । यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—

जं सामण्ण गहणं भावाणं णेव कट्टमायारं ।
अविसेसिदूण अट्टे दंसणमिदि भण्णदे समए ॥४३॥—जीवका० गा०४८२

जी० प्र०—भावानां सामान्यविशेषात्मकबाह्यपदार्थानां आकारं भेदग्रहणं अकृत्वा यत्सामान्य ग्रहणं-स्वरूपमात्रावभासनं तत् दर्शनमिति परमागमे भण्यते । वस्तु स्वरूपमात्रग्रहणं कथं । अर्थान्-बाह्यपदार्थान् अविशेष्य-जाति क्रियाग्रहणविकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासनं दर्शनमित्यर्थः ।

क० प्र० टी०—भावानां पदार्थानां सामान्यविशेषात्मकबाह्य वस्तूनां आकार

भेद ग्रहणं (अ) कृत्वा यत् सामान्यग्रहणं स्वरूपमात्रावभासनं तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते। वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं कथं? अर्थान् बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिद्रव्यगुणक्रियाप्रकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासनं दर्शनमित्यर्थः।

वामदेवका संस्कृत[1] भावसंग्रह—

प्राकृत भाव संग्रहके संस्कृत अनुवाद रूपमें इस भाव संग्रहकी रचना हुई है। दोनों ग्रन्थोंको आमने सामने रखकर पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। यहाँ दोनोंसे कुछ उद्धरण दे देना उचित होगा।

पणविय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं।
वोच्छामि भावसंगहमिणमो भव्वप्पवोहट्ठं ॥१॥
श्रीमद्वीरं जिनाधीशं मुक्तीशं त्रिदशार्चितम्।
नत्वा भव्यप्रबोधाय वक्ष्येऽहं भावसंग्रहम् ॥१॥

× × ×

जीवस्स होंति भावा जीवा पुण दुविहभेयसंजुत्ता।
मुत्ता पुण संसारी मुत्ता सिद्धा णिरवलेवा ॥२॥
भावा जीवपरीणामा जीवा भेदद्वयाश्रिताः।
मुक्ताः संसारिणस्तत्र मुक्ताः सिद्धा निरत्ययाः ॥२॥

× × ×

लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणियतइलोया।
असरीरा गइरहिया सुणिच्चला सुद्धभावट्ठा ॥३॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्ता गुणाष्टकविराजिताः।
लोकाग्रवासिनो नित्या ध्रौव्योत्पत्तिव्ययान्विता. ॥३॥

यह शब्दशः अनुवाद नही है, भावानुवाद है जो प्राकृत भाव संग्रहको सन्मुख रखकर संस्कृत भाषामें अनुष्टुप् श्लोकोंके द्वारा किया गया है। रचयिताने प्राकृत भावसंग्रहका अक्षरशः अनुकरण नहीं किया है, जगह जगह उसमे परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन आदि भी किये है। उसके भी यहाँ कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा।

१ प्रा० भा० सं० मे (गा० १६) मिथ्यात्वके पाँच भेद इस प्रकार बतलाये है—एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान और विपरीत। ये ही पांच भेद जैन परम्परामें प्रसिद्ध है। किन्तु सं० भा० सं० में (श्लो० ३२) उनके नाम इस प्रकार दिये हैं—वेदान्त, क्षणिकत्व, शून्यत्व, विनय और अज्ञान। प्रा० भा० सं० में ब्राह्मण-

---

१. संस्कृत भाव संग्रह भी प्राकृतभावसंग्रहके साथ श्रीमाणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईके २०वें ग्रंथ भावसंग्रहादिमें प्रकाशित हो चुका है।

को विपरीत मिथ्यात्वी बतलाया है। सं० भा० सं० में वेदवादीको वेदान्त-मिथ्यावी कहा है और ब्राह्मणकी तरह ही तीर्थस्नान, मांसभक्षण आदिकी बुराईयां बतलाई हैं। अन्तमें लिखा है 'इति वेदान्तोक्तं विपरीतं मिथ्यात्वम्'। संभवतया ग्रन्थकार वेद और वेदान्तके भेदसे परिचित नहीं थे ऐसा लगता है। प्रा० भा० सं० में संशय मिथ्यात्वका निरूपण करते हुए श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका कथन किया है किन्तु सं० भा० सं० में चूंकि इस नामका कोई मिथ्यात्व नहीं है और उसके स्थानमें जो एक शून्य मिथ्यात्व नाम गिनाया है उसकी उसमें कोई चर्चा नहीं की गई है। अतः शेष मिथ्यात्वोंका कथन प्रा० भा० सं० की ही तरह करनेके बाद पृथक्रूप रूपसे श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका कथन किया है और उसे स्वमतोद्भूत[1] (अपने मतमें उत्पन्न हुआ) मिथ्यात्व कहा है।

प्रा० भा० सं० में स्थविर कल्पका कथन करते हुए वर्तमान कालके मुनियोंके सम्बन्धमें कहा गया[2] है कि पहलेके मुनि उक्त संहननसे एक हजार वर्षमें जितनी कर्मनिर्जरा करते थे, आजकल हीन संहननमें उतनी कर्मनिर्जरा एक वर्षमें कर लेते हैं। सं० भा० सं० में इस गाथाका अनुवाद नहीं किया गया और यह उचित ही किया गया क्योंकि इस प्रकारका कथन पूर्वशास्त्र सम्मत नहीं है।

इसी तरह प्रा० भा० सं० में काष्ठा संघ आदिके विरोधमें एक भी शब्द नहीं कहा गया है किन्तु सं० भा० सं०[3] में एक श्लोकके द्वारा उन्हें मिथ्यात्वका प्रवर्तक कहा है।

प्रा० भा० सं० (गा० २८० आदि) में सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंमें प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम गिनाये हैं। किन्तु सं० भा० सं० में आठों अंगोंका स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचारके अनुसार उसीके शब्दोंमें कहा है (श्लो० ४१०–४१७) अन्य भी कई विशेष कथन सम्यक्त्वके सम्बन्धमें है।

पंचम गुणस्थानका कथन करते हुए सं० भा० सं० में ग्यारह प्रतिमाओंका कथन है यह कथन प्रा० भा० सं० में नहीं हैं। उसमें तो केवल बारह व्रतोंके नाम गिनाये हैं प्रतिमाओंके तो नाम तक भी नहीं गिनाये।

सं० भा० सं०में दूसरी व्रत प्रतिमाका कथन करते हुए पूज्य पूजक और पूजा

---

१. 'अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूतं मिथ्यात्वं तन्निगद्यते। विहितं जिनचन्द्रेण श्वेताम्बर मताभिधम् ॥१८७॥'—सं० भा० सं०।

२. 'वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण। तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ॥१३१॥'—प्रा० भा० सं०।

३. येचान्ये काष्ठसंघाद्या मिथ्यात्वस्य प्रवर्तनात्। आयत्यां प्राप्नुयुर्दुःखं चतुर्गतिषु सन्ततम् ॥२८५॥—सं० भा० सं०।

पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—पूज्य तो निर्दोष केवली जिन हैं। और पूजक[1] वेश्या आदि व्यसनोंका त्यागी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शीलवान शूद्र होता है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें ग्रंथकारने जिनसंहिताका प्रमाण भी उद्धृत किया है। यह कथन प्रा० भा० सं० में नहीं है।

प्रा० भा० सं० की तरह सं० भा० सं० में भी प्राभातिक विधिमें शौच आचमनका निर्देश है और नागतर्पण, क्षेत्रपालतर्पण गण अष्ट दिग्पालोंकी स्थापनाका भी कथन है किन्तु प्रा० भा० सं० में जो शस्त्रसहित यानसहित और प्रियासहित आह्वान करनेका विधान किया है। वह यहाँ नहीं है। इसी तरह प्रा० भा० सं० में जिन चरणोंमें चन्दनलेपनका जो कथन है वह भी सं० भा० सं० में नहीं है।

पूजनके कथनमें सं० भा० सं० के कर्ताने आशाधरके सागरधर्मामृतका अनुकरण विशेषरूपसे किया है। प्रतिमाओंके कथनमें भी यत्रतत्र उसकी छाया है। वैसे रत्न करंडको मुख्य रूपसे अपनाया गया है।

पूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन श्रावकके षट्कर्मोंका भी कथन है वो प्रा० भा० सं० में नहीं हैं।

छठे और तेरहवें गुणस्थानके कथनमें भी प्रा० भा० सं० से विशेषता है। इस तरह सं० भा० सं० प्रा० भा० सं० का छायानुवाद होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताओंको लिये हुए हैं। रचना सरल और स्पष्ट है। श्लोक संख्या ७८२ है।

रचयिता और समय

संस्कृत भावसंग्रहके अन्तमें उसके रचयिता ने अपना नाम वामदेव और अपने गुरुका नाम लक्ष्मीचन्द्र बतलाया है। लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति था और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयेन्दु या विनयचन्द्र था। वे मूलसंघी थे। तथा ग्रन्थकार वामदेव[2]का जन्म 'शशिविशदकुले नैगम श्री विशाले' में हुआ था। प्रेमीजीने लिखा[3] है कि 'निगम कायस्थ जातिका एक भेद है। आश्चर्य

---

१. 'भव्यात्मा पूजकः शान्त वेश्यादिव्यसनोज्झितः। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः स शूद्रो वा सुशीलवान् ॥४६५॥—सं० भा० सं०।

२. 'श्रीमत्सर्वज्ञपूजाकरणपरिणतस्तत्त्वचिन्तारसालो, लक्ष्मीचन्द्रांह्रिपद्म मधुकरः श्रीवामदेवः सुधीः। उत्पत्तिर्यस्य जाता शशिविशदकुले नैगमश्रीविशाले सोऽयं जीयात् प्रकर्मं जगतिहसलसद्भावशास्त्रप्रणेता ॥७८१॥—सं०भा०सं०।

३. भावसंग्रहादिके प्रारम्भमें ग्रंथ परिचय, पृ० ३।

नहीं जो पं० वामदेवजी कायस्थ ही हों। दिगम्बर सम्प्रदायमें महाकवि हरिचन्द्र, दयासुन्दर आदि और भी अनेक विद्वान् कायस्थ जातिके हो चुके हैं।'

इस प्रकार वामदेवने अपने त्रैलोक्य[1] दीपक नामक ग्रन्थके अन्तमें भी अपना उक्त परिचय दिया है। उसमें उन्होंने अपनेको जैन प्रतिष्ठा विधिका आचार्य बतलाया है। यह ग्रन्थ उन्होंने पुरवाडवंशके कामदेवके पौत्र तथा जोमनके पुत्र नेमिदेवकी प्रेरणासे बनाया था। इस तरह अपने ग्रन्थोंमें वामदेवने अपना सामान्य परिचय देकर भी उसके समयके विषयमें कोई निर्देश नहीं किया

परन्तु त्रैलोक्य दीपक ग्रन्थकी एक हस्तलिखित प्रति श्रीमहावीरजी[2]के शास्त्र भण्डारमें है। उसमें उसका लेखनकाल सं० १४३६ और लेखन स्थान योगिनीपुर दिया है। तथा लेखकने फिरोजशाह तुगलकके शासनकालका भी उल्लेख किया है। अतः यह निश्चित है कि वामदेवका समय 'सं० १४३६ के बाद का नहीं हो सकता।'

द्विसन्धानकाव्यकी नेमिचन्द रचित टीकाकी प्रशस्तिमें नेमिचन्द्रने अपनेको विनयचन्दका प्रशिष्य और देवनन्दिका शिष्य बतलाया है। तथा त्रैलोक्यकीर्तिके चरण कमलोंको भी नमस्कार किया है। वामदेवने भी अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयचन्द बतलाया हैं। अतः नेमिचन्दके गुरुके गुरु विनयचन्द और वामदेवके दादा गुरु विनयचन्द एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। उन्हींके शिष्य त्रैलोक्यकीर्ति थे। किन्तु वे कब हुए इसका कोई पता नहीं चलता क्योंकि द्विसन्धान टीकामें भी उनके समयका निर्देश नहीं है और न अन्यत्रसे ही उनके सम्बन्धमें कोई ऐसी जानकारी प्राप्त हो सकी जिससे उनके समय पर प्रकाश पड़ सकता हो।

●

---

१. जै०ग्र० प्र०सं०, भा० १, पृ० २०३-२०५।
२. 'आमेर शास्त्र भण्डारकी ग्रन्थ सूची'—पृ० २१८।

नाम सूची